अश्वमेध महायज्ञ
एक सांस्कृतिक विश्लेषण

कुलपति प्रो. राममूर्ति शर्मा की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका तथा सम्पादिका
डॉ. मिताली देव

229

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पूर्णानन्द
संस्कृत
विश्वविद्यालय

अश्वमेध महायज्ञ

एक सांस्कृतिक विश्लेषण

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
श्रुतम् मे गोपाय

विश्वविद्यालय रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला
[३७]

अश्वमेध महायज्ञ
एक सांस्कृतिक विश्लेषण

कुलपति प्रो. राममूर्ति शर्मा की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका तथा सम्पादिका
डॉ. मिताली देव

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय
रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला
[३७]

अश्वमेध महायज्ञ
एक सांस्कृतिक विश्लेषण

मूल्य
५५०.००

पुस्तक सार

'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' नामक पुस्तक द्वादश अध्यायों में विभक्त है। विषय संयोजन की दृष्टि से इसे अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग दो भागों में बाँटा गया है। इसमें यज्ञ के कर्मकाण्डात्मक पक्ष के विवेचन के साथ ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भी विशद विवेचन किया गया है। इसमें याग शब्द पर विशद विवेचन के साथ ही अश्वमेध-यज्ञ के दृष्टादृष्टोभयसाधक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अश्वमेधाधिकारी की स्वरूपयोग्यता, चक्रवर्ती सम्राट् के लक्षणों का सामुद्रिक-शास्त्रीय अध्ययन, विश्वविजय-निरूपण प्रसङ्ग में भारत-वर्ष और वर्तमान भारतसंघ का निरूपण, स्त्रियों का सहाधिकार-निरूपण प्रसङ्ग में अश्वमेधकर्ता की महिषियों का स्वरूप वर्णन, अश्वमेधीयाश्व-वर्णन प्रसङ्ग में नीलवृषोत्सर्ग विधि का विशद उल्लेख, शारदीय दुर्गापूजा की अश्वमेधरूपता एवं अर्थसम्मत वित्तविकेन्द्रीकरण का माध्यम दक्षिणा को स्पष्ट किया गया है। ब्राह्मणानुसार एवं श्रौतसूत्रानुसार भी अश्वमेध का विशद विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में अनेक प्रकीर्ण विषयों यथा राजनीतिशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, प्रसूतिविज्ञान, अश्वायुर्वेद, कर्मकाण्ड, अर्थशास्त्र, भूगोलशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, ऐतिहासिक, आनुवंशिक विज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, निदान-शास्त्र, पर्यावरणशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, कोशशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीति, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, युद्धशास्त्र इत्यादि विषयों का अश्वमेधयज्ञ के सन्दर्भ में विशद विवेचन किया गया है।

इसमें यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्रों, उपकरणों एवं यज्ञीय सामग्रियों का अकारादि क्रम में व्यवस्थापन, अश्वमेधीयाश्व के विभिन्न शुभाशुभ लक्षणों से युक्त अश्वचित्रों एवं अनेक मानचित्रों का संकलन है।

यह पुस्तक न केवल वेद के विद्यार्थियों के लिए, वरन् सभी विषयों के शोध-जिज्ञासुवों के लिए अत्यन्त उपादेय है।

***

ISBN : 81-7270-073-3

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 37]

AŚVAMEDHA MAHĀYAJÑA
EKA SĀṀSKṚTIKA VIŚLEṢAṆA

FOREWORD BY

PROF. RAM MURTI SHARMA

VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY

DR. MITALI DEV
Post Doctorial Fellow
Human Resourses Ministry and Development
Government of India
New Delhi

VARANASI
2002

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-073-3

❐

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 550.00

❐

Printed by—
Shreejee Computer Printers
Nati Imli, Varanasi.

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[३७]

अश्वमेध महायज्ञ
एक सांस्कृतिक विश्लेषण

कुलपति प्रो. राममूर्ति शर्मा की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका तथा सम्पादिका

डॉ. मिताली देव

पोस्ट डाक्टोरियल फेलो

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार

नई दिल्ली

वाराणसी

२०५८ वैक्रमाब्द १९२३ शकाब्द २००२ खैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक —

ISBN : 81-7270-073-3

निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

❒

प्रकाशक—
डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❒

प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❒

प्रथम संस्करण – ५०० प्रतियाँ
मूल्य – ५५०.०० रूपये

❒

मुद्रक—
श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी।

प्रस्तावना

डॉ. (श्रीमती) मिताली देव के शोध-प्रबन्ध '**अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण**' का साङ्गोपाङ्ग अवलोकन करने के अनन्तर इस प्रस्तावना-लेखन का मुझे अपार हर्ष हो रहा है। आयुष्मती डॉ. मिताली देव ने अश्वमेध महायज्ञ पर द्वादश परिच्छेदों में विश्वकोषात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया है, यह गौरवानुभूति से ओतप्रोत है। इस ग्रन्थरत्न की रचना में डॉ. मिताली देव ने जिस श्रद्धा, आस्था एवं निष्ठा से परिप्लुत होकर सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय एवं पश्चाद्वर्ती संस्कृत वाङ्मय का आलोडन करते हुए जो निष्कर्ष तत्त्व अश्वमेध महायज्ञ पर प्रस्तुत किया है, उसका अभिनन्दन युगों तक विद्वन्मण्डली करती रहेगी। एतदर्थ मैं आयुष्मती डॉ. मिताली देव को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

यज्ञ, यज्ञवेदियाँ एवं यज्ञशालाएँ हमारी सभी प्राच्य विद्याओं के उत्कर्ष का कारण रही हैं। चाहे वह वैदिक वाङ्मय का पुङ्खानुपुङ्ख वकास हो, चाहे वह शुल्बसूत्रों एवं गृह्यसूत्रों तथा श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित गणित-विद्या का विकास हो, चाहे हमारे दर्शनों का चरमोत्कर्षी अभियान हो, चाहे पौराणिक वाङ्मय का नवनवोन्मेषी विश्व-प्रसार हो एवं चाहे आर्य-जाति की आध्यात्मिक चरमोन्नति का प्रसङ्ग हो, सर्वत्र हमारे यज्ञ, यज्ञवेदियाँ एवं यज्ञशालाएँ अनुस्यूत रही हैं।

धन्य हैं हमारे वे ऋषिगण, जिन्होंने यज्ञों के विश्वकल्याणात्मक स्वरूप को सहस्राब्दियों पूर्व पहचाना था। उन्होंने सृष्टि-चक्र के माङ्गलिक प्रवर्तन के केन्द्रबिन्दु में यज्ञों को असाधारण कारक माना था। इसी ब्रह्माण्डीय सृष्टि-चक्र के केन्द्रबिन्दु में यज्ञों की प्रतिष्ठापना की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्यन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्यन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। (गीता-३।१४-१६)

अर्थात् हमारे यज्ञों की धूमाग्नियों में वे कल्याणप्रद तत्त्व अनुगुम्फित थे, जिनसे पर्यन्य देवता भी स्निग्ध होकर अमृतबिन्दुवों से इस धरा का अभिषिञ्चन करते थे और उसी चक्र पर चक्रारूढ़ मानव वह पुरुषार्थ करता था, जिससे सृष्टि के समस्त जीवों का भरण-पोषण होता था। आज समस्त विश्व पर्यावरण-प्रदूषण की ज्वाला से अनुतप्त हो रहा है और पर्यावरणीय सन्तुलन की स्थापना में सम्पूर्ण विश्व अकूत धन व्यय कर रहा है। ऐसे में पर्यावरणीय ज्वाला से दग्ध हो रही सम्पूर्ण-प्रकृति में सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से हमारे आर्ष-ज्ञान-विज्ञान की भित्ति पर अवलम्बित डॉ. मिताली देव का यह गौरव-ग्रन्थ निश्चय ही हमारे लिए वरदान सिद्ध होगा।

शिवपञ्चाक्षर-स्तोत्र में भगवान् शिव को यज्ञस्वरूप कहा गया है—

यज्ञस्वरूपाय जटाधराय पिनाकहस्ताय सनातनाय ।

दिव्याय देवाय दिगम्बराय तस्मै यकाराय नमः शिवाय ।।

उन यज्ञस्वरूप भगवान् शिव के महनीय पर्व '**महाशिवरात्रि**' के विश्वमङ्गल-दिवस पर आयुष्मती डॉ. मिताली देव के इस महनीय ग्रन्थ पर प्रस्तावना लिखते हुए मैं पुनः पुनः हर्षान्वित होता हुआ लेखिका को हार्दिक मङ्गलाशीर्वाद प्रदान करता हूँ और यह आशा करता हूँ कि वे भविष्यत् में भी ऐसे महनीय ग्रन्थों का प्रणयन करती रहेंगी। मुझे अतिशय प्रसन्नता हो रही है कि इस विश्वकोषात्मक ग्रन्थरत्न की लेखिका आयुष्मती डॉ. मिताली देव ने इस विश्वविद्यालय के विश्वविख्यात सरस्वतीभवन-पुस्तकालय की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों से पर्याप्त ज्ञानराशि प्राप्त की है। एतदर्थ उन्हे पुनः पुनः शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

मुझे अतिशय प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रेरणास्रोत पुण्यश्लोक पूर्व-काशीनरेश तथा इस विश्वविद्यालय के पूर्व-प्रतिकुलाधपति की पुण्यस्मृति में लेखिका डॉ. मिताली देव ने इस ग्रन्थरत्न को समर्पित किया है। **डॉ. विभूति नारायण सिंह जू देव** भारतीय सनातन परम्परा के अध्वर्यु रहे हैं और आजीवन उन्होंने आर्यविद्याओं के पुङ्खानुपुङ्ख विकास में अपनी अध्वर्युता से नवनवोन्मेषी ओज प्रदान किया है। ऐसे पुण्यश्लोक स्वनामधन्य पूर्व-

काशीनरेश, इस विश्वविद्यालय के पूर्व-प्रतिकुलाधिपति **डॉ. विभूति नारायण सिंह जू देव शर्म** महोदय के प्रति पौनःपुन्येन अपनी प्रणामाञ्जलि निवेदित करता हूँ।

इस विश्वकोषात्मक ग्रन्थ के प्रकाशन में निरन्तर दत्तावधान प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** को हार्दिक शुभाशीर्वाद प्रदान करते हुए, प्रकाशन-संस्थान के ईक्ष्यशोधनप्रवीण **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय,** सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय**, ईक्ष्यशोधक **श्री अशोक कुमार शुक्ल**, **श्री अतुल कुमार भाटिया**, प्रकाशन सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा**, पाण्डुलिपि संग्राहक सहायक **श्री ओमप्रकाश वर्मा** एवं डाटा-इण्ट्री आपरेटर **श्री जितेन्द्र कुमार भाटिया** प्रभृति को मङ्गलाशीर्वाद प्रदान करते हुए ग्रन्थ के आकर्षक मुद्रक एवं हृदयावर्जक आवरण-सज्जाकार श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स के निदेशक **श्री अनूप कुमार नागर** को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

अन्ततः सान्नपूर्णा श्रीकाशीविश्वेश्वर के करकमलों में महाशिवरात्रि पर्व के मङ्गलोत्सव के अवसर पर इस ग्रन्थ-प्रसून को समर्पित करते हुए यज्ञस्वरूप भगवान् शिव को पुनः पुनः प्रणाम समर्पित करता हूँ।

राममूर्ति शर्मा

वाराणसी
महाशिवरात्रि,
वि.सं. २०५८
(१२ मार्च, २००२)

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

सत्यमेव जयते

SUNIL JAIN
Director

प्रधानमन्त्री कार्यालय
नई दिल्ली-११००११
Prime Minister's Office
New Delhi-110011

सन्देश

प्रधानमन्त्री जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि डॉ. मिताली देव द्वारा लिखित '**अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण**' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रधानमन्त्री जी इस ग्रन्थ के सफल प्रकाशन के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ भेजते हैं।

(सुनील जैन)

नई दिल्ली
दिनाङ्क ११ मई, २००१

सत्यमेव जयते

डॉ. मुरली मनोहर जोशी
DR. MURLI MANOHAR JOSHI

मानव संसाधन विकास मन्त्री
भारत
Minister of
Human Resource Development
India
New Delhi-110001

सन्देश

आपने अपने २१ फरवरी, २००१ के पत्र के साथ **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ भेजे हैं। मैंने उन्हें पढ़ा है। वेदों में यज्ञों का जो विवरण मिलता है, उनको सही परिप्रेक्ष्य मे समझने की आवश्यकता है। अश्वमेधयज्ञ प्रतीकात्मक याग है, जिसके गूढ़ रहस्य हैं। वस्तुतः हमारे यज्ञों के लौकिक और आध्यात्मिक पक्षों की सम्यक् व्याख्या की बड़ी आवश्यकता है। इसलिए विद्वानों के लिए आपके ग्रन्थ का विशेष महत्त्व होना चाहिए। मैं आपके परिश्रम की सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि आपका ग्रन्थ विद्वानों में सम्मान प्राप्त करेगा।

(मुरली मनोहर जोशी)

डॉ. मिताली देव
एच-९, एच.आई.जी.फ्लैट्स,
विकास प्राधिकरण
रवीन्द्रपुरी एक्सटेंशन,
वाराणसी-२२१००५

सत्यमेव जयते

विष्णुकान्त शास्त्री
राज्यपाल, उत्तर-प्रदेश

सं. ८४१/पी.एस-एच.ई.
राजभवन
लखनऊ-२२७१३२
मार्च २९, २००१

प्रिय डॉ. मिताली देव जी

सस्नेह नमस्कार।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप '**अश्वमेध यज्ञ**' के सांस्कृतिक विश्लेषण के ऊपर एक विस्तृत रचना कर रही हैं। मैं आपके इस अच्छे कार्य की सफलता की कामना करता हूँ।

प्रभुकृपा से सानन्द रहें, सर्जनारत रहें।

शुभेच्छु

(विष्णुकान्त शास्त्री)

प्रति,
डॉ. मिताली देव
एच-९, एच.आई.जी. फ्लैट्स,
विकास प्राधिकरण
रविन्द्रपुरी एक्सटेंशन, वाराणसी-२२१००५

FORT, RAMNAGAR
Varanasi 221008
24 September 1999

I am happy that Dr. Śrimati Mitāli Deb has taken up a study of '**Aśvamedha Yajña**' for her doctoral thesis for the PH.D., degree from the Banaras Hindu University. I hope Śrimati Deva's thesis which is being published will help create an interest in further research on our ancient scriptures.

I have had the opportunity of associating Śrimati Deb's grandfather, late Shri Ramesh Chandra De, with my All-India Kashiraj Trust engaged in research on and publication of purānic literature. It is, therefore, gratifying to see that she has imbibed a great deal from her grandfather in pursuing her study of Sanskrit.

I wish Śrīmatī Deb all success in life and in her scholarly pursuits.

Vibhuti Narain Singh

KASHI NARESH

अखण्डज्योतिर्युक्तानां विश्वसंस्कृतप्रतिष्ठानस्य विश्वाध्यक्षाणां महामहिमकाशिराजानां सुकीर्तिचक्रं सश्रद्धं तेषां करकमलेषूपाहरामि।

उद्यत्सुन्दरकीर्तिचक्रविमलज्योत्स्नाविभाभासुरो
भास्वद्भास्वरभूतिभव्यविभवोद्भूतप्रभावाद्भुतः।
रिङ्गत्तुङ्गतरङ्गरङ्गविलसद्गङ्गाप्रसङ्गार्चितः
श्रीकाशीश्वरविश्वनाथमहिमा श्रीकाशिराजो जयेत्।।

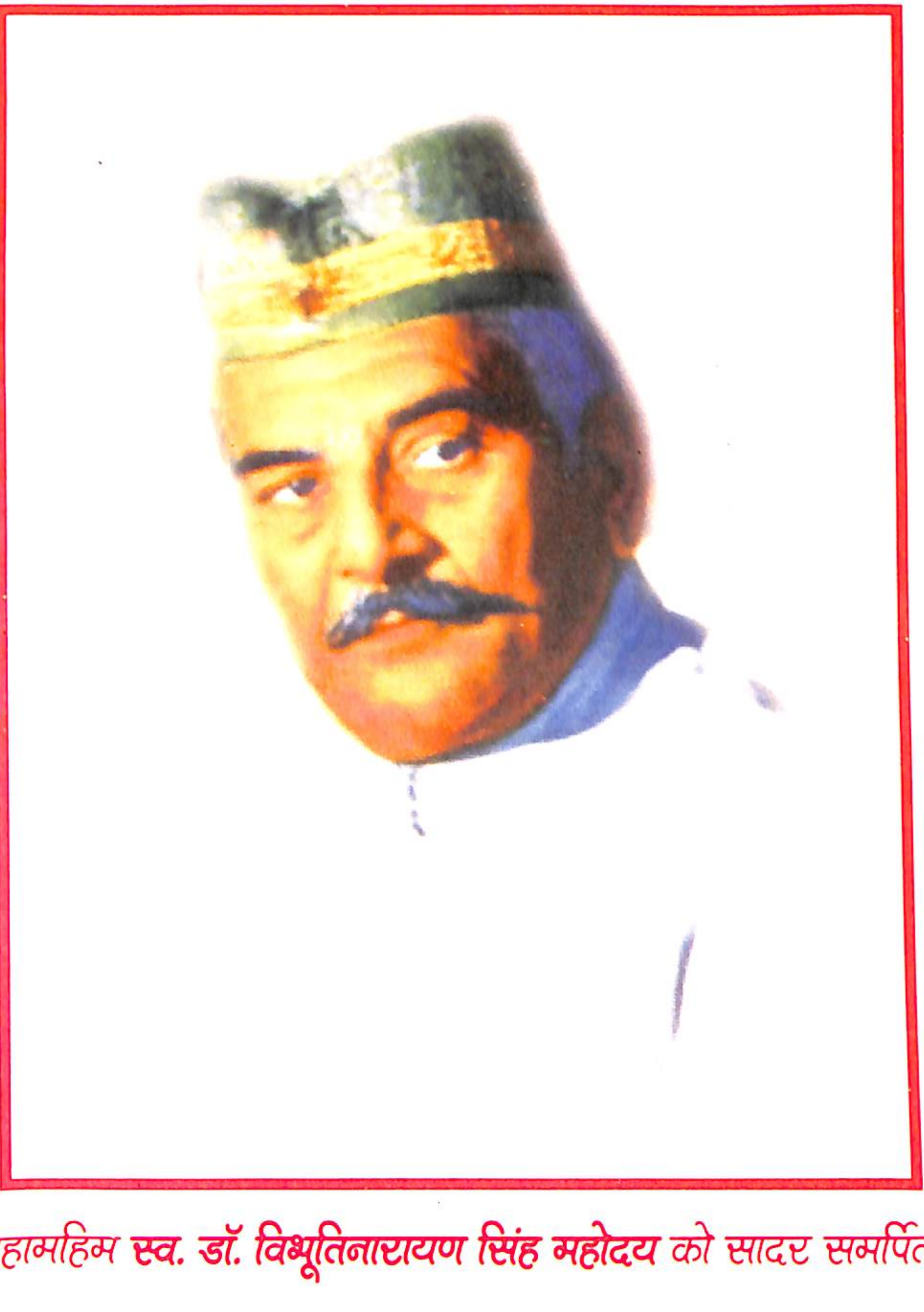

महामहिम **स्व. डॉ. विभूतिनारायण सिंह महोदय** को सादर समर्पित

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

विक्रम विलास
३७-बी, रवीन्द्रपुरी
लेन नं.१७, दुर्गाकुण्ड
वाराणसी-२२१००५

डॉ. मिताली देव एक सुयोग्य मेधावी छात्रा रही हैं। ये अपनी प्रारम्भिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक अच्छा अंक एवं श्रेणी अर्जित की हैं।

इन्होंने अनेक मेडल (Medal) एवं स्कालरशिप (Scholarship) संस्कृत-भाषा के क्षेत्र में प्राप्त किया है।

इनका शोध-प्रबन्ध **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** वैदिक-कालीन यज्ञादि विषयों पर अच्छा प्रकाश डालता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अश्वमेध महायज्ञ के विषय में बहुत बढ़िया शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है। इनका कार्य इस क्षेत्र में बहुत ही सराहनीय है। मैंने इनके ग्रन्थ का अध्ययन किया तथा इसे हर तरह से अपने में पूर्ण पाया।

'Information given is quiet correct.
I appreciate it and give it to this lady.
Everything is correct.'

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ। भगवान् विश्वनाथ इन्हें इसी तरह प्रगति के पथ पर आगे बढाते रहें।

भवदीय

बलदेव उपाध्याय

Prof. Ram Karan Sharma
President-IASS
Ex-Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

63, Vigyan Vihar
Delhi 110092, India
Ph. 2150045
[illegible]

नैवेद्यम्

यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि मेरे श्रद्धेय मित्र स्व. रमेश चन्द्र जी डे की आयुष्मती पौत्री सौ. डॉ. मिताली देव द्वारा लिखित, **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** शीर्षक शोध-प्रवन्ध सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विदुषी लेखिका ने अश्वमेधयज्ञ के 'दृष्ट' एवं 'अदृष्ट' दोनों पक्षों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करते हुए, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक यज्ञों की प्रासङ्गिकता को भी बड़ी अच्छी, आकर्षक शैली में दरशाया है।

ऐसे युग में जब सुरम्य प्रकृति की सुन्दर आकृति को विकृत करने वाले नाना प्रकार के अनेक 'धूम' चारों ओर फैल रहे हैं, अश्वमेध जैसे श्रौत यज्ञों के परमपावन, परमसंस्कारक धूमों का काल्पनिक आवाहन भी मानवसमाज के लिए अभिनन्दनीय होगा। इस दृष्टि से भी इस ग्रन्थरत्न का प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है।

आशा है, विद्वज्जन इस विद्वत्तापूर्ण प्रकाशन का स्वागत करेंगे।

विदुषी लेखिका डॉ. मिताली देव को शतशः हार्दिक वधाई।

(रामकरण शर्मा)

डॉ. विद्यानिवास मिश्र
कुलाधिपति
हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

दूरभाष : ०६४३२-२२३६८ (का.)
०५४२-३५६३०९ (आ.)
फैक्स-नं. : ०६४३२-२०२५०
एम. ३, बादशाह बाग,
वाराणसी-२२१००२
दिनाङ्क : २६.०३.२००२

आयुष्मती मिताली,

आपका पत्र मिला। आपने इतनी शुभाशंसाएँ बटोर ली हैं कि मेरी शुभाशंसा की कोई विशेष उपयोगिता नहीं है और मुझे यदि किसी ग्रन्थ पर अभिमत लिखना होता है तो मैं एक बार उसे सरसरी तौर पर देखना चाहूँगा। आपका ग्रन्थ स्तरीय है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि संस्कृत विश्वविद्यालय इसे छाप रहा है। अभी तक मुझे इस विशाल ग्रन्थ को पढ़ने का अवसर नही मिला। इतना ही कह सकता हूँ कि आपने सामग्री का अच्छा संकलन किया है। यज्ञ तत्त्व सृष्टि का संगतिकरण है और विशेष रूप से मनुष्य और देवता तत्त्व के बीच संगतिकरण है। आपका अध्ययन प्रमुखतया आकलनात्मक है और उस दृष्टि से उपयोगी है। अश्वमेध वस्तुतः चक्रवर्ती सूर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने का अनुष्ठान है। अश्व केवल सूर्य के किरण का बोधक है; परन्तु अश्वमेध यज्ञ भारतीय राजतन्त्र में बड़े महत्त्व का यज्ञ रहा है। इस दृष्टि से आपने जो अध्ययन किया है, वह उपयोगी है।

सस्नेह,

आपका
विद्यानिवास मिश्र

डॉ. मिताली देव
एच.९, एच.आई.जी. फ्लैट्स
विकास प्राधिकरण, रवीन्द्रपुरी एक्सटेन्शन
वाराणसी-२२१००५

पद्मश्री-महामहोपाध्याय
आचार्य वि.वेङ्कटाचलम्
भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित
पूर्व-कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी और
कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा

पूर्व-निदेशक
भोगीलाल लेहरचन्द इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी, दिल्ली
सिन्धिया ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जैन
पूर्व-कुलाधिपति (अवैतनिक)
श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली
पूर्व-अध्यक्ष (अवैतनिक)
भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली

शिवसङ्कल्प

मैंने उदीयमान विदुषी श्रीमती मिताली देव द्वारा प्रणीत **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** नामक ग्रन्थ के कुछ अंशों को देखा है। स्थूल दृष्टि से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस बहु-आयामी स्थूल-काय ग्रन्थ के लेखन में डॉ. देव ने बहुत कठोर परिश्रम किया है और अनेक बिन्दुओं पर अपना कुछ मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया है। परम्परासिद्ध वैचारिक क्रम से विपरीत अनेक बातें भी कही हैं। आशा करता हूँ कि भारत के मनीषी विद्वज्जन इन सभी पर अवश्य गौर करेंगे, इनका विशुद्ध तटस्थ भाव से परीक्षण करेंगे तथा आवश्यकता पड़ने पर यथोचित निर्णय भी देंगे। यह तो हमारे देश की सहस्राब्दियों से सुपरीक्षित प्राचीन आर्ष परम्परा है, जिसे महाकवि कालिदास ने अपनी अप्रतिम शब्दावली से अभिव्यक्त किया है–

'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।' (रघुवंश, १.१०)
'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।' (मालविकाग्निमित्र, १.२)

अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी कथ्यों के अतिरिक्त संस्कृत शब्दों की वैयाकरणिक व्युत्पत्ति, निर्वचन आदि विषयों पर बहुत सामग्री संकलित है। साथ ही कुछ नये विचार भी इस ग्रन्थ में संगृहीत हैं, जो वैयाकरणों की प्रचलित मान्यताओं से सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, 'शत' एवं 'क्रतु' शब्दों के आद्याक्षरों के मेल से 'शक्र' शब्द की निरुक्ति से एवं इसके समान योगक्षेम वाले अन्य अनेक शब्दों की नवीन व्याख्याओं से कतिपय आधुनिक प्रौढ विद्वान् भले ही परिचित हों, सामान्य पाठक वर्ग के लिए ये निश्चित ही रोचक सिद्ध होंगे।

इनकी सारस्वत यात्रा के लिए 'शिवाः सन्तु पन्थानः' की प्रार्थना के साथ—

वाराणसी
०९.०४.२००२

(वि. वेङ्कटाचलम्)

महामहोपाध्याय 'पद्मश्री' डॉ. मण्डन मिश्र
पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

अर्द्ध-शा. पत्राङ्क : रासंविवि/२००१/११०२ दिनाङ्क ३/८/२००१

आयुष्मती डॉ. मिताली देव

मैने डॉ. मिताली देव के द्वारा लिखित **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** ग्रन्थ के कुछ अंश पढ़े। अश्वमेधयज्ञ हमारे वैदिक यज्ञों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। हमारा इतिहास इसकी महत्ता से ओतप्रोत है। वस्तुतः यह भी कहा जा सकता है कि अश्वमेध ने हमारी यज्ञ-संस्था को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया है। ६०० पृष्ठों के इस ग्रन्थ में डॉ. मिताली ने अश्वमेध के व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डाला है, वह अपने आप में प्रधान स्थान रखता है। भगवान् राम का अश्वमेधयज्ञ हमारे देश में विशेष स्थान रखता है।

वर्तमान में जनतन्त्र में अश्वमेध की कोई प्रथा नहीं रह गई है, न उसके लिए कोई स्थान है। इन सबके बावजूद भी यह प्रक्रिया अध्ययन में विशेष महत्त्व रखती है। वर्तमानकाल में वैदिक यज्ञ भी बहुत कम होते हैं; क्योंकि उनके आचार्य और यजमान नहीं रह गये हैं। यज्ञ हमारे यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति का सर्वोत्तम माध्यम है। यज्ञ में भी अश्वमेध एक विशिष्ट स्थान रखता है।

इस युग में अश्वमेध का आयोजन साधन और आचार्य सम्पत्ति के बिना असम्भव है, ऐसी परिस्थिति में इस ग्रन्थ को लिखकर डॉ. मिताली ने इसके सांस्कृतिक स्वरूप का उत्तम विश्लेषण किया है।

मैं इस शुभकार्य के लिए डॉ. मिताली का अभिनन्दन करता हूँ और इस यज्ञ-संस्था के प्रचलन को इस देश में फिर से स्थान मिले, इस दृष्टि से इसके स्वरूप की प्रशस्ति करता हूँ।

मैं चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो, जिससे लोग इसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो सकें।

शुभकामनाओं सहित।

आपका

मण्डन मिश्र

डॉ. मिताली देव
एच-९, एच.आई.जी. फ्लैट्स, विकास प्राधिकरण
रवीन्द्रपुरी एक्सटेंशन, वाराणसी-२२१००५

प्रो. वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
कटवारिया सराय, नई दिल्ली-११००१६

शुभाशंसा

डॉ. (श्रीमती) मिताली देव द्वारा लिखित अनुसन्धान-प्रबन्ध **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर मैं हर्ष एवं सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ। श्रौत परम्परा में अश्वमेधयज्ञ सोमयाग के अन्तर्गत है, जिसका विशद विवेचन वेद, ब्राह्मण एवं सूत्र-साहित्य के विपुल वाङ्मय में उपलब्ध होता है। श्रुतिवाक्य **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः** इसके महत्त्व का परिचायक है। अद्यावधि इस विषय पर विमर्शात्मक एवं विश्लेषणात्मक विवेचन उपलब्ध नहीं होता। अश्वमेधयज्ञ के अनुष्ठान की शास्त्रीय पद्धति श्रौतसूत्रों में उपलब्ध है, जिसका आद्योपान्त विवेचन एक श्रमसाध्य सारस्वत उपासना ही है।

डॉ. (श्रीमती) मिताली देव ने अपने विशिष्ट अध्ययन के माध्यम से वैदिक साहित्य में अपनी अभिरुचि का परिचय दिया है और यज्ञ परम्परा में प्रायः विस्मृत सोमयाग में विशिष्ट स्थान प्राप्त अश्वमेध महायज्ञ पर निष्ठापूर्वक प्रामाणिक ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए अपना शोधात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि द्वादश परिच्छेदों में विभक्त यह ग्रन्थ अश्वमेध से सम्बन्धित कई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगा और सुधी अध्येताओं में विशेषकर वैदिक साहित्य में अभिरुचि रखने वाले विद्वानों में समादृत होगा।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि विदुषी लेखिका डॉ. (श्रीमती) मिताली देव भविष्य में भी वैदिक साहित्य से सम्बन्धित महनीय विषयों पर अपना योगदान देती रहेंगी। मैं लेखिका के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ और सारस्वत समाराधना में सर्वथा अभिनिविष्ट रहने का आग्रह करता हूँ।

वाचस्पति उपाध्याय

प्रोफेसर पी.रामचन्द्र राव
Professor P.Ramachandra Rao
M.Sc., B.E., M.Sc. (Met. Engg.), Ph.D.
FIE, FNAE, FNASc, FIM, FASc., FNA
कुलपति
VICE-CHANCELLOR

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI-221005 (India)
Off : 0542-368938/30-7220
Resi : 0542-368339/30-7209
Fax : (91) (542) 316946
e-mail : vc_bhu@banaras.ernet.in

MESSAGE

In the context of relentless human conflicts and ecological decadence, Dr. Mitali Deb's literary debut **Ashwamedha Mahayagya : Ek Sanskritic Vishleshan** is extremely relevant to the present day. After many years of pursuit of such a rare topic, she has succeeded in throwing light on various aspects of the Yagyas. She has done a pioneering work that traces nuances and aspects of **Ashwamedha Mahayagya**. I am happy to see her book entering the scholarly world at a time when humanity tends to unlearn its ancient doctrines.

Dr. Mitali Deb did this extensive research during the time she was a scholar of Banaras Hindu University. I commend her work and wish the publication a grand success.

26 March, 2002

(P.Ramachandra Rao)
Vice-Chancellor
Banaras Hindu University

पुरोवाक्

भारतीय चिन्तन के अनुसार प्रकृति में निरन्तर यज्ञ अनुष्ठित होता रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'प्रकृति' यज्ञमय है। यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न है, जिसका एक अर्थ है सङ्गतिकरण। सङ्गतिकरण से तात्पर्य है—दो पदार्थों का परस्पर मिलना। यह दो पदार्थों का मिलना (सङ्गतिकरण) प्रकृति में लगातार चल रहा है। जब दो पदार्थों का मेल होता है, तो उनके बीच परस्पर रासायनिक सम्बन्ध स्थापित होता है और तब एक तीसरा नया पदार्थ उत्पन्न हो जाता है, यही सृष्टि-प्रक्रिया है। अतः सृष्टि-प्रक्रिया के लिए '**यज्ञ**' अपरिहार्य है। उदाहरणार्थ— जब बीज पृथ्वी पर गिरता है, तो पृथिवी के अन्तस्तल में विद्यमान अग्नि में मानो उस बीज की आहुति पड़ती है। पृथिवी की ऊष्मा (अग्नि) उस बीज को स्फारित कर देती है। जब हम उस बीज को जल से सींचते हैं, तो उस पृथिवी की अग्नि (ऊष्मा) में सोम की आहुति ही डालते हैं। इस अग्नि और सोम के संगतिकरण (यज्ञ) से उस बीज में अङ्कुर निकलता है और यथासमय वह विशाल वृक्ष बन जाता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि 'यज्ञ' एक विज्ञान है। इस विज्ञान का जितनी सूक्ष्मता से अध्ययन एवं अनुसन्धान किया जायगा, ब्रह्माण्ड-सृष्टि के रहस्य उतने ही उद्घाटित होते चले जायेंगे। यतः प्राकृत यज्ञ के अनुकरण ही वैकृत-यज्ञ हैं, अतः वेदों में प्रतिपादित विस्तीर्ण यज्ञ-शृङ्खलाओं को मात्र जड़ कर्मकाण्ड कहकर उपेक्षित कर देना और उसमें निगूढ रहस्यों की परतों को अनावृत करने के बुद्धिसाध्य कार्य से विमुख होना, एक प्रकार का प्रज्ञापराध है।

यज्ञ कर्ममय है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी तत्त्व दृष्टिगत होते हैं। कर्म बन्धनकारक है, जबकि ज्ञान मुक्तिकारक। यद्यपि कर्म बन्धन अवश्य होता है; किन्तु आसक्तिपुरस्सर किया गया कर्म ही बन्धन होता है, अन्य नहीं। ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले भी श्रवण-मनन-निदिध्यासन रूप कर्म-पथ पर चलकर ही अपने चरम पुरुषार्थ को प्राप्त करते हैं। अतः समाज-निन्दित और शास्त्र-विरोधी कर्म ही बन्धन डालने वाले होते हैं, यह सिद्ध होता है। इसी बात को श्रुति ने '...न कर्म लिप्यते नरे' इस

वाक्य से तथा श्रीमद्भगवद्गीता में 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' इस वाक्य से कहा है।

सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से देखा जाय तो 'यज्ञ' सभी वर्ण, सभी आश्रम एवं सभी कलाओं के संगतिकरण की एक सशक्त संस्था है। अधिकार विशेष-निर्णय इसका असाधारण गुण है। जिस प्रकार कोई औषधि-विशेष किन्हीं के लिए हितकर तथा किन्हीं के लिए अहितकर होती है, उसी तरह वैदिक यज्ञों में अधिकार-विवेचन के पीछे पक्षपातशून्य हितकामनापरक दृष्टि ही है। राजसूय-यज्ञ में केवल क्षत्रिय का अधिकार है, ब्राह्मण और वैश्यादि का नहीं। वैसे ही वैश्यस्तोम में केवल वैश्य का ही अधिकार है, अन्य का नहीं। इसी तरह किसी में रथकार का ही और किसी में स्थपति का ही अधिकार है, द्विजाति का नहीं । अतः स्पष्ट है कि देश-जाति पक्षपात के विना यथाधिकार 'यज्ञ-संस्था' सर्वकल्याणकारी है।

मुझे प्रसन्नता है कि 'यज्ञ' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर वैदिक जगत् की नवोदित प्रतिभा डॉ. मिताली देव ने परिश्रमपूर्वक शास्त्रालोडन कर यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, जो भावी अनुसन्धाताओं का पथ प्रशस्त तो करेगा ही, सुधीजनों को विचार के नये आयाम भी प्रदान करेगा। मैं विदुषी लेखिका को इस वेद-सपर्या के लिए साधुवाद देता हूँ। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ की उपादेयता विपश्चितों को आकर्षित करेगी।

युगल किशोर मिश्र
सदस्य-सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान
मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार

व्यास पूर्णिमा
दिनाङ्क २८/७/१९९९

प्राक्कथन

यज्ञाधारं जगत्सर्वं यज्ञो विश्वस्य जीवनम् ।

यज्ञो हि परमो धर्मो यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। (इति श्रुतिः)

वैदिक वाङ्मय में महत्त्व की दृष्टि से यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विविध नाम-रूपयुक्त देवताओं को उद्देश्य करके अग्नि में जिस हवि-पदार्थ द्वारा हवन किया जाता है, उस प्रक्रिया को ही यज्ञ कहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञानुष्ठानों का सूक्ष्म, विस्तृत, व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है, जिसे देखकर विद्वान् आश्चर्यचकित हो जाते हैं। यज्ञीय विधि-विधानों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन श्रौत एवं गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। कहा गया है कि **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** अर्थात् श्रेष्ठ एवं सत्कर्म ही यज्ञ है।

इष्टि-पशु-सोम यज्ञ के तीन प्रधान भेद हैं। इसी क्रम में सोमयज्ञों की गणना में अश्वमेधयज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह यज्ञ वेद, ब्राह्मण एवं सूत्र-साहित्य में विस्तृत रूप से वर्णित है। अश्वमेध के सभी सोमयागों में महत्त्वपूर्ण होने के कारण, इसे महायज्ञ की संज्ञा प्रदान करना युक्तियुक्त है।

अश्वमेध महायाग, क्षत्रियसाध्य वैदिक अनुष्ठानों में सर्वान्तिम है। श्रौतसूत्रों में भी इसका निरूपण प्रायः अन्त में ही किया गया है। वेदों में भी कहा गया है—**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'**, अर्थात् अश्वमेधानुष्ठान से बढ़कर राष्ट्रस्वरूपनिर्धारण अथवा श्रीयुक्त राष्ट्रोपलब्धि नहीं हो सकती।

यह अत्यन्त दुःखास्पद ही है कि आज हम इस महान् उपलब्धि को प्राप्त करने की योग्यता से सहस्राब्दियों पूर्व से ही वंचित हैं। कर्मकाण्डात्मक अश्वमेध का निरूपण श्रौतसूत्रों में प्रमुख रूप से प्राप्त होता है। मन्त्रभाग में इसकी क्रमबद्धता एवं ब्राह्मणभाग में विषयविस्तार स्पष्ट किया गया है।

वैदिक साहित्य में विशेष अभिरुचि होने के कारण यज्ञपरम्परा में लुप्तप्राय सोमयागों में अन्यतम 'अश्वमेध महायज्ञ' पर लिखने की अभिलाषा हुई। वैसे तो प्रायः सभी महायज्ञों, यज्ञों एवं संस्कारों के कर्मकाण्डीय पक्ष पर विद्वान् मनीषियों द्वारा प्रचुर लेखन-सामग्री एवं विचार प्राप्त होते हैं; किन्तु मैंने अपनी

मौलिक रचना **'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण'** नामक पुस्तक में कुछ नवीनता का समावेश करने का प्रयास किया है। इसमें अश्वमेध महायज्ञ के कर्मकाण्डीय पक्ष का वर्णन तो है ही, साथ ही इस सोमयज्ञ से जुड़ी प्रत्येक कड़ियों को एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। इसमें वर्तमान समय में न केवल यज्ञमात्र सम्पादन की, वरन् अश्वमेध महायज्ञ के सम्पादन की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में भी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। आज के वैज्ञानिक युग की तुलना में वैदिकयुगीन महर्षियों के विचार एवं यज्ञ सम्पादन क्रिया में वैज्ञानिकता, नियमबद्धता, क्रमबद्धता कितनी उच्चकोटि की थी, इसकी भी चर्चा की गई है। आज भी यज्ञ परम्परा की पुनः स्थापना से ही सम्पूर्ण विश्व को एक सांस्कृतिक एकता में पिरोया जा सकता है। कलिवर्ज्य होने पर भी शारदीय नवरात्र को किस प्रकार अश्वमेध महायज्ञ के विकल्प रूप में सम्पादित करके हम इस महायज्ञ के अभीष्ट फल 'विश्वबन्धुत्व' की प्राप्ति कर सकते हैं, इस तथ्य का भी मैंने अपनी पुस्तक में भलीभाँति विवेचन किया है।

मेरे लिए यह व्यक्तिगत आनन्द का विषय है कि 'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' जैसे महनीय विषय पर, पर्याप्त विवेचन से परिपूर्ण इस मौलिक रचना को विश्वस्थानीय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के अन्ताराष्ट्रियख्यातिलब्ध सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन-संस्थान द्वारा प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। मैं इससे स्वयं को अत्यधिक गौरवान्वित अनुभव करती हूँ और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के संस्थापक एवं निर्माता, महामनीषी तथा विद्वानों में अग्रगण्य पुण्यश्लोक **डॉ. सम्पूर्णानन्द जी** की कृपा समझती हूँ।

'**अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण**' नामक पुस्तक के लेखन से प्रकाशन पर्यन्त पूर्णता की यात्रा में जिन महानुभावों ने अमूल्य सहयोग एवं आशीर्वाद प्रदान किया है, उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पवित्र कर्तव्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम मैं अपने पिता **डॉ. अरूप देव** (प्रोफेसर, भूगर्भ विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) एवं माँ **डॉ. (श्रीमती) अरुणा देव** (वरिष्ठ प्रवक्ता, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) के पावन पुण्य चरणों में नतमस्तक हूँ, जिन्होंने उच्चाध्ययन एवं अनुसन्धानकार्य में स्नेह एवं यथेष्ट मार्गदर्शन दिया। वस्तुतः यह ग्रन्थ मेरे माता-पिता के अपार आशीर्वाद का ही प्रतिफल है।

मैं महामहिम भूतपूर्व काशीनरेश स्व. **डॉ. विभूतिनारायण सिंह शर्मदेव** को अपना शत शत नमन एवं पुष्पाञ्जलि अर्पित करती हूँ, जिनसे प्रेरणा एवं नवीन विचारों को प्राप्त कर मैं अश्वमेध महायज्ञ के सांस्कृतिक पक्ष के विवेचन में प्रवृत्त हुई। मेरी यह हार्दिक अभिलाषा थी, कि महामहिम को इस पुस्तक की प्रकाशित प्रति भेंट कर पाऊँगी; किन्तु मेरी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। महामहिम द्वारा प्रकाशनार्थ प्रदत्त, मेरी पुस्तक से सम्बन्धित शुभाशंसा-पत्र एवं छायाचित्र मेरे लिए अमूल्य निधि के समान हैं। मैं पुनः भूतपूर्व काशीनरेश, जिन्हें स्नेह से 'दाऊ जी' कहते हैं, को अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करती हूँ एवं अपने प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ 'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' को महामहिम स्वर्गीय डॉ. विभूतिनारायण सिंह शर्मदेव के श्रीचरणों में समर्पित करती हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति एवं अन्ताराष्ट्रिय-ख्यातिलब्ध महामनीषी **प्रो. राममूर्ति शर्मा** महोदय को मैं अपना सादर नमन अर्पित करती हूँ, जिनके द्वारा लिखित प्रस्तावना मेरे पुस्तक के लिए एक विशिष्ट अलंकरण है। मैं कुलपति जी से समय-समय पर आशीर्वचन पाती रही, जिससे मेरी यह कृति धन्य हो गयी।

विशिष्ट विद्वानों के क्रम में भारत के महामहिम प्रधानमन्त्री **श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी,** मानव संसाधन एवं विकास मन्त्रालय के केन्द्रीय मन्त्री **डॉ. मुरली मनोहर जोशी जी** एवं उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल **डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री जी** की मैं हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम से समय निकालकर मेरी पुस्तक के लिए शुभकामना सन्देश एवं विचार प्रेषित किये।

परमपूज्य विद्वानों एवं गुरुवर्यों के क्रम में पद्मभूषण आचार्य **स्व. पण्डित बलदेव उपाध्याय जी** (पूर्व-प्रधान सम्पादक, परिशीलनम्, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ), **प्रो. रामकरण शर्मा जी** (पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय एवं अध्यक्ष, इण्टरनेशनल एसोसियेशन ऑफ संस्कृत स्टडीज), महामहोपाध्याय **'पद्मश्री' स्व. डॉ. मण्डन मिश्र जी** (पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर), **'पद्मभूषण' प्रो. विद्यानिवास मिश्र जी** (पूर्व-कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी** (कुलपति, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली),

प्रो. पी. रामचन्द्र राव जी (कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. अवनीन्द्र कुमार** (संस्कृत विभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), **प्रो. व्रजविहारी चौबे** (संस्कृत विभागाध्यक्ष, होशियारपुर, पंजाब), **प्रो. विश्वनाथ भट्टाचार्य** (पूर्व-विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. वी.के. वर्मा** (पूर्व-कलासंकायप्रमुख एवं पूर्व-विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. श्रीनारायण मिश्र** (पूर्व-कलासंकाय-प्रमुख एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. युगल किशोर मिश्र** (वेद-विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. सुदर्शन लाल जैन** (पूर्व-विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. कमला प्रसाद सिंह** (पूर्व-संस्कृत विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **प्रो. जयशङ्कर लाल त्रिपाठी** (संस्कृत विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), **पं.श्री मनुदेव भट्टाचार्य** (उपाचार्य, व्याकरण विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) की मैं हार्दिक आभारी हूँ, जिनके प्रोत्साहन, अमूल्य सुझाव एवं आशीर्वाद ने इस मौलिक ग्रन्थ के पूर्ण होने में मेरी महती सहायता की।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान के निदेशक विशिष्ट वैदुष्य से युक्त विद्वद्वरेण्य **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** महोदय के उदार एवं स्नेहिल व्यवहार को मैं स्मरण करती हूँ, जिनकी प्रेरणा और आशीर्वाद ने अनेक विघ्नों का उपशमन करते हुए, प्रस्तुत कृति का प्रकाशन सम्भव किया।

ईक्ष्यशोधक **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** एवं अन्य प्रकाशन-संस्थान के कर्मचारियों को मैं धन्यवाद देती हूँ, जिनकी शुभकामनाओं एवं सहयोग से इस कृति का निर्धारित समयावधि में प्रकाशन सम्भव हो सका।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी कृतियों एवं विचारों से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में सहायता मिली।

मैं श्रीजी मुद्रणालय के संचालक **श्री अनूप कुमार नागर** को साधुवाद देना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ; क्योंकि इन्हीं के सत्प्रयासों से इस ग्रन्थ का उत्कृष्ट प्रकाशन सम्भव हो सका।

इस एक शब्द का निवेदन किये बिना मेरा प्राक्कथन अपूर्ण ही होगा कि पूर्व में विज्ञान की छात्रा होने पर भी अशेषभक्तिभाजन पूज्यपाद मेरे पितामह

स्व. श्री रमेश चन्द्र देव (भूतपूर्व सचिव, सर्वभारतीय काशिराज ट्रस्ट, महामहिम काशीनरेश, रामनगर, वाराणसी) ने मेरे प्रति अत्यधिक स्नेहपरवश होकर, मुझे संस्कृत अध्ययन का आशीर्वाद दिया एवं उनके आशीर्वाद को उपजीव्य करके ही फलश्रुति के रूप में '**अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण**' नामक पुस्तक की प्रस्तुति है। दुःखास्पद यह है कि मैं उनके जीवनकाल में इस उपलब्धि को प्राप्त करने में सफल न हो सकी, अवश्य ही स्नेहमयी आशीर्वाद-दृष्टि का अनुभव करती हूँ।

पुनश्च 'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' नामक पुस्तक के प्राक्कथन का समापन मैं श्रीमद्भगवद्गीतोक्त वचनों से करती हूँ—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।। इति शम्।

वाराणसी
महाशिवरात्रि,
१२ मार्च, २००२

मिताली देव
पोस्ट डाक्टोरियल फेलो
मानव संसाधन विकास मन्त्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली

भूमिका

कालिकापुराण में उल्लिखित है : '**सर्वं यज्ञमयं जगत्**' (३१.४०)। यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। सन्ध्या-तर्पण-देवपूजन आदि नित्य, उपनयन-विवाह संस्कारादि नैमित्तिक एवं पुत्रेष्टि-राज्यप्राप्ति आदि काम्यकर्म भी यज्ञ स्वरूप ही हैं। '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता, ३.९) अर्थात् मनुष्य के समस्त कर्म यज्ञ के लिए ही होने चाहिए। इस तरह मनुष्य के धर्मसमन्वित सभी सत्कर्म यज्ञ हो सकते हैं। शास्त्रानुकूल यज्ञ ही फलप्रद एवं महत्त्वप्रद होते हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ।।
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
कृत्स्नं लोकाधिपत्यं च सर्वं वेदविदर्हति ।।

आचार्य मनु के द्वारा स्थापित वेदवाङ्मय के लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रयोजनानुसार वेदोक्त विधियों के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी आवश्यकतापूर्ण दृष्टिकोण के आधार पर शोध की मानसिकता में अश्वमेध महायाग विषयक प्रबन्ध की प्रस्तुति है। '**दृष्टिभेदात् सृष्टिभेदः**' के अनुसार अश्वमेध महायज्ञ जैसा चिरप्राचीन विषय भी अनेक अंशों में चिरनवीन विषय जैसा प्रस्तुत हुआ है। प्रस्तुत शोधनिबन्ध में मुख्यतया आलोच्य विषय अश्वमेध याग है। इस प्रयास में प्रवृत्ति का बीज यह है कि सामान्य जनता के साथ-साथ समाज का एक विशाल अंश भी याग-यज्ञ के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण का अनुभव करता है। यज्ञ-यागादि विषयों पर प्रायः अलौकिक, आध्यात्मिक एवं अदृष्ट तत्त्वात्मक दृष्टि ही परिलक्षित होती है। अवश्य ही यज्ञ-यागादि शास्त्रोक्त विधियाँ पूर्वमीमांसा-सिद्धान्तानुसार अलौकिक-आध्यात्मिक-अदृष्ट तत्त्वात्मक हैं; परन्तु इनकी लौकिक उपादेयता, सामाजिक स्थिति, ऐतिहासिक आवश्यकता, राष्ट्रीय प्रयोजन आदि उपलब्धियाँ भी कम नहीं हैं। पूर्वाचार्यों के अनुसार **'या लोकद्वयसाधिका चतुरता सा चातुरी चातुरी'**। अश्वमेधमहायाग लोकद्वयसाधक विधि है। न केवल श्रुति, अपितु स्मृतियों में भी तीन बातें स्पष्ट हैं—१. दृष्ट प्रयोजन, २. अदृष्ट प्रयोजन, ३. दृष्टादृष्टोभय प्रयोजन। आचार्य भर्तृहरि ने त्रिकाण्डात्मक

'वाक्यपदीयम्' नामक ग्रन्थ के आगम-काण्ड में स्पष्ट किया है—'**स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजना:**'। यहाँ पर दृष्ट प्रयोजन के तीन अर्थ हैं—(क) दृष्ट प्रयोजन, (ख) अदृष्ट प्रयोजन, (ग) दृष्टादृष्टोभय प्रयोजन।

दृष्ट प्रयोजन यथा विवाहादि, अदृष्ट प्रयोजन यथा सन्ध्यावन्दनादि, दृष्टादृष्टोभय प्रयोजन यथा अश्वमेधादि। प्रस्तुत प्रबन्ध मे अश्वमेधयज्ञ के दृष्ट प्रयोजन पर ही प्राधान्येन विचार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय-संयोजन की दृष्टि से दो भाग है—(क) बहिरंग, (ख) अन्तरंग। प्रथम में अश्वमेधयज्ञ के आनुषङ्गिक विषयों, जैसे विश्वदिग्विजय, श्रौत प्रयोग, पौराणिक जम्बूद्वीप, सप्तद्वीपा वसुमती, विभिन्न दृष्टिकोण से क्षत्रियत्वसिद्धि आदि विषयों पर पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करके, अन्तरंग विषय प्रस्तुत करने के अनुकूल सुदृढ़ धरातल को स्थापित किया गया है। यह सुदृढ़ धरातल अनेक वर्ष व्यापी राजनीतिक अश्वमेध का है।

ततः अश्वमेध के अन्तरंग पक्ष को प्रस्तुत किया गया है, जो कि कर्मकाण्डात्मक एवं दिवसत्रयसाध्य है, जिसमें रात्रिहोम, प्रतिसुत्याह सवनत्रय कृत्य, ब्रह्मोद्य, असिपथ-निर्माण, अवभृथ आदि प्रस्तुत हैं।

राजनैतिक आदि अनेक विषयों की उपलब्धियों के साथ-साथ अश्वमेध की सांस्कृतिक उपलब्धि है—सामाजिक एकता की स्थापना। जिस सामाजिक एकता की स्थापना हेतु अनेक सुधारकों ने सुधारों द्वारा अंशकालिक आंशिक सफलता प्राप्त की है; परन्तु महामहिम ऋषियों ने मात्र 'अवभृथ' सम्पन्न होने के पश्चात् मज्जन मात्र से उसको सिद्ध किया है। इस अतिसामान्य, अल्प आयाससाध्य मज्जन मात्र से सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रिय एकता की स्थापना का मूर्तरूप अश्वमेधमहायज्ञ है। प्रस्तुत प्रबन्ध का 'अश्वमेधपूत' इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। इसमें सामाजिक पृथकता नहीं है, अपितु समानाभिहार है। अश्वमेधपूत का कोई पृथक् वर्ग नहीं है। महामहिम महर्षियों द्वारा अश्वमेधयज्ञ के अवभृथ स्नान के माध्यम से, उक्त अद्भुत सामर्थ्यमूलक समभिव्याहारमूलक नीति, वर्तमान समाज को एक अद्भुत देन है।

अश्वमेधयाग एक पारिवारिक कृत्य जैसा है; परन्तु प्रबन्ध मे प्रस्तुत दृष्टिकोण के आधार पर यह अनुष्ठान एक अन्ताराष्ट्रिय, दीर्घकालव्यापी, विश्वस्तर पर प्रस्तुत दीर्घकालीन परियोजना है। इसका सुदूरगामी प्रभाव इतिहास, भूगोल, पुरातत्त्व, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, समाजशास्त्र आदि समस्त विषयों पर परिवर्तनात्मक परिलक्षित होता है।

अश्वमेध सोमयाग है एवं श्रुति-स्मृति-पुराणादि में इस यज्ञ को श्रेष्ठ माना गया है। प्राचीनतम यज्ञों में परिगणित अश्वमेध महायज्ञ आज के युग में भी समीचीन है, इसलिए इसको लक्ष्य करके प्रबन्ध का निर्माण किया गया है।

१. **प्रथम परिच्छेद** में याग शब्द पर विवेचन करते हुए, याग के दो प्रधान भेद प्रकृति एवं विकृति का विवेचन किया गया है। वेद में श्रौतयज्ञ मुख्य रूप से पाँच हैं—अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास-पशु-सोम। 'सोम' श्रौत हविर्यज्ञ है, जो कि एकाह, अहीन और सत्र में विभाजित है। तीनों का स्वरूप-निरूपण करते हुए अहीन और सत्र में भेद-विचार करके, अश्वमेध को 'अहीनयाग' की संज्ञा दी गई है। अश्वमेधयज्ञ की सप्रयोजनता एवं अन्य श्रौत प्रयोगों से विशिष्टता को प्रतिपादित करने के लिए, उसके दृष्टादृष्टोभयसाधक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अश्वमेध महायज्ञ जैसे वैदिक प्रयोग का दृष्ट प्रयोजन एवं साथ ही वेद-प्रामाण्य के प्रसंग में अदृष्ट प्रयोजन भी दर्शाया गया है। केवल दृष्ट प्रयोजन पक्ष का समर्थन करने पर मर्यादाहानि हो सकती है। श्रीकृष्ण के शब्दों में 'कुर्याद् विद्वान् तथाऽसक्तः चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्', अत एव सत्कर्म परम्परा निर्वाह के लिए अश्वमेध का स्वरूप दृष्टादृष्टोभयसाधक ही मन्तव्य है।

२. **द्वितीय परिच्छेद** में यह स्पष्ट है कि न्यूनातिन्यून कर्म में भी प्रवृत्ति होने के पूर्व व्यक्ति को अपने सामर्थ्य, उद्देश्य, उपलब्धि आदि का निश्चित ज्ञान होना चाहिए। अश्वमेध जैसे ऐतिहासिक कार्य के सम्पादन के लिए अधिकारी का विवेचन है। अधिकारी में सवर्ण-जात्युत्कर्ष एवं अनुलोम संकरादि विभिन्न विषयों का समावेश है। प्रायः 'क्षत्रियात् क्षत्रियायां जातः क्षत्रियः' यही प्रसिद्ध मान्यता है; परन्तु इसमें जात्युत्कर्ष एवं अनुलोम संकर द्वारा भी क्षत्रियत्व की सिद्धि की गई है।

३. **तृतीय परिच्छेद** में उन विशेष अश्वमेध अधिकारियों का निरूपण है, जिनकी वंश-परम्पराओं ने अश्वमेध सम्पादन का प्रथम गौरव अर्जित किया था। इसमें चक्रवर्ती सम्राट् के लक्षणों का सामुद्रिक शास्त्रीय अध्ययन है। अश्वमेध के अन्तिम कर्तृत्व से गौरवान्वित सम्राट् युधिष्ठिर एवं परवर्ती अश्वमेधाभासों का उल्लेख किया गया है।

४. **चतुर्थ परिच्छेद** में विश्वविजय का निरूपण किया गया है। समस्त लौकिक अनुष्ठान देश-काल-सापेक्ष हैं। अश्वमेधयाग में विशाल क्षेत्र की आवश्यकता

है, एक निश्चित 'आश्वीन' परिमाणक स्थान की अपेक्षा है; परन्तु यह आश्वीन परिमाणक क्षेत्र, जिस किसी स्थान के नही, अपितु जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष, तदन्तर्गत भारतखण्ड, तदन्तर्गत आर्यावर्त को ही उपर्युक्त महायज्ञ सम्पादन का गौरव प्राप्त है। इसमें भारतवर्ष और वर्तमान भारतसंघ क्षेत्रों का मानचित्र सहित निरूपण किया गया है।

५. **पञ्चम परिच्छेद** में स्त्रियों की समानाधिकार अथवा महाधिकार विषयक विश्वव्यापी समालोचनाओं को ध्यान में रखकर, अश्वमेधकर्ता की महिषियों का स्वरूप एवं एकाधिक महिषियों और उनके अनुयायियो की विभिन्न परिस्थितियों में अधिकारों का निरूपण स्पष्ट है। प्रसंगत: रासलीला जैसे दिव्य विषय का भी इसमें निरूपण है। षोडश ऋत्विजों के स्वरूप एवं उनके प्राप्यांश का स्पष्टीकरण करते हुए, उनसे अपेक्षित आचरण-मर्यादा का निरूपण है।

५. **षष्ठ परिच्छेद** में विभिन्न प्रकीर्ण विषयों के अनुसार अश्वमेध का अध्ययन एवं अश्वमेध के विभिन्न विषयों पर सम्भावित प्रभावों का स्फुट विवेचन किया गया है। इसमें राजनैतिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत अश्वमेध महायाग की आधुनिक महानिर्वाचन अथवा मध्यावधि निर्वाचन के रूप में प्रस्तुति का प्रयास किया गया है।

७. **सप्तम परिच्छेद** में अश्वसामान्य एवं अश्वमेधीयाश्व का निरूपण किया गया है। अश्वमेध के समानान्तर विधि के रूप में निरूपित नीलवृषोत्सर्ग में अपेक्षित 'नीलवृष' का विशद निरूपण किया गया है।

८. **अष्टम परिच्छेद** में अश्वमेधारम्भ-काल एवं दक्षिणा-निरूपण प्रसंग है। यद्यपि कलियुग में अश्वमेध शब्दत: निषिद्ध है; परन्तु प्रश्न है कि यदि कलिवर्ज्य का ढाल न होता, तो क्या आज अश्वमेध का आयोजन सुलभ होता। इस सन्दर्भ में चतुर्युग विवेचन प्रसंग में कलियुग का पृथक् निरूपण है। प्रसिद्ध शारदीय दुर्गापूजा की अश्वमेधरूपता का निरूपण एवं दक्षिणा प्रसंग का विशेष उल्लेख करते हुए अर्थसम्मत वित्तविकेन्द्रीकरण का माध्यम 'दक्षिणा' को स्पष्ट किया गया है।

९. **नवम परिच्छेद** में अश्वमेध-सम्बन्धी 'अन्तरंग पक्ष निरूपण' किया गया है। इसमें दिनत्रयसाध्य अश्वमेध के कर्मकाण्डात्मक स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है।

१०. **दशम परिच्छेद** में 'ब्राह्मण' शब्द पर संक्षिप्त विवेचन करते हुए अश्वमेध के विषय में भी ब्राह्मणभाग की अपेक्षा की गई है। प्रस्तुत अध्याय में शतपथ, तैत्तिरीय एवं गोपथ-ब्राह्मणानुसार अश्वमेध का अध्ययन किया गया है।

११. किसी भी तथ्य के अध्ययन की पूर्णता के लिए अध्येय विषय के अंगों, उपांगों की अपेक्षा होती है। वेद के षडङ्गों में कल्पान्तर्गत श्रौतसूत्रों का अश्वमेधानुशीलन में विशेष महत्त्व है। **एकादश परिच्छेद** में अश्वमेध के विषय में श्रौतसूत्रों के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है।

१२. किसी भी महानुष्ठान की निर्विघ्न पूर्णता, उस अनुष्ठान की सफलता का द्योतक है। वस्तुतः अश्वमेध की पूर्णता का अनुष्ठानात्मक रूप 'अवभृथ स्नान' है। प्रस्तुत **द्वादश परिच्छेद** में अवभृथेष्टि, अवभृथ स्नान, अघमर्षण आदि का विवेचन किया गया है एवं कतिपय दृष्टिकोणों से अश्वमेध के खण्डन की संभावनाओं के विचार द्वारा इसकी समीचीनता को स्पष्ट किया गया है। अन्त में **उपसंहार** के पश्चात् **परिशिष्ट-भाग** के अन्तर्गत चित्र-मानचित्र-पुस्तक सूची का संकलन है।

यहाँ मैं अत्यन्त गौरव के साथ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के विश्वविख्यात **सरस्वतीभवन-पुस्तकालय** की चर्चा किये बिना नहीं रह सकती, जिसकी असंख्य हस्तलिखित पाण्डुलिपियों, विशेषकर पाण्डुलिपि-सं. ५५२२८ से मैंने प्रभूत सामग्री प्राप्त की है। अतः मैं एतदर्थ सरस्वतीभवन-पुस्तकालय जो कि भारतीय संस्कृति की आत्मा है, को श्रद्धापूर्वक प्रणाम निवेदित करती हूँ।

उपर्युक्त द्वादश परिच्छेदात्मक 'अश्वमेध महायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' नामक प्रबन्ध की भूमिका का समापन मैं श्रीमद्भगवद्गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों से करती हूँ—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु''।। इति शम्।

मिताली देव
एच.९, एच.आई.जी. फ्लैट्स
विकास प्राधिकरण
रवीन्द्रपुरी एक्सटेंसन, वाराणसी

वाराणसी
दीपावली
वि.सं. २०५८

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद : उपक्रमणिकाध्याय १-२९

याग-निरूपण १, याग शब्द का मीमांसाशास्त्रीय विचार २-३, प्रकृतियाग का निरूपण ३-५, विकृतियाग का निरूपण ५-६, श्रौत-प्रयोग ६-७, श्रौत-प्रयोग के भेद ७, श्रौत-हविर्यज्ञ के भेद ७, इष्टिस्वरूप-निरूपण ८, पशुबन्धस्वरूप-निरूपण ८, सोमयागस्वरूप-निरूपण ९, सोमयाग-भेद-निरूपण ९-१३, श्रुति शब्द का अर्थ १३, अश्वमेधयज्ञ का श्रौतप्रयोगों में स्थान १३-१५, अश्वमेधयज्ञ का अन्य श्रौतयज्ञों से वैशिष्ट्य १५-१७, अश्वमेधयाग का प्रयोजन-विचार १७, अश्वमेधयज्ञ-विचार १७-२५, प्रामाण्य सम्बन्धी वैशिष्ट्य २५-२६, स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि २६-२७, योगज-प्रत्यक्ष २७, अश्वमेध के सन्दर्भ में उपर्युक्त तथ्य २७-२९, अश्वमेध का स्वरूप : दृष्टादृष्टोभय साधक २९।

द्वितीय परिच्छेद : अधिकाराध्याय ३०-७१

अश्वमेधयाग सम्पादन की लौकिक एवं आर्थिक योग्यता ३०-३१, यज्ञाधिकारी आर्य होना चाहिए ३१-३२, यज्ञाधिकारी द्विज होना चाहिए ३२-३४, यज्ञाधिकारी क्षत्रिय होना चाहिए ३४-३५, यज्ञाधिकारी राजवंशीय होना चाहिए ३५-३६, यज्ञाधिकारी अभिषिक्त होना चाहिए ३६, यज्ञाधिकारी सम्राट् होना चाहिए ३६-३७, यज्ञाधिकारी सार्वभौम चक्रवर्ती होना चाहिए ३७, यज्ञाधिकारी विवाहित होना चाहिए ३७-३८, यज्ञाधिकारी संयमी-सच्चरित्र होना चाहिए ३८, यज्ञाधिकारी की आर्थिक योग्यता ३८-३९, विभिन्न सिद्धान्तों से क्षत्रियत्व-सिद्धि ४०-४२, जात्युत्कर्षविषयक वैज्ञानिक विश्लेषण ४२-४३, वर्ण-विचार एवं इसका अश्वमेधाधिकारित्व में निरसन ४४, जातक-वर्ण-निर्णय ४४-४७, जन्मवाद एवं कर्मवाद का समन्वय ४७-४८, दार्शनिक दृष्टि से शरीर-प्राप्ति—संक्षिप्त विचार ४८-४९, न्यायदर्शनानुसार जीव का स्वरूप ४९-५०, अश्वमेध : प्रमुखतया क्षत्रियसाध्य याग ५१, राजनीतिप्रधान यागों का नामसंकीर्तन ५१, अश्वमेधोपयुक्त कालविवेचन ५१-५२, अश्वमेधाधिकारी-विवेचन ५२-५४, अश्वमेधोपयुक्त देशविवेचन ५४, यज्ञसामान्य के लिए

उपयुक्त भूमि ५४-५५, अश्वमेधयज्ञोपयुक्त भूमि का स्वरूप ५५-५६, दशाश्व-मेध घाटों का विवेचन ५६-५७, अश्वमेधयज्ञार्थ उपकरण-विवेचन ५७-६६, अश्वमेध-याग का प्रयोजन ६६-६८, अश्वमेध-याग में उपलब्धि एवं महत्त्व ६८, अश्वमेध की परिस्थितियाँ ६८, उत्तरदायित्व की अनिवार्यता ६९, उत्तरदायित्व की स्थायिता = जन्मतः उत्तरदायित्व ६९, उत्तरदायित्व—अधिकार अथवा भार ६९, अधिकार और भार में भेद ६९-७०, प्रकृत प्रसंग में उक्त तथ्यों का विवेचन ७०, अश्वमेध-याग का महत्त्व ७१।

तृतीय परिच्छेद : अधिकारिलक्षणाध्याय ७२-११३

क्षत्रियसाध्य सोमयाग : अश्वमेध एवं राजसूय ७२, सोमयाग का संक्षिप्त विवेचन ७२-७३, सोमयाग विशेष ७३, राजसूय और सोम ७४, सोमक्रयण-विधियाँ ७४-७५, क्षत्रियकर्तृक सोमरसपान-निषेध ७५-७६, सोम और राजसूय ७६-७७, सोम और सोमलता ७७-७८, सोमलता की दुर्लभता ७८, सोमसादृश्य-विचार ७८, सिनीवाली और कुहू ७९, सोमलता और अमावास्या ७९, सोमलता और अन्य वनस्पतियाँ ७९, सोम = औषधीश ७९, राजसूय, अश्वमेध ७९, राजसूय का संक्षिप्त परिचय ८०, राजसूयारम्भ-काल ८०, कतिपय अनुष्ठान ८१, द्वादशाहुति विशेष ८१, दशपेय कृत्य ८२, देवसू हवि ८२, दिशाओं से जलानयन ८२-८३, अभिषेक ८३, विशेष होमद्वय ८३-८४, चमसभक्षणसन्धि ८४, चमससन्धि का स्वरूप ८४-८५, पशुबन्ध ८५, यजमानपत्नी का वस्त्रविन्यास ८५, राजसूय का संक्षिप्त रूप ८५-८६, राजसूय और अश्वमेध में कालसाम्य ८६, राजसूय और अश्वमेध का साधर्म्य-वैधर्म्य ८६, पौराणिक कोश एवं हिन्दूधर्मकोशानुसार राजसूय यज्ञ ८७, राजसूय शब्दार्थ ८७-८८, अभिषवण-शब्दार्थ ८८, राजसूय शब्द-विमर्श ८९-९०, सम्राट्-लक्षण-विमर्श ९०-९२, चक्रवर्ती-लक्षण-विमर्श ९३-९४, चक्रवर्ती लक्षणों का संक्षिप्त विवेचन ९४-९५, राजा एवं चक्रवर्ती शब्द-विमर्श ९५-९६, चक्रवर्ती के सप्तरत्न ९७, चक्रवर्ती एवं सम्राट् लक्षण समन्वय ९७-९८, चक्रवर्ती क्षेत्र-निरूपण ९८, चक्रवर्ती क्षेत्र का विशेष स्पष्टीकरण ९८, विभिन्न क्षेत्रों का शास्त्रीय प्रमाण ९९-१००, विशेष ध्यातव्य विषय १००, दक्षिण भारत और अश्वमेधयज्ञ १००-१०१, अश्वमेधयज्ञ के प्रथम सम्पादक १०१, आचार्य मनु १०२, वैवस्वत मनु १०२, विश्व को वैवस्वत मनु की देन १०३, महाराज मनु और अश्वमेध यज्ञ १०३-१०४,

इक्ष्वाकु १०४, पृथु १०४-१०६, भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश १०६, सूर्यवंश १०७, चन्द्रवंश १०७-१०८, अग्निवंश १०८, तीनों वंशों से सम्बन्धित पौराणिक मान्यता १०९, अन्तिम अश्वमेध सम्पादक : सम्राट् युधिष्ठिर १०९-११०, युधिष्ठिर अभिषेक ११०, अश्वमेधयज्ञ ११०-१११, राजप्रबन्ध १११, धृतराष्ट्र-प्रस्थान १११, अर्थशास्त्रविद् बह्वृच् शाम्बव्य १११-११२, कृष्णपौत्र वज्र ११२, जनमेजयकर्तृक अश्वमेधाभास ११२-११३।

चतुर्थ परिच्छेद : विश्वविजयाध्याय **११४-१६५**

पौराणिक जम्बूद्वीप का निरूपण ११४-११५, विश्वविजय एवं अश्वमेधयज्ञानुष्ठान ११५-११६, जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीप ११७-१२१, सप्तद्वीपा वसुमती का चतुर्दलपद्माकार रूप १२१-१२५, सप्तद्वीपा पृथ्वी १२५-१२६, जम्बूद्वीप एवं भारतवर्ष १२७, सप्तद्वीपा वसुमती में जम्बूद्वीप की स्थिति १२७-१२८, जलवायु १२८, जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति १२८-१२९, जम्बूद्वीप सम्बन्धी पौराणिक मत की समीक्षा १२९, जम्बूद्वीप में भारतवर्ष की स्थिति १२९-१३०, 'वर्ष' शब्द का विवरण १३०-१३३, महाराज भरत के कारण भारतवर्ष नामकरण १३३-१३४, मनु भी भरत है—एक नवीन तथ्य १३४-१३५, अन्य भरतों का परिचय १३५-१३८, भारतवर्ष एवं अजनाभवर्ष १३८, आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति का मत १३८-१३९, भारताग्नि का परिचय १३९, हिन्दूधर्मकोशानुसार भरत १३९-१४०, ब्रह्मौदन अथवा भारताग्नि १४०-१४१, वैदिक/पौराणिक मतों का समन्वय १४१, भारतवर्ष और भारतखण्ड का भिन्नाभिन्नत्व १४२-१४३, भारतवर्ष और उसकी प्राचीन सीमा १४३-१५०, भरतखण्ड का निरूपण १५०-१५१, भिन्नाभिन्नत्व का विचार १५१, भारतवर्ष और वर्तमान भारतसंघ १५१-१५३, दशाश्वमेधरूप अश्वमेध-विशेष १५३, आध्यात्मिक दशाश्वमेध १५३-१५४, पौराणिक दशाश्व-मेध १५४-१५५, इन्द्रत्व का स्वरूपयोग्यतारूपी अश्वमेधविशेष १५५-१५७, शताश्वमेधकर्तृत्व १५७, अश्वमेध विशेष—शतक्रतु एवं शक्र शब्द विमर्श १५७-१५८, शताश्वमेधों पर इन्द्रकर्तृक विघ्नसम्पादन का कारण १५८-१५९, शक्र शब्द की बीजमन्त्रात्मकता १५९, शक्र शब्द का शक्तिग्रह १६०-१६१, प्रसंगत: द्विरेफ शब्द पर विचार १६१, आधुनिक दृष्टि से शक्र शब्द पर विचार १६२-१६५।

पञ्चम परिच्छेद : साम्राज्ञी एवं ऋत्विक्-निरूपणाध्याय १६६-१९५

अश्वमेधयाजी की पत्नियों का निरूपण १६६-१६८, महिषी का निरूपण १६९-१७०, वावाता का निरूपण १७०, परिवृक्ता का निरूपण १७०-१७१, पालागली का निरूपण १७१-१७२, राजा की महिषियों की कोटियाँ—सवर्णा १७३, असवर्णा १७४-१७५, अभिषिक्ता १७५-१७६, अनभिषिक्ता १७६, परिणीता १७६-१७७, अपरिणीता १७७-१७९, अभिषिक्त यजमान का वर्षपर्यन्त आचरण निरूपण १७९-१८०, अश्वमेधयाजी अर्थात् इन्द्रियजयी १८०, सम्राट्-पत्नियों की सेविकाएँ १८०-१८१, महिषी का विशेष आचरण १८१-१८२, महिषी का मृत अश्व के साथ शयन का रहस्य १८२, अश्वमेध में स्त्री-पुरुष वाद-विवाद सह प्रतियोगिता १८३, यज्ञोपसंहार से पूर्व सेविकाओं का नियोजन १८३, अश्वमेधयाजी का राजनैतिक आचरण १८३-१८४, अश्वमेधयज्ञ—प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग की अन्तिम उपलब्धि १८४, तान्त्रिक पद्धति में प्रवृत्ति मार्ग का समन्वय १८४-१८५, वैदिक दृष्टि से प्रवृत्ति मार्ग का समन्वय १८५, निवृत्ति मार्ग की उपलब्धि १८५-१८७, वेद क्या है? १८७, स्ववेदान्तर्गत स्वशाखाध्ययन १८८, परशाखाश्रयण-निन्दा १८९-१९०, स्वशाखा में अनुक्त कर्म १९०, स्वशाखा-परशाखा विचार १९०-१९१, अश्वमेध के प्रसङ्ग में स्वशाखाध्येता १९१, प्रकृत समस्या का समाधान १९१, यजमान एवं आचार्य का समानशाखीय विचार १९२, ऋत्विजों एवं सह-ऋत्विजों की खोज १९२-१९३, ऋत्विजों एवं सह-ऋत्विजों के वर्ण, आचरणादि का निरूपण १९३-१९४, याजकों की आर्थिक प्रवृत्ति १९४-१९५, उपर्युक्त कार्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन १९५।

षष्ठ परिच्छेद : विभिन्न शास्त्रों के दृष्टिकोण से अश्वमेध-विमर्श १९६-२६३

अश्वमेधयाग का राजनैतिक स्वरूप १९६-१९७, अश्वमेध : आधुनिक महानिर्वाचन अथवा मध्यावधि निर्वाचन १९७, विशेष परिस्थितियों में मध्यावधि चुनाव १९७, अश्वमेधयज्ञ और उक्त विचार की प्रासंगिकता १९७-१९९, अश्वमेधयज्ञ का चिकित्साशास्त्रीय अध्ययन १९९-२००, वाजि शब्द की सिद्धि २००-२०१, अश्वमेधीयाश्व का चिकित्साशास्त्रीय स्वरूप २०१-२०२, वैज्ञानिक प्रक्रिया से कायाकल्प २०२-२०४, अश्वमेधयज्ञ एवं वाजी-

करण का निरूपण २०४-२०५, अश्व-महिषी का सहशयन : वैज्ञानिक रहस्य २०५-२०६, अश्वमेध से पुत्रोत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रिया २०६-२०७, रज-वीर्य कीटाणु का रोगग्रस्त होना २०७, पूर्वोक्त अश्व के कायाकल्प का स्पष्टीकरण २०८, प्रसंगत: जैमिनीय अश्वमेध की उद्धृति २०८, वर्तमान चिकित्साविज्ञान का आत्मसमर्पण २०८-२०९, गर्भाशय शोधन की वैदिक चिकित्सा २०९-२१०, अश्व का उपयोग अनिवार्य २१०-२११, अश्वमेधयज्ञ का प्रसूतिविज्ञानशास्त्रीय अध्ययन २११-२१२, अश्वमेधोपयुक्त ययु प्रजाति की प्राप्ति का उपाय २१२-२१४, अश्वमेधीयाश्व के उद्धार की सम्भावनायें २१४-२१६, वृक्षायुर्वेद का दृष्टान्त २१६, अश्वमेधयज्ञ का अश्वायुर्वेदशास्त्रीय अध्ययन २१६-२१७, अश्व सामान्य का अवयव परिचय २१७-२२०, अश्वशरीर-विभाग २२०-२२१, अश्व एवं यान्त्रिक साधनों पर विचार २२१, अश्वमेधयज्ञ का कर्मकाण्डीय अध्ययन २११-२२२, कर्मकाण्ड का स्वरूप २२२, व्याकरणशास्त्रीय विचार २२२-२२३, मीमांसा-मत २२३-२२६, अश्वमेधयज्ञ का अर्थशास्त्रीय अध्ययन २२६-२२८, अश्वमेधयज्ञ का राजनीतिशास्त्रीय अध्ययन २२८-२३२, अश्वमेधयज्ञ का भूगोलशास्त्रीय अध्ययन २३२-२३३, अश्वमेधयज्ञ का पुरातत्त्वशास्त्रीय अध्ययन २३३-२३७, अश्वमेध का ऐतिहासिक अध्ययन २३७-२३८, अश्वमेधयज्ञ का आनुवंशिक विज्ञानशास्त्रीय अध्ययन २३८-२४०, अश्वमेधयज्ञ का नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन २४०-२४२, अश्वमेधयज्ञ का निदानशास्त्रीय अध्ययन २४२-२४३, अश्वमेधयज्ञ का पर्यावरण-शास्त्रीय अध्ययन २४४-२४५, अश्वमेधयज्ञ का ज्योतिषशास्त्रीय अध्ययन २४५-२४६, अश्वमेधयज्ञ का कराधानदृष्ट्या अध्ययन २४६-२४८, अश्वमेधयज्ञ का कोषशास्त्रीय अध्ययन २४८-२५०, अश्वमेधयज्ञ का धर्मशास्त्रीय अध्ययन २५०-२५३, अश्वमेधयज्ञ का नीति-शास्त्रीय अध्ययन २५३-२५४, अश्वमेधयज्ञ का मनोविज्ञानशास्त्रीय अध्ययन २५४-२५६, अश्वमेधयज्ञ का समाजशास्त्रीय अध्ययन २५६-२५७, अश्वमेधयज्ञ का युद्धशास्त्रीय अध्ययन २५७-२६३।

सप्तम परिच्छेद : अश्वलक्षणाध्याय **२६४-३२०**

अश्वमेधयज्ञ में अश्व का महत्त्व २६४, अश्वशब्द का कोश-शास्त्रीय अध्ययन २६५-२६६, अश्वशब्द का अश्वभिन्न अर्थ २६६, मेध पद की व्युत्पत्ति एवं कोशगत अध्ययन २६६-२६७, अश्व-

लक्षण-निरूपण २६७-२६८, अश्व रोम-वर्ण-भेद से शुभाशुभ-लक्षण २६८-२६९, अश्वाङ्ग-चेष्टादि शुभाशुभ-लक्षण २६९-२७१, अश्वमान-निरूपण २७१-२७२, अश्वगत शुभाशुभ-लक्षण २७२-२७४, विशेष शुभास्पद अश्व २७४, अश्वगतिसम्बन्धी शुभाशुभालक्षण २७४-२७५, अश्व का वर्णगत भेद २७५, अश्व का दन्तादि-प्रजनन-काल २७६, अश्वपुण्ड्र-लक्षण २७६-२७७, आवर्त-लक्षण २७७-२७९, अश्व सम्बन्धी जाति-विचार २८०, यज्ञ में अग्राह्य अश्व २८०-२८१, अश्वमेधीयाश्व का स्वरूप २८१-२८२, अश्वमेधीयाश्व का लक्षण २८२, अश्वमेधोपयुक्त अश्व का प्राप्ति-स्थान २८२-२८४, अश्व का अंग-विभाग संज्ञा-विमर्श २८४-२८५, अश्वाङ्ग-विभाग २८५-२८६, अश्व की विभिन्न जातियाँ एवं अश्वमेधीयाश्व २८६-२८८, ययु एवं नीलवृष का निरूपण २८८-२९१, अश्वशास्त्रोक्त अङ्गलक्षण-प्रकरणाध्याय २९१-३००, अश्वशास्त्रोक्त पुण्ड्रलक्षणाध्याय ३००-३१९, अश्वशास्त्रोक्त आयुर्लक्षणाध्याय ३१९-३२०।

अष्टम परिच्छेद : काल एवं दक्षिणा-निरूपणाध्याय ३२१-३५६

कलियुग में अश्वमेध-निषेध-कारण-विचार ३२१-३२२, अश्वमेधकर्ता की वैधता ३२२, अश्वमेधोपकरणों की उपलब्धता ३२२-३२३, अश्वमेधयागकर्म की सम्पन्नता की दुर्लभता ३२३-३२४, चतुर्युग-प्रमाण ३२४-३२५, कालविमर्श ३२५-३२७, काल के सूक्ष्म परिणाम ३२७-३२८, अमरकोशानुसार कालमानबोधक विवरण ३२८, कलियुग का पृथक् प्रमाण ३२९, चतुर्युग का मानुष एवं दिव्य प्रमाण ३३०, चतुर्युग के विषय में कतिपय विशेष तथ्य ३३०-३३१, कलियुगारम्भ एवं अतीत कलिवर्ष ३३१-३३२, सर्वप्रथम अश्वमेधसम्पादक सम्राट् मनु का वंशवृक्ष ३३२, सत्ययुग के प्रमुख यज्ञकर्ता सम्राट् ३३२-३३३, त्रेतायुग के प्रमुख सम्राट् ३३३-३३५, द्वापरयुग के प्रमुख सम्राट् ३३५-३३६, कलियुग के प्रमुख सम्राट् ३३६-३३७, कलियुग में शारदीय दुर्गा महापूजा की अश्वमेधरूपता ३३७-३३९, अश्वमेधयज्ञ एवं शारदीय महापूजा का साम्यासाम्य विचार ३३९-३४२, अश्वमेधयज्ञ एवं दुर्गा महापूजा का मुख्य अनुष्ठेय साम्यविचार ३४२-३४३, शारदीय दुर्गा महापूजा में अनुष्ठेय विधियाँ ३४३, दुर्गापूजा का सार्वभौम रूप : महास्नान ३४४-३४५, अश्वमेधयज्ञ एवं शारदीय महापूजा में वैधर्म्य ३४५-३४६, दक्षिणा-

विचार ३४६-३४८, दक्षिणा-माहात्म्य ३४८-३५१, ऋत्विक् पद का सामान्य परिचय ३५१-३५४, अश्वमेध की निश्चित दक्षिणा का निरूपण ३५४-३५५, अश्वमेधयाग से वित्त का विकेन्द्रीकरण ३५५-३५६।

नवम परिच्छेद : अश्वमेधाध्याय ३५७-४३१

सम्पूर्ण अश्वमेधयाग-विधि का संक्षिप्त निरूपण ३५७, अश्वमेध महायज्ञ का अन्तरंग पक्ष ३५७-३५८, अश्वमेधयज्ञ-विधि का संक्षिप्त निरूपण ३५९, यज्ञ का फल, प्रयोजन एवं पूर्वाङ्ग कर्म ३५९-३६०, अश्वमेधयाग की पूर्ण अवधि ३६०, ब्रह्मौदन की दक्षिणा ३६०, अध्वर्यु द्वारा यजमान का अलङ्करण ३६०-३६१, चतुरक्ष श्वा का मारण ३६१, सावित्री इष्टि ३६१, अश्वसंस्काराङ्ग होम ३६२, दिग्विजयार्थ अश्वप्रेषण-विधि ३६२, पारिप्लवाख्यान की प्रस्तुति ३६२-३६३, प्रक्रम, धृति-होम-विधान, अश्वमेधयाग का प्रारम्भ-कालविचार ३६३, अश्व की सुरक्षा ३६३-३६४, प्रधान संकल्प ३६४, ऋत्विजों का क्रम-सन्निवेश ३६४-३६५, दीक्षा-विधान ३६५, अश्वमेधयज्ञार्थ यूप ३६५-३६६, वेदि-प्रमाण, सोमक्रय, अग्निषोमीय इष्टि का विधान, पश्वङ्गों का अवदान ३६६, यूप-विवरण ३६६-३७०, पशुसंज्ञपनार्थ अपेक्षित सामग्री ३७०-३७१, अवघात की विधि ३७१, यूपबन्धन में पशुओं की स्थिति ३७१-३७२, आरण्य-पशुबन्धन ३७२, आश्वमेधिक प्रथम सुत्याह ३७३-३८१, प्रथम सुत्याह का माध्यन्दिन = द्वितीय सवन ३८१-३८५, तृतीय सवन की विधि ३८५-३८७, आश्वमेधिक द्वितीय सुत्याह ३८७-३९६, ब्रह्मोद्यसंवाद-चक्र ३९६-३९७, तृतीय सुत्याह के प्रातःसवन के विविध कृत्य ३९८-४१४, तृतीय सुत्याह के द्वितीय सवन के विविध कृत्य ४१४-४१६, तृतीय सवन प्रकरण ४१६-४२७, अवभृथ इष्टि-स्नान की विशेषता ४२७-४२८, उदयनीयेष्टि ४२८, अश्वमेध का अंगभूत अनुवन्ध्या-कर्मानुष्ठान ४२८-४२९, उदवसानीय इष्टि की सामान्य दक्षिणा ४२९, विशेष दान-विधि ४२९, प्राकृत अग्नि-होत्रशाला में अग्नि-स्थापन ४२९-४३०, अश्वमेधयाग की पूर्णता में संवत्सर अवधिकानुष्ठान ४३०-४३१।

दशम परिच्छेद : अश्वमेधब्राह्मणाध्याय ४३२-४८१

ब्राह्मणों का साहित्य और अश्वमेध ४३२, ब्राह्मण साहित्य की विलक्षणता ४३३-४३५, अश्वमेध नामक त्रयोदश काण्ड की रूपरेखा ४३६,

माध्यन्दिनशाखीय शतपथब्राह्मणानुसार अश्वमेध-विवेचन ४३६, ब्रह्मौदन-पाक ४३६-४३७, अश्व का बन्धन, प्रोक्षण ४३७-४३८, यजुर्मन्त्रों के प्राधान्य के उदाहरण ४३८, सहस्राहुति का विवेचन ४३९, सहस्राहुति का प्रकार ४३९-४४०, सावित्री इष्टि एवं गाथागान ४४०, अश्व-कर्ण में जप एवं धृति-होम ४४०-४४२, औदग्रभण-होम ४४२, अध्वर्युकर्तृक जप ४४२, आज्य-सक्तु-धाना-लाज-होम ४४३, पर्यङ्गपशु-निरूपण ४४३-४४४, उद्गात्र अन्वारम्भ ४४४, ग्राम्य पशुओं का आलम्भन, आरण्य पशुओं का उत्सर्ग ४४४, पश्वेकादशिनी ४४५, अश्व का नियोजन बन्धन ४४५-४४८, मृत अश्व का परिक्रमण ४४८, संवाद ४४८-४४९, परिपशव्याहुति ४४९-४५०, अश्व का अवदान ४५०, अश्वमेध द्वारा अपमृत्यु का निरास ४५०, अश्वस्तोमीय होम ४५०-४५१, अश्वमेध-प्रायश्चित्त ४५१-४५२, अश्वमेधारम्भ-कालादि ४५२-४५३, अश्वमेधयज्ञ का असिधारा व्रत रूप ४५३, सावित्री इष्टियाँ एवं पारिप्लवाशंसनादि ४५३-४५४, अश्व के सहगामी सैनिकादि, अश्व के सहगामी अश्वान्तर ४५४, सहगामी अश्वों का निरूपण ४५४-४५५, सावित्री इष्टि के भेद ४५५, पारिप्लव-वाशंसन ४५५-४५७, प्रथम अश्वमेधयाजी का पुण्य स्मरण ४५७, प्रक्रम आहुति ४५७, कतिपय अन्य आहुतियाँ ४५७-४५९, यूपकाष्ठादि ४५९, वाग्विसर्जन ४५९-४६०, यूपदारु ४६०, द्वितीय सुत्याह कृत्य ४६०-४६१, द्वितीय सुत्याह का सवनत्रय ४६१-४६२, संज्ञपन ४६३, संवाद ४६३-४६४, ब्रह्मोद्य कर्म ४६४-४६५, ब्रह्मोद्य के पश्चात् कृत्य ४६५, वपा-होम ४६५-४६६, वेदोक्त अश्वमेधयाजी राजाओं का वर्णन ४६६-४६८, दक्षिणा-निरूपण ४६८, ऋत्विजों में दिशादान-विभाजन ४६८, प्रत्यृतु पश्वालम्भन ४६९, कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय-ब्राह्मण और अश्वमेध-यज्ञ ४६९-४७०, तैत्तिरीय-ब्राह्मणानुसार अश्वमेधयज्ञ-विवरण ४७०-४७९, अथर्ववेदीय गोपथ-ब्राह्मण और अश्वमेधयज्ञ ४७९-४८१।

एकादश परिच्छेद : अश्वमेध-श्रौतसूत्राध्याय ४८२-५०६

श्रौतसूत्र एवं अश्वमेध—वेदाङ्ग शब्द का अर्थ एवं महत्त्व ४८२, वेदाङ्ग के भेद, शिक्षा का स्वरूप ४८२, कल्प का स्वरूप ४८२-४८३, व्याकरण, निरुक्त एवं छन्द का स्वरूप ४८३, ज्योतिष का स्वरूप ४८३-४८४, कल्पसूत्र के भेद ४८४, श्रौतसूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य ४८४-४८५, अश्वमेध और श्रौतसूत्र ४८५-४८६, आश्वलायन-श्रौतसूत्र में अश्वमेधयज्ञ ४८६-४९०, शाङ्खायन-श्रौतसूत्रानुसार अश्वमेध-विचार ४९०-४९६, द्राह्यायण-श्रौतसूत्रानुसार

अश्वमेधयज्ञ ४९६-५००, लाट्यायन-श्रौतसूत्र में अश्वमेधयज्ञ ५००-५०६, समीक्षा ५०६।

द्वादश परिच्छेद : उपसंहाराध्याय **५०७-५३६**

यज्ञान्त-स्नान-विमर्श—स्नान का सामान्य स्वरूप ५०७, स्नान का शास्त्रीय रूप ५०७, अवभृथ-स्नान-विमर्श ५०८-५११, अघमर्षण का पापनाशकत्व ५११, अघमर्षण-शब्दार्थ ५११, पापनिरसनार्थ विधियाँ ५१२, विभिन्न श्रुतियों एवं स्मृतियों में अवभृथ-मन्त्र ५१२-५१४, अवभृथेष्टि और अवभृथ-स्नान की प्रक्रिया ५१४-५१६, सोमयाग और चातुर्मास्येष्टि अवभृथ में भेद ५१६, अश्वमेधीय अवभृथ में विशेष ५१६, अश्वमेधयज्ञ का खण्डन-विमर्श ५१७-५१९, अश्वमेध का उल्लेखपूर्वक खण्डन ५१९, अवैदिक दार्शनिकों द्वारा अश्वमेध का खण्डन ५१९-५२०, कर्मयोग में अश्वमेध निष्प्रयोजन ५२०, भक्तियोग में अश्वमेध निष्प्रयोजन ५२१, ज्ञानमार्ग में अश्वमेधयज्ञ निष्प्रयोजन ५२२, तान्त्रिक अनुष्ठान ५२२-५२३, वैधहिंसा-विचार ५२३-५२४, मीमांसकमतमीमांसा ५२४, अश्वमेधयज्ञ का मीमांसाशास्त्रीय अध्ययन ५२५-५२६, भावना-शब्दार्थ ५२६, लेडर्थ-विचार ५२७, प्रवर्तना-शब्दार्थ ५२७-५२९, मीमांसकों का विधिलभ्य अर्थविचार-प्रसंग ५२९-५३०, उदयनाचार्य का मत ५३०, बौद्धों का अनुमान ५३०, खण्डन स्वयं में हास्यास्पद ५३१, वैधहिंसा की संस्तुति ५३१, उत्तरमीमांसा का स्पष्टीकरण ५३१-५३२, पञ्चशिखाचार्य का मत ५३२, महानिष्कर्ष ५३२-५३३, उपसंहार ५३३-५३५, अश्वमेध से भावी सन्तति-निर्माणार्थ सुवर्णमय अतीत की झलक ५३५-५३६।

परिशिष्ट-क : यज्ञीय-पात्र-सूची ५३७-५४८

परिशिष्ट-ख : सहायक-ग्रन्थसूची ५४९-५६७

परिशिष्ट-ग : अश्व-चित्र ५६९-५७४

सङ्केत-बोधिका

अमर॰	=	अमरकोश
अ॰वे॰	=	अथर्ववेद
आ॰श्रौ॰सू॰	=	आपस्तम्बश्रौतूसत्र
आश्व॰श्रौ॰सू॰	=	आश्वलायनश्रौतसूत्र
ऋ॰भा॰भू॰	=	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
ऋ॰वे॰	=	ऋग्वेद
ऐ॰आ॰	=	ऐतरेय आरण्यक
ऐ॰ब्रा॰	=	ऐतरेय ब्राह्मण
कठ॰उ॰	=	कठोपनिषद्
का॰श्रौ॰सू॰	=	कात्यायनश्रौतसूत्र
का॰श्रौ॰भू॰	=	कात्यायनश्रौतसूत्रभूमिका
का॰शु॰सू॰	=	कात्यायनशुल्बसूत्र
का॰सं॰	=	काठकसंहिता
काण्व॰सं॰	=	काण्वसंहिता
कालिका॰पु॰	=	कालिकापुराण
कू॰पु॰	=	कूर्मपुराण
कौ॰ब्रा॰	=	कौषीतकिब्राह्मण
कृ॰य॰वे॰	=	कृष्णयजुर्वेद
ग॰पु॰	=	गरुडपुराण
गो॰ब्रा॰	=	गोपथब्राह्मण
गौ॰सू॰	=	गौतमसूत्र
गौ॰श्रौ॰सू॰	=	गौतमश्रौतसूत्र
जै॰सू॰	=	जैमिनीयसूत्र
जै॰आश्व॰	=	जैमिनीयाश्वमेध
ता॰महा॰ब्रा॰	=	ताण्ड्यमहाब्राह्मण

तै॰आ॰	=	तैत्तिरीय आरण्यक
तै॰उ॰	=	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै॰ब्रा॰	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै॰सं॰	=	तैत्तिरीयसंहिता
द्रा॰श्रौ॰सू॰	=	द्राह्यायणश्रौतसूत्र
देवी॰भा॰पु॰	=	देवीभागवतपुराण
ना॰पु॰	=	नारदीयपुराण
पंचविंश॰ब्रा॰	=	पञ्चविंशब्राह्मण
पद्म॰पु॰	=	पद्मपुराण
ब्र॰पु॰	=	ब्रह्माण्डपुराण
ब्रह्म॰पु॰	=	ब्रह्मपुराण
ब्रह्म॰वै॰पु॰	=	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भा॰पु॰	=	भागवतपुराण
भविष्य॰पु॰	=	भविष्यपुराण
म॰स्मृ॰	=	मनुस्मृति
महा॰भा॰	=	महाभारत
मही॰भाष्य	=	महीधरभाष्य
म॰पु॰	=	मत्स्यपुराण
मार्क॰पु॰	=	मार्कण्डेयपुराण
मु॰उ॰/मुण्डक॰उ॰	=	मुण्डकोपनिषद्
मे॰	=	मेदिनीकोश
मै॰सं॰	=	मैत्रायणीसंहिता
य॰वे॰	=	यजुर्वेद
या॰स्मृ॰	=	याज्ञवल्क्यस्मृति
ला॰श्रौ॰सू॰	=	लाट्यायनश्रौतसूत्र
लिङ्ग॰पु॰	=	लिङ्गपुराण
वाच॰	=	वाचस्पत्यम्
वाज॰सं॰	=	वाजसनेयिसंहिता
वा॰रा॰	=	वाल्मीकि-रामायण

वा॰ पु॰	=	वायुपुराण
वि॰ पु॰	=	विष्णुपुराण
विश्व॰	=	विश्वकोश
वै॰ इ॰	=	वैदिक इण्डेक्स
वै॰ श्रौ॰ सू॰	=	वैतानश्रौतसूत्र
वृ॰ उ॰	=	बृहदारण्यकोपनिषद्
श॰ ब्रा॰	=	शतपथब्राह्मण
शां॰ श्रौ॰ सू॰	=	शांखायनश्रौतसूत्र
शां॰ ब्रा॰	=	शांखायनब्राह्मण
श्रौ॰ पदार्थ॰	=	श्रौतपदार्थनिर्वचन
स॰ श्रौ॰ सू॰	=	सत्याषाढश्रौतसूत्र
सर्वतन्त्र॰	=	सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसङ्ग्रह
सा॰ वे॰	=	सामवेद
स्कन्ध॰ पु॰	=	स्कन्दपुराण
हरि॰ पु॰	=	हरिवंशपुराण
हि॰ श्रौ॰ सू॰	=	हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र
हैमा॰	=	हैमकोश

प्रथम परिच्छेद

उपक्रमणिकाध्याय

याग-निरूपण

याग शब्द यज्ञ के अर्थ में कोशों[1] एवं विभिन्न ग्रन्थों[2] में उपलब्ध है। इसमें याग शब्द का अर्थ किया गया है—''**इज्यते अनेन अस्मिन् वा इति यागः**''[3]। परन्तु याग शब्द का व्यापक अर्थनिरूपण मीमांसादि दर्शनों में उपलब्ध होता है।

---

१. (क) यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः। (अमर०, २.७.१३)

(ख) क्रतुर्यज्ञे मुनौ पुंसि। (मे०, ५८.८)

(ग) अध्वरः सावधाने स्याद् वसुभेदे क्रतौ पुमान्। (मे०, १६३.१०५)

(घ) यज्ञः स्याद् आत्मनि मखे नारायणहुताशयोः। (हैम०, २.८९)

(ङ) देवतोद्देश्येन हविस्त्यागः, यूपसम्बन्धरहितत्वे सति शास्त्रविहितकर्मविशेषः। (सर्व०तन्त्र) इति यज्ञः।

(च) मन्त्रकरणकः

१. वह्न्याद्यधिकरणं वा।

२. सयूपत्वे सत्यन्त्याहुतित्वम्। अग्निहोत्रवारणाय सत्यन्तम्, देवगृहस्थण्डिलविशेष-वारणायान्त्याहुतिरिति।

३. देवोद्देश्येन द्रव्यत्याग इति यागः। (सर्व०तन्त्र)

(ज) यूपसहिते, सोमसाध्ये यज्ञे, सङ्कल्पे, ब्रह्मणो मानसे पुत्रे इति क्रतुः। (वाच०)

२. (क) कूर्मपुराणे निम्नलिखिताः श्लोकाः द्र०—
यजन्ति विविधैः यज्ञैः। (१.४७.२४ ए), यजेच्चामरणाल्लिङ्गे। (२.११.९२ सी.), यजेत जुहुयादग्नौ। (१.२.१०७ ए.), यजेत जुहुयान्नित्यं। (१.२९.५० ए)।

(ख) वामनपुराणे निम्नलिखितश्लोकाः द्र०—
यज्ञं समादाय जगाम तूर्णम्। (६५.६१.सी), यज्ञकर्माधिकारस्थान्। (सा०मा०,१०.३८सी.), यज्ञदानतपांसीह। (१४.१६ए.), यज्ञदीक्षाबले शुक्रस्। (६२.२८सी.)।

(ग) वाराहपुराणे निम्नलिखितश्लोकाः द्र०—
यज्ञं च सरहस्यं नो। (३३.२६सी.), यज्ञकोटिफलं भुक्त्वा। (१४५.४०सी.), यज्ञभागार्थमेतस्मिन्। (२१.३८सी.) यज्ञलोकाधिपतये। (५७.६सी.)।

३. यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। (जु०उ० अ०, हलश्च-३.३.१२१ इति घञ् अत उपधायाः—७.२.११६; चजोः कुः घिण्[-ण्यतोः-७.२.५२)।

याग शब्द का मीमांसाशास्त्रीय विचार

देवतोद्देश्यक अग्नि में प्रक्षिप्त विशिष्ट द्रव्य का त्याग याग है।[1]

विशिष्टता = मन्त्रपूर्वकता। "**यागो देवोद्देश्येन द्रव्यत्यागः**"। यज्ञ = याग।

वेद में "यजति" पद घटित प्रेरणात्मक वाक्यों[2] में यज् धातु का एक निश्चित अर्थ है,[3] उसी वाक्य में किसी विशिष्ट द्रव्य का भी निर्देश होता है, तत्सम्बन्धी दूसरे वाक्य में देवता का भी विधान होता है। इन समस्त वाक्यों की एकवाक्यता करने पर यह निश्चित होता है कि :

"सम्बद्ध वाक्यान्तर में विहित देवता को उद्देश्य करके, विहित द्रव्य का, विहित मन्त्रपूर्वक अग्नि में प्रक्षेपात्मक "**इदमिन्द्राय न मम**" इत्यादि शब्दोच्चारणानुरूप व्यापार विशेष ही याग पदार्थ है।"

अतः उक्त यागकर्म त्यागरूप है, इस कारण तद् यागार्थ गृहीतसंकल्प यजमान ही इसका अधिकारी है — होता; उद्गाता; ब्रह्मा अथवा इसके तीन-तीन सहायक = सोलह ऋत्विकों[4] में से कोई भी इसका अधिकारी नहीं, क्योंकि देवोद्देश्यक त्याग के लिए हूयमान द्रव्य में अपने स्वत्व (स्वामित्व) की

---

१. महामहोपाध्यायस्मारकग्रन्थावलिः (द्वितीयखण्डः) 'यागपदार्थनिरूपण'-नामको निबन्धः।

२. यथा—

चित्रया यजेत् पशुकामः। (२.४.६.१), उपांशु यजति यथा। (१.५.२.७), पथ्यां स्वस्तिं यजति। (१६.१.५.४), साकम्प्रस्थायी येन यजेत। (२.५.४.५), संवत्सरमिन्द्रं यजेत्। (२.५.४.९), अग्नीवरुणौ यजति। (६.३.६.१३), कार्ये देवयजने याजयेत्। (६.२.६.२७), पञ्च देवता यजति। (६.१.५.२), नागश्रीर्महेन्द्रं यजेत्। (२.५.४.८), ततोऽधिकामं यजेत्। (२.५.४.१)।

प्रेरणात्मकवाक्यं यज्धातुं विनाऽपि प्राप्यते, यथा—

अग्निहोत्रं जुहोति। (१.५.९.१) वायव्यं श्वेतमालभेद् भूतिकामः वायुर्वै क्षेपिष्ठा। (२.१.१.१.) मारुतं पृश्निमालभेत। (२.१.६.५) दारुपात्रेण जुहोति। (२.५.४.६) अग्नीषोमीयं पशुमालभेत। (३.४.३.४) प्राजापत्यमालभेत। (३.४.३.८) अधिदेवने जुहोति। (३.४.८.४) दध्ना जुहोति। (५.४.७.२१) यदनुपरिक्रामं जुहुयात् । (५.४.३.९) परामतिक्रम्य जुहोति। (६.२.३.५) इति तै०सं०।

३. यज्देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। (जु०उ०अ०)।

'हलश्च' (३.३.१२१) इति घञ् ; अत उपधायाः (७.२.११६)।

'चजोः कुः घिण्यतोः' (७.२.५२)।

४. (क) ऋचां त्वः पोषम् आस्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यामयज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः।। (ऋ०वे०, १०.७१.११)

निवृत्ति अपेक्षित है। ऋत्विजों में से किसी का भी, यजमान के लिए किये गये यज्ञ के किसी भी पदार्थ में स्वत्व नहीं होता। अत: उसका त्याग अनुपपन्न है।

पूर्व में ही कहा गया है कि यहाँ याग शब्द यज्ञ सामान्य अर्थ में है, विशेष अर्थ में नहीं। पूर्वोक्त लक्षणविशिष्ट याग के प्रधान दो भेद हैं—

याग

प्रकृतियाग | विकृतियाग

१. प्रकृतियाग का निरूपण[1]

प्रकृतियाग = अंगयाग।

प्रकृतियाग की स्पष्ट परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

(क) जिस याग के निरूपण प्रसंग में तद् यज्ञ अपेक्षित सभी अंगों का स्पष्ट उल्लेख होता है, जिसमें अन्यत्र कहीं से भी, किसी भी विवरण की अपेक्षा नहीं रहती है, उसे प्रकृतियाग कहते हैं।

(ख)	**अध्वर्युगणा:**	**ब्रह्मगणा:**	**होतृगणा:**	**उद्गातृगणा:**
१.	अध्वर्यु:	ब्रह्मा	होता	उद्गाता
२.	प्रतिप्रस्थाता	ब्रह्मणाच्छंसी	प्रशास्ता	प्रस्तोता
३.	नेष्टा	आग्नीध्र:	अच्छावाक:	प्रतिहर्ता
४.	उन्नेता	पोता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य:

(का०श्रौ०भू०, पृ०४२)

(ग) आध्वर्यवं यजुर्भि: स्याद् ऋग्भि: होत्रं द्विजोत्तमा:।
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं वाप्यथर्वभि:।। (कू०पु०,१.५०.१६)

१. इह यस्मिन् यागे इतिकर्त्तव्यता उपदिष्टा, यागान्तरेण उपजीव्यते, सा प्रकृति:। येन उपजीव्यते सा विकृति:। ''प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या'' इति मीमांसकैर्व्यवस्थापिते न्याये प्रकृतिप्रत्ययादीनाम् अहं वैयाकरण: सम्यक् विजानाति। तत्र अग्नेर्मन्त्रोऽस्ति-''अग्नये त्वं जुष्टं निर्वपामि'' इति। ''सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम:'' इति। सौर्ये चरौ मन्त्र ऊह्यते- ''सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि '' इति दिक् ।

(द्र० कैयटोपाध्यायकृत: महाभाष्यप्रदीप:, पस्पशाह्निकम् , व्याकरणप्रयोजननिरूपणाधिकरणम्)

अत एव प्रयाजमन्त्रा उह्यमानग्निशब्दप्रकृतिकविभक्तियुक्ता इत्यर्थ:। यथा— ''समिधस्समिधो अग्ने आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्ने इति।'' तत्रैव अग्रे द्रष्टव्यम्।

(ख) जिस यज्ञ से विकृतियाग अपने अपेक्षित विवरणों को ग्रहण करता है, उसे भी प्रकृतियाग कहते हैं। प्रकृतियाग का उदाहण है—दर्शपूर्णमासयाग।[1] इसमें अग्न्युद्धरण[2] से लेकर ब्राह्मणतर्पणपर्यन्त कर्म विहित है। ये सभी कर्म इसी प्रसंग में स्पष्टोपदिष्ट हैं, कहीं अन्यत्र से नहीं लिए जाते हैं। अन्य सभी इष्टियों में दर्शपूर्णमास से अंगों की अपेक्षा की जाती है। इसी प्रकार "दर्शपूर्णमास" समस्त इष्टियों की प्रकृति है।[3] इसके दो भेद हैं।

प्रकृतियाग

मूलप्रकृति अवान्तरप्रकृति

(क) ***मूलप्रकृति-निरूपण***

जिस यज्ञ में स्वसम्पन्नता के लिए अन्यत्र कहीं से किसी भी सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, अपितु अपेक्षित समस्त विषयों सहित सम्पूर्ण इतिकर्तव्यता एकत्र ही उपदिष्ट है, उसको मूलप्रकृतियाग[4] कहते हैं। यथा—

"दर्शपूर्णमासादि इष्टियाँ"।

पूर्वोक्त मूल प्रकृतियाग तीन प्रकार का है—

मूलप्रकृति

दर्शपूर्णमास अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम

इन तीनों के सम्पादनार्थ किसी अन्य याग से कुछ भी अपेक्षा नहीं होती।

---

१. (क) का०श्रौ०भू०, पृ० ३३-३६।
(ख) महामहोपाध्यायस्मारकग्रन्थावलिः, द्वितीयखण्डः, पण्डितश्रीविद्याधरगौडलिखितलेख-सङ्ग्रहे "श्रौतयज्ञपरिचय"–नामके हिन्दी-निबन्धेऽपि अयं विषयो द्रष्टव्यः।

२. प्रणयनार्थं गार्हपत्याद् आहवनीयदक्षिणाग्न्योः पृथक्करणम् अग्न्युद्धरणम्, अग्न्युद्धरणादि-ब्राह्मणतर्पणपर्यन्तं प्रायः त्रिंशत् कर्माणि अत्र विधीयन्ते।

३. (क) "दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः"। (आ०श्रौ०सू०, २४.३.३२)
(ख) "इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात्"। (जै०सू०,८.१.११)

४. "..........अपेक्षितसर्वाङ्गोपदेशाद् दर्शपूर्णमासयागौ प्रकृतिरिति उच्यते। इतराः सर्वास्तु इष्टये विकृतय इति। (का०श्रौ०भू०, पृ०३४)

(ख) ***अवान्तरप्रकृतियाग-निरूपण***

जिस यज्ञ में, स्वसम्बद्ध विषयों में किञ्चित् अन्य कर्मों की अपेक्षा की जाती है, उसे अवान्तरप्रकृतियाग[१] कहते हैं, यथा— "**अग्नीषोमीय पशुयाग**"। यह याग प्रयाज[२] एवं अनुयाज[३] के विषय में "दर्शपूर्णमास" की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार सवनीयपशुयागों[४] की यूपादि[५] के विषय में भी अन्यत्र अपेक्षा होती है।

२. विकृतियागनिरूपण[६]

जिस याग में कुछ अंग तो उपदिष्ट हैं, किन्तु कुछ अंगों के लिए अन्य कर्मों की अपेक्षा की जाती है, उसे "विकृतियाग" कहते हैं। जिस याग में कुछ अंग ही पठित हों, अन्य अंग अपेक्षित हों एवम् अन्यत्र से लिए जाँय, वह विकृतियाग[७] है।

श्रौतप्रयोग के भेद

इस प्रकार श्रौतप्रयोग को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया ज़ा सकता है—

श्रौतप्रयोग

तान्त्रिकप्रयोग | वैदिकप्रयोग

अवश्य ही तान्त्रिक प्रयोगों की मान्यता श्रौतप्रयोग के रूप में प्रचलित नहीं है, परन्तु —

(क) मानाधीना मेयसिद्धिः।[८]

---

१. "यत्तु कर्म स्वांगविषये किंचित् कर्मान्तरमपेक्षते साऽवान्तरप्रकृतिरित्युच्यते। यथा अग्नीषोमीयः पशुः।" (द्र०-महामहोपाध्यायस्मारकग्रन्थः, द्वितीयखण्डः)।

२. प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता एभिः इति प्रयाजाः। (का०श्रौ०भू०,पृ०३५)।

३. अनु = पश्चात् प्रधानयागान्तरम्, इज्यते यः इति व्युत्पत्त्या होत्रा पठ्यमाना याज्याः अनुयाजाः। (का०श्रौ०भू०,पृ०३६)।

४. का०श्रौ०भू०, पृ०५०।

५. द्र० — (क) पण्डितमधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृतो यज्ञोपकरणाध्यायः।
(ख) "पशुबन्धनसाधनभूतः संस्कृतदारुविशेषः।" (सर्व०तन्त्र०)

६. दर्शपूर्णमासयोरेव श्रुत्यादिषु सर्वविधेरुपदेशात्, अन्यत्र च अत्रत्यस्य सर्वेतिकर्त्तव्यताकलापस्यातिदेशाद् दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिपदवाच्यौ। यत्र यत्रातिदेशः प्रवर्तते स यागो "विकृतिपदेन" व्यवह्रियते। (श्रौ०पदार्थ०)।

७. "आतिदेशिकेतिकर्त्तव्यताकत्वमिति विकृतिः। (सर्व०तंत्र०)

८. द्र०, वाचस्पतिमिश्रकृतः "तत्त्वबिन्दुः"।

(ख) प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।[१]

(ग) युक्तिप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः, न खलु प्रतिज्ञामात्रेण।[२]

(घ) "युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यमप्युक्तं पद्मयोनिना ।।[३]

(ङ) "युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि ।
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि ।।[४]

(च) "केवलं शास्त्रमाश्रित्य कार्यो धर्मविनिर्णयः ।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।।[५]

उपर्युक्त वचनों के आधार पर नीरक्षीर विवेकपुरस्सर[६] विवेचन करने पर तान्त्रिकमत[७] भी श्रौतप्रयोग है।

१. तान्त्रिक श्रौतप्रयोग

तान्त्रिक श्रौतप्रयोग प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का विषय नहीं है, इसलिए कतिपय प्रयोगों का नामोल्लेख मात्र करके विराम देते हैं। यथा—

१. पूर्णाभिषेक महादीक्षा, २. बाह्यमातृकान्यास, ३. अन्तरमातृकान्यास, ४. विलोममातृकान्यास, ५. पीठन्यास, ६. षोढान्यास, ७. मानसपूजा, ८. सामान्यार्घ्य, ९. विशेषार्घ्य, १०. भूतशुद्धि, ११. मालाप्रतिष्ठा, १२. दशमहाविद्या, १३. तारोपासना, १४. व्यापकन्यास, १५. मुद्रा।[८]

---

१. सांख्यकारिका, ११.४१।

२. अयं दार्शनिकसमयः।

३. द्र०-याज्ञवल्क्यशिक्षा।

४. द्र० 'Mathmatics in the VEDAS', गोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य भारतीकृष्ण-तीर्थस्वामी, सं०डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।

५. द्र०, भारतरत्न डॉ० भगवानदासकृत विविधार्थ।

६. "नीरक्षीरविवेके हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनान्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः।।
(द्र० पण्डितराजजगन्नाथकृतो भामिनीविलासः)

७. केचिद् विद्वांसः पुराणेषु तन्त्राणि अन्तभार्वयन्ति, तच्च निर्मूलत्वात् पुराणस्वरूप-विरुद्धत्वाच्चोपेक्ष्यम् । (द्र०,पं० दीनानाथसारस्वतकृतः "सनातनधर्मालोकः")।

८. (क) आगमवागीशकृष्णानन्दकृतस्तन्त्रसारः।
(ख) पं० रामतोषणभट्टाचार्यकृता प्राणतोषिणी।
(ग) भास्कररायकृतं वरिवस्यारहस्यम् ।
(घ) शाक्तानन्दतरङ्गिणी।

२. श्रौतप्रयोग

मुख्यरूप से श्रौतप्रयोग पाँच हैं।[1] यहाँ पर ज्ञातव्य है कि इनके अतिरिक्त मिश्रप्रयोग का भी उल्लेख शास्त्रों में आता है, जिसमें वैदिक-तान्त्रिक दोनों का समन्वय दृष्ट है। स्मार्तप्रयोग भी बहुत अंश में मिश्र ही होता है। सम्प्रति "**कर्म-काण्ड**" नाम से प्रचलित समस्त क्रिया-कलापों में शुद्ध श्रौतप्रयोग बहुत ही कम होते हैं। दक्षिण भारत में अवश्य ही परम्परा अद्यावधि सुरक्षित है। उत्तर भारत में प्रचलित कर्मकाण्ड प्रायः मिश्रप्रयोग ही हैं। इसका विशद विवेचन यहाँ अनपेक्षित है।

श्रौतप्रयोग के भेद

श्रौतयज्ञों के प्रधान भेद ऊपर निरूपित किये जा चुके हैं।[2] इन पाँच भेदों में समस्त श्रौतयज्ञ पर्यवसित होता है। श्रौतयज्ञों के अनेक भेद हैं। यथा—१. स्मार्त कर्म, २. श्रौताधान, ३. दर्शपूर्णमास, ४. चातुर्मास्य, ५. निरूढ पशुबन्ध, ६. नवान्येष्टि, ७. सौत्रामणि, ८. सोमयाग, ९. द्वादशाह, १०. गवामयन, ११. वाजपेय, १२. राजसूय, १३. अग्निचयन, १४. अश्वमेध, १५. पुरुषमेध, १६. पितृमेध, १७. सर्वमेध, १८. महायज्ञकामेष्टि, १९. महापितृयज्ञ, २०. भूतिकामेष्टि।

उपर्युक्त सभी श्रौतप्रयोग अहीन-सत्र-इष्टि आदि नामों से निरूपित हैं[3]।

श्रौतहविर्यज्ञ के भेद

श्रौतहविर्यज्ञ तीन प्रकार के हैं[4]—इष्टि, पशुबन्ध और सोम। श्रौतहविर्यज्ञ एक व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत दर्शपूर्णमास जैसी इष्टियाँ, निरूढ़ पशुबन्धादि एवम् अश्वमेधादि सोमयाग भी सम्मिलित हैं। यथा—

तालिका संख्या–१

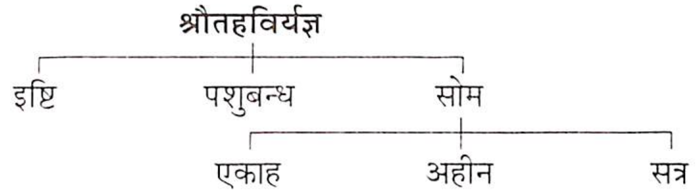

१. "स एष यज्ञः पञ्चविधः—अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः।" (ऐ०ब्रा०)

२. (क) वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।" (द्र०, भागवते उद्धवोपदेशे, २७.७)
(ख) अन्यत्रापि इत्थम् उपलभ्यते—"वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः त्रिविधा कर्मचोदना।"

३. द्र०, कर्मकाण्डचक्रवर्तिना श्रीप्रभुदत्ताग्निहोत्रिणा श्रौतपदार्थनिर्वचनम् ।

४. द्र०, पाणिनिकालीनभारतवर्षम्, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ०३५६।

१. इष्टिस्वरूपनिरूपण

इष्टि[1] का तात्पर्य उस यज्ञ से है, जो यजमान याज्ञिक एवम् उसकी पत्नी द्वारा चार पुरोहितों की सहायता से सम्पन्न होता है। ये चार पुरोहित है— अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता, ब्रह्मा दर्शपूर्णमास आदि इष्टियाँ प्रसिद्ध हैं। सभी इष्टियों की प्रकृति पर दर्शपूर्णमास नामक इष्टि का प्रभाव रहता है; क्योंकि यह प्रकृति-याग है।

२. पशुबन्धस्वरूपनिरूपण[2]

पशुबन्ध[3] एक स्वतन्त्र यज्ञ है। सामयज्ञों में इसका सम्पादन उनका एक अभिन्न अङ्ग माना जाता है। इसके दो भेद हैं—स्वतन्त्र पशुयज्ञ एवं गौण पशुयज्ञ। स्वतन्त्र पशुयज्ञ को निरूढ पशुबन्ध कहा जाता है एवं गौण पशुयज्ञों की सौमिक संज्ञा है[4]।

पशुबन्ध

स्वतन्त्र पशुयज्ञ — (निरूढ पशुबन्ध)[5]

गौण पशुयज्ञ — (सौमिक पशुबन्ध)

---

१. (क) 'इष्टि यागेच्छयोः' इति अमरः। (३.३.३८.)
(ख) 'इषु इच्छया यजः क्तिन्' इति अमरः । (३.३.९३)
(ग) 'इष्टिमताभिलोपेऽपि सङ्ग्रहश्लोकयागयोः' इति मे० (३३.३)।
(घ) 'इष्टि यागभेदे' इति वाच०।
(ङ) इष्टिश्च कात्यायनश्रौतसूत्रदर्शितः 'कर्मशब्दो द्रव्यदेवतायुक्तो यजतिः'। (८.३.१.)
(च) 'इष्टिशब्दः ऋत्विक्चतुष्टयसम्पाद्यसपत्नीकयजमानकर्तृककर्मनामधेयम्' इति श्रौतपदार्थनिर्वचने इष्टिप्रकरणम् ।

२. द्र० श०ब्रा० १.३.६.४; ११.७.१; तै०सं० १.३.५-११, ६.३.४; आश्व०श्रौ०सू० ३.१.८; बौ०श्रौ०सू०४, का०श्रौ०सू० ६, आ०श्रौ०सू० ७.)

३. (क) 'पशुकरणको यागः' इति वाच०।
(ख) पशुहव्यके पशुनामके यागभेदे स च यागः। यज्ञे पशुमारणञ्च श्वासरोधेन गलादिनिष्पीडनेनैव न शस्त्रादिना करणीयमिति श्रौतसम्प्रदायः; वाच०समुद्धृत।
(ग) 'इदं सर्वं पाशुकं कर्म- निरूढपशुः इति—पशुबन्ध इति चोच्यते'। इति श्रौतपदार्थनिर्वचनम्, पशुपदार्थानां प्रकरणं महामहोपाध्यायश्रीप्रभुदत्तकृतम्।

४. आश्व०श्रौ०सू० ३.८.३.४।

५. (क) 'निरूढः पशुयागभेदे' इति वाच०।
(ख) 'ऐन्द्राग्नो निरूढो नाम पशुः कर्त्तव्यः' इति आश्व०श्रौ०सू० (३.८.४)।

आश्वलायन श्रौतसूत्र में पशुबन्धयाग का विशद निरूपण है।

१. सोमयागस्वरूप-निरूपण

इसमें 'सोमरस' द्रव्य का विशेष प्रयोग होता है। यह सोम नामक लताविशेष से उत्पन्न होता है। इसका (लता) क्रय करके, उससे रस निकालकर, उससे होम किया जाता है। अतः इसे सोमयाग कहते हैं।[१] सोम नामक याग त्रिवर्षसाध्य एवं सोम नामक रस के पान से सम्बन्धित है।[२]

सोमयोग-भेद-निरूपण

सोमयज्ञ को सामान्यरूप से सात प्रकारों में विभाजित किया गया है[३]—

१. अग्निष्टोम, २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ्य, ४. षोडशी, ५. वाजपेय, ६. अतिरात्र, ७. आप्तोर्याम।

समयान्तराल की दृष्टि से सोमयज्ञ के मुख्य तीन भेद हैं—

सोमयाग

एकाह अहीन सत्र

(क) ***एकाह-स्वरूपनिरूपण***

श्रौतहविर्यज्ञों में एकदिवसात्मक सोमयाग एकाह[४] कहलाता है। यथा — अग्निष्टोमादि।

(ख) ***अहीन-स्वरूपनिरूपण***

अनेक दिनात्मक क्रतु को 'अहीन'[५] कहा जाता है। यह दो दिन से लेकर

---

१. 'अत्र च द्रव्यं सोमरसः, सोमो नाम लताविशेषः। तं कस्माचित् पुरुषात् क्रीत्वा, ततो रसं निष्काश्य तेन च होमः क्रियते। अत एवास्य सोमयाग इति व्यवहारः' इति का०श्रौ०भू०, पृ०४२।

२. 'सोमनामको यागः त्रिवर्षसाध्ये सोमरसपानाङ्गके यागभेदे' इति वाच०।

३. गौ.सू. ८.२१; ला०श्रौ०सू०, ५.४.३४।

४. (क) 'एकाहा नाम एकदिनसाध्याः क्रतवः' इति का०श्रौ०भू०,पृ०४५।
(ख) 'एकाहसाध्ये अग्निष्टोमादियागभेदे च' इति वाच०।
(ग) 'उक्तप्रकृतयोऽहीनैकाहाः' इति आश्व०श्रौ०सू०, ९.१.१।

५. (क) 'अहः समूहसाध्ये द्विरात्र्यादियागभेदे' इति वाच०।
(ख) स च ताण्ड्यब्राह्मणभाष्ये षोडश ऋत्विज उपक्रम्य एतेऽहीनैकाहैः यजन्ति।

बारह दिन तक होता है।[१] "**अह्ना निर्वृत्तिः अहीनः**" "**अहन् खः क्रतौ**" वार्तिक से अहन् शब्द से "ख" प्रत्यय करने पर उसको ईनादेश[२] होने पर अहीन शब्द निष्पन्न होता है। अहीनों के अनेक भेद श्रौतसूत्रों मे विहित है।[३]

(ग) ***सत्रस्वरूपनिरूपण***[४]

पूर्व में कहा गया है कि एक से लेकर द्वादशदिवसात्मक क्रतु 'अहीन' होता है। इसमें एकादशदिवसात्मक यज्ञों को अहीन कहा है; किन्तु द्वादशदिवसात्मक यज्ञों को सत्र[५] कहा जाता है। दीर्घकालीन यज्ञ ही सत्र होते हैं। भागवतपुराण[६] में स्पष्ट है तथा हिन्दूधर्मकोश[७] में "सत्र" को यज्ञ का पर्याय माना गया है।

सोमयाग "अहीन" और "सत्र" दोनों रूपों में होता है। बिना दक्षिणा के तथा ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न सोमयाग को अहीन कहते हैं, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा विधीयमान, अनेकयजमानकर्तृक सोमयाग को सत्र कहते हैं।[८]

(ग) आपस्तम्बसूत्रे उक्तः "त एते होत्रादिनामका षोडश ऋत्विजः द्विरात्रादिभिरेकाहसंज्ञकैः यजन्ति'। भाष्ये—"अहीनयजनमशुचिकर" इति श्रुतिः।

(घ) 'अभिचारमहीनञ्च त्रिः कृत्वेह विशुध्यति' इति म०स्मृ०।

(ङ) 'त्रैवर्णिकाधिकारिकः सदक्षिणोऽन्तेऽतिरात्रसंस्थापक एकद्वित्रिचतुराद्यनेकयजमानकर्तृकः सोमयागोऽहीनः' इति, का०श्रौ०भू०, पृ०५५।

१. का०श्रौ०भू०, पृ०७०।

२. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्। (७.१.२)

३. (क) का०श्रौ०भू०, पृ०७०-७१.।

(ख) का०श्रौ०भू०, १३,अध्याय, पृ०१११६-११२५. डॉ० अल्वर्तेण वेवरेण संशोधिता।

४. "षद्लृ विशरणादौ" भ्वा०प०अ०उ०- ४.१५९।

५. (क) 'बहुदिनसाध्ये यज्ञभेदे' इति वाच०।

(ख) 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इत्यमरः (३.३.१८१)।

(ग) 'सत्रं यज्ञे सदादानच्छादनारण्यकैतवे' इति मे० (१२९.९४)।

(घ) 'ब्राह्मणकर्तृकोऽदक्षिण उभयतोऽतिरात्रसंस्थाकः सोमयागविशेषः सत्रम्' इति (का०श्रौ०भू०,पृ०५५)।

६. (क) सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत।। (भा०पु०१.१.४)

(ख) आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः। (भा०पु०. १.१.२१)

७. द्र०, हिन्दूधर्मकोशः, पृ० ६५२।

८. द्र०, का०श्रौ०भू०, पृ०५१।

अहीन	सत्र
१. अहीन तीनों वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य द्वारा सम्पन्न होता है।	सत्र केवल ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न होता है।
२. अहीन एक से लेकर द्वादश-दिवसात्मक क्रतु है।	सत्र द्वादश दिन से अधिक और निश्चित अवधि अथवा अल्पावधि से रहित है।[1]

१. (क) सत्रं तु दीर्घकालिकं भवत्येव, परं तथापि सत्रप्रसङ्गे दीर्घशब्दप्रयोगोऽपि दृश्यते, यथा—'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' (द्र० महाभाष्यपस्पशाह्निकम्) ; एतद् विवरणे च 'दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसाहस्रिकाणि ......' इत्युक्तम्। पूर्वोद्धृतभागवतश्लोकेऽपि 'सहस्रसमम्' इति 'आसीना दीर्घसत्रेण' इति च प्रयुक्तम्।

तत्र इत्थं कैश्चित् समाधीयते-पूर्वोक्तमहाभाष्यवाक्ये 'वर्षशब्दो दिनपर्यायः' इति। तदुक्तं महाभाष्यप्रदीपोद्द्योते नागेशभट्टेन—'वर्षशब्दो दिवसपरः'। अत्र किंचित् 'समा' माम्रा अहोरात्राः तुल्या ब्राह्मणचोदिताः' इति गृह्यसंग्रहोक्तिः। आदित्यो वा सर्व ऋतवः स यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संवोयग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदा अपराह्णोऽथ शरत्, यदाऽस्मेत्यथ हेमन्तशिशिरौ' इति ब्राह्मणमूलिकात्र प्रमाणम्।

अत एव 'सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसंभवन्मनुष्येषु' इति पूर्वपक्षे 'अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्' (पू०मी०, ६.७.३; १-४०) इति जैमिनिनाऽपि सिद्धान्तितं संगच्छते (द्र० महाभाष्य-नवाह्निकम्, निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रितम्, पृ० ७०, पं० शिवदत्तविरचिता दाधिमथटिप्पणी, शब्दविषयप्रदर्शनाधिकरणे 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' इति कात्यायनीय-बाधकोपपत्तिवार्तिकव्याख्यानम्। अन्यच्च—

''अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
स्यमन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ।।''

(द्र० महाभारते आदिपर्वणि, अध्यायः२, श्लोकः१३) इति पर्यालोचनेन कलिप्रारम्भकाल एव भारतयुद्धप्रारम्भस्य निर्णयेन—(''शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले। कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवाः''।।)

इति राजतरङ्गिणीश्लोके वर्षपदस्य दिनरात्रिपरत्वस्य (पू०मी०-६.७.१३) दीर्घसत्राधिकरणा-नुसारेण 'सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः इति च ब्राह्मणं विभागेन' (४.२७.४) इति निरुक्तोद्धृतब्राह्मणनिरुक्तयोश्चानुसरणेन दिनरात्र्योर्विभागस्य चाश्रयणेन दिनरात्र्योः समासे ३२६ जाते युद्धमभूदित्यर्थकल्पनया विरोधापरिहारस्यावश्यकरणीयत्वेन कलिप्रथमसंवत्सर एव भारतयुद्धकल्पनायां सत्याम् ६५३ संख्यायाः कलिगताब्दसंख्याया व्यवकलनेन बी०सी०वर्षसंख्यायां संकलनेन संख्यांकनिर्देशः सत्यो मन्तव्यः। इति दाधिमथाः। (द्र० महाभाष्यं नवाह्निकम् १९५१ निर्णयसागरमुद्रणालये प्रकाशितं भूमिका पृ०९९ टिप्पणी) अत्राऽपि वर्षशब्दविषयको विचारो द्रष्टव्यः। किञ्च—

प्रसिद्धं खलु देवतापितृमनुष्यनागादीनां दिनमानम्, यच्च परस्परं बेभिद्यते, तद्यथा मनुष्यमानानुसारम् एको वर्षो देवतानाम् एकं दिनम्, एको मासश्च पितृणाम् एकं दिनम्। तत्र दक्षिणायनकृष्णपक्षौ रात्रौ उत्तरायणशुक्लपक्षौ दिने। एतत्सर्वं स्मृतिपुराणादिषु स्पष्टम् (द्र० कूर्म-वाराह-वामन-पद्मपुराणम्)।

अहीन	सत्र
३. अहीन में यजमान एवं पुरोहितों में अन्तर होता है।	सत्र में यजमान एवं पुरोहितो मे कोई अन्तर नहीं, सभी यजमान होते है।
४. अहीन में दक्षिणा होती है।	सत्र में सभी यजमान होने से दक्षिणा नही होती है।
५. कात्यायनश्रौतसूत्रानुसार वैदिक उक्तियों में जहाँ '**यजेत्**' आता है, वहाँ अहीन समझना चाहिए।[१]	कात्यायनश्रौतसूत्रानुसार वैदिक उक्तियो मे जहाँ '**उपयन्ति**' '**आसते**' आते है, वहाँ सत्र समझना चाहिए।
६. अहीन में केवल अन्तिम दिन अतिरात्र होता है।[२]	सत्र में आरम्भिक एवम् अन्तिम दोनो दिन अतिरात्र होता है।

एवं मानुषम् एकं दिनं पातालवासिनाम् एको वर्षः। तत्रेदं रहस्यं प्रतिभाति—उपर्युपरि सात्त्विकानां तमोहीनत्वेन, आलस्यराहित्येन अस्माकं च अतथात्वेन यावान् वर्षकः, स तु तेषां दिनमेव। पितृणां च मध्यस्थितत्वेन तादृशी व्यवस्था, अधोऽधो निवासिनाम् अधिकतमस्कतया आलस्यप्राचुर्यात् यावान् अस्माकं दिनकालः स एव तेषां वर्ष इति गुहानिहितं रहस्यं प्रतिभाति इति गुह्यमूह्यम् । एतावता अपि यदेव केषाञ्चिद् दिनं स एव अन्येषां वर्षः, केषाञ्चित् च स एव दिनम्, केषाञ्चित् मासः, अन्येषां दिनं भवति। तदेव दिनमासवर्षाणाम् एकात्मकता शास्त्रसिद्धा।

अत्र किंचिद् रहस्यम् 'दिनात्मको वर्षः' इत्यपि कश्चिद् विदुषां समयः। तद्रीत्या च 'एकस्मिन् दिने एव षड् ऋतवो भवन्ति' इति एकं दिनात्मकमपि वर्ष सिध्यति। तत्र इत्थं गणना 'षष्टिदण्डात्मकं दिनम्' इति ज्योतिषसमयः, तच्च सूर्योदयात् सूर्योदयपर्यन्तम् अर्थात् सूर्योदयाव्यवहितोत्तरकालात् सूर्योदयाव्यहितपूर्वकालं यावत् । तस्य च षड्ऋत्वात्मकत्वे प्रतिऋतु दशदण्डात्मकः समय इति समयः, यच्च वर्तमानकालगणनानुसारं घण्टाचतुष्टयात्मकः, चतुर्विंशतिक्षणात्मको हि दण्डकालः (क्षणम् = MINUTE ; सार्धद्विदण्डात्मिका एका घण्टा = ONE HOUR) इत्थं योजनीयम् । दिनात्मके वर्षे सूर्योदयात् प्रभृति दण्डदशकं यावत्, अर्थात् घण्टाचतुष्टयं यावत्, वसन्तर्तुः, ततो घण्टाचतुष्टयं यावद् गीष्मर्तुः ततस्तावत् कालं वर्षर्तुः, इत्थं सर्वे ऋतवो भवन्ति। प्रसिद्धो वर्षोऽपि ; चान्द्रः सौरो वा, वसन्तर्तौ एव प्रारभ्यते।

ततो ग्रीष्मर्तुः इत्यादि। प्रति ऋतु समकालिकत्वं मासद्वयात्मकं दण्डदशकात्मकं वा समानम् एव। एतत्सर्वं श्रीमन्महाराजनलविरचितपाकदर्पणे स्पष्टम् । (द्र०पाकदर्पणे-२.७.१३, पृ०६०-६१)

(ख) 'वेदेऽपि एकस्य दिनस्य वर्षात्मकत्वं संकेतितम्'। (द्र.तै.सं.२.१.२.८; २.१.४.३)

(ग) पूर्वमीमांसा ६.७.३.११-४०।

(घ) ता.महा.ब्रा. अन्तेऽपि।

(ङ.)शिवताण्डवं दक्षिणामूर्तिपटलम्, ता०सा।

(च) बृहद्वाराहीसंहिता।

१. 'आसतऽउपयन्तीति सत्रलिङ्गं यजतऽइत्यहीनस्य।' (द्र०का०श्रौ०सू०,१२.१.५)

२. 'उभयतोऽतिरात्रसत्रमुपरिष्टादहीनस्य।' (द्र०का०श्रौ०सू०,१२.१.६)

जैसे ''**सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः**'' यह सौर्येष्टि में विहित है। यहाँ स्वसन्निधान में समग्र अंगों का उपदेश नहीं है, किन्तु ''**प्रयाजे प्रयाजे कृष्णालं जुहोति**'' इति कतिपय अंगों का ही उपदेश है। अन्य अपेक्षित अंगों को दर्शपूर्णमास नामक याग से ग्रहण किया जाता है। अतः सौर्येष्टि विकृति याग है। यथा—

तालिका संख्या–२

याग (प्रधान भेद)

- प्रकृतियाग
  - मूलप्रकृति
    - दर्शपूर्णमास
    - अग्निष्टोम
    - ज्योतिष्टोम
  - अवान्तरप्रकृति (अग्नीषोमीयपशुयागः)
- विकृतियाग (विकृतियागा बहवः)

श्रुति शब्द का अर्थ

श्रौतप्रयोग के प्रसंग में ''श्रुति शब्द का अर्थ'' विवेचनीय है। यथा—

श्रु श्रवणे (भ्वा०प०अ०) स्त्रियां क्तिन् (३.३.९४) कर्मसाधनः करणसाधनो वा अयं शब्दः।

क्षयते असौ इति, क्षयते धर्मोऽनया इति वा करणसाधनत्वे तु उक्तसूत्रस्थेन श्रुयजिभिस्तुभ्यः करणे'' इति वार्तिकेन क्तिन्, कित्वात् ''सार्वधातुकार्धधातुकयोः'' इति प्राप्तस्य गुणस्य निषेधः।

अश्वमेधयज्ञ का श्रौतप्रयोगों में स्थान

ययुमेधयाग अथवा अश्वमेधयज्ञ सोमयाग है। पूर्व प्रसङ्ग में ऐतरेय-ब्राह्मणानुसार यह निरूपित किया गया है कि श्रौतप्रयोग प्रधानतया पाँच प्रकार के होते हैं।[1] यथा—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु एवं सोम।

अश्वमेध या ययुमेध सोमयाग है।[2] सोमयाग होने पर भी इस श्रौतप्रयोग में सवनीय पशु विशेष लक्षण विशिष्ट ययु = अश्व होता था, इसलिए इसे '**अश्वमेध**' कहा जाता है।[3]

१. स एष यज्ञः पंचविधः ......।'' (द्र०ऐ०ब्रा०)

२. द्र०, का०श्रौ०भू०,पृ०६५।

३. ''सोमयागत्वे अपि अस्याश्वस्य सवनीयपशुत्वाद् अश्वमेध इति संज्ञा।''
(का०श्रौ०भू०, पृ०६५)

पूर्वोक्त प्रकार से श्रौतहविर्यज्ञ के तीन भेद हैं यथा—इष्टि-पशु-सोम। सोमयाग के भी एकाह-अहीन तथा सत्र-तीन भेद हैं। सूत्र ग्रन्थों में अश्वमेध (ययुमेध) यज्ञ को सोमरस के अभिषवण से युक्त त्रिदिवसात्मक अहीन कहा गया है।[१]

राजनैतिक दृष्टि से यह यज्ञ दीर्घकालिक है, जिसका विशद विवेचन अग्रिम अध्यायों में किया जाएगा, परन्तु आनुष्ठानिक दृष्टि से यह यज्ञ मात्र त्रिदिवसात्मक होता था। इसमें अनेक पशुसंज्ञपनों[२] के साथ सोमरस का भी अभिषवण होता था। श्रौतप्रयोगों में ययुमेध सर्वाधिक प्रभावशाली,[३] लौकिक, राजनैतिक उपादेयतापूर्ण, राष्ट्रीय आर्य परम्पराओं का सुदृढ़ स्थापक है। ययुमेध यज्ञ अर्थ के विकेन्द्रीकरण द्वारा पूँजीवाद को हटाता है और समाजवाद की स्थापना करता है। यह यज्ञ सार्वजनिक एवं सार्वत्रिक रूप से निश्चिन्त, निरामय, सुदृढ़ केन्द्रीय सत्तामूलक सार्वभौम आर्य साम्राज्य[४] का स्थापक और वंश परम्परा से ही जन्मतः उत्तरदायित्वों, कर्तव्यों का निर्वाहक एवं मानदण्डमूलक मर्यादाओं का आधार स्तम्भभूत है।

ययुमेध यज्ञ के अधिकारी का निरूपण प्रसङ्गानुसार आगे किया जायेगा। तादृश सर्वथा सुयोग्य सम्पूर्ण समर्थ, दृढ़ कर्मठ, निरतिशय उत्तरदायित्वशील, जन्मप्रभृति कर्तव्य-परायण, राष्ट्र के प्रति वंशपरम्परा से समर्पित, संयमी, चरित्रवान्, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निष्कपट, चेष्टारत एवं वैधानिक अधिकारों

---

१. (क) आश्व०श्रौ०सू०,१०.९.१। (ख) का०श्रौ०सू०, २०.१.१।
(ग) शां०श्रौ०सू०, १६.१.२।

२. (क) यज्ञीयपशोः शस्त्रघातकादिकं बिना मुखबन्धनेन श्वासं निरोध्य यत्प्राणैर्वियोजनं तत् पशुसंज्ञपनम् इति उच्यते। (द्र०-का०श्रौ०भू०,पृ०३९)
(ख) तस्मिन् बर्हिषि प्रतीचीनशिरसमुद्रीचीनपादं पशुं शायित्वा शमितारः सञ्ज्ञपन्ति एवं रीत्या पशोः मारणं संज्ञपनमिति उच्यते। (द्र०,श्रौ०पदार्थ०,पृ०१२९)

३. (क) "यथाश्वमेधः क्रतुराट्"।
द्र०, एम० भट्टाचार्या एण्ड कम्पनी (एण्ड पब्लिशर्स) प्रकाशितः वङ्गाक्षरात्मकस्य चण्डीग्रन्थस्य १३८१ वङ्गाब्दे सौराश्विने मासि नवममुद्रणस्य वङ्गाक्षरात्मकभूमिकायाः प्रारम्भे उद्धृतः श्लोकः।
(ख) "यथाश्वमेधः क्रतुराट्" (कू०पु०, २.१८.७२ (ए) काशिराजसंस्करणम्।
(ग) राजा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः। (द्र०,श०ब्रा०,१३.२.२)।

४. "स य इच्छेदेवंवित् क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्तयेतायं सर्वाल्लोकान्विन्देतायां सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सर्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाभिषिञ्चेत् ।" (द्र०,ऐ०ब्रा०,३९.१)

के द्वारा यावत् कालपर्यन्त यह यज्ञ सम्पादित होता रहा, तब तक भारतवर्ष के प्रति किसी को आँख उठाकर देखने की बात सोचने का भी साहस नहीं था।

यह यज्ञ श्रौतप्रयोगों की एक अत्यन्त प्रयोगपरीक्षापूर्ण, अतिशयशोध-उपब्धिमूलक, "**वीरभोग्या वसुन्धरा**" का प्रकट परिचायक तथा दूरगामी अनुष्ठान था।

इस प्रकार ययु(अश्व)मेध यज्ञ का सोमयागों में विशिष्टता प्राप्त होने के कारण श्रौतप्रयोगों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक मान्यतानुसार "अश्वमेध यज्ञ" स्वयं ही राष्ट्रात्मक है[१]।

अश्वमेध का अन्य श्रौतयज्ञों से वैशिष्ट्य

वेद तो यज्ञार्थ प्रवृत्त हैं।[२] उनमें अनेक प्रयोग व्यक्तिगत,[३] पारिवारिक,[४] कौलिक[५] एवं सामाजिक[६] स्तर पर हैं, परन्तु कुछ प्रयोग राजनैतिक स्तर पर भी हैं, यथा राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध आदि। इनमें भी अश्वमेध की पृथक् विशेषता है।

उपर्युक्त तीनों यज्ञों में दिग्विजय करना पड़ता है, परन्तु राजसूय और विश्वजित् बल प्रभाव के द्वारा किया जाता है, जबकि अश्वमेध यज्ञ में यह सम्पूर्ण महायोजना एक पशु की प्रवृत्ति के अधीन रहकर करनी पड़ती है।

सम्पूर्ण बल-वैभव-विद्या-प्रभाव-सैन्य इत्यादि की सम्पन्नता रहने पर भी अश्व अस्वस्थ हो जाने से, मध्यमार्ग में ही किसी अश्वा के साथ सम्बद्ध हो जाने से यह महत्त्वाकांक्षायुक्त योजना विघ्नग्रस्त हो सकती है।[७]

प्रधान समस्या तो यह है कि अश्वमेधोपयुक्त लक्षणविशिष्ट अश्व अर्थात् ययु तो चिरकाल से ही दुर्लभ थे। ऐसे चिरदुर्लभ की प्राप्ति, पालन-पोषण, प्रजाति का विकास आदि करके, फिर उसी को युद्ध के लिए छोड़ देना यह अत्यन्त कठोर मानसिकता का परिचायक है। जन्म प्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण

---

१. (क) "राष्ट्रं वा अश्वमेधः"। (द्र०तै०ब्रा०, ३.८.९)। (ख) श०ब्रा०, १३.१.६.३।

२. "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः" इति दैवज्ञानां समयः।

३. यथा—अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादि।

४. यथा—चातुर्मास्येष्टि, चित्रेष्टि "चित्रया यजेत पशुकामः" इति वैदिकसमयः।

५. पुत्रेष्टि।

६. कारीरी, अन्नहोम "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः" इत्यादि-प्रसिद्धे।

७. "परा वा एष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते। यदमित्रा अश्वं विन्देरन् हन्येतास्य यज्ञः।" (द्र०,तै०ब्रा०,३.८.९)

आर्यमहासाम्राज्य परम्परा की चिरकालिक एकता एवम् अखण्डता की स्थापनारूपी महाप्रयोजन की सिद्धि के लिए सम्राट् अपने प्रिय अश्व को दिग्विजय के लिए छोड़ देता था—इत्यादि विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर अश्वमेध यज्ञ में अनेक अनितर साधारण वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते हैं। आर्य- साम्राज्य परम्परा की स्थापना की पूर्णता अश्वमेधयागसम्पादन में ही पर्यवसित है।[1]

सम्राट् युधिष्ठिर के पश्चात् इसका सफल आयोजन प्रसङ्ग प्रायः उपलब्ध नहीं होता है। कालान्तर में सम्पादित प्रायः कतिपय अश्वमेध यज्ञ आभास मात्र हैं। ऐतिहासिक कृत्यों में भी तादृश अश्वमेध का उल्लेख हुआ है।

(क) नन्दिवर्मपल्लवमल के सेनापति उदयवर्म ने निषादराजपृथिवीव्याघ्र को हराया, जिसने उसके अश्वमेध के अश्व की भ्रमण मार्ग पर जाते समय रक्षा भी की थी[2]। यह घटना नवीं शती की है।

(ख) चालुक्यराज पुलकेशी ने भी अश्वमेध किया था।[3]

(ग) आन्ध्र के राजा ने दो अश्वमेध किये थे।[4]

(घ) १८ वीं शती के प्रथमार्द्ध में जयपुर के राजा जयसिंह ने अश्वमेध किया था।[5]

इन समस्त ऐतिहासिक अश्वमेध महायज्ञों के सम्पादन का विस्तृत एवं सप्रमाण उल्लेख श्रीकाणेकृत 'धर्मशास्त्र का इतिहास'' में प्राप्त होता है।[6]

इन समस्त विषयों का विशद विवेचन, सयुक्तिक प्रमाण पर्यालोचन आगे द्रष्टव्य है। युधिष्ठिर के शासनकाल में ही इस जाति का अश्व अत्यन्त दुर्लभ हो गया था। उस समय ही इसके अन्वेषण के लिए महर्षि वेदव्यास की सेवाएँ ली गयी थीं। तदुपरान्त भी उस विशिष्ट अश्व की प्राप्ति में भीम सहित पाण्डवपक्षीय योद्धाओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

---

१. ''राष्ट्रं वा अश्वमेधः''।
(क) तै०ब्रा०, ३.८.९.; (ख) श०ब्रा०, १३.१.६।

२. द्र०, इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ८, पृ०२७३।

३. एपिग्रापिका कर्नाटिका, जिल्द १०, कोलर संख्या-६३।

४. द्र०, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द५, पृ० ६०-६१।

५. (क) द्र०, पूना ओरियण्टलिस्ट, जिल्द २, पृ०१६६-१८०।
(ख) डकन कालेज कलेक्शन, हस्तलिपि सं० २७३, सन् ८४-८६।

६. द्र०, काणेकृत, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ. ५६८-५७०।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रौतप्रयोगों में तथा अन्य यज्ञों में अश्वमेध (ययुमेध) यज्ञ का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वर्तमान सन्दर्भ[१] में अश्वमेधयाग का प्रयोजन[२] विचार[३]

''**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**'' इस सिद्धान्त[४] से सिद्ध है कि बिना प्रयोजन के किसी भी कार्य[५] में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। अवश्य ही प्रयोजन देश, काल, पात्र के अनुसार होता है, अर्थात् देश, काल एवं पात्र के अनुसार प्रयोजनानुकूल कृतिमान्[६] व्यक्ति ही कार्य का अधिकारी है।

वर्तमान सन्दर्भ में अश्वमेध यज्ञ-विचार

प्रश्न है कि आज अश्वमेध यज्ञ की उपयोगिता क्या है, क्योंकि सम्प्रति दुर्भाग्य से भूमण्डल में अखण्ड एकता सम्पन्न, सुदृढ़ केन्द्रीय सम्प्रभुता विशिष्ट, जन्म प्रभृति आनुवांशिक उत्तरदायित्व परम्परा पालन में समर्पित, अभिषिक्त सम्राट् पालित आर्य साम्राज्य की स्थिति नहीं है एवं तादृश योग्यता सम्पन्न उपयुक्त पात्र का भी सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने पर भी अश्वमेधयज्ञादि वैदिक ग्रन्थ प्रोक्त विषयों की क्या आवश्यकता? यह प्रश्न अत्यन्त आक्षेपपूर्ण होते हुए भी इसका उत्तर अत्यन्त भावनात्मक एवं संवेदनशील है।

पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान

(क) महत्त्वपूर्ण विषयों की रक्षा के लिए भी गोष्ठियाँ, परिसंवाद, सम्मेलन आदि सर्वथा आवश्यक हैं। विश्वविद्यालय आदि प्रशंसनीय संगठनों

---

१. गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिश्रेष्ठया गिरा।
नानार्थवत्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः।। (द्र०-सर्वतन्त्र०)

२. (क) प्रयोजनं नाम तद् वक्तव्यम्, यन्नियोगतः स्यात् ।
(महाभाष्य, सप्तम आह्निक, 'ङिच्च' सूत्रम्)
(ख) यदर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते इति, प्रवृत्तिहेत्विच्छाविषयः इति च। (द्र०, सर्वतन्त्र०)

३. प्रमाणेन तत्त्वपरीक्षा इति, तात्पर्यनिर्णयानुकूलयुक्त्यनुसन्धानम् इति च । किंच—
युक्तिवाक्यैरनेकैश्च अप्रत्यक्षार्थसाधनः।
अनेकोपायसंयुक्तो विचार इति कीर्तितः।। (द्र०-सर्वतन्त्र०)

४. (१) अबाधितो निश्चय इति; (२) तत्तत् शास्त्रसिद्धोऽर्थ इति; (३) वादिप्रतिवादि-निर्णीतोऽर्थ इति; (४) प्रामाणिकत्वेन अभ्युपगतोऽर्थ इतिः; (५) पूर्वपक्षकोटिनिरसन-पूर्वकस्वीकरणीयकोटिनिर्देश इति वा सिद्धान्तः। (द्र०- सर्वतन्त्र०)

५. कार्यम् = कर्तुमिष्टम्।

६. कृतिः = कर्तृनिष्ठो व्यापारः।

में आज भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी प्रक्रिया से अनेक महापुरुषों पर प्रकाश पड़ता है।

उदाहरण के लिए खगोलविद्या के आचार्यों में उपलब्ध प्रथम ग्रन्थकार पुण्यश्लोक श्री आर्यभट्ट आदि का नाम भी सामान्यतः अप्रसिद्ध है। यह समस्या कुछ अंशों में भास्कर, रोहिणी आदि के विषय में भी मन्तव्य है, परन्तु सौभाग्यवशात् १०-१५ वर्ष पूर्व भारत ने अन्तरिक्ष युग में पदार्पण करते हुए, स्वनिर्मित प्रथम उपग्रह का सफल प्रक्षेपण किया। समस्त भारताभिमानी बुद्धिजीवी वर्गों के लिए यह अत्यन्त गौरव का विषय है कि उस उपग्रह को महामति आर्यभट्ट के नाम से विभूषित किया गया है। भारत क्या, विश्व की अधिसंख्य जनता ने आर्यभट्ट के परिचय का सौभाग्य प्राप्त करते हुए भारत के गौरव की श्रीवृद्धि की।

(ख) आचार्य पतञ्जलि के शब्दों में "**अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्**" अर्थात् दीर्घकालिक यज्ञ, जो कि कालक्रम से अनुष्ठित नही होते हैं, फिर भी उनके रक्षार्थ तद्विषयक ज्ञान अपेक्षित है।

(ग) चित्तौड़ का विजयस्तम्भ प्रसिद्ध है। सर्वविश्रुत है कि आज आविष्कृत विभिन्न उपकरणों से उसको सहज ही ध्वंस किया जा सकता है।"[१]

ऐसी अनेक ऐतिहासिक स्थान जैसे लालकिला, ताजमहल, लौहस्तम्भ, कुतुबमीनार, अशोक स्तम्भ आदि की भी स्थिति है; परन्तु फिर भी भारत राष्ट्र का स्वाभिमानी प्रशासन इन सभी की अत्यन्त यत्नपूर्वक रक्षा करता है। इसके द्वारा प्राचीन पुरातात्त्विक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, भूगर्भीय आदि विषयों पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। यही तर्क मुद्रा, शिलालेख, ताम्रपत्र, मूर्ति, भग्नावशेष आदि के विषय में भी मन्तव्य है।

(घ) वर्तमान विज्ञान में पारंगत पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी भूगोल आदि विषयों के ज्ञान के लिए आर्ष वाङ्मय से कितनी शिक्षा ली है, उसका एक निदर्शन मात्र मिस्र (EGYPT) की सुप्रसिद्ध नील नदी है। वह इतनी विशाल है कि उस देश का विभाजन-सा कर देती है। भौगोलिक दृष्टि से वहाँ नील नदी का वही स्थान है, जो भारत में गंगा का है। वह नील नदी कहाँ निकलती है? उसका उद्गम स्थान कहाँ है? इसका ज्ञान कुछ शताब्दियों पूर्व वहाँ किसी को नहीं था। परन्तु उसके उद्गम स्थान की जिज्ञासा प्रायः सभी को बनी रहती थी।

---

१. द्र०पं०, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, "भारतीयव्रतोत्सवः" भूमिका।

भारतीय पुराणशास्त्र के ज्ञाता और भूगोल सम्बन्धी अन्वेषण प्रसंग में श्री विल्फार्ड ने इन्हीं पुराणों के आधार पर नील नदी के उद्गम स्थान का पता लगा लिया। उन्होंने पुराणों के वर्णन अनुसार नील नदी के उद्गम स्थान का मानचित्र बनाकर प्रकाशित किया। इस कार्य को Mr. J.k.Aspeck नामक विद्वान् ने मानचित्र के आधार पर स्वयं भ्रमण करते हुए पूर्ण किया। इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ पुराणों के भौगोलिक विवरणों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।[१]

(ङ) सम्प्रति गुजरात में स्वयं भारत सरकार के समुद्रविज्ञान विभाग को समुद्रगर्भ में विलीन द्वारिकानगरी के अन्वेषण में अद्भुत सफलता मिली है। आर्षप्रामाण्य के अनुसार श्रीकृष्ण के धराधामत्याग के एक सप्ताह बाद समुद्री ज्वारभाटा से द्वारिकापुरी समुद्र में समा गई थी।[२] आज उसी को आधार मानकर विभिन्न शोधकार्य किये जा रहे हैं।

(च) बाराबंकी जिले में एक वृक्ष को कल्पवृक्ष की मान्यता है। उस वृक्ष की विशेषताओं का वनस्पतिशास्त्रीय अध्ययन भी हुआ है। प्रसिद्धि के अनुसार सत्यभामा के आग्रह से श्रीकृष्ण द्वारा पारिजात वृक्ष ले आते समय उस वृक्ष का कोई पुष्प यहाँ गिर गया था।[३] इसी प्रकार जनमेजय[४] द्वारा तक्षशिला[५] में सम्पादित नागयज्ञ का कुण्ड, पुरीस्थित सिद्ध बकुल वृक्ष, तीर्थराजस्थित अक्षयवट आदि भी आर्ष वाङ्मय प्रोक्त होने से अनेक अद्भुतताओं को समेटे हुए चिरकाल से आफलोदय कर्मवादी शोधकर्ताओं को चुनौती दे रहे हैं।

(छ) रामायण के सुन्दरकाण्ड में हनुमान् के द्वारा समुद्र-लंघन के प्रसंग में एक आश्चर्यजनक आकर्षण तत्त्व का उल्लेख मिलता है, जो कि सबको अपनी ओर आकष्ट करके नष्ट कर देता था। हनुमान् ने उस पर विजय प्राप्तकी थी। ठीक इसी प्रकार आज भी संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वप्रसिद्ध न्यूयार्क नगरी से प्रायः 100 किमी॰ की दूरी पर वारामुडा त्रिभुज की यही स्थिति है,

१. द्र०, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पुराणपरिशीलनम्, पृ० ३०६।

२. महा०भा०, मौसलपर्व, ७.१४-४२, गीताप्रेस-संस्करणम् ।
भा०पु०, ११.७.३, ११.२३, १२.१२.६०।
वि०पु०, ५.३६.-३७, ५.३८. ९-१०।

३. महा०भा०, खिलभाग, हरिवंशे भविष्यपर्व-७५ अध्याय।

४. महा०भा०, आदिपर्व, ३ अध्याय, ५१ अध्याय।

५. द्र०,पं० भगवद्दत्त, ''भारत का बृहद् इतिहास''।

जिसका अतिक्रमण कोई भी जलयान-वायुयान अथवा आकाशचारी प्राणी नहीं कर सकता है। वह उसे अपनी ओर आकृष्ट कर नष्ट कर देता है।[1]

यही बातें लक्ष्मणरेखा, ब्रह्मास्त्रादि दिव्यास्त्र, अभिचारादि मान्त्रिक अनुष्ठान इत्यादि के विषय में भी समझनी चाहिए।

(ज) पशुशास्त्रीय दृष्टि में अश्वमेध का अध्ययन सर्वथा अपरिहार्य है। शोधनिपुण अध्येता यह जानते ही हैं कि संसार में अनेक चतुष्पद प्राणी लुप्त हो गए हैं। शेष कतिपय दुर्लभ प्राणियों के रक्षार्थ प्रशासन ने विभिन्न स्थानों में अभयारण्य की स्थापना की है। सम्प्रत्यपि हिममानव, बालुकामानव, समुद्र-मानव, श्वेतहस्ती आदि दुर्लभ जीव अन्वेषणकर्ताओं के लिए लक्ष्यभूत बने हैं।

(झ) **नैयायिकप्रवर श्री जगदीश तर्कालंकार** के शब्दों में[2] —

"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" इस मन्त्र के तात्पर्य ज्ञान में[3] —

"आत्मा स्वेतरभिन्नः ज्ञानाधिकरणत्वात् तथा च इतरदेवकियत्"

इस युक्ति से आत्मा के ज्ञान के लिए भी आत्मेतर सकल पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म आदि का भी ज्ञान अपेक्षित है। यही तर्कशास्त्र का बीज है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि संग्राह्य की निर्भ्रान्तता के लिए वर्जनीय ज्ञान भी अपेक्षित है। इसी प्रकार यदि अश्वमेध यज्ञ कालक्रम से वर्जनीय भी हो तो भी उसकी ज्ञानविषयता में कोई आपत्ति नहीं है।

अश्वमेध यज्ञ सप्रयोजन है, अतएव सम्प्रति अश्वमेध यज्ञ के साक्षात् अनुष्ठान की अर्हता न होने पर भी आर्षग्रन्थ प्रोक्त प्रमाणभूत विषयों का अध्ययन, अध्यापन, परिचर्चाएँ वर्तमान सन्दर्भ में सर्वथा सप्रयोजन हैं।

महाकवि भवभूति के शब्दों में—

"**कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी**।"

इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ का यदि शास्त्रोक्त लक्षणविशिष्ट अश्व सौभाग्य से कहीं प्राप्त हो तो उसको पहचानने के लिए भी ऐसे ज्ञाता की आवश्यकता

---

१. वा०रा०, सुन्दरकाण्ड ।

२. द्र०, श्री जगदीश तर्कालंकार, "तर्कामृतम्", प्रथम भाग।

३. बृ०उ०, २.४.५.

होगी, जो अश्वमेध के समस्त विषयों का अन्तस्तलावगाही मर्मज्ञ हो। वैसे अश्वमेध का अश्व तो युधिष्ठिर के काल से ही दुर्लभ हो गया है।

अतएव अश्वमेध यज्ञ सम्पादन कलि में वर्जित होने पर भी ज्ञानविषयक दृष्टि से यह सप्रयोजन है। अधिकन्तु सम्प्रति अश्वमेधयज्ञ क्रियात्मक रूप से अनुपलब्ध होने के कारण एतद्विषयक साकल्येन यथार्थ ज्ञान के लिए गम्भीर अन्वेषणात्मक अध्ययन की पूर्वापेक्षया अधिक अपेक्षा है।

क्या अश्वमेध को सम्पादित किये बिना उसका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?

किसी भी कार्य को सम्पादित किये बिना उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। यदि सिद्ध हो जाय तो कार्य-कारण भाव बाधित हो जायेगा, अर्थात् उस कार्य के प्रति कारणता ही नष्ट हो जायेगी; क्योंकि कारण का लक्षण ही है—

''**अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियतापूर्ववर्तिताकारणत्वं भवेत्**''।[१]

अर्थात् कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन दैशिककालिकोभयसामानाधिकरण्येन कार्यसम्बन्धित्वे सति अन्यथासिद्धिशून्यत्वम्।

इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ को बिना सम्पादित किये यद्यपि जिस अभिषिक्त सम्राट् को अक्षत राज्य एवं चक्रवर्ती लक्षणयुक्त पुत्र प्राप्त है, उसके लिए अत्यधिक व्यय एवं श्रमसाध्य अश्वमेध यज्ञ सम्पादन की क्या आवश्यकता? अश्वमेध यज्ञ किए बिना ही उत्तराधिकारसूत्र से साम्राज्य सिद्ध हो सकता है।

इस प्रश्न पर विचारणीय है कि अश्वमेध यज्ञ का जो धार्मिक फल है, वह तो सिद्ध ही है। लौकिक फल अर्थात् साम्राज्यसिद्धि, सामन्तविजय, राष्ट्रीय एकता, सुदृढ़ केन्द्रीय सम्प्रभुता, पुत्र-प्राप्ति आदि यदि किसी राजा को दुर्भाग्य से नहीं प्राप्त होता था,[२] तभी इस महायज्ञ का आयोजन होता था। यदि कोई लौकिक प्रयोजनाभाववशात् अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता है, उस प्रसंग में शंका-समाधान दोनों ही अनपेक्षित हैं। ऐसे प्रसंगों में आचार्य पतञ्जलि का स्पष्ट निर्देश है—''**नैव दोषो न समाधानम्**''[३]।

उपर्युक्त अनेक युक्तिपरतन्त्रता के उपरान्त भी निम्नलिखित बातें मन्तव्य हैं—

१. कथञ्चित् अदृष्ट प्रयोजन की सर्वथा आवश्यकता न भी हो, तथापि मान,

---

१. द्र०, कारिकावली प्रत्यक्षखण्डम् ।

२. ''सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्''। (द्र० वा०रा०१.८.२)

३. द्र०, महाभाष्यम् ''मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः''।

प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि लौकिक सम्मान के स्थापन एवं वर्धन के लिए भी ऐसी विशाल दीर्घकालिक योजनाओं का आयोजन, संचालनादि उपादेय है।

२. आचार्य पतञ्जलि के शब्दों में[1]—

"दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसाहस्रिकाणि सन्ति, न च अद्यत्वे कश्चिदाहरति केवलम् "ऋषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा शास्त्रेण अनुविदधते।"

एतदनुसार आर्ष सम्प्रदाय परम्परा की रक्षा के लिए भी अश्वमेधादि महायज्ञों का ज्ञान अपेक्षित है।

३. समस्त ग्रन्थ रचना परम्परा में अनुष्ठीयमान मंगलाचरण की विभिन्न व्याख्याओं में स्पष्ट है—

"........... **शिष्यशिक्षायै निबध्नाति**"[2]।

इसी प्रकार अश्वमेधयज्ञादि शिष्टाचार प्राप्त अनुष्ठेय विषयों की रक्षा, भावी पीढ़ी के ज्ञान एवं प्रेरणा प्रदान करने के लिए अवश्य विधेय है।

यदि अश्वमेध का फल अन्यथासिद्ध[3] भी हो तो वेद प्रामाण्यवाद की स्थिति क्या होगी?

पूर्व प्रकरण में यह निरूपित है कि "अश्वमेध महायज्ञ की लौकिक उपलब्धि अर्थात् आनुवंशिक जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वमूलक राष्ट्ररक्षा आदि की सिद्धि अश्वमेध के बिना भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में भी अश्वमेध की उपादेयता मात्र दो विषयों में रह जाती है—

(क) यह बिन्दु अत्यधिक संवेदनशील है; क्योंकि सर्वथा धर्म परतन्त्र बुद्धि वाला व्यक्ति ही अदृष्ट मात्र की प्राप्ति के लिए इतना विशाल, दीर्घकालिक, बहुव्ययसाध्य, बहुबलसाध्य इस अश्वमेध को करने के लिए उद्यत होगा।

(ख) **श्रौत परम्परा की रक्षापूर्वक आदर्श स्थापना**—श्रौतपरम्परा की रक्षापूर्वक भावी पीढ़ी के लिए आदर्श स्थापना करना भी अत्यन्त भावनाप्रवण पक्ष है। एतन्मात्र के लिए इस विशाल योजना का शिलान्यास करने का साहस अत्यन्त दुर्लभ है।

---

१. द्र०, महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।

२. द्र०, तत्तन्मङ्गलपद्यव्याख्या:।

३. (क) कारणसामग्रीबाह्यत्वम्।
   (ख) कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति कार्यानुत्पादकत्वम्। (द्र० सर्वतन्त्र०)
   (ग) अन्यप्रकारेण सिद्धौ न्यायाद्युक्तकारणताप्रतिबन्धकरूपे पंचविधे दोषे च। (द्र०-वाच०)

यह भी विचारणीय है—

"सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनायाः अन्याय्यत्वात्"[१]।

इस सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार अश्वमेध जैसे दृष्टफलक कार्यों को, मात्र अदृष्टफलप्राप्त्यर्थ अप्रयोजन करना भी एक हास्यास्पद कार्य हो सकता है।

यह भी विचारणीय है कि सर्वविध पापापनोदन रूप जिस अदृष्ट फल के लिए इस अश्वमेध का विधान है, उसे पापरहित व्यक्ति क्यों अनुष्ठान करेगा?

१. इस प्रकार अत्यधिक संवेदनशील होने के कारण पूर्वोक्त दोनों युक्तियाँ शिथिल हैं।
२. पापापनोदन निष्पाप व्यक्ति क्यों करेगा? क्या सभी लोग युधिष्ठिरादि के समान ज्ञातिवधादि किये बैठे हैं?
३. साम्राज्यस्थापनादि लौकिक उपलब्धि अश्वमेध यज्ञ सम्पादन के बिना भी सिद्ध हो सकती है।

उपर्युक्त कथनों की समीक्षा

यद्यपि सर्वथा निष्पाप व्यक्ति भी मिलना कठिन है, परन्तु ऐसे यत्किंचित् पापनिवारण के लिए दीर्घकालिक योजनाओं का अवलम्बन करना "मात्र एक फल की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण वृक्षानयन" के समान है। क्योंकि स्वल्प प्रायश्चित्तादि से ही ऐसे अज्ञानादि कृत पाप नष्ट होंगे, तो उसके लिए व्यर्थ का दीर्घोपाया-वलम्बन तो इस प्रकार होगा—

"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्"[२]।।

इस प्रकार अश्वमेध का दृष्ट-अदृष्ट, लौकिक-अलौकिक सभी फल अन्यथासिद्ध होने से अश्वमेधयागविधायक वेदव्यास के प्रामाण्य की स्थिति क्या होगी?

इसका समाधान **न्यायपञ्चानन श्रीविश्वनाथ भट्टाचार्य** महोदय ने स्वरचित कारिकावली ग्रन्थ में किया है—

---

१. द्र०, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, मंगलवादः।
२. द्र०, सांख्यकारिका तत्त्वकौमुदीव्याख्या, वाचस्पति मिश्र, प्रथम कारिका।

"पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम्"[1]।

क्या मात्र लौकिक प्रयोजन के आधार पर वेद-प्रामाण्य[2] की स्थिति होगी?

किसी भी पदार्थ का परिष्कार प्रमाण[3] परतन्त्र होता है, तभी वह प्रमेय[4] होता है, यही दर्शन की आधार भूमि है। पूर्व में **"मानाधीना मेयसिद्धिः"** विवेचित किया जा चुका है। जहाँ तक युक्ति-तर्क-परतन्त्र विचार का क्षेत्र है, वहाँ तक कोई भी अप्रमेय[5] वस्तु स्वीकार्य नही है। प्रमेय सर्वथा कार्य-कारणपराधीन होता है।

कार्य[6]-कारण[7]-बहिर्भूत पदार्थ अप्रमेय हो सकता है। अतः वहाँ प्रमाण-परतन्त्रता की अनिवार्यता नहीं है। यह समस्त विचार गणितशास्त्र के समान अथवा वर्तमान प्राविधिकी के समान स्पष्ट है।

उपर्युक्त तथ्य में कोई भावना, उद्रेक या अतिशयता का बिन्दु मात्र भी स्थान नहीं है। लौकिक समस्त प्रयोजनों में पूर्वोक्त समस्त कार्य-कारण प्रमाण-प्रमेय की सर्वथा अपेक्षा है।

---

१. द्र०, मंगलवादः।

२. (क) कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रामाण्यम् । (द्र०,शास्त्रदीपिका)
(ख) तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, अबाधिताज्ञातार्थज्ञापकत्वम् । (द्र० सर्वतन्त्र०)

३. (क) विवादनिर्णयसाधनम् ।
(ख) प्रमाकरणम्। छिन्दादिकरणकुठारादावतिव्याप्तिवारणाय मापदम्, भ्रमज्ञानकरणदुष्टचक्षुरादावतिव्याप्तिवारणाय प्रपदम्, प्रमाप्रमाणमित्युक्ते संभवः स्यादतः करणमित्युक्तम् ।
(ग) करणबाह्यभावबोध इति सांख्यशास्त्रम्।
(घ) अगृहीतग्राहिज्ञानकरणमिति मीमांसाशास्त्रम्।
(ङ) अज्ञातार्थज्ञापकम् । (द्र०, सर्वतन्त्र०)
(च) प्रमारूपज्ञानम् इति वाच०।

४. प्रमातुं योग्यः प्रमाणभूतार्थः, अवधार्यम्। (द्र०, सर्वतन्त्र.)
प्रमाता ज्ञानविषयपदार्थः, परिच्छेद्ये, अवधार्य्ये च। तत्र वेदान्ते शुद्धचैतन्यं प्रमेयम्, अन्यस्याप्रमाता व्यावहारिकप्रमाज्ञानविषयेऽपि न परमार्थप्रमेयत्वम्। (द्र० वाच.)।

५. प्रमातुं ज्ञातुं परिच्छेत्तुं वा योग्यं न ततोऽपरिच्छेद्ये इदमित्थमिति निश्चेतुमशक्ये।
(द्र०, सर्वतन्त्र०)।

६. कर्त्तुमिष्टं कार्यम्। (द्र०, सर्वतन्त्र०)।

७. (क) अन्यथासिद्धशून्यत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वम्।
(ख) कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदकत्वे सति कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्।
(द्र० सर्वतन्त्र०)

यह सम्पूर्ण विषय न्याय-वैशेषिक-रसेश्वर[१] जैसे पदार्थवादी दर्शन की भाषा में प्रत्यक्ष एवम् अनुमान प्रमाणों तक स्पष्ट है। उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान सम्पूर्ण प्रत्यक्ष कार्यकारणमूलक स्पष्ट है। अतएव इनका प्रयोजन भी सार्वजनीन है।

परन्तु ज्ञान का विषय मात्र इतना ही सीमित नहीं है; अपितु प्रत्यक्ष और अनुमान के अधिकार क्षेत्र के बाहर भी अनन्त ज्ञान तरंगित हो रहा है।[२] जो कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण के सामर्थ्य के बहिर्भूत एवम् उनसे अतिशय होते हुए मात्र लौकिक कार्यकारणाधीन विषय ज्ञान को अत्यन्त सीमित कर रहा है।

इस तथ्य के स्पष्टीकरण हेतु उदाहरण द्रष्टव्य है—

''नकुलदंष्ट्रा दंष्ट्रा या काचिदौषधिः सा सर्पविषहन्त्री''[३]।

क्या किसी ने अपने को सर्प से डसवा कर पश्चात् नकुल के दन्त से काटी गई जड़ी-बूटियों से ठीक करके देखने के पश्चात् कार्य-कारण-निश्चय करके लिखा है?

इससे स्पष्ट है कि अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न ज्ञान से भी अद्भुत पदार्थों का बोध होता है। वेद के विषय में यह स्पष्ट है—

''प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।''[४]

प्रामाण्य-सम्बन्धी वैशिष्ट्य

पूर्वोक्त तथ्य ही वेद-प्रामाण्य की सर्वोपरि विशेषता है। प्रामाण्य के विषय में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। यथा—

प्रामाण्य

स्वतः परतः

यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है, तद्भिन्न ज्ञान अप्रमा है।

---

१. द्र०, सर्वदर्शनसंग्रह, सायणाचार्य।

२. चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।। (द्र०, वाक्यपदीयम्, प्रथमकाण्डम्)।

३. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, प्रथम खण्ड।

४. द्र०, श्रीकरपात्री, ''वेद का स्वरूप और प्रामाण्य''।

ज्ञान

यथार्थ ज्ञान (प्रमा) | अयथार्थ ज्ञान (अप्रमा)

१. तद्वति तत्प्रकारकज्ञानं प्रमा।

२. तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानम् अप्रमा[1]।

यही यथार्थ एवं अयथार्थ का स्वरूप है।

दूसरे शब्दों में—

१. अर्थतथात्वं यथार्थत्वं वा प्रामाण्यम्।

२. अर्थान्यत्वम् अयथार्थत्वं वा अप्रामाण्यम्।[2]

इनमें प्रमाण के विषय में ही उपर्युक्त स्वतः एवं परतः दो पक्ष हैं। इनमें नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी होते हैं और मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी। इसलिए नैयायिक परमाप्त महेश्वर-प्रोक्तत्वेन वेदप्रामाण्यवादी है, परन्तु मीमांसक अपौरुषेय वेद स्वतः प्रामाण्यवादी हैं।

तत्त्वप्रदीपिका के प्रणेता, अद्वैतवेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् चित्सुखाचार्य के शब्दों में—*''विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वमेव प्रमायाः स्वतस्त्वम्''*[3]।

न्यायकणिका ग्रन्थ में आचार्य मैथिल **वृद्धवाचस्पति मिश्र** श्रीचरण ने स्पष्ट किया है—

''ननु बाधकारणदोषाभ्याम् अप्रामाण्यज्ञानात् तदभावग्रहापेक्ष-प्रामाण्यनिश्चयेन न स्वतः प्रामाण्यम् इति चेत्? न, एकहेतुत्वकल्पनायां कार्योत्पत्तावनेकहेतुत्वकल्पनानुपपत्तेः''[4]।

स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि

इस प्रकार प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही सिद्ध है। जैसे वह्नि की दाहकता-शक्ति इतरनिरपेक्ष स्वतः प्रमाणसिद्ध है। **तौतातिक श्री कुमारिल भट्टाचार्य** के शब्दों में—

१. द्र०, तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षखण्ड।
२. द्र०, श्रीकरपात्री स्वामी, ''वेदस्वरूपविमर्शः''।
३. तत्रैव।
४. तत्रैव।

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम्"[१]।

उपर्युक्त समस्त विवरणों से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि लौकिक प्रमाणों के अतिरिक्त भी प्रमाण-प्रमेय विषय है, जो वेद-प्रतिपाद्य है।

योगज-प्रत्यक्ष

नैयायिकों ने भी "**योगज-प्रत्यक्ष**" शब्द से अलौकिक ज्ञान की सत्ता स्वीकार की है[२]। आचार्य **भर्तृहरि** के शब्दों में—

"अतीन्द्रियान् असंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते"[३]।।

अन्य भी स्पष्ट है—

"वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुः ......"
"यत्नेनानुमितो व्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते"[४] ।।

अश्वमेध के सन्दर्भ में उपर्युक्त तथ्य

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेद मात्र लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए ही नहीं है। इसलिए साम्राज्य स्थापना, आनुवंशिक उत्तरदायित्व पालन परम्परा निर्वाह आदि अश्वमेध के लौकिक प्रयोजन यदि अन्यथासिद्ध भी हों, तो भी वेद का स्वतःप्रामाण्य पक्ष स्वस्थानस्थित है"[५]।

किसी भी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि लौकिक उपाय मात्र से जहाँ पर्यवसित है, वहीं पर प्रयोजन की सिद्धि अन्यतः होने पर, कारणों में अन्यथा-सिद्धत्व दोष आता है; परन्तु आचार्य पतञ्जलि का वचन—"**अप्रयुक्ते दीर्घ-सत्रवत्**" यहाँ अवश्य ही विचारणीय है।

---

१. द्र० श्रीकरपात्रस्वामी 'वेदस्वरूपविमर्शः' पृष्ठ ३०२।

२. योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतो परः ।। (द्र०, कारिकावली)।

३. आचार्य भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, प्रथम खण्ड।

४. द्र०, भर्तृहरि, "वाक्यपदीयम्" प्रथम खण्ड।

५. "स्वतः प्रामाण्यवादः", पृ० २२५-२२८।
द्र०, मीमांसादर्शनम्, लेखकः–श्रीमण्डनमिश्रः।

भगवान् वेदव्यास ने भी वनवास काल में सम्राट् युधिष्ठिर के मुख से द्रौपदी के प्रति स्पष्ट किया है—

''नाहं धर्मफलाकांक्षी राजपुत्रि चरामि भो ।

ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत''[1] ।।

आज के सन्दर्भ में इस महान् तथ्य को कर्तव्य शब्द से समझा जा सकता है।

यदि मात्र लौकिक प्रयोजन ही वेद का विषय होता है, तो समस्त वेदविधि वाक्यसिद्ध साधन दोषग्रस्त हो सकते हैं; क्योंकि लौकिक प्रयोजन प्राय: एवं अधिकांशत: स्पष्ट होते हैं। बिना शास्त्र के भी उसमें व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। भागवत में स्पष्ट है—

''लोके व्यवायाऽऽमिषमद्यसेवा नित्यस्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना''[2] ।।

अतएव वेदोक्त विधिनिषेध भी सर्वथा लौकिक प्रयोजन के आधार पर नहीं हैं। अत: इसके आधार पर वेद-प्रामाण्य की स्थिति भी नही है। नैयायिकों ने भी मंगलवाद में स्पष्ट किया है—

''मङ्गलं वेदबोधितेतिकर्त्तव्यताकम्, अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वाद्[3] **दर्शपूर्णमासादिवत्''**।

यहाँ स्पष्ट ही वेदबोधितेतिकर्त्तव्यताकत्वरूप साध्य के प्रतिअलौकिकाविगीत शिष्टाचारविषयत्वरूप हेतु में अलौकिकत्व प्रविष्ट है। अन्यत्र भी यथा—

''मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि सर्वज्ञकर्तृकानि महाजलपरिगृहीतत्वे सति अलौकिकार्थप्रतिपादकत्वात्[4]''।

यहाँ भी अलौकिकार्थ स्पष्ट है—

इन समस्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि मात्र लौकिक प्रयोजन के आधार पर वेद-प्रामाण्य की स्थिति नहीं है। अश्वमेध जैसे महायज्ञ के विषय में भी यही तथ्य मन्तव्य है। अश्वमेधयज्ञ का लौकिक प्रयोजन साम्राज्यस्थापना, वंशपरम्परा की रक्षादि तो इस महायज्ञ को सम्पादित किये बिना कोई भी अनार्य

---

१. महा० भा०।

२. द्र०, श्रीमद्भागवतम्।

३. द्र०, तर्कसंग्रहस्य दीपिकाव्याख्या।

४. द्र०, वेदप्रामाण्यविमर्श, पृ० ३३७। (श्रीकरपात्रस्वामिविरचितम्)।

व्यक्ति भी कर सकता है, तो फिर इसके लिए वर्षपर्यन्त पत्नीचतुष्टय सहित असिपत्रव्रत के विधान की क्या आवश्यकता।[1]

अश्वमेध का स्वरूप : दृष्टादृष्टोभय साधक

पूर्व प्रकरणों में अश्वमेध महायज्ञ जैसे वैदिक प्रयोग का दृष्ट प्रयोजन एवं साथ ही वेद-प्रामाण्य के प्रसंग में अदृष्ट प्रयोजन को भी दर्शाया गया है। अतः यह सिद्ध है कि अश्वमेध महायज्ञ का स्वरूप दृष्ट-अदृष्ट उभय प्रयोजन का साधक है।

अदृष्ट के विषय में यहाँ विशेष दृष्टिकोण की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रारम्भ में ही दृष्ट = लौकिक प्रयोजन पक्ष के प्रतिपादन के विषय में वचनबद्ध है।

इतना अवश्य ही विचारणीय है कि मात्र दृष्ट-साधक अथवा अदृष्ट-साधक होने से ही अश्वमेध की प्रयोजनवत्ता स्पष्ट है, फिर पुनः अश्वमेध की दृष्टादृष्टोभयसाधकतारूप कल्पनागौरव किसलिए?

इसका समाधान यह है कि केवल दृष्ट-प्रयोजन का समर्थन करने पर मर्यादा-हानि हो सकती है एवं केवल अलौकिक प्रयोजन पक्ष का समर्थन करने पर लौकिक उपलब्धिशून्यता हो सकती है। जैसे कि विवाह का यदि पुत्रोत्पत्ति रूप मात्र लौकिक प्रयोजन ही माना जाय, तो वैध-अवैध सभी सम्बन्ध समाज में स्वीकार्य हो जायेंगे। इससे समाज पशुवत् हो जाएगा। अतएव मात्र दृष्ट प्रयोजन मानने से अनेक अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इसी प्रकार अदृष्ट प्रयोजन मात्र मानने पर लौकिक उपलब्धिशून्यता हो सकती है। फलतः किसी भी जागतिक व्यक्ति की प्रवृत्ति अदृष्ट प्रयोजनमात्र से युक्त कार्य में नहीं होगी। तब इस विशाल आयोजन की महती परम्परा का निर्वाह असम्भव हो जाएगा। **भगवान् श्रीकृष्ण** के शब्दों में—

"**कुर्याद् विद्वान् तथाऽसक्तः चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्**"।

इस कथनानुसार अनासक्त कर्म अवश्य करणीय है। **लोकमान्य तिलक** के अनुसार—

"**ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य है**"।

अतएव सत्कर्म-परम्परा-निर्वाह के लिए अश्वमेध का स्वरूप दृष्टादृष्टोभय ही मन्तव्य है।

●

---

१. द्र०, जै० अश्व०, प्रथम अध्याय।

द्वितीय परिच्छेद

अधिकाराध्याय

१. अश्वमेध याग सम्पादन की लौकिक एवं आर्थिक योग्यता

अश्वमेध सोमयाग है। सोमयागरूप श्रौतकर्म सम्पादन की कतिपय योग्यताएँ अधिकारी के लिए आवश्यक हैं। इन योग्यताओं में अधिकारी का (रथकार निषादस्थपति जैसे कतिपय विशेष विधानातिरिक्त) आर्य एवं द्विज होना सामान्य योग्यता है। इसके अतिरिक्त सोमयागों में प्रमुखतम याग ''अश्वमेध'' के सम्पादनार्थ यज्ञाधिकारी में कुछ विशिष्ट योग्यताओं का होना आवश्यक है।

अत: निम्नलिखित विवरणों में यागसम्पादनार्थ सामान्य योग्यताओं एवं अश्वमेधयाग सम्पादनार्थ कतिपय विशिष्ट योग्यताओं का विवेचन किया गया है—

१. यज्ञाधिकारी आर्य होना चाहिए[1]।

२. यज्ञाधिकारी द्विज होना चाहिए।

३. यज्ञाधिकारी वर्णाश्रमी होना चाहिए[2]।

४. यज्ञाधिकारी क्षत्रिय होना चाहिए।

---

१. कार्यमात्रं प्रति प्रवृत्तिजनकतावच्छेदको धर्म:, इष्टसाधनताज्ञानं च कारणम्; तत्र कात्यायन-श्रौतसूत्रे उक्तम् — 'सर्वेषाम् अविशेषात्' (१.१.३)। एतेन अन्धमूकबधिरदेवऋषितिरश्चामपि अधिकारित्वम् आयाति इति पूर्वपक्षे उत्तरसूत्रम् — ''मनुष्याणां वारम्भसामर्थ्यात्'' (१.१.४)। एतेन मनुष्यभिन्नानाम् अधिकारित्वनिरास:। उपकरणत्वेन तेषां प्रयोगस्तु इष्ट एव।

नन्वेवं सति सर्वेषां मनुष्याणां यागादिषु अधिकार: सिद्ध इति चेत्?

तत्रोत्तरसूत्रम् —

''अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जम्'' (१.१.५) न च आरम्भसामर्थ्याद् इति पूर्वसूत्रोक्तहेतुना एव तिरश्चाम् इव अन्धादीनाम् अपि निवृत्तिरिति वाच्यम्?

'नियमार्थम्' अस्य सूत्रस्य आवश्यकत्वात्। एवञ्च एतेषामेव अधिकारात्, न तु निर्धनस्य दुर्बलस्य शस्त्रभीतस्य राष्ट्ररक्षासामर्थ्यम् इति दिक्।

२. ''ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां श्रुते:''। (का०श्रौ०सू०१.१.६) एतद् भिन्नमपि यथा—''निषादस्थपतिं याजयेत्'' वर्षासु रथकार आदधीत'' इत्यादि श्रूयते।

५. यज्ञाधिकारी राजवंशीय होना चाहिए।[1]

६. यज्ञाधिकारी अभिषिक्त होना चाहिए[2]।

७. यज्ञाधिकारी सम्राट् होना चाहिए।

८. यज्ञाधिकारी सार्वभौम चक्रवर्ती होना चाहिए।

९. यज्ञाधिकारी विवाहित होना चाहिए।

१०. यज्ञाधिकारी संयमी एवं सच्चरित्र होना चाहिए[3]।

११. यज्ञाधिकारी की आर्थिक योग्यता।

१२. यज्ञाधिकारी श्रौत आहिताग्नि एवं नित्याग्निहोत्री होना चाहिए।

१. यज्ञाधिकारी आर्य होना चाहिए

यह वैदिक याग सम्पादन की सामान्य योग्यता है। याग सम्पादनार्थ आर्य होना आवश्यक है। कर्मफलवादी व्यक्ति ही आर्य शब्द से अभिप्रेत है।

जो आर्य कर्मफलवादी चतुर्वर्णधर्म और चतुराश्रमधर्म से युक्त है, वही वर्णाश्रमी है। वर्णाश्रम के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व से विमुख यज्ञ का अनधिकारी है। इसके अतिरिक्त धात्वर्थ और गुणानुसार भी आर्य जाति के अनेक लक्षण होते हैं। यथा—'**नमन**' या '**व्यक्ति**' अर्थक ''**ऋ**'' धातु से ''**ण्यत्**'' प्रत्यय द्वारा आर्य शब्द के बनने के कारण वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने आर्य जाति का यही लक्षण किया है—''**जो पृथ्वी के अनेक स्थानों में जाकर अपनी कीर्तिध्वजा की स्थापना करती थी, वही आर्य जाति है**''। इस विषय में महाभारत में भी प्रमाण मिलता है—

''**म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे। आर्याश्च पृथिवीपालाः।**''

---

१. ''राजयज्ञो अश्वमेधः सर्वकामस्य''(का०श्रौ०सू० २०.१.२);
''क्षत्रिययज्ञ उ वा एष यदश्वमेध इति'' (शत०ब्रा० १३.४.१.२);
राजशब्दोऽभिषेकवति क्षत्रिये वर्तते इत्युक्तं प्रदेशान्तरतया च अत्र राजशब्दोऽभिषिक्त-क्षत्रियवाची (१३.४.१.२) ''राजेत्येतानभिषिक्ताचक्षते'' इति श्रुत्या प्राप्तराज्याभिषेकस्यैव क्षत्रियस्य राजशब्दवाच्यत्वमिति पूर्वमीमांसायां द्वितीयेऽवेष्ट्यधिकरणे निर्णीतम्। एवं च तादृशस्य राज्ञः सर्वकामस्यायमश्वमेध इत्यर्थः। (द्र०का०श्रौ०भू० २०.१.१)।

२. ''अभिषिक्तसार्वभौमौ राजाधिकारी''। (का०श्रौ०भू०,पृ० ६५)
''सर्वान् कामान् आप्स्यन् सर्वा विजितीरविजिगीषमाणः सर्वा व्युष्टीः व्यशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत्। (आश्व०श्रौ०सू०,१०.६.१)।

३. ''वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ।।'' (द्र०,म०स्मृ० २.९७)

यास्क मुनि ने स्वप्रणीत निरुक्तशास्त्र में कहा है—"**आर्य ईश्वरपुत्रः**" "ईश्वरपुत्र" को आर्य कहते हैं। इस आर्य का लक्षण वर्णन करके उल्लिखित वीरता के अतिरिक्त आध्यात्मिकपूर्वता का भी प्रमाण आर्य के लिए प्रदर्शित किया गया है। तदनुसार "**ऋ**" धातु का अर्थ इस प्रकार है—

"**अर्तुं सदाचरितुं योग्यः इति आर्यः।**"

इस लक्षण के अनुसार न्याय पथ पर चलने वाली सदाचारशील कर्तव्यपरायण जाति ही आर्य है। **रामायण** के **द्वितीय काण्ड** में लिखा है—

"**योऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा ज्येष्ठेन भामिनि**"।

स्मृति में आर्य का निम्नलिखित लक्षण है—

"**कर्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।**
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः"।।

वर्णाश्रमानुकूल, कर्तव्यपरायण, अकर्तव्यविमुख, आचारवान् पुरुष ही आर्य है।

अतः उपर्युक्त समस्त लक्षणों को मिलाकर यह सिद्धान्त हुआ कि जो सदाचारसम्पन्न, सकल विषयों में अध्यात्म लक्षणयुक्त, दोषरहित, कर्मफलवादी, धर्मपरायण है, वही आर्य कहला सकता है।

भारत भूमि इस प्रकार के सर्वगुणालंकारयुक्त आर्यों की ही प्राचीन निवास भूमि है, जिसके लिए ऋग्वेद के प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ मण्डलों में आर्यों की ही गुणकथा वर्णित है[१]।

२. यज्ञाधिकारी द्विज होना चाहिए

यह वैदिक याग सम्पादन की सामान्य योग्यता है। याग सम्पादनार्थ द्विजत्व अपेक्षित है।

आर्यकुल में सवर्ण[२] अनुलोम संकर[३] अथवा

---

१. द्र०, श्रीधर्मकल्पद्रुम (३), पृ० ७५२।

२. "सवर्णो नाम एकजात्याश्रयः" इति वाच०।

३. "अनुलोमजा मातृवर्णाः" इति विष्णुसंहिता इति वाच०।
परिणीतक्षत्रियादिस्त्रीषु विप्रादिभ्यः उत्कृष्टेभ्यो वर्णेभ्यो जाते मूर्धावसिक्तादौ संकीर्णवर्णे अनुलोमजाश्च—

"विप्रान् मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा ।।

जात्युत्कर्ष[१] से उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार[२] के बाद द्विज होता है। श्रौत उत्तरदायित्व निर्वाह की स्वरूप योग्यता यज्ञोपवीत के बाद ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार माता से एवं संस्कार से दो बार शास्त्रीय दृष्टि से उत्पत्ति की मान्यता होने के कारण ही व्यक्ति द्विज कहलाता है[३]। सामान्येन जिस व्यक्ति के ऊपर वेदविहित कर्म सम्पादन का उत्तरदायित्व नहीं है, उसके द्विजत्व सम्पादन की अपेक्षा भी नहीं है। द्विजत्व प्राप्ति हेतु प्रधान एवं प्रकट अपेक्षा यह है कि यज्ञोपवीत के बाद एवं विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य की सम्पूर्ण रक्षा होनी चाहिए[४], ऐसा क्यों?

'**शतायुर्वै पुरुषः**' इस सिद्धान्तानुसार गणनात्मक शतवर्ष पर्यन्त शरीर की स्थिति मान्य है। स्वास्थ्य की दृष्टि से जितने वर्ष तक शरीर की वृद्धि होती है, उससे चतुर्गुण वर्ष तक शरीर की स्थिति सुदृढ़ रहती है। इस सुदृढ़ता के लिए मेरुदण्ड की सबलता एवं ऋजुता परमावश्यक है।

प्रश्न है कि शरीर की वद्धि कितने वर्ष तक होती है, जितने वर्ष तक ब्रह्मचर्य रक्षित रहता है अर्थात् सप्तम और अन्तिम धातु वीर्य का अपचय नहीं

वैश्या-शूद्र्योस्तु राजन्यान् माहिष्योग्रौ श्रुतौ स्मृतौ ।
वैश्यात् तु करणः शूद्र्यां विन्नास्वेष विधिः स्मृतः।।

इति याज्ञवल्क्य इति वाच०। (विन्ना = विधिना परिणीता)

१. जातितः = अनुलोम्येन विधिना मातृजातितः।
उत्कर्षः = पितृजातिप्राप्तिरूपोन्नतिः।

२. दशविधसंस्कारान्यतमः यज्ञोपवीतसंस्कारः।
यज्ञोपवीतसंस्कारः उपनयनाख्यः, कण्ठे विधार्यमाणं कार्पासं त्रिगुणकं त्रिवृत् सूत्रम्।

३. (क) मातरुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ।।(म०स्मृ० २।१६९)

(ख) मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशः तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ।। (या०स्मृ० आचाराध्यायः ३९)

४. ब्रह्मचर्यपालनसमये स्खलने सति "अवकीर्णी" इति कथ्यते, स च प्रायश्चित्तः।
तदुक्तम्—

"अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।
गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ।। (या०स्मृ०, प्रायश्चित्ताध्यायः २८०)

"अवकीर्णी तु काणेन रासभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत् निर्ऋतिं निशि ।।" (म०स्मृ० ११.११८)

अत्र विषये मिताक्षराव्याख्यायां याज्ञवल्क्यस्मृतौ बहु विवेचितम्।

होता, उतने दिन तक शरीर बढ़ता है। इस दृष्टि से २५ वर्ष के बाद विवाह का विधान है।[1]

तब तक ब्रह्मचर्य विहित = २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रक्षित रहने से अपचय नहीं होगा, फलतः शरीर-वृद्धि होगी, अर्थात् शरीर बढ़ेगा। तदनुसार २५ × ४ = १०० वर्ष तक शरीर सुदृढ़ रहेगा, सेवानिवृत्त होने पर शय्याग्रस्त नहीं होगा। अदृष्ट के अनुसार सम्पूर्ण आयुष्य के प्राप्त होने पर शतवर्षपर्यन्त शरीर स्वस्थ रहेगा, मेरुदण्ड सबल रहेगा। इसी को महाकवि कालिदास ने "**योगेनान्ते तनुत्यजाम्**"[2] कहा है। यह योगप्रक्रिया भी मेरुदण्ड की ऋजुता में सम्भव है, जिसका पर्याप्त विवेचन सर्वथा उपयुक्त होने पर भी प्रकृत में अप्रयोजनीय है।

३. *यज्ञाधिकारी क्षत्रिय होना चाहिए*

सवर्ण क्षत्रिय प्रकरण एवं जात्युत्कर्ष क्षत्रिय प्रकरण में जात्युत्कर्ष के विषय में पर्याप्त विवेचन किया जाएगा। चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से क्षत्रियत्व आदि की व्यवस्था रक्तशुद्धिमूलक ही है। इस सन्दर्भ में पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यतानुसार वर्तमान वैज्ञानिक विवेचन भी मन्तव्य है। वैज्ञानिक जगत् में मानव रक्त की पाँच श्रेणियाँ हैं।[3]

कतिपय विचारकों के अनुसार प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने दीर्घ अनुसन्धान के बाद विज्ञान जगत् के लिए विशुद्ध रक्त की पाँच श्रेणियों का वर्गीकरण प्रस्तुत

---

१. "ऊनषोडशवर्षा तु अप्राप्य पंचविंशतिम्।" (द्र०म०स्मृ०)

२. "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।" (द्र०, कालिदासविरचितं रघुवंशम्, १.८)

३. When and in what manner blood was first examined is unknown, but before the days of microscopy only the gross appearance of the blood could be studied. Clotted blood when viewed in a glass vassel. can be seen to form several distinct layers : at the bottom a dark red, almost black, jelly-like material is seen, above this is a red layer, and still nearer the top of the clot is a pale green or whitish layer. Above these is the transparent yellow serum. It has been suggested that perception of these layers in the blood after its removal from the body may have given rise to the doctrine of "four 'humors" [black bile, Sanguis, phlegma and yellow bile] which were believed to constitute the substances of the human body. Health and disease were thought to be the result of the proper mixture or imbalance, respectively, of these four humors. This doctrine, corresponding to the pervading concept of matter founded on the interrelationship of the four elements, earth, water, air and fire, was set out clearly in the Hippocratic writings and was systematized into a complex metaphysical pattern by Galen in the second centua ry AD. It dominated medical thinking even into the seventeenth century. Clinical Haemtology, by Maxwell M. Wantrobe, G. Richard lee, Dane R. Boggs, Thomas C. Bithell, John Foerster, John W. Athens and John N. Lukens, 8th Edition, 1981, publisher : Lea & Febiger, Philadelphia.

किया। प्रारम्भिक परीक्षणों में वैज्ञानिकों ने रक्त परीक्षणार्थ निम्नलिखित यन्त्रों का आविष्कार किया—

१. **आस्लोस्कोप**, २. **ओस्लोमीटर**, ३. **ओस्लोग्राम**,

जर्मनी के भाग्यविधाता नाजियों ने अपने शासनकाल में उक्त विज्ञान के आधार पर ही अपने देश में आर्यकरण आन्दोलन आरम्भ किया था। वहाँ विशुद्ध रक्त परम्परा प्रणाली की रक्षा का अमोघ उपाय (जन्मना वर्णव्यवस्था का अस्तित्व) विद्यमान नहीं था। अतः तत्कालीन जर्मन सरकार ने **अगत्या-कानून** द्वारा उक्त प्रणाली का सूत्रपात किया। उक्त रक्त परीक्षण में रक्त की जिन पाँच श्रेणियों का पता चला है, उनका वैशिष्ट्य इस प्रकार से है—

(क) शान्त कोमल श्वेत कीट प्रधान, (ख) प्रगतिशील उग्र रक्तिम कीट प्रधान, (ग) प्रगतिशील कोमल कीट प्रधान, (घ) अस्थिर उग्र धूमिल कीट प्रधान, (ङ) अस्थिर उग्र कृष्ण कीट प्रधान।

वैदिक विज्ञान में इन्हीं पाँच श्रेणियों का नामकरण विभिन्न गुणों के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज हुआ है। रक्त के जिन श्वेत, रक्त, पीत धूमिल, कृष्ण वर्णों का वैज्ञानिकों ने पता लगाया है, वैदिक ग्रन्थों में भी ब्राह्मणादि वर्णों का गौर, रक्तिम, पीत, धूम्र, कृष्ण वर्ण होना तथैव वर्णित है। वर्णव्यवस्था शब्द में ब्राह्मणादि को वर्ण कहने का अभिप्राय ही तादृश रंग का संकेत करना है।

पं० माधवाचार्य के मतानुसार उपर्युक्त वर्गीकरण को विशुद्ध रक्त परम्परा कहते हैं।[1]

४. *यज्ञाधिकारी राजवंशीय होना चाहिए*

सभी क्षत्रिय राजा नहीं होते थे, अत एव क्षत्रियों में राजवंशोत्पन्न क्षत्रिय एक विशिष्ट प्रकार के मनोवैज्ञानिक गुण, प्रभाव से युक्त होता था।[2] जन्म से क्षत्रिय होने के कारण स्वरूप योग्यता[3] और राजवंश में होने के कारण फलोपधायक योग्यता[4] दोनों से उपयुक्त ही अश्वमेध यज्ञ का अधिकारी होता है।

१. द्र०, धर्मदिग्दर्शन, भाग-२, लेखकः माधवाचार्यः, षष्ठसंस्करणम्, पृ० २४४-२४८।

२. क्षत्रियराजानां वंशत्रयं पुराणप्रसिद्धम्। यथा —
(क) अग्निवंशः, (ख) सूर्यवंशः, (ग) चन्द्रवंशः।

३. स्वरूपयोग्यत्वं कारणतावच्छेदकधर्मवत्वे सति तदानीं तत्कार्यानुत्पादकत्वम् इति।

४. फलोपधायकत्वञ्च कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्वे सति तदानी तत्कार्योत्पादकत्वम् इति।

५. *यज्ञाधिकारी अभिषिक्त[1] होना चाहिए*

क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न व्यक्ति अधिकारी होने पर भी राजवंश के अनेक पुत्रों को समान अधिकार प्राप्त होने से राष्ट्र में असन्तोष (फूट) हो सकता है, इसलिए राजवंश में भी अभिषिक्त सम्राट् ही इसका एकमात्र अधिकारी है। इसमें भी ध्यातव्य है कि राज्याभिषेक ज्येष्ठ क्षत्रिय सवर्णागर्भजात ज्येष्ठ राजपुत्र का होता था।

ज्येष्ठपुत्र की प्रधानाधिकार की अर्हता के विषय में यह मन्तव्य है कि २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक सवर्णा क्षत्रिया में प्रथम गर्भाधान द्वारा बालक में एतावत्काल पर्यन्त रक्षित ब्रह्मचर्य के गुण का सम्पूर्ण स्थापन होता था। अतः प्रत्येक श्रौत कार्य में ज्येष्ठ पुत्र प्रथम एवं प्रधान अधिकारी है।

६. *यज्ञाधिकारी सम्राट् होना चाहिए*

सम्राट् का लक्षण है—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडथ राजकम् ।।[2]

---

१. ऐतरेयब्राह्मणे अभिषेकः प्राधान्येन निरूपितः। अभिषेकेन तेजः शक्तिश्च वर्धेत इति शतपथसमयः (५.४.२.२)—

साम्राज्यशक्तिप्राप्त्यर्थम् अभिषेकः इति ऐतरेयब्राह्मणम्। क्वचिद् अभिषेकः असकृद् भवति इत्यपि श्रूयते यथा—महाभारते युधिष्ठिरस्य सभापर्वणि आश्वमेधिके पर्वणि च। देवानां प्रियो अशोकस्तु राज्यारोहणात् चतुर्भ्यः परम् अभिषिक्तः। एवं हर्षस्य शिलादित्यस्य च अभिषेकः विलम्बे इति श्रूयते। एतत् प्रसङ्गः बृहत्कथायां सोमदेवकथासरित्सागरे (१५.११०) एपिग्राफिया इण्डिका (१.४.५.६) रामराज्याभिषेकस्तु प्रसिद्ध एव।

अभिषेकसंस्कारोऽयं चन्द्रमसः पुष्यनक्षत्रेण संयोगे, अर्थात् चान्द्रगणनानुसारं पौषे मासि भवति इति अथर्वपरिशिष्टे (४), वराहमिहिरकृत-बृहत्संहितायाम् (४८), कालिकापुराणे (८९) च स्पष्टम्। यथा पौरोहित्यसिद्धये पुरोहितानां बृहस्पतिसवः (२.७.१.२) तद्वत् साम्राज्यसिद्धये अभिषेकः।

साम्प्रतमपि पूर्वमहाराजाधिराजनेपालनरेशमहेन्द्रवीरविक्रमशाहदेवात् परं तदानीन्तन-युवराजस्य वीरेन्द्रवीरविक्रमशाहदेवानां धर्मपत्नीसहितानाम् अभिषेकोपचारः कियद्भ्यो वर्षेभ्यः परं जातः।

एवमेव नाम अभिषेकः प्रतिष्ठासमये भवति। शङ्कराचार्याणां महामण्डलेश्वरप्रभृतीनाम् अभिषेकः परम्परानुसारं भवति। बौद्धानां दशसाधनाभूमिषु अन्तिमा अभिषेकभूमिः पूर्णावस्थारूपा। रामायणे, महाभारते, अग्निपुराणे अभिषेकस्य समग्रासामग्री वर्णिता, एतेषु परस्परं भेदोऽप्यस्ति। (द्र०, हिन्दूधर्मकोशे, हिन्दीग्रन्थस्य संस्कृते अनुवादः)

२. द्र०, अमर० २.८.३।

इससे स्पष्ट है कि राजसूय आदि राजनैतिक महायज्ञों को (सम्पादित) करने वाला अधिकारी सम्राट् होता था।

७. *यज्ञाधिकारी सार्वभौम चक्रवर्ती[१] होना चाहिए*

चक्रवर्ती सार्वभौम: = समस्त भूमण्डल में जिनका अधिकार हो, वे अश्वमेध यज्ञ कर सकते हैं। युधिष्ठिर आदि इसके उदाहरण हैं।

८. *यज्ञाधिकारी विवाहित होना चाहिए*

जन्म प्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्व का निर्बाध रूप से पालन करना ही धर्म है। इससे व्यक्ति कभी निवृत्त नहीं हो सकता। क्षत्रिय के लिए यह धर्म अखण्ड राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में आर्य राज्य की स्थापना-परम्परा है। यह कार्य सुयोग्य सन्तानोत्पत्ति के बिना सम्भव नहीं है।

पूर्वोक्त सम्प्रभुतासम्पन्न, सर्वसमर्थ पुरुष भी मर्यादापालनपुरस्सर, सुवर्णा विवाहपूर्वक ही अश्वमेध का अधिकारी होता है। इसके दो कारण हैं—

(क) यदि समर्थ, सुयोग्य सन्तानोत्पत्ति नहीं होगी, तो जन्म प्रभृति उत्तरदायित्व का परम्परापूर्वक पालन सर्वथा असम्भव है।

(ख) सन्तानोत्पत्ति भी यदि आर्य मर्यादारहित होगी, तो सम्राट् के स्वयं अमर्यादित होने से सम्पूर्ण राष्ट्र की अखण्डता, एकता की रक्षा तो दूर, कुछ ही दिनों में राष्ट्र छिन्न-भिन्न होने से अनेक संस्कृतियाँ अतीत काल में ही नष्ट हो जायेंगी,[२] नीतिकारों के शब्दों में––

---

१. आसमुद्रक्षितीशः सार्वभौमाधिराजा—

जिस राजा का चक्र समुद्रपर्यन्त चलता था, उसको चक्रवर्ती कहते थे। चक्र = रथ। उसको अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ करने का अधिकार होता था। भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे राजाओं की कई सूचियाँ पायी जाती हैं। मान्धाता और ययाति प्रथम चक्रवर्तियों में से थे। समस्त भारत को एक शासनसूत्र में बाँधना इनका प्रमुख आदर्श होता था। (द्र०, हिन्दूधर्मकोश)

चक्रे = 'भूमण्डले वर्तितुं शीलं यस्य' इति व्युत्पत्त्या समस्तभूमण्डलाधीश्वरः। एवं चक्रवर्ती, यतो हि चतुर्गुणितनवतिपरिमाणस्य षष्ट्युत्तरत्रिंशत्परिमाणात्मकस्य सम्पूर्णस्य भूमण्डलस्य एवं गोलात्मकत्वेन चक्रस्वरूपतया, तत्र वर्तितुं शीलं यस्य असौ चक्रवर्ती, स च सर्वभूमेरधीश्वरः।

अत एव 'सार्वभौमः चक्रवर्ती' इति अमरकोशः सङ्गच्छते। अत एव च 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इति रघुवंशमहाकाव्यप्रथमसर्गे 'सार्वभौमाणाम्' इति मल्लिनाथकृतसञ्जीवन्यां तद्व्याख्यायां सङ्गच्छत इति दिक्।

२. यथा पारस्य परम्परा साम्प्रतमपि अखण्डराष्ट्रीयैकताभावाद् नितरां विलीना इव। यहूदीत्यादयः परम्परा अपि प्रायो विलीना इव। प्राय ईदृशी एव दशा तिब्बतीय-बौद्धानाम्, चीनबौद्धानाम्। अन्यत्रापि इण्डोनेशिया-मलेशियाप्रभृतिषु आर्यराज्यमासीदिति इतिहाससमयः।

१. आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ।
ततो भृत्यान् ततोऽमात्यान् ततः पुत्रान् ततः प्रजाः ।।

२. विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः ।।

३. व्यवस्थितार्थमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।।

९. *यज्ञाधिकारी संयमी-सच्चरित्र होना चाहिए*

किसी भी श्रौत प्रयोग में संकल्प लेने के बाद व्यक्ति को संयमी होना चाहिए, अन्यथा फलवैगुण्य हो सकता है। **आचार्य मनु** का पूर्वोद्धृत सन्दर्भ इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है।[4]

विशेषतः अश्वमेध में अपेक्षित चारों पत्नियों[5] में द्वितीय वल्लभा के साथ राजा को रात्रि में वावाता के साथ शयन करना पड़ता था और शेष पत्नियाँ चतुर्दिक् शयन करती थीं। इस अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की रक्षा अपेक्षित है। इसी प्रकार अनेक ऐसे असिधारावहेलन समान कार्य करने पड़ते हैं, जिनसे व्यक्ति का संयमी होना नितान्त आवश्यक है। संकल्प लेने के बाद ब्रह्मचर्यच्युत होने पर कर्म-वैगुण्य होगा।''[6]

१०. *यज्ञाधिकारी की आर्थिक योग्यता*

अनेकवर्षव्यापि, प्रधानकर्मकाण्डात्मक अनुष्ठान, दिनत्रय में पर्यवसित अश्वमेध एक दीर्घकालिक परियोजना है। इसमें पर्याप्त अर्थ की आवश्यकता है; परन्तु इसके आयोजन के नाम पर कोई भी सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् जनता पर नवीन कर नहीं लगा सकता। अश्वमेध तो क्या, अन्य सोमयागादि श्रौत

---

१. द्र०, कौटिल्य अर्थशास्त्र।

२. द्र०, तत्रैव।

३. द्र०, कौटिल्य-अर्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमेऽधिकरणे विद्यासमुद्देशप्रकरणे त्रयी-स्थापनायाम्, ३.२।

४. द्र०, म०स्मृ०, २.९७।

५. अश्वमेधे अपेक्षिता राज्ञः पत्न्यः
महिषी | वल्लभा | वावाता | पालागली

६. ''न कर्म कर्तृकरणवैगुण्याद् इति मीमांसादर्शनम्।

प्रयोग सम्पादन हेतु भी सम्राट्, न तो नया कर लगा सकता है और न ही राजकोष सर्वथा रिक्त कर सकता है।

इस पर विश्व के प्रथम संविधान-निर्माता आचार्य मनु का स्पष्ट निर्देश है कि जिस राजा के पास तीन वर्षपर्यन्त पर्याप्त खाद्य-सामग्री एवं समस्त कर्मचारियों को प्राप्त होने वाला वेतनादि सुरक्षित होने के उपरान्त यदि अतिरिक्त धन हो, तभी वह सोमयाग का अधिकारी होता है''।[1] अश्वमेध सोमयाग का विशेष रूप है।

प्रसंगतः उल्लेख्य है कि लोपामुद्रा की आकांक्षा के अनुसार महर्षि अगस्त्य को एकदा कुछ द्रव्य की आवश्यकता पड़ी। महर्षि अपनी पत्नी की इच्छापूर्ति के औचित्य के लिए सर्वप्रथम श्रुतर्वा नामक राजा के पास अपनी आकांक्षा को प्रकट किये; परन्तु श्रुतर्वा द्वारा राज्य का आय-व्यय समान प्रस्तुत करने पर, श्रुतर्वा के साथ ही महर्षि क्रमशः ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु नामक दो राजाओं के पास भी गए; परन्तु सभी के राज्य में आय-व्यय समान होने के कारण महर्षि ने अपनी इच्छा का बलिदान कर दिया। महर्षि की इस यात्रा में श्रुतर्वा और ब्रध्नश्व भी त्रसदस्यु तक गए थे। अन्त में महर्षि ने उपायान्तर से द्रव्य संग्रह कर अपनी पत्नी का मनोरथ पूर्ण किया''।[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अश्वमेधादि सोमयाग तो क्या, सामान्य दान इत्यादि भी आय-व्यय का अतिक्रमण करके नहीं हो सकता। अश्वमेध के विषय में तो आचार्य मनु का वचन स्पष्ट ही है। नीतिकारों के अनुसार—

''**अयं तु परमो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः।**''[3]

इसके अतिरिक्त अश्वमेधकर्ता की संघ-शक्ति, सैन्यबल, पारिवारिक एकता, दूरगामी नीति निर्धारण समिति, कुशलमन्त्रणा, कूटनीति, शत्रुभेद, मित्रवृद्धि आदि समस्त समयोचित एवं राजनीतिक गुणगणों की नितान्त आवश्यकता है। पर्याप्त विवेचन न करने पर भी इस सबों का महत्त्व स्पष्ट ही है।

---

१. यस्य त्रैवार्षिकं भुक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ।। (द्र०, म०स्मृ०, ११।७)

२. द्र०, महा० भा०, वनपर्व, अध्याय ९७-९९।

३. द्र०, कौटिल्य अर्थशास्त्र।

विभिन्न सिद्धान्तों से क्षत्रियत्व-सिद्धि

क्षत्रियसाध्य यागों में अधिकारी प्रथमतः क्षत्रिय होना चाहिए। क्षत्रियत्व कर्मणा एवं जन्मना भी होना चाहिए। निम्नलिखित व्यक्ति जन्मतः क्षत्रिय हैं—

(क) क्षत्रिय द्वारा सवर्णा क्षत्रिया में उत्पन्न।

(ख) ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया में उत्पन्न।

(ग) क्षत्रिय द्वारा वैश्या में उत्पन्न (सप्तम पुरुष अनुलोम के पश्चात् जात्युत्कर्ष द्वारा)।

(क) जन्म से क्षत्रियत्व व्यवस्था का कारण-निरूपण

वेदों में अग्नि शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। इनमें शुक्र रूप भी अग्नि का एक स्वरूप है। इसके तीन भेद हैं—

शुक्राग्नि

ब्रह्माग्नि   दैवाग्नि   भूताग्नि (वासनाग्नि)

इसी को क्रमशः ब्रह्मवीर्य, क्षयवीर्य, विड्वीर्य भी कहा जाता है—

शुक्राग्नि

ब्रह्मवीर्य   क्षयवीर्य   विड्वीर्य

अतः ब्रह्मवीर्य = वाक्प्रधान, क्षयवीर्य = उष्णताप्रधान एवं विड्वीर्य = शमप्रधान होता है, शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ-ब्राह्मण (१.४) में वर्णनिरूपणप्रसङ्ग में इन सब पर विशद विवेचन है।[१] जिस प्रकार मृत्तिका, जल आदि विभिन्न कारण समवाय[२] से बीज अपनी शक्ति को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सवर्णा सम्बन्ध आदि विभिन्न लौकिक उपायों से क्षयवीर्य वंशपरम्परा क्रम से अपने को नवीन रूप से विकसित करता रहता है। योग्य पात्र के आधार माध्यम से उक्त बीज, विकासवाद के कारण ही वर्णव्यवस्था जन्म प्रधान होने के साथ-साथ उत्तरदायित्व भी जन्म प्रधान ही सिद्ध है।

---

१. द्रा०, वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति, लेखक—पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० १००-१०१।

२. कारणसमवायात् कार्योत्पत्तिः। अयं भावः-कारणता द्विविधा-समुदायनिष्ठा, अन्तरादिनिष्ठा च। तयोः आद्या चक्रचीवरन्यायाभिन्ना, घटोत्पत्तौ दण्डकुलाल-चक्रचीवरादीनां संहत्य कारणत्वात्। अन्त्या तृणारणिमणिन्यायाभिन्ना, तत्र एकेनापि दाहोत्पत्तिसिद्धेः इति दिक्।

(ख) अनुलोम सङ्कर से जन्मतः क्षत्रियत्वसिद्धि

अनुलोमसङ्कर अर्थात् प्रकृत में "**ब्राह्मणात् क्षत्रियायां जातः**"। इनको मूर्धावसिक्त आदि शब्दों से भी कहा जाता है। **मातृवद्वर्णसङ्कराः**[1] इस नियम के अनुसार इनके समस्त संस्कारादि क्षत्रिय के समान होते हैं। पिता ब्राह्मण होने पर भी, माता क्षत्रिया होने से उत्पन्न पुत्र भी क्षत्रिय ही होगा। यद्यपि मूर्धावसिक्त का स्थान ब्राह्मण-क्षत्रिय के मध्य का है; परन्तु सभी संस्कार क्षत्रियवत् होंगे। यदि ऐसे मूर्धावसिक्त पुरुष षष्ठ पुरुषपर्यन्त क्षत्रिया से सम्बन्ध करे, तो सप्तम पुरुष जात्यपकर्ष सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण क्षत्रिय होगा।[2]

जात्युत्कर्ष द्वारा क्षत्रियत्वसिद्धि

गौतम,[3] **मनु**,[4] **याज्ञवल्क्य**[5] आदि स्मृतिकारों ने जात्यपकर्ष नामक एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनके कथनों की व्याख्यायों में विभिन्नता पायी जाती है; किन्तु सिद्धान्ततः अर्थ एक ही है।

गौतम के अनुसार

आचार्यों का मत है कि अनुलोम व्यक्ति जब इस प्रकार विवाह करते हैं कि प्रत्येक स्तर में वर जाति में वधू से उच्चतर या निम्नतर होता है, तो सातवें पुरुष में जात्युत्कर्ष और पाँचवें पुरुष में जात्यपकर्ष को प्राप्त करते हैं।

यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिया से विवाह करता है एवं पुत्र उत्पन्न होता है, तो वह ब्राह्मण सवर्ण कहलाएगा। यदि वह सवर्ण पुत्र किसी क्षत्रिया से विवाह करता है और उससे पुत्र होता है एवं यही क्रम पाँच पीढ़ियों तक चलता है और पञ्चम पुरुष का पुत्र क्षत्रिय कन्या से विवाह करता है, तब उसका पुत्र

---

१. द्र०, भा.पु., दशमस्कन्ध पू० वंशीधरकृत-भावार्थदीपिकाप्रकाशः।

२. "जात्युत्कर्ष"-"जात्यपकर्ष"-विषयावग्रे निरूपितौ।

३. वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाचार्यः।
सृष्ट्यन्तरजातानां च ।। (गौ०सू०, ४.१८.१९)

४. शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ।।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। (म०स्मृ०, १०।६४-६५)

५. जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ।
व्यत्यये कर्मणा साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ।। (या०स्मृ०, १।९६)

क्षत्रिय वर्ण का होगा। यही नियम क्षत्रिय का वैश्या से विवाह करने पर भी चलता है, इसे जात्यपकर्ष कहते हैं।

आचार्य **मनु** ने जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष दोनों के लिए सप्त पुरुषपर्यन्त आवश्यक माना है; किन्तु **गौतम** ने क्रम से पाँच (जात्यपकर्ष) सात (जात्युत्कर्ष) के लिए बताया है। **गौतम** के अनुसार प्रथम से आठवाँ अनुलोम ही जात्युत्कर्ष प्राप्त करता है, किन्तु **मनु** के अनुसार सातवीं पीढी ही ऐसा कर पाती है। **याज्ञवल्क्य** एवं **मनु** के अनुसार जात्युत्कर्ष विवाह से होता है।[1]

जात्युत्कर्षविषयक वैज्ञानिक विश्लेषण

प्रत्येक मनुष्य का सन्तानोत्पत्ति की शक्ति रखने वाला जो शुक्र है, उसमें ८४ अंश होते हैं, जिन्हें वैदिक विज्ञान में "**सहः**" नाम से पुकारा जाता है। इसमें ५६ अंश पूर्व पुरुषों से प्राप्त होते हैं और २८ अंश इसके अपने अन्नपानादि द्वारा उपार्जित हैं। पूर्व पुरुषों से प्राप्त ५६ अंश में २१ कर्ता के पिता के, १५ पितामह के, १० प्रपितामह के, ६ चतुर्थ पुरुष के, ३ पञ्चम पुरुष के, १ षष्ठ पुरुष का है।

इन ८४ अंशों में से कर्ता सन्तानोत्पादन के लिए ५६ अंश का शुक्र निर्वाप करेगा, जिनमें २१ अंश इसके स्वोपार्जित २८ अंशों में से जाएगा और ३५ पूर्व पुरुषों के ५६ में से जाएगा। ५६ अंशों में से अर्थात् १५ अंश पिता के, १० अंश पितामह के, ६ अंश प्रपितामह के, ३ अंश चतुर्थ पुरुष के, १ अंश षष्ठ पुरुष के होंगे।

अपने से पूर्व षष्ठ पुरुष का जो एकमात्र अंश इस व्यक्ति में था, वह सूक्ष्म होने के कारण इसके सन्तान में नहीं जाएगा। इसी सूत्र के कारण शास्त्रों में एक व्यक्ति को मध्य में रखकर उसका ६ पूर्व पुरुषों से और ६ आगे की सन्तति से सापिण्ड्य माना जाता है। स्वयं एक तथा आगे के ६ सन्तान = सप्तपुरुषों तक सापिण्ड्य चलता है—

"**सापिण्ड्यं सप्तपौरुषम्**"।

अपने से अष्टम पुरुष में जाकर सापिण्ड्य निवृत्त हो जाता है; क्योंकि वहाँ कोई अंश नहीं पहुँचता है।"[2] (द्र. तालिका-३, पृ. ४३)।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, मूल लेखक काणे, प्रथम भाग, द्र०, "वर्णव्यवस्था पर विवेचन"।

२. द्र०, वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति, लेखक-पं०गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० १५६।

तालिका संख्या- ३

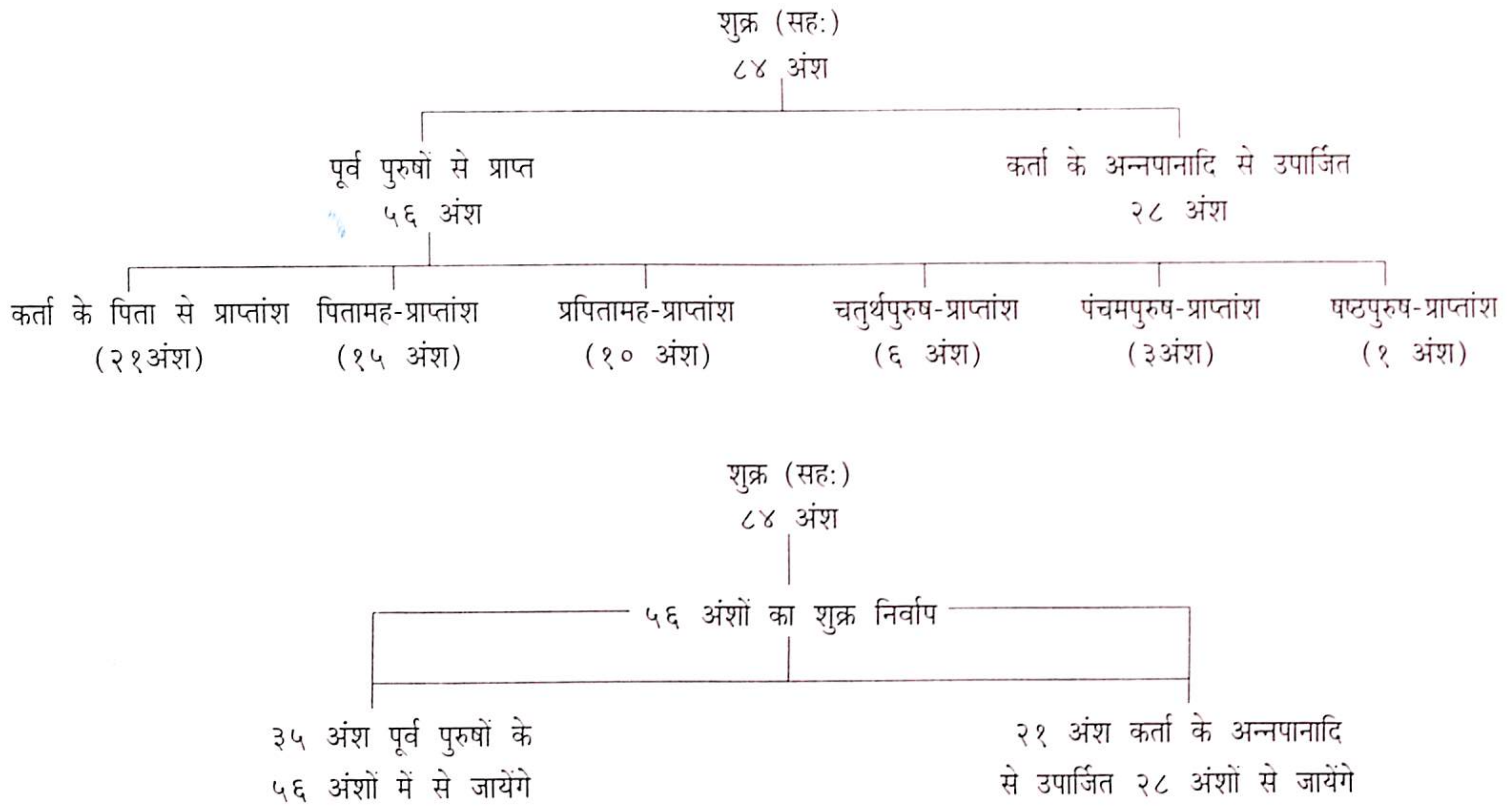
शुक्र (सहः)
८४ अंश
पूर्व पुरुषों से प्राप्त
५६ अंश
कर्ता के अन्नपानादि से उपार्जित
२८ अंश
कर्ता के पिता से प्राप्तांश
(२१अंश)
पितामह-प्राप्तांश
(१५ अंश)
प्रपितामह-प्राप्तांश
(१० अंश)
चतुर्थपुरुष-प्राप्तांश
(६ अंश)
पंचमपुरुष-प्राप्तांश
(३अंश)
षष्ठपुरुष-प्राप्तांश
(१ अंश)
शुक्र (सहः)
८४ अंश
५६ अंशों का शुक्र निर्वाप
३५ अंश पूर्व पुरुषों के
५६ अंशों में से जायेंगे
२१ अंश कर्ता के अन्नपानादि
से उपार्जित २८ अंशों से जायेंगे

विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्ण-विचार एवं इसका अश्वमेधाधिकारित्व में निरसन

ज्योतिषशास्त्र में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की व्यवस्था है, परन्तु वह व्यवस्था धर्मशास्त्र-निरपेक्ष है। ज्योतिषशास्त्रीय व्यवस्था जातक की राशि के अनुसार होती है। ज्योतिष में १२ राशि प्रसिद्ध हैं—

१. मेष, २. वृष, ३. मिथुन, ४. कर्क, ५. सिंह, ६. कन्या, ७. तुला, ८. वृश्चिक, ९. धनु, १०.मकर, ११. कुम्भ, १२. मीन।

इनको चार वर्णों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार ३·४=१२ तीन -तीन राशियों के चार वर्ग को क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण कहते हैं। उदाहरणार्थ वृश्चिक राशि का जातक ब्राह्मण वर्ण का है। वृष राशि का जातक शूद्र वर्ण का है। (द्र.पृ.सं. ४५, तालिका संख्या-४) इसको निम्नलिखित चक्र में स्पष्ट किया गया है—

जातक-वर्ण-निर्णय

ब्राह्मण वर्ण	क्षत्रिय वर्ण	वैश्य वर्ण	शूद्र वर्ण
कर्क	सिंह	मिथुन	वृष
मीन	तुला	मेष	मकर
वृश्चिक	धनु	कुम्भ	कन्या

इसमें कुछ मतभेद भी है। इसका विस्तार अनपेक्षित है; परन्तु यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि धर्मशास्त्रोक्त ब्राह्मण, ज्योतिष के अनुसार क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र भी हो सकता है। यह व्यवस्था जन्मराशि के अनुसार होगी, अर्थात् धर्मशास्त्रीय ब्राह्मण, ज्योतिषशास्त्र में किसी भी वर्ण का हो सकता है, इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्रोक्त ब्राह्मण, धर्मशास्त्र में किसी भी वर्ण का हो सकता है।[1]

परन्तु इस वर्ण-व्यवस्था का विचार विवाह के सम्बन्ध में करणीय है। अश्वमेधाधिकारी अभिषिक्त सम्राट् धर्मशास्त्रानुसार पूर्वोक्त सवर्णा गर्भजात, अनुलोमजात, जात्युत्कर्षप्राप्त—इनमें अन्यतम कोटि का क्षत्रिय ही स्वीकृत है।

प्रसंगतः यह भी विवेचनीय है कि वस्तु मात्र में (शास्त्रों में) चारों प्रकार का वर्णभेद पाया जाता है। उदाहरण के लिए भूमि, वस्त्र, काष्ठ, पशु आदि

---

१. द्र०, ''पी०एम० बागचीर डाइरेक्टरी पंजिका'', बङ्गाक्षरात्मिका, बङ्गाब्दः १३९८ ज्योतिषवचनार्थप्रकरणे चतुर्दशपृष्ठम्।

तालिका संख्या–४

वर्ण-विभाजन-चक्र (धर्मशास्त्रीय, ज्योतिषशास्त्रीय)

वर्ण

ब्राह्मण				क्षत्रिय				वैश्य				शूद्र			
ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
कर्क	सिंह	मिथुन	वृष	कर्क	सिंह	मिथुन	वृष	कर्क	सिह	मिथुन	वृष	कर्क	सिह	मिथुन	वृष
मीन	तुला	मेष	मकर	मीन	तुला	मेष	मकर	मीन	तुला	मेष	मकर	मीन	तुला	मेष	मकर
वृश्चिक	धनु	कुम्भ	कन्या	वृश्चिक	धनु	कुम्भ	कन्या	वृश्चिक	धनु	कुम्भ	कन्या	वृश्चिक	धनु	कुम्भ	कन्या

में भी चारों प्रकार का भेद स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में जयपुर-नरेश महाराज माधव सिंह की राजसभा के प्रधान पण्डित, वैदिकविज्ञान-व्याख्याता विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन शर्मा के शिष्यों में अन्यतम श्री मोतीलाल शर्मा ने अपने ग्रन्थ में विभिन्न वस्तुओं में वर्णचतुष्टय विभाग का उल्लेख किया है। यथा—

चातुर्वर्ण्यनिर्म्माता अव्ययः पुरुषः सोऽयं पुरुषोत्तमनाम्ना प्रसिद्धो अव्यय-पुरुषः—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।

इति गीताक्षरेण साक्षादीश्वरः। स एव ब्राह्मणादिवर्णानां प्रभवः। तथा च वर्णानां नित्यत्वे लेशमात्रस्यापि सन्देहस्य नावसरः। अपि च न केवलं मनुष्येष्वेव, अपि तु पदार्थमात्रेषु सामान्यरूपेण एष वर्णविभागो द्रष्टव्यः।

१. पशुषु तावत्—अजपशुर्ब्राह्मणः, अश्वः क्षत्रियः, गौर्वैश्यः, अविः शूद्रः।
२. सर्पेषु सुवर्णाभाः पन्नगा ब्राह्मणाः, स्निग्धवर्णा भृशकोपनाः पन्नगाः क्षत्रियाः, लोहितधूम्राः पारावताः सर्पा वैश्याः, भिन्नानेकवर्णा रुक्षत्वचः पन्नगाः शूद्राः।
३. वनस्पतिषु अश्वत्थवटपलाशबिल्वादयो ब्राह्मणाः, देवदारुश्रीपर्णिकाश्मर्यादयः क्षत्रियाः, फलपुष्पप्रदातारः सर्वे वृक्षा वैश्याः, वंशादयः शूद्राः।
४. कीटेषु पुष्पादिषु ये कीटास्ते ब्राह्मणाः, शरीरगतसप्तधातुसम्बन्धिनः कीटाः क्षत्रियाः, कौशेयसूत्रनिर्म्मातारः कीटा वैश्याः, विष्ठादिनिकृष्टपदार्थेषु वर्त्तमानाः कीटाः शूद्राः।
५. पक्षिषु चक्रवाककपोतादयो ब्राह्मणाः, वकादिपक्षिणः क्षत्रियाः, मयूरादयो वैश्याः, काकगृध्रादयः शूद्राः।
६. यज्ञेषु सोमयागो ब्राह्मणः, पशुबन्धः क्षत्रियः, इष्टयो वैश्याः, पाकयज्ञापरपर्य्यायोकदर्वीहोमः शूद्रः।
७. देवेषु अग्निर्ब्राह्मणः, इन्द्र क्षत्रियः, विश्वेदेवा मरुतश्च वैश्याः, तमोमयः पार्थिवः पूषाप्राणः शूद्रः।
८. वेदेषु सामवेदो ब्राह्मणः, यजुर्वेदः क्षत्रियः, ऋग्वेदो वैश्यः, चतुर्थश्चतुर्थः।
९. दिक्षु उत्तरा दिग् ब्राह्मणः, दक्षिणा दिक् क्षत्रियः, प्राची दिग् वैश्यः प्रतीची शूद्रः।

१०. प्रकृतिषु सत्त्वप्रकृतिर्ब्राह्मणः, सत्त्वरजःप्रकृतिः क्षत्रियः, रजस्तमःप्रकृतिर्वैश्यः, तमःप्रकृतिः शूद्रः।

११. शक्तिषु ज्ञानशक्तिर्ब्राह्मणः, क्रियाशक्तिः क्षत्रियः, अर्थशक्तिर्वैश्यः, पशुशक्तिः शूद्रः।

१२. बलेषु विद्याबलं ब्राह्मणः, ऐश्वर्यबलं क्षत्रियः, वित्तबलं वैश्यः, शरीरबलं शूद्रः।

१३. वर्णेषु श्वेतवर्णो ब्राह्मणः, रक्तवर्णः क्षत्रियः, पीतवर्णो वैश्यः, कृष्णवर्णः शूद्रः।

१४. छन्दस्सु गायत्री ब्राह्मणः, त्रिष्टुप् क्षत्रियः, जगती वैश्यः, अनुष्टुप् शूद्रः।

१५. शरीरावयवेषु मस्तकं ब्राह्मणः, हस्तौ उरश्च क्षत्रियः, उदरं वैश्यः, पादौ शूद्रः।

१६. सवनेषु प्रातःसवनं ब्राह्मणः, माध्यन्दिनसवनं क्षत्रियः, सायंसवनं वैश्यः, रात्रिः शूद्रः।

१७. स्वरेषु उदात्तो ब्राह्मणः, अनुदात्तः क्षत्रियः, स्वरितो वैश्यः, वक्रस्वरः शूद्रः।[१]

जन्मवाद एवं कर्मवाद का समन्वय : दार्शनिक दृष्टिकोण

न्यायदर्शन की मान्यता

''**यद् भोगायतनं तदेव शरीरम्**''[२] अर्थात् कर्मफल के भोग हेतु जो पाञ्चभौतिक[३] एवं पाञ्चकौशिक[४] स्थूल पदार्थ है, उसी को शरीर कहते हैं। यह

---

१. द्र०, मोतीलालशर्मकृतः ''वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्'' इति ग्रन्थः। अयं ग्रन्थः स्वतन्त्रः जयपुरे प्रकाशितायां भारतीनामकसंस्कृतमासिकपत्रिकायामपि प्रकाशितः।

२. द्र०, तर्कसङ्ग्रहस्य चन्द्रजसिंहकृता पदकृत्यव्याख्या। अत्र च ''प्रारब्धकर्मभोगायतनम्'' इति बोध्यम्। ''प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः'' इति अध्यात्मसमयः। ''नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'' इति भागवतस्मरणाच्च। न च—

''यथैधांसि समृद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।

इत्यत्र गीतायां सर्वकर्माणि च कथं सङ्गच्छताम्?
प्रारब्धकर्मणाम्भोगादेव क्षयस्य सिद्धान्तितत्वाद् इति चेत्, अत्रोच्यते—अत एव भगवत्पादैः श्रीशङ्कराचार्यैः—तत्र प्रारब्धकर्मातिरिक्तानां क्रियमाणानां च संचितानां च कर्मणां ग्रहणम् इष्टम् इति व्याख्यातम्। तत्र प्रसङ्गे च तैर्लुब्धककर्तृहन्यमानपशुदृष्टान्तोऽपि उपस्थापितः, तथा हि कश्चिद् लुब्धकः लस्तकमस्तक इषुमारोप्य मुख्यं वेद्धुकामो यावत् सन्धत्ते तावत् प्रबलतरशुभादृष्टादयो जात इति ज्ञानमभवत् ततः परं कर्मक्षये जातेऽपि, धनुर्मुक्तपूर्वेषुजन्यवेधस्तु भविष्यत्येवेति व्यवस्था। (द्र०, श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्कर-भाष्यम्)

३. आकाशवायुतेजोजलभूमिरूपभूतेषु इति वाच०।

४. अन्नमयः प्राणमयः मनोमयः विज्ञानमयः आनन्दमयकोषाः। (पञ्चदशी, ३.१-११)

शरीर यद्यपि चिकित्सा, मनोरञ्जन आदि का विषय है; परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से शरीर प्राप्ति एक भिन्न विषय है।

दार्शनिक दृष्टि से शरीर-प्राप्ति–संक्षिप्त विचार

यहाँ पर शरीर-प्राप्ति अर्थात् पार्थिव शरीर-प्राप्ति का स्पष्ट विवेचन छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त है।[1]

तदनुसार जीव को पार्थिव शरीर प्राप्त करने में अजवीथी, नागवीथी आदि नववीथी से तथा ऐरावत जरद्गव आदि त्रयमार्गों से लौटना पड़ता है। (देखे, तालिका संख्या-५)। इस प्रकार ऐरावत जरद्गव, वैश्वानर आदि तीन मार्ग और नाग, गण, ऐरावत, ऋषभ, अज, छाग, वैश्वानर आदि नौ वीथियाँ हैं। इस क्रम में वह आकाश में, ततः वायु में, ततः विरल वाष्प रूप में और फिर घन वाष्प रूप में होकर मेघमण्डल में आता है और मेघ के जल के साथ भूमि पर गिरकर अन्न, फल, घास रूप में प्रविष्ट हो जाता है। यह प्रक्रिया भी विज्ञानसिद्ध है।[2]

अपने कर्मानुसार जिस योनि में जिस व्यक्ति के यहाँ जीव को जन्म लेना पड़ता है, वही व्यक्ति उस अन्न, फल और तृण को भी खाएगा। यदि मनुष्य योनि में जाना है, तो अन्न में प्रविष्ट होकर वह सूक्ष्म शरीर से मनुष्य रूप पिता के स्थूल शरीर में पहुँच जाएगा। यदि पशु योनि में जाना है तो तृणादि के द्वारा उसी पशु के स्थूल शरीर में पहुँच जाएगा। इसी प्रकार फलादि के रूप में पक्षी शरीर में भी जा सकता है और वर्षा-जल के साथ आए हुए सूक्ष्म शरीर का उन अन्नादि के द्वारा मनुष्यादि के शरीर में प्रविष्ट हो जाना स्वाभाविक है। इसी आशय से श्रुति कहती है—

तालिका संख्या-५

मार्ग

ऐरावत			जरद्गव			वैश्वानर		
नाग	गण	ऐरावत	ऋषभ	गौ	जरद्गव	अज	छाग	वैश्वानर
१	२	३	४	५	६	७	८	९

१. छान्दोग्योपनिषद्, प्रपाठक ५, खण्ड १०, कण्डिका ५,६,७।

२. विषयेऽस्मिन् भारतगौरवश्रीमज्जगदीशचन्द्रवसुमहोदयानां मतं द्रष्टव्यम्। उक्तं च विश्वनाथ-भट्टाचार्यैः—"भग्नक्षतप्ररोहणादिना तदनुमानात्। (द्र० न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)

"पुरुषे ह वा अमादितो गर्भो भवति।"[1]

अर्थात् पहले पुरुष गर्भ धारण करता है। जब सूक्ष्म शरीर का पुरुष के स्थूल शरीर में प्रवेश हो जाता है, तभी से पुरुष का गर्भ धारण होना माना जाता है।

अब आयुर्वेद की प्रक्रिया के अनुसार उस अन्नादि से क्रमशः धातु बनेंगे। अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र। अन्नपरिपाक से शुक्र बनाने तक वह पिता के शरीर में घूमता है, फिर पिता के द्वारा माता के गर्भाशय में पहुँच जाता है और वहाँ कलिल, बुद्बुद आदि क्रम से स्थूल शरीर धारण कर लेता है। (देखें, तालिका संख्या-६)। उपनिषदों में इसको '**पञ्चाग्नि-विद्या**' कहा जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य है।[2]

तालिका संख्या-६

आयुर्वेद-प्रक्रियानुसार सूक्ष्म से स्थूल शरीर-निर्माण-चक्र

१.	अन्न	सूक्ष्म शरीर (पितृ शरीर में स्थिति)
२.	रस	
३.	रुधिर	
४.	मांस	
५.	मेदा	
६.	अस्थि	
७.	मज्जा	
८.	शुक्र	
९.	मातृ-गर्भ	स्थूल शरीर (मातृ शरीर में स्थिति)
१०.	गर्भ में स्थूल शरीर का निर्माण	

न्यायदर्शनानुसार जीव का स्वरूप

न्याय-दर्शन के अनुसार जीव नित्य एवं अनन्त है।[3] उनके अनादि वासनामूल अनन्त कर्मफलों के भोग के लिए ही सृष्टि होती है।

१. ऐ०उ०, ५.१।

२. द्र०, वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीकृत, पृ० १३९, १५२।

३. "जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च"। (द्र०, तर्कसङ्ग्रहः)

जीव का जन्म पूर्वोपार्जित, स्वस्वकर्मानुसार, विभिन्न योनियों में, विभिन्न शरीरों के साथ सम्बन्धमूलक भोग आदि द्वारा होता है। ईश्वरसाधक न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में, मनुष्यत्व जाति में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व आदि विभिन्न धर्मों के कारणीभूत अदृष्ट तत्त्व से प्रभावित, परमाणुपुञ्ज के पारस्परिक सहयोग से उत्पन्न, विभिन्न देहों को ब्राह्मण, क्षत्रियादि विभिन्न नामों से निर्धारित करके, किं जातीय दम्पत्तियों द्वारा उत्पन्न शरीर में किस जाति की सत्ता होगी—ऐसी व्यवस्था किया, इसलिए भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

''**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**''[१] ।

यहाँ ''**सृष्टम्**'' पद ध्यातव्य है। भूतकाल में '**क्त**' प्रत्यय है। ''**मया**'' कर्तृ पद है। इस प्रकार ''गुण-कर्म-विभाग द्वारा चातुर्वर्ण्य भगवान् के द्वारा ही सृष्ट किया जा चुका है।''

अत एव लौकिक उन्नति, सामाजिक स्थिति को देख करके जीव सृष्टि का कर्तृत्व नहीं आ सकता। इसी के आधार पर जन्मप्रधान, कर्तव्यमूलक उत्तरदायित्व का भार जीवमात्र को प्राप्त है। इस प्रकार क्षत्रिय-शरीराधिष्ठित जीव जन्म से क्षत्रिय धर्म का भार-प्राप्त उत्तराधिकारी है।

इसका विवेचन स्पष्ट रूप से इस प्रकार है—

अदृष्ट के भेद

भोगनियामक सम्बन्ध प्रापक अदृष्ट	वैध-अवैध कर्माचरण प्रवर्तक अदृष्ट

इस प्रकार जो जीव भोगनियामक सम्बन्ध अर्थात् क्षत्रिय शरीर प्रापक अदृष्ट से युक्त है एवं शौर्यवीर्यविजयादि अनुष्ठान प्रभृति प्रवर्तक वैध कर्माचरण रूप अदृष्ट से भी युक्त है, वह जन्मतः पर्याप्ति सम्बन्ध से क्षत्रिय है।[२]

इसमें भोगनियामक सम्बन्ध प्रापक अदृष्ट बलवत्तर है, ऐसा हम अनुमान कर सकते हैं, जिसमें प्रमाण है—''**मातृवद्वर्णसङ्करः**।''

---

१. द्र०, महा०भा०, भीष्मपर्वणि, श्रीमद्भगवद्गीतायां च श्रीभगवतो वचनामृतम्।

२. द्र०, वज्रसूची, सम्पादकः—डॉ०रामायणप्रसादद्विवेदी, तस्य सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्व-विद्यालयस्य कुलपतिचर–पं० बदरीनाथशुक्लकृतोऽभिप्रायः।

अश्वमेध : प्रमुखतया क्षत्रियसाध्य याग

क्षत्रिय साध्य याग का अर्थ है—क्षत्रिय यजमान साध्य याग।[१] यज्ञ कराने वाले होता, अध्वर्यु आदि १६ ऋत्विज[२] ब्राह्मण ही होते हैं, केवल यजमान क्षत्रिय होता है; क्योंकि ब्राह्मण को यज्ञ करने और कराने दोनों का उत्तरदायित्व है[३], जबकि क्षत्रिय और वैश्य को मात्र यज्ञ करने का उत्तरदायित्व है[४]। क्वचित् रथकार एवं निषादस्थपति[५] को भी यज्ञ करने का उत्तरदायित्व विहित है। क्वचित् आपद्धर्म में प्रयोजनवशात् क्षत्रिय, यज्ञ में आचार्य हो सकता है,[६] फिर भी वह दक्षिणा ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसी परम्परा है। यह सभी नियम विशेष परिस्थितियों में है। सामान्यत: क्षत्रिय यज्ञकर्तृत्व का निर्वाह कर सकता है।

राजनीति-प्रधान यागों का नामसंकीर्तन

(क) वाजपेय, (ख) राजसूय, (ग) अश्वमेध, (घ) पुरुषमेध, (ङ) मित्रविन्दा, (च) विश्वजित्, (छ) पुत्रेष्टि, (ज) सर्पसत्र, (झ) गर्दभेज्या, (त) व्रात्यस्तोम, (थ) पुनराधेय, (द) प्रजाकामेष्टि।

इन राजनीतिप्रधान यागों में कतिपय याग क्षत्रिय एवं क्षत्रियेतर-साध्य भी हैं। क्षत्रियमात्र साध्य यज्ञ यथा राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध।

तत्रापि अश्वमेध यज्ञ सर्वोपरि है। अभिषिक्त क्षत्रिय सम्राट् साध्य प्रमुखतम याग मात्र अश्वमेध यज्ञ ही है।

अश्वमेधोपयुक्त कालविवेचन

(अ) पौराणिक मान्यतानुसार चारों युग प्रसिद्ध हैं।[७] इनमें प्रथम तीन—सत्य,

---

१. यज्ञसम्पादका: पुरुषास्त्रेधा विभज्य गृह्यन्ते—प्रधानपुरुषा:, ऋत्विक्पुरुषा:, अऋत्विक्पुरुषाश्च तत्र प्रधानभागे त्रय: पुरुषा:—यजमान:, यजमानपत्नी, पुरोधाश्चेति।

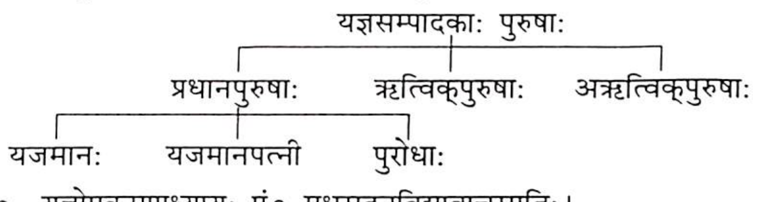

२. द्र०, यज्ञोपकरणाध्याय: पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पति:।

३. ''यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहरूपेषु षट्सु विप्रकर्मसु च'' वाच०।

४. ''ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां श्रुते:'' (का०श्रौ०सू० १।१।६)।

५. ''निषादस्थपतिं याजयेत्'', ''वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीत'' इत्यादि-प्रसिद्धे:।

६. विश्वामित्रस्य त्रिशङ्कोर्यागकरणम्, एतन्मूलं क्षत्रिययाजकोऽस्य। (वा०रा०, १।५९।१३)

७. ''कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।'' (द्र०म०स्मृ०, १।७१) मन्वर्थमुक्तावल्याम् उद्धृतं विष्णुपुराणे (३।१।१८)।

त्रेता एवं द्वापर में से किसी युग में इसका अनुष्ठान किया जा सकता है।

(ब) उपर्युक्त तीनों युगों में वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु ही अश्वमेध में स्वीकृत है। किसी के मत में शिशिर ऋतु भी स्वीकृत है।

(स) मास में फाल्गुन अथवा ज्येष्ठ, अश्वमेधोपयुक्त है।

(द) पक्षों में शुक्लपक्ष अश्वमेधयज्ञोपयुक्त है।

(प) तिथियों में अष्टमी अथवा नवमी उपयुक्त है।

(फ) यह यज्ञ अनुष्ठान के रूप में मात्र दिनत्रयात्मक है। दिग्विजय आदि कृत्य सम्पादन में वर्षों लग सकता है।

काल-विवेचन

युग	मास	ऋतु	पक्ष	तिथि	दिवस
सत्य	फाल्गुन	वसन्त	शुक्ल	अष्टमी	त्रिदिवसात्मक
त्रेता	ज्येष्ठ	ग्रीष्म		या नवमी	
द्वापर		शिशिर			

14702

अश्वमेधाधिकारी विवेचन

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समस्त विशेषणविशिष्ट, सर्वसमर्थ, सार्वभौम, अभिषिक्त सपत्नीक सम्राट् ही इसका अधिकारी है।

"**राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य**"[३]।

इस वचन के अनुसार सर्वाभिलाषी, प्राप्त प्राप्तव्य ही आकांक्षा पूर्ति में समर्थ अर्थात् मोक्षाभिलाषी क्षत्रियराजवंशोत्पन्न अभिषिक्त सम्राट् ही अश्वमेध का अधिकारी है।

श्रौतसूत्रकार ने आगे स्पष्ट किया है कि परमात्माख्य तत्त्व प्राप्ति के बिना सर्वकाम प्राप्ति असम्भव है; क्योंकि जब तक शरीर है तब तक कामनाएँ हैं।

---

१. "अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ।।"
(पं० वामनदेव काणे कृत धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ९९४)

२. अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनशुक्लस्य....।
याऽसौ फाल्गुनपौर्णमासि भवतीति....।
ग्रीष्म एके.... ज्येष्ठाषाढ़योः शुक्लाष्टम्यां नवम्यां वा। (का०श्रौ०सू०, २०.२,३-४)

३. द्र०, का०श्रौ०सू०, २०.१.१; शत०ब्रा०, १३.४.४.२।

इस प्रकार सर्वकामत्व का तात्पर्य मुमुक्षुत्व में है; किन्तु प्रकृत निबन्ध में लौकिक दृष्टिकोण से अश्वमेधविवेचन प्रतिज्ञात होने से इस विषय पर विवरण यहाँ अनपेक्षित है।

अश्वमेधाधिकारीविषयक विशिष्ट विवेचन

उपर्युक्त तथ्यों से यह सुनिश्चित होता है कि अश्वमेधयाग का मुख्य अधिकारी क्षत्रिय ही है। प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाणानुसार इस यज्ञ का सम्पादक क्षत्रिय वर्ण विशिष्ट अभिषिक्त सम्राट् ही होगा।

पूर्वोक्त क्षत्रियवर्णविशिष्ट यज्ञाधिकारी से भिन्न भी अश्वमेधयज्ञकर्तृत्व प्राप्त होता है। **सिद्धान्तभाष्य** में अश्वमेधयज्ञ सम्पादन का अधिकार तीनों वर्णों को दिया गया है।[१]

तीनों वर्णों द्वारा अश्वमेध सम्पादन सम्बन्धी नियम अन्यत्र भी दृष्ट होता है।[२] इसका प्रमाण हरिवंशपुराण में षट्पुरवध-प्रसंग में भी प्राप्त होता है।[३] यहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्मदत्त कृत अश्वमेधयज्ञ प्रमाण है।

कात्यायन-श्रौतसूत्रानुसार ब्राह्मण, वैश्य का इस यज्ञ में अधिकार का निषेध किया गया है;[४] क्योंकि जो सम्भार इसमें अपेक्षित है, उसकी पूर्ति सर्वशक्तिसम्पन्न, धर्मादि अनुष्ठानरत सदाचार, व्रती, गुणी, क्षत्रियवर्णविशिष्ट, अभिषिक्त साम्राज्य का स्वामी, सम्राट् ही कर सकता है। इस यज्ञ में जो सम्भार इत्यादि अपेक्षित है, वह अत्यधिक द्रव्यसाध्य होने से वैश्यादि भी धनोपार्जन करके इससे भी अधिक द्रव्यसंसाधनों को एकत्रित कर सकता है; परन्तु पूर्वोक्त जन्म-कर्म उभयात्मक दृष्टिकोण देखते हुए केवल द्रव्य आदि लौकिक उपायमात्र से अश्वमेधयाग साध्य नहीं है। अतः ब्राह्मण, वैश्य का अश्वमेध 'यज्ञसम्पादन-अधिकार' सिद्ध नहीं होता।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कोई विशिष्ट क्षत्रियवर्णमात्र अभिषिक्त सम्राट् ही अश्वमेध यज्ञ को सम्पादित कर सकता है। अश्वमेधाधिकारी को सपत्नीक होना चाहिए। अधिकारी महारोग से पीड़ित न हो, अत एव स्वस्थ

---

१. त्रयाणां वर्णानाम् अधिकारः। (आश्वलायनश्रौतसूत्रस्य सिद्धान्तभाष्यम्)

२. "सर्वे कामाः ब्राह्मणस्य राजन्यस्य व्युष्ट्योर्वैश्यस्येति देवपद्धतावपि।" इति प्रसिद्धिः।

३. "ब्राह्मणो याज्ञवल्क्यस्य शिष्यो धर्मगुणान्वितः ब्रह्मदत्तेत्यादि।" (हरिवंशपुराणे भविष्यपर्वणि षट्पुरवधप्रसङ्गे ३६ अध्यायः)

४. "राजग्रहणाच्च न ब्राह्मणवैश्ययोरयं यज्ञः। (का०श्रौ०सू० २०।१।१ सूत्रस्य विवृत्तिः)

हो, अङ्गवैकल्य अथवा अङ्गशैथिल्य न हो, गर्भाधानादि संस्कार से परिष्कृत, संस्कृत, वेदविद्, पराक्रमी, तेजस्वी तथा बलवान् हो।

अश्वमेधोपयुक्त देशविवेचन

किसी निश्चित भूमि पर अश्वमेध का अनुष्ठान हो, ऐसा नियमरूपेण विधान नहीं है। वैसे भी यह यज्ञ एक सार्वभौम अनुष्ठान है, अतः किसी स्थान विशेष में इसको सीमित भी नहीं किया जा सकता। फिर भी किसी स्थान विशेष में ही यह अनुष्ठान सम्भव है। अतः अश्वमेधयज्ञार्थ देशविचार द्रष्टव्य है—

यज्ञसामान्य के लिए उपयुक्त भूमि

स्मार्त ग्रन्थों में कतिपय विशेष भूमियों का उल्लेख है—

(क) ब्रह्मावर्त देश, (ख) ब्रह्मर्षि देश, (ग) मध्यदेश, (घ) आर्यावर्त देश, (ङ) यज्ञीय देश।

उपर्युक्त समस्त क्षेत्रों की सीमाएँ विभिन्न स्मार्त ग्रन्थों में निरूपित हैं। **आचार्य मनु** के शब्दों में उपर्युक्त क्षेत्रों का क्रमशः निरूपण निम्नलिखित है—

(क) ब्रह्मावर्त देश

सरस्वती एवं दृषद्वती नामक पवित्र नदियों के मध्य का स्थान ब्रह्मावर्त कहलाता है।[१]

(ख) ब्रह्मर्षि देश

ब्रह्मावर्त से किंचित् अल्प सीमायुक्त ब्रह्मर्षि देश है। इनमें कुरुक्षेत्र (प्रसिद्ध), मत्स्य (वर्तमान जयपुरादि पश्चिम भारतीय क्षेत्र), पाञ्चाल (कन्नौज आदि पश्चिमोत्तर प्रदेशीय क्षेत्र), शूरसेनक (मथुरा, आगरा आदि का क्षेत्र) सम्मिलित है।[२]

(ग) मध्यदेश

मध्यदेश की सीमा में हिमालय और विन्ध्याचल के बीच प्रयाग से

---

१. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ।। (म०स्मृ०, २।१७)

२. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।। (म०स्मृ०, २।१९)
द्र०, कुल्लूकभट्टकृता मन्वर्थमुक्तावली-टीका।

पश्चिम एवं विनशन (कुरुक्षेत्र से पूर्व एवं प्रयाग से पश्चिम) सम्मिलित है।[१] विनशन से तात्पर्य है—वह क्षेत्र जहाँ सरस्वती लुप्त हो गयी है।

(घ) आर्यावर्त देश

पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र के मध्य का स्थान एवं हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य का स्थान। यहाँ पूर्व समुद्र बंगाल की खाड़ी एवं पश्चिम समुद्र = अरब की खाड़ी का ग्रहण सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है; अपितु पूर्व समुद्र = चीन समुद्र, पश्चिम समुद्र = भूमध्य सागर का ग्रहण समीचीन प्रतीत होता है।[२]

(ङ) यज्ञीय देश

जहाँ पर कृष्णसार जाति का मृग[३] स्वेच्छया विचरण करता है (=कृत्रिम अभयारण्य के समान नहीं) उसे यज्ञीय देश कहते हैं।[४]

इस प्रकार पाँच विशिष्ट भूमियों का स्मृतियों में उल्लेख है; परन्तु इससे अन्यत्र कहीं अश्वमेध का अनुष्ठान न किया जाय, ऐसा नियम नहीं है।

स्मार्तयज्ञीय स्थल–तालिका

ब्रह्मावर्त देश	ब्रह्मर्षि देश	मध्य देश	आर्यावर्त देश	यज्ञीय देश

यत: आर्य क्षत्रिय राजवंश जात सम्राट् के द्वारा अनुष्ठित होने के कारण यह यज्ञ अवश्य ही पुराणनिर्दिष्ट भारतवर्ष भूमि[५] में होता था, फिर भी इसका अनुष्ठाता अधिकारी सर्वजेता होने के कारण इस यज्ञ की सार्वभौमता अक्षुण्ण है।

अश्वमेधयज्ञोपयुक्त भूमि का स्वरूप

वेद तथा लोक में भारतवर्ष को धर्मप्रमाण के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। यह धर्म का पर्याय है। अत: भारत यज्ञभूमि है।

---

१. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश: प्रकीर्तित: ।। (म०स्मृ०, २।२१)

२. आ समुद्रात्तु वै पूर्वादा समुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधा: ।। (म०स्मृ०, २।२२)

३. एण: कृष्ण: प्रकीर्तित इति भावप्रकाश: ।
एण: कृष्ण: मृग: स्मृत इति छन्दोगपरिशिष्टम् ।।
कृष्णसारङ्गशब्दोऽपि वेदे दृश्यता इति का०श्रौ०सू० (७।२।२१-२२)।

४. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावत: ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वत: पर: ।। (म०स्मृ०, २।२३)

५. द्र०, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, लेखक पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० १८५ १९१।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल[1] में उल्लिखित है कि देवोद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञ की भूमि अनेक विशिष्टताओं से युक्त होती है।

(क) यज्ञभूमि समतल हो तथा उत्तर दिशा में उन्नतोन्मुख अथवा पतनोन्मुख हो।

(ख) सरस्वती-रेवा-गङ्गा आदि किसी पवित्र नदीतट पर यज्ञभूमि की स्थिति हो।

(ग) यज्ञकार्य के सम्पादनार्थ जलापूर्ति हेतु प्रतिष्ठित वापी, तडागादि की स्थिति आवश्यक है।

(घ) नदीतट पर स्थित होने से कुशसमिधादि सहज रूप से उपलब्ध हो जाएगा।

(ङ) यह भूमि उपजाऊ होनी चाहिए।

(च) गोमृगादि के भक्षणार्थ शस्य से परिपूर्ण हो।

(छ) यज्ञभूमि आवासयोग्य हो।

(ज) यज्ञस्थान मुख्य नगर मार्ग से अधिक दूर न हो।

(झ) ऐसा उपयुक्त स्थान हो, जो अकालवृष्टि से सुरक्षित रहे।

(ञ) मृत्तिका-कठिन प्रस्तर खण्ड से यज्ञभूमि कठोर न हो, अपितु मृदुगामी हो।[2]

दशाश्वमेध घाटों का विवेचन

आज भी भारत में पुराणप्रसिद्ध अनेक नगरों में पवित्र नदियों के तीर में दशाश्वमेध घाट दृष्ट होते हैं—

(क) काशी- दशाश्वमेध घाट।

(ख) घोड़ा घाट (वर्तमान राजेन्द्र प्रसाद घाट)।

(ग) नैमिषारण्य- दशाश्वमेध घाट।

(ध) अयोध्या- दशाश्वमेध घाट।

(ङ) प्रयाग- दशाश्वमेध घाट।

इनमें काशी स्थित दशाश्वमेध घाट का विशेष महत्त्व है। गंगातट पर स्थित दशाश्वमेध घाट काशी की धार्मिक यात्रा के प्रधान स्थलों में से एक है, जहाँ परम्परानुसार ब्रह्मा ने दश अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस घाट पर स्नान करने से दश अश्वमेधों का पुण्य होता है, ऐसा धार्मिक विश्वास है।

---

१. "उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत।" (ऋ०वे०, ८।६।२८)

२. शतपथब्राह्मणे यज्ञभूमिविचारः-१३।५।४।११।

डॉ॰ काशी प्रसाद जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया था कि इसी घाट पर कुषाणों को पराजित करने वाले नागगण भारशिवों ने भारतीय साम्राज्य के पुनरुत्थान के प्रतीक रूप में दश अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था, इसलिए यह स्थान दशाश्वमेध कहलाया।

इसकी सम्पुष्टि एक वाकाटक अभिलेख से भी होती है[१]—

"........भागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां भारशिवानाम्"।

अश्वमेध-यज्ञार्थ उपकरण-विवेचन

(क) यज्ञसामान्य उपकरणों का विवेचन[२]

उपकरण शब्द से यज्ञसाधनीभूत यूपकाष्ठादि लिये जाते हैं। यज्ञ अधिकारी यजमान साधक है, साधन नहीं। यज्ञसामान्य हेतु उपकरण द्रव्य निम्नांकित हैं, यथा—

(अ) यज्ञीय वृक्ष-निरूपण

पलाश, अश्वत्थ, बिल्व, सरल, खदिर, उदुम्बर, शमी, शाल, प्लक्ष, कृमुक, विकङ्कत, देवदारु, वट, वरण, काश्मरी, चन्दन।

आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति के शब्दों में—

पलाशः खदिरः प्लक्षः वटोऽश्वत्थ उदुम्बरः।
कृमुको वरणो बिल्वः शमीगर्भा विकङ्कतः।।
काश्मर्य्यः सरलः शालो देवदारुश्च चन्दनः।
इमे यज्ञद्रुमा यज्ञे तत्काष्ठैः पात्रनिर्म्मितिः।।

आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति के अनुसार यज्ञ में निषिद्ध वृक्षों का विवेचन—

अथ निषिद्धा वृक्षा अपि स्मर्य्यन्ते गोभिलादिभिः—
विभीतकः कोविदारो नीमबिल्वकबाधकाः।
श्लेष्मान्तकोऽरलुर्निम्बो राजवृक्षश्च शाल्मली ।।
दधित्थ इत्यमी वृक्षा निन्दिता यज्ञकर्म्मणि ।
अनिषिद्धा मध्यमाः स्युर्भुख्यालाभे ततो विधिः ।।

---

१. द्र०, डॉ० काशी प्रसाद जायसवालकृत, "अन्धयुगीन भारत" (हिन्दुधर्मकोश समुद्धृत)।
२. द्र०, मधुसूदन विद्यावाचस्पति "यज्ञनिरूपणाध्यायः"।

तालिका संख्या-७

यज्ञार्थ सामान्य उपकरण तालिका

- यज्ञीय वृक्ष
  - यज्ञोपयुक्त वृक्ष
  - यज्ञ में अनुपयुक्त वृक्ष
- यज्ञीय पात्र
  - मन्थनपात्र (१)
  - स्रुक्पात्र (५)
  - आयुधपात्र (१०)
  - स्थालीपात्र (१६)
  - चमसपात्र (१०)
  - ग्रहपात्र (४०)
  - उपयोजनपात्र (२९)
  - आसन (१८)
  - प्रातिस्विकपात्र (२५)

(ब) यज्ञीय पात्र-निरूपण (द्र.,पृ.सं.-५८, तालिका संख्या-७)—

प्रयोगसाधनीभूत काष्ठ-धातु-रत्नादि के बने हुए पात्र भी यज्ञ के उपकरण हैं। उन पात्रों के भेद अधोलिखित हैं—

(क)	**मन्थनपात्र**	— एक।	
(ख)	**स्रुक्पात्र**	— पाँच।	यथा-स्रुव, स्रुवा, जुहू, उपभृत, अग्निहोत्रहवनी।
(ग)	**आयुधपात्र**	— दस।	यथा-स्फ्य-कपाल-शूर्प-स्रुक्-शम्या-कृष्ण-जिन-उलूखन-मूसल-दृषत्-उपला।
(घ)	**स्थालीपात्र**	— सोलह।	यथा-आज्य-चरु-अन्वाहार्य-पिष्टोद-वपनी-पिष्ट (हविर्दान)-भर्जन-पुरोडाश-इडा-दारु (यजमान-पात्री, पत्नीपात्री)-प्रणीता-प्रोक्षणी-फलीकरण-मदन्ती-द्रोण-कलश।
(ङ)	**चमसपात्र**	— दस।	यथा-यजमानचमस-ब्रह्मचमस-होतृचमस-उद्गातृचमस-आग्नीध्रचमस-प्रशास्तृचमस-पोतृचमस-नेष्टृचमस-अच्छावाकचमस-ब्राह्मणाच्छंसीचमस।

(च) **गृहपात्र**-४० (प्रत्येक पात्र का संख्यासहित निर्देश) यथा—

उपांशुसवन = १, ऐन्द्रवायव = १, मैत्रावरुण = १, आश्विन् = १, पूतभृत् = १, आहवनीय = १, ऐन्द्राग्नि = १, वैश्वदेव = १, माहेन्द्र = १, आदित्य = १, सावित्र = १, वैश्वदेव = १, पात्नीवत = १, हारियोजन = १, दधिग्रह = १, षोडशी = १, उपांशु अन्तर्याग = २, शुक्रामन्थी-२ अंशुरदाम्य = २, मरुत्वतीय = ३, आग्रयणेक्थ्य ध्रुव = ३, क्रतुग्रह = १२, कुल ४० ग्रहपात्र।

(छ) **उपयोजन पात्र**-२९ यथा—

प्रासित्रहरण, स्त्रितावदान, मेक्षण, दर्वी, आकर्षफलक, कङ्कत, धृष्टि, उपवेश, अभ्रि, कूर्च, षड्वर्त, परिधि, शूल, पशूखा, अन्तर्धानकूर्च, वेद, वेदपरिवासन, पवित्र, प्रोक्षणी, विधृति, प्रस्तरबर्हि, जूना, यौवत्र, इध्म, इध्मप्रव्रश्चन, विषाण, शाखा, श्रपणी।

(ज) **आसन** १८ यथा—

यजमान आसन-१, प्रधान ऋत्विज आसन-४, पत्नी आसन-१, सहायक ऋत्विज आसन-१२, सभी आसन समप्रमाण होने चाहिए।

प्रातिस्विक पात्र

सिकता, ऊषरमृत्तिका, मूषक-विलमृत्तिका, वल्मीक-मृत्तिका, महाह्रद-मृत्तिका, अरण्यवराहविहतमृत्तिका, अरणी-२, हिरण्य कलश-६, सुवर्ण कलश-३, रजत कलश-३, अश्वत्थ, उदुम्बर, पलाश, शमी, विकंकत, अशनिहत, शर्करा, मुंजकुलाय, कमलिनीपत्र, अश्वत्थस्यार्द्रसपत्रसप्ररोह, प्रादेशमात्र तीन अशुष्काग्र समिधायें, जलाभ्युक्षण, उषा, हिरण्य, मूषकमल। प्रातिस्विक उपकरण अन्य भी प्रसिद्ध हैं।

(ख) अश्वमेध पदार्थ विशेष उपकरण विवेचन

यज्ञ सामान्य उपकरणों = जिन उपकरणों की प्रायः सभी सोमयज्ञों में आवश्यकता होती है, का विवेचन करने के उपरान्त उन विशेष सामग्रियों एवं बलि पशुओं का प्रकृत प्रसंग में निरूपण किया गया है, जिनकी उपयोगिता अश्वमेधयज्ञ मात्र में ही होती है।

इन सामग्रियों को अकारादि क्रम में व्यवस्थित किया गया है। इसमें मुख्यतः अधोलिखित अश्वमेधयज्ञ विशिष्ट सामग्रियों का उल्लेख है—

१. अश्वमेधयज्ञार्थ सामग्री।

२. अश्वमेधयज्ञार्थ यज्ञवेदिनिर्माण हेतु इष्टकासूची।

३. अश्वमेधयज्ञार्थ सञ्ज्ञप्य पशुओं का उल्लेख।

४. अश्वमेधयज्ञार्थ आरण्य पशुओं का उल्लेख।

५. अश्वमेधयज्ञार्थ ग्राम्य पशुओं का उल्लेख।

उपर्युक्त शीर्षकों को एकत्रित करके, तत्तत् सामग्रियों को अकारादि क्रम में यथास्थान व्यवस्थित करके, अश्वमेधयज्ञार्थ विशेष उपकरणसूची का निर्माण किया गया है।

अ — अङ्गरागः, अर्ककाष्ठम्, अर्कपर्णम्, अग्निसमिन्धनकाष्ठम्, अजः (एकवर्णयुक्तः) = षट्, अजः (रक्तवर्णमिश्रित-नकुलवर्णः) = एकः, अजः (नीलवर्णमिश्रित-नकुलवर्णः) = एकः, अजः (आकाशवर्णः) = षट्, अजः (स्पष्टवर्णः) = षट्, अजः (नीलवर्णः) = त्रयः, अजः (रक्तधूम्रवर्णः) = एकः, अजः (नकुलवर्णः) त्रयः, अजः (बदरीफलवर्णः) = एकः, अजः (कपोलचन्द्र-

१. (क) तै०सं०, ५।६।१३।१, (ख) मै०सं०, ३।१४।१८, (ग) वाज०सं०, २४.३४, (घ) वाचस्पत्यम्, (ङ) वैदिक इण्डेक्श, भाग-१, भाग-२।

लक्षणयुक्त) = एकः, अजः (पिशङ्गवर्णचक्षुयुक्तः) = एकः, अजः (भ्रूमध्ये श्वेतवर्णः) = त्रयः, अजः (लघुकर्णः) = एकः, अजः (रक्तकर्णः) = एकः, अजः (श्वेतनासिकायुक्तः) = एकः, अजः (एकनासिकाश्वेतवर्णः) = एकः, अजः (अर्धश्वेतवर्णनासिकायुक्तः) = एकः, अजः (श्वेतनाभियुक्तः) = द्वौ, अजः (कक्षश्वेतयुक्तः) = एकः, अजः (पृष्ठभागश्वेतः) = द्वौ, अजः (जंघायां श्वेतवर्णबिन्दुयुक्तः) = एकः, अजः (जंघायां कृष्णवर्णबिन्दुयुक्तः) = एकः, अजः (जंघायाम् अपरवर्णबिन्दुयुक्तः) = एकः, अजः (जंघायां बहुलरोमयुक्तः) द्वौ, अजः (एकपादश्वेतः) = द्वौ, अजः (अर्धपादश्वेतः) = एकः, अजः (पूर्वपादश्वेतः) = एकः, अजः (तिरश्चीनदण्डसदृशचिह्नयुक्तः) = एकः, अजः (पूर्वाग्रदण्डसदृशं चिह्नयुक्तः) = एकः, अजः (जंघायां श्वेतवर्णयुक्तः) = एकः, अजः (चपला) = द्वौ, अजा (एका), अजाः (स्त्रीजाताः) = एकशतोत्तरनव, अजाः (एकवत्सप्रसविन्यः) = त्रयः, अजाः (अतीतकालप्रसूताः) = तिस्रः, अजाः (ऊर्ध्वदृष्टकाः) = द्वौ, अजाः (कृष्णग्रीवाः) = एकविंशतिः, अजाः (अधोदृष्टकाः) = त्रयः, अजाः (रक्तवर्णकर्णयुक्ताः) = त्रयः, अजाः (श्वेतो-दराः) = पञ्च, अजाः (शरीरेण वामनाः) = पञ्च, अजाः (वन्ध्याः) = सप्तविंशतिः, अजाः (रोगिण्यः) = त्रयः, अजाः (स्थूलाः) = त्रयः, अजाः (द्विरूपाः) = चतुर्विंशतिः, अजाः (बहुरूपाः) = चतुर्विंशतिः, अजाः (दुग्धमुखाः) = अष्टादश, अजाः (प्रथमप्रसूताः) = तिस्रः, अजाः (सद्यःप्रसूताः) = तिस्रः, अजाः (चतुर्वर्षानन्तरं प्रसूताः) = अष्टादश, अजा (भ्रूणगर्भपातिनी) = एका, अजाः (निर्गतसङ्गाः) = त्रयः, अजा (श्वेतवर्णा) = एका, अजाः (सामान्यवर्णाः) = द्वाविंशतिः, अजाः (स्पष्टवर्णाः) = त्रयः, अजा (सवर्णवर्णा) = एका, अजाः (नीलवर्णाः) = त्रयः, अजाः (विचित्रवर्णाः) = एकोनचत्वारिंशत्, अजा (कर्बुरवर्णा) = एका, अजा (सामान्यकर्बुरवर्णा) = एका, अजा (विशेषविचित्रवर्णा) = एका, अजाः (रक्तवर्णाः) = पञ्चदश, अजाः (रक्तवर्णाः) = चतस्रः, अजाः (श्वेतवर्णाः) = एकविंशतिः, अजाः (विचित्रकृष्णवर्णयुक्ताः) = त्रयः, अजाः (कृष्णपीतवर्णयुक्ताः) = त्रयः, अजाः (श्वेतकृष्णवर्णयुक्ताः) = सप्तदश, अजाः (विद्युद्वर्णाः) = चतुर्दश, अजाः (कृष्णवर्णाः) = सप्तदश, अजाः (द्विरूपवर्णाः) = एकोनत्रिंशत्, अजाः (गोरोचनवर्णाः) = षट्, अजाः (धूम्रवर्णाः) = द्वादश, अजाः (सर्ववर्णाः) = षट्, अजाः (एकभागतो विचित्रवर्णाः) = तिस्रः, अजापयः, अजादुग्धम्, अनडुहचर्माणि = त्रीणि, अर्णाशाटी = दशापवित्रं दश, अर्णास्तुवम् = एकशेटकम्,

अभि: = एका, अग्निसमिन्धकाष्ठम् = दशसहस्त्रपरिमितम्, अभ्रि: (हिरण्य-निर्मिता) = एका, अलगर्द: = एका, अवका = अश्व: (अश्वमेधीयलक्षण-विशिष्ट:) = एक:, अश्व: (मुख्य:) = एक:, अश्व: (श्वेत:), अश्वौ (सुवर्णाभूषणयुक्तौ) = द्वौ, अश्वपुरीम्, अश्मा, अस्मचूर्णम्।

आ — आज्यस्थाली (लघु) = एका, आज्यस्थाली (मध्यम) = एका, आज्यस्थाली (विशाल) = एका, आसन्दी (आस्या परिमित) = एका, आसन्दी (नाभिदेशपरिमित) = एका, आसन्दी (प्रादेशधा) = एका, आचमनार्थ कमण्डलु, आति (पशु विशेष)।

इ — इण्डववा (शिंक), इष्टका (सर्वपादभागा), इष्टका (पादभागा ऋज्वा), इष्टका (पादभागा वक्रा), इष्टका (अर्धपादभागा वक्रा), इष्टका (अर्ध-पादभागा ऋज्वा), इष्टका (चतुर्भागवक्रा), इष्टका (चतुर्भागा ऋज्वा), इष्टका (पादमात्री पूर्णोत्सेधा), इष्टका (पादमात्री अर्धोत्सेधा), इष्टका (अर्धपद्या पूर्णोत्सेधा), इष्टका (अर्धपद्या अर्धोत्सेधा), इष्टका (अर्धपद्या पूर्णोत्सेधा), इष्टका (अर्धपद्या पूर्णोत्सेधा वक्रा), इष्टका (अध्यर्धा), इष्टका (बृहती), इष्टका (अर्धबृहती), इष्टका (त्रिग्राहिणी), इष्टका (वक्रा), इष्टका (पादोना), इष्टका (उखाप्रदेशमात्री), इष्टका (पक्षे प्राकृता अर्धबृहती), इष्टका (पक्षे प्राकृता वक्रा), इष्टका (पक्षे प्राकृता पद्या), इष्टका (पक्षे प्राकृता अर्धपद्या), इष्टका (पक्षे प्राकृता वक्रा), इष्टका (पक्षे प्राकृता पद्या), इष्टका (पक्षे प्राकृता अर्धपद्या), इष्टका (त्रिचितिपक्षे प्राकृता कोणवक्रा), इष्टका (त्रिचितिपक्षे प्राकृता मध्यकोणगावक्रा), इष्टका (वर्धितगार्हपत्य-त्रिचितिपक्षे कोणगा वक्रा), इष्टका (वर्धितपक्षमध्यगा वक्रा), इष्टका (जंघामात्री), इष्टका (नाभिमात्री), इष्टका (मुखमात्री), इषव: (एकसहस्त्रम्)।

उ — उखा चूलिका (महानसार्थ) = पञ्चाशत्, उशीख (तृणभार:), उष्ट्रा: = चत्वार:।

ए — एकधाना: कलशा:= पञ्चदश, एला = एकशेटिका।

औ — औदुम्बर (अपर वृक्ण), औदुम्बर (अध:शया), औदुम्बर (रथवातहोमार्थम्), औदुम्बर चमस, औदुम्बर काष्ठनिर्मितपरिसासानि, औदुम्बर-पात्रम् (अन्नहोमार्थम्), औदुम्बर स्त्रुवा = एका, औदुम्बरी = एका, औदुम्बरीयकम् उलूखलम् (अर्धपद्या प्रमाण), औदुम्बरीयकं मुसलम् (अर्धपद्या प्रमाण), औदुम्बरी वसोर्द्धारा (होमार्थं बृहती स्त्रुक्)।

क — कक्काट: = द्वौ, कच्छप: = द्वौ, कंचुकसहितपत्नीपरिधान-वस्त्रम् = पञ्चाशत्, कर्णकुण्डल: = पञ्चाशत्, कपर्दिका: = एकसहस्त्रम्, कपास, कपास-सूत्र, कपालानि (सर्वाणि), कर्पूर, कपोत: (अरण्य) = द्वौ, कपोता: (अरण्य) = चत्वार:, कमण्डलु = पञ्चाशत्, करीरबीजा:, कलश: (हिरण्य-मय) = सार्द्धसहस्त्रम्, कवचा: = शतम्, कवरीजाल = पञ्च, कश: (पशुविशेष), कशिपव: (सुवर्ण) = त्रय:, कस्तूरिका, काक: कृष्णवर्ण: (अरण्य) = द्वौ, काकी कृष्णवर्णा (अरण्य) = द्वौ, कार्पासवस्त्रम् = शतसंख्या, कार्मुकीधमन, काली-कीड़ा = द्वौ, काश्मीर-केसर:, काष्मर्य-परिधय: = त्रिंशत्, काष्ठकुट्टपक्षी = द्वौ, काष्ठपीठा: = त्रय:, कुक्कुटा: (अरण्य) = पञ्च, कुक्कुर: (कृष्ण) = एक:, कुण्डली-कृतफणी = एक:, कुंकुम, कुरीरा: (अरण्य) = सप्त, कुशस्तम्ब:, कुशकृष्णा-जिनासनम् = पञ्चाशत्, कुशासनम् = उपवेशनार्थम्, कुषदूर्वा, कूर्चम् (सुवर्ण) = द्वौ, कूर्म, कृष्णाजिनम् (निष्यूतम्), कृष्ण-अहि: = एक:, कृष्ण-महिष: = एक:, कृष्णविषाणा: = तिस्त्र:, कृष्णाश्व: = एक:, कौसेयवस्त्रम् = शतम्।

ख — खड्गा: = शतम्, खदिरकाष्ठशंकु: = एकसहस्त्रम्, खदिरकाष्ठम् (प्राचीसाधनार्थ) = एका शंकु:, खदिरकाष्ठमयवज्र: = द्विचत्वारिंशत्।

ग — गज: (गेडाख्य:) = एक:, गजा: = चत्वार:, गर्दभ: (लम्ब-कर्ण:) = एक:, गवेधुक: (देवेषु हविषार्थम्), गवेधुकापिष्ट:, गात्रसंकोची जन्तु: = एक:, गाव: (सोमक्रयण्यौ) = द्वौ, गाव: (गोदानार्थम्) = सहस्त्रम् , गाव: (दक्षिणारूपा) = चतु:सहस्त्रम्, गिरगिल्य: (अरण्य) = तिस्त्र:, गीरञ्जु: = एक:, गुग्गुलादि-धूपा:, गृध्र: (कृष्ण) = एक:, गृध्र: (पीत) = एक:, गृध्र: (धूम) = एक:, गृध्री = एका, गोधा = एका, गोमयोत्पन्न-कृमि: = एक:, गोमयखण्ड: (शुष्क) = दशसहस्त्रम्, गोमृग: (सर्व-वर्ण:) = एक:, गोह: = चत्वार:, ग्रहपात्रम् (सुवर्ण) = एकम्, ग्रहपात्रम् (राजत) = एकम्।

घ — घाघली = एका, घृतम्।

च — चक्रवाका: (अरण्य) = चत्वार:, चक्रवाकी (अरण्य) = एका, चकोरा: (अरण्य) = चत्वार:, चाषा (अरण्यपक्षीविशेष) = त्रय:, चितला: (अरण्य) = चत्वार:, चिता (अरण्य) = द्वौ, चूलिका (लघु) = एका, चूलिका (बृहद्) = एका।

छ — छाग: (गजस्तन:) = एक:।

ज — जलकाका: (अरण्य) = त्रय:, जर्तिला:, जलकुक्कुट: = द्वौ, जालपिंजरा: (तन्तुमय:) (अरण्य) ग्राम्यपशूनां रक्षणार्थम्।

झ — झीमिराः (अरण्य) = चत्वारः।

ड — डेडका (अरण्य) = षट्।

त — तण्डुलपिष्टम् = शतशेटकम् , ताम्बूलम् , ताम्बूलपात्राणि, ताम्र-शङ्कवः = चत्वारः, तित्तिरः (अरण्य) श्वेतवर्णः = चत्वारः, तित्तिरः (अरण्य) कृष्णवर्णः = सप्त, तित्तिरः (अरण्य) नीलवर्णः = त्रयः, तूपरः (श्वेतकृष्ण-वर्णः) = एकः, तृणधान्यम् (देवेषु हविषार्थम्) तृणमुज्जम = एकशेटकम्, तृणशालः = एकशेटकम्।

द — दधि, दर्भराशिभाराः, दर्भमूलभाराः, दर्व्यः = तिस्रः, दातली: (अरण्य) = चत्वारः, दार्वाघातः (अरण्य) = चत्वारः, दीपवर्तिकार्थ कार्पासः, दुग्धम्, दूर्वा (समूला), देवदारुकाष्ठपरिधयः = पञ्चाशत्।

ध — धनूंषि = शतम्, धवित्रम् (मृगचर्मनिर्मित) = षट्, धान्यम् = चत्वारिं-शत्-शेटकम्, धान्यम् = सप्त, धानलाजाः = विंशतिशेटकम्, धृष्टयः = चतस्रः।

न — नकुलाः (अरण्य) = सप्त, नवनीतम् = एकशेटकम्, नाक्रम्, नागन्तम्, नारिकेलफलानि, नाहरः = द्वौ, नीवाराः (तृणधान्यानि), नीलङ्गु, नीलशीर्ष्णी, नेत्राञ्जनम् = एकम्, नैवेद्यहेतुमिष्ठान्नम्, न्यंकु, न्यग्रोधफलानि, न्यग्रोधशाखाः।

प — पलाशक्वाथम्, पलाशपुटम्, पलाशशाखा = एकसहस्रम्, पलाशीसमिधः, पनबुड़ी = एका, पर्णपुटकानि = एकसहस्रम्, पर्णावलिः = एकसहस्रम्, परिसासानि (औदुम्बरकाष्ठनिर्मित), परिशा सधूमा (ताम्रमया) = त्रयः, पात्रम् (धातुनिर्मितम्) = एकम्, पात्रम् (लोहितक्षपणार्थम्) = एकम्, पात्रम् (राज-निर्मितम्) = द्वौ, पात्रम् (व्रतदुग्धग्रहणार्थम्) = द्वौ, पात्रम् (चरु) = एकम् , पारावतः, पारुष्णः, पासः (अश्वाकर्षणार्थम्), पिकाः (अरण्य) = पंच, पुरुषः = एकः, पुरुषः (अनद्धा) श्रावकः = एकः, पुरुषः (कपिशचक्षु-खल्वाट्-शिर-दन्तुर-विधुरलक्षणविशिष्ट) = एकः, पुष्पमाला, पूगीफलानि, पूजोपकरणपात्राणि, पूजन-हेतुदक्षिणाद्रव्यम्, पूतभृत् = एकः, प्रसृतवंश-पात्राणि = पंचशतानि।

ब — बक्यः (अरण्य) = चतस्रः, बन्टोलीआना (अरण्य) = तिस्रः, बल्याणः = एकः बलीवर्द, बाजः (अरण्य) = पंच, ब्रीहिः (पुनः प्ररूढा) (देवेषु हविषार्थम्), ब्रीहिः (पक्षत्रयः पाचिनः) देवेषु हविषार्थम्।

भ — भल्लूकः (अरण्य) = पंच, भल्लूकः (अरण्य) (रक्तवर्ण) = द्वौ, भ्रमराः = त्रयः।

म — मकराः = पञ्च, मत्स्याः = एकादश, मदन्तिपात्राणि = पञ्च, मधुपर्क-पात्राणि = पञ्चाशत्, महावीरपात्राणि = दश, मधु, मण्डूकः, मशकाः (लघु) =

त्रयः, मशकाः (बृहद्) = त्रयः, मयूखाः = चत्वारः, मयूराः (अरण्य) = चत्वारः, महिषः (कृष्णवर्णः) = एकः, महिषः (पुंजात) = त्रयः, महिषः (अरण्य) = द्वौ, मरिचम् = एकशेटकम्, मूषकः (अरण्य) = षट्, मूषकी (अरण्य) = एका, मुसलः (खदिर) = एकः, मेखला = द्वयम्, मेषः (ग्राम्य) = तिस्रः, मेषः (अरण्य) = पंच, मेषी (अरण्य) = एका, मेक्षणम् (बृहद्) = एकम्, मेक्षणम् (लघु) = त्रयः, मैत्रावरुणदण्डम् = एकम्, मृगः (कस्तूरी) = एकः, मृगः (चित्रवर्ण) = चत्वारः, मृगः (शशिशृंग) = त्रयः, मृगः (शृंग-रहित) = त्रयः, मृगः (अरण्य) (श्वेतवर्ण) = त्रयः, मृगी (अरण्य) = एका, मृत्तिकाकलशम् (लघु) = शतम्, मृत्तिकाकलश (बृहद्) = शतम्, मृत्तिकापात्रम् (लघु) जलपानार्थम् = एकसहस्रम्, मृत्तिकाभाण्डम् = पंचाशत्, मृण्मयः (सुवर्ण) = शतत्रयम्।

य — यज्ञोपवीतम्, यवपिष्टम्, = शतशेटकम्, यवाः (देवेषु हविषार्थम्), यवाः = चतुर्विंशतिः, योक्त्राणि = दश।

र — रक्तवस्त्रम् = चतुःशतदशगजपरिमितम्, रक्तशालकः = देवेषु हविषार्थम्, रज्जुः (सामान्य) रज्जुः (अश्वबन्धनार्थ) = त्रयोदशगजपरिमितम्, रज्जुः (तृण-निर्मित) शतगजपरिमितम्, रज्जुः (मुंजनिर्मित) = पञ्चाशद्गजपरिमितम्, रथम् (सुवर्णमण्डित) = रसनाद्विगुणम् = ५४०० गजपरिमितम्, रसना (त्रिगुण) =४०० गजपरिमितम्। राजतखण्डम् (दक्षिणादानार्थ) = शतमानम्, राजतपात्रम् (व्रतदुग्ध-ग्रहणार्थ), रुक्मः, रोहिणकपालम् = दश।

ल — लवङ्गः = एकशेटकम् , लवाः (अरण्य) = चत्वारः, लावाः (अरण्य) = त्रयः।

व — वङ्शः, वघेरे = एकः, वज्रम् (खादिरकाष्ठनिर्मितम्), वनशूकरः = चत्वारः, वर्तिका (लघु), वसतीवरीकलशः = एकः, वस्तचर्म, वत्सा (शुक्ल) गावो दुग्धार्थम्, वपाश्रपणी = शतत्रयम्, वाजः = पंचसंख्यकः, वानरः = एकः, वानरी = एका, वासः (हिरण्यमय) = एकम् , वासः (सामान्यः) = शतम्, विहंगनीडम् (मुंजकुलम्), विंहगनीडम् (शणकुलम्), वीणा (तुम्बी) = एका, वीणागाथी (ब्राह्मण), वीणागाथी (क्षत्रिय) वेतसकटम् = दशम्, वेणुधमनी (अग्निप्रबोधनार्थ) दश, वेतसशाखा, वेतससम्पुटकम्, वैकङ्कतं व्याघ्रम् (चित्रवर्ण) = द्वौ।

श — शङ्कु, शकटम् = त्रयः, शर्करा, शर्करा (परिश्रितम्), शणसूत्रम्, (त्रिवृत्), शरभः = द्वौ, शरार्या = एकः, शलभः = षट्, शशकः = एकः, शुकः (मनुष्यभाषानुकरणशील) = एकः, शुकी = एका, शुण्ठिकाचूर्णम् = एकशेटकम्, शूर्पः (वंशनिर्मित) = विंशतिः, शूलकाष्ठम् = त्रिंशत्, श्यामाकः (देवेषु हविषार्थम्), श्वा (चतुरक्षाः) = एकः, श्वेतवस्त्रम् = चतुःशतगजपरिमितम्, श्रपणपात्रम् = दश।

स — सक्तुः = विंशतिशेटकम् , सर्पः (हरितवर्णः) = एकः, सर्पः (रक्तवर्णः) = एकः, सर्पः (सामान्यवर्णः) = त्रयः, सप्तधान्याः, सप्तमृत्तिकाः, समूला दूर्वा, समिधः, समिधाकाष्ठम् = पंचसहस्रभाराः, सर्वौषधयः (ग्राम्यानि अरण्यानि च), स्थाली (बृहन्मुखी), स्थूणा = चत्वारः, स्वयञ्जाता अनुक्तानाम्बः (देवेषु हविषार्थम्), स्वयमातृणम् (पद्या), स्वयमातृणम् (अर्धपद्या), सम्भार-मृगः = द्वौ, सास (चिपटा) = त्रयः, सिकता, सिकतादुग्धम् (लोकपृण), स्रुक् (बृहती) होमार्थं, स्रुक् (वर्द्धितार्धपद्याप्रमाण), स्रुक् (कार्ष्मर्य) (अर्धपद्यावर्द्धित-प्रमाण), स्रुचः (वैकङ्कतकाष्ठनिर्मित) = द्विचत्वारिंशत्, स्रुचः (पलाशकाष्ठ-निर्मित) = त्रयः। स्रुवः (औदुम्बर), स्रुवः (बृहन्मुखखदिर), सुवर्णखण्डः (दक्षिणादानार्थ) = शतमानम्, सुवर्णमुद्रिका = पंचविंशतिः, स्रुवा (खदिर) = एकविंशतिः, सूच्यः (सुवर्ण) = शतम्, सूच्यः (राजत) = शतम्, सूच्यः (ताम्र) = शतम्, सूहरः = द्वौ, सूसः (अरण्य) = षट्, सोमपूतिका।

ह — हंसः (अरण्य) = चत्वारः हरिद्रा, हस्तमुद्रिका = पंचाशत्, हिरण्यपुरुषः, हिरण्यशकलः = द्वौ, हुण्डारः = एकः, हुण्डावरः = द्वौ।

यज्ञ के सामान्य उपकरण एवं अश्वमेधयागार्थ विशिष्ट उपकरणों का सङ्ग्रह प्रस्तुत किया गया है। इसमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण उपकरणों का सचित्र प्रस्तुतीकरण परिशिष्ट भाग में संकलित है।[१] (देखें परिशिष्ट, चित्र-संख्या १-६)

अश्वमेधयाग का प्रयोजन

(क) अश्वमेधयज्ञ सप्रयोजन है।

''**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**'' को किञ्चित् परिवर्तन करके कहें तो आज की भाषा में 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है'। प्रश्न है कि अश्वमेधयाग का प्रयोजन क्या है? अथवा किस प्रयोजन की पूर्ति के लिए अश्वमेध का आविष्कार है? विश्व के विभिन्न संविधानों में जनता के विभिन्न अधिकारों का विभाजन किया गया है। सार्वभौम सम्प्रभुता सम्पन्न स्वतन्त्र भारत-संघ के माननीय एवं मननीय संविधान में धर्म, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, लिंग आदि से निरपेक्ष सभी नागरिकों को वाक्-स्वातन्त्र्य आदि अनेक अधिकार प्रदान किये गये।[२]

---

१. (क) A Critical study of katyayana Shrautasutra by Dr. K.P.Singh P.N0. 181-188.
(ख) यज्ञोपकरणाध्यायः (पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पतिः)।

२. भारतीयसंविधानस्य प्रथमः परिच्छेदः।

(ख) श्रुति-स्मृति और वर्तमान संविधान

माननीय संविधान के प्रति अपने को सम्पूर्ण सर्मार्पित करते हुए उससे प्राप्त वाक्-स्वातन्त्र्य के अनुसार चिन्तन करने पर यह स्पष्ट होता है कि अधिकारवाद प्रायः संघर्ष का मूलक हो जाता है। उक्त विषम परिस्थिति आगे बढ़ने पर जातिवाद का रूप ले लेती है। यह एक विश्वव्यापी समस्या है।

हमारे ऋषिप्रणीत संविधान (धर्मशास्त्र) में अधिकारवाद की सम्पूर्ण सुरक्षा के बाद कर्तव्यवाद की प्रधानता है। कर्तव्यवाद[१], अधिकारवाद[२], जो कभी-कभी संघर्ष का रूप ले लेता है। जिस प्रकार अधिकारवाद का ही प्रकट रूप है—''जातिवाद'', [३]उसी प्रकार ''कर्तव्यवाद'' का शास्त्रीय रूप है—''वर्णाश्रमवाद''। ''कर्तव्यवाद'' को ही स्पष्ट शब्दों में ''उत्तरदायित्ववाद'' कहा जाएगा।

(ग) धर्म एवं समाज का परस्पर नियन्त्रण

मात्र कर्तव्य या उत्तरदायित्व पालन से व्यक्ति की उपलब्धि में हानि हो सकती है।[४] दूसरी ओर केवल अधिकारवाद से व्यक्ति, संघर्ष में फँसकर अपनी शक्ति का अपचय कर सकता है।[५] अतः कर्तव्य एवं अधिकार के समन्वय की अपेक्षा है। कर्तव्य एवं अधिकार का समन्वय ही ''शिष्टाचार'' है।

(घ) व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

शिष्टाचारों में जहाँ विकल्प होता है, वहाँ आत्मसन्तोष अवलम्बनीय है। नीतिकारों के अनुसार—

(क) वेदस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः''[६] ।

(ख) आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।''[७]

---

१. ''कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि।
अकर्तव्यं न कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।'' (द्र० सर्वतन्त्र०)

२. ''अधिकारत्वं नाम फलभोक्तृत्वे सति कर्मकर्तृत्वम्''। (द्र० सर्वतन्त्र०)

३. ''भिन्नेषु अभिन्नाविधानप्रत्ययनिवृत्तं जातिः''। (द्र० सर्वतन्त्र०)

४. द्र०, 'Capital' by Karl Marks.

५. द्र०, (क) ''मार्क्सवाद और रामराज्य'', करपात्री स्वामी।
(ख) ''अर्थशास्त्र'', कौटिल्य।

६. ''वेदस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।। (म०स्मृ०, २।१२)

७. ''वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।।'' (म०स्मृ०, २।६)

शिष्टाचार के विपरीत कोई भी व्यवस्था लोकविरुद्ध हो जाने से धर्म होने पर भी अग्राह्य है, यथा—''अस्वर्ग्यं लोकं विदुष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु।[1]

इस प्रकार शिष्टाचार का स्थान सर्वोपरि है। यहाँ तक कि शिष्टाचार-विषयीभूत वस्तु वेदादृष्ट होने पर भी वेदमूलक ही मानी जाती है।[2]

अश्वमेध के विषय में उपर्युक्त सभी तथ्य पूर्णतया संगत हैं। यथा—

(क) अश्वमेधयज्ञ सप्रयोजन है।

(ख) श्रौत विधि है तथा स्मृति-पुराणादि से अनुमोदित है।

(ग) धर्म एवं समाज का परस्पर नियन्त्रण होने के कारण शिष्टाचार परम्परा से गृहीत है।

(घ) महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होने के कारण कर्ता के आत्मसन्तोष का विषय है।

उपर्युक्त चारों विवरणों में चतुर्थ अंश विशेष रूप से महत्त्व रखता है। अश्वमेधयाग सम्पादन से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है, अतः यह कर्ता को आत्मसन्तोष प्रदान करता है। अत एव अश्वमेध याग के उपलब्धि अंश पर विवेचन अग्रिम शीर्षक में द्रष्टव्य है।

अश्वमेधयाग से उपलब्धि एवं महत्त्व

पूर्व में निरूपित किया जा चुका है कि अश्वमेधयज्ञ वर्तमान सन्दर्भ में एक राष्ट्रीय योजना है। जैसे आज राष्ट्र की प्रगति हेतु पंचवर्षीय योजनाओं का संचालन होता है, उसी प्रकार यह भी एक दीर्घकालिक परियोजना है।

अश्वमेध की परिस्थितियाँ

वैदिक व्यवस्था में क्षत्रिय की सृष्टि रक्षार्थ है।[3] लौकिक दृष्टि से रक्षा अर्थात् राष्ट्ररक्षा तभी सम्भव है जब राष्ट्र में एकता और अखण्डता हो; परन्तु यह एकता, अखण्डता मात्र संविधान में उल्लेख करने से और नेताओं के सम्मुख जयजयकार करने से नहीं उपलब्ध होगी; अपितु तदनुकूल इच्छा एवं क्रिया चाहिए।[4]

---

१. इति पूर्वाचार्यैः उक्तम्।

२. यथा मङ्गलं वेदबोधितमितिकर्तव्यताकम्, अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वाद् दर्शपूर्णमासादिवत्। (द्र० अन्नम्भट्टः) ''तर्कसङ्ग्रहस्य तत्कृतदीपिकाव्याख्यायाः मङ्गलवादः।

३. महा०भा०, विराटपर्वणि, गोहरणपर्वणि कर्णं प्रति अश्वत्थाम्नो वाक्यम्।

४. किञ्चित् परिवर्त्य इदमेव तथ्यं भगवान्मनुराह—
''अव्रतानाम् अमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ।। (म०स्मृ०, १२।११४)

उत्तरदायित्व की अनिवार्यता

पूर्वोक्त विवरणानुसार कर्तव्य या उत्तरदायित्व में कुछ तथ्य मन्तव्य हैं। आज भी कर्तव्य अथवा उत्तरदायित्व बहुत अंश में प्रचलित ही है; परन्तु वह किसी पद में नियुक्ति के बाद ही होता है एवं उक्त पद से मुक्त होते ही तदुत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। फलत: उत्तरदायित्व की स्थायिता नहीं हो पाती। यह बात बहुत देखी गई है कि अनेक अच्छी योजनाएँ किसी सुयोग्य पदासीन अधिकारी के कार्यकाल में अच्छी तरह प्रारम्भ होने पर भी उस अधिकारी के पद से हटते ही कार्य-व्यवधानग्रस्त हो जाती हैं। अन्तत: इस समस्या का समाधान क्या है?

उत्तरदायित्व की स्थायिता = जन्मत: उत्तरदायित्व

उपर्युक्त समस्या का निदान जानकर ही आर्ष संविधानों (धर्मशास्त्र) में उत्तरदायित्व का विभाजन जन्मत: एवं धर्मत: कर दिया गया है। इस प्रकार सेवानिवृत्त होने पर भी जिस प्रकार व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों से लोग मुक्त नहीं होते, उसी प्रकार राष्ट्रीय उत्तरदायित्व से भी मुक्त नहीं हो सकते। प्रकृत सन्दर्भ में क्षत्रिय का उत्तरदायित्व है—राष्ट्ररक्षा।[१] यह भार उसके ऊपर कर्तव्यतया जन्मत: विहित है। किसी भी परिस्थिति में इससे पृथक् नहीं हो सकता। यह उत्तरदायित्व आवश्यक कार्य है।

उत्तरदायित्व-अधिकार अथवा भार

पूर्व में निरूपित है कि अधिकार के कारण प्राय: विवाद होता है; परन्तु शास्त्र में इस विवाद का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि आर्ष संविधान अर्थात् धर्मसूत्रों में उत्तरदायित्व अधिकारमूलक है, भारमूलक नहीं।

अधिकार और भार में भेद

अधिकार में कर्ता स्वतन्त्र होता है, विधेयपरतन्त्र नहीं, अत: अधिकार को पूरा न करने पर भी कर्ता निर्दोष ही रहता है।[२] आज भी महामहिम पदासीन महानुभावों के असीमित अधिकार हैं; परन्तु उनका प्रयोग विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सर्वदा नहीं किया जाता। इसके लिए कोई बाध्यता भी नहीं है।

परन्तु भार अवश्यकर्तव्यताक है, इसमें कर्ता स्वतन्त्र न होकर विधेय-परतन्त्र है[३]।

---

१. द्र०, महा०भा०, विराट्पर्व।
२. द्र०, श्रीकरपात्री स्वामीकृत "मार्क्सवाद और रामराज्य"। द्र०, कौटिल्यकृत "अर्थशास्त्र"।
३. तत् तस्य न स्याद् नरकं स गच्छेत । यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्ध्येत् ।।
(द्र०, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, अन्यत्रापि द्र०, कौटिल्यकृतम् अर्थशास्त्रम्।)

प्रकृत में भी क्षत्रियों पर राष्ट्ररक्षा का भार है।[1] यह मात्र अधिकार नही है कि करें या न करें।

यह भार भी जन्मत: अवश्यकर्तव्यताक है।[2] जन्मत: होने के कारण[3] तादृश-योग्यतासम्पन्न सन्तति की ही अपेक्षा है, जो राष्ट्ररक्षा में समर्थ हो। समर्थ व्यक्ति के ही अधिकारी पद पर रहने से कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न होता है।

ऋषियों ने ऐसे अनेक उपायों का निर्देश किया है, जिनसे कि आनुवंशिक, जन्मत: उत्तरदायित्वशील राजवंशों की स्थापना की जाय, जिससे ससागरा धरित्री में सार्वभौम सम्प्रभुतासम्पन्न, एकता एवं अखण्डता की रक्षा मे समर्थ, सुदृढ़, बलशाली, केन्द्रीय सत्ता के स्थायित्व-सम्पादनपूर्वक आर्य साम्राज्य की स्थापना सम्भव हो।

वर्णाश्रम व्यवस्था भी जन्मत: उत्तरदायित्वपूर्ण होने के कारण कोई भी व्यक्ति पलायनवाद के आधार पर समाज को मध्यमार्ग में छोड़, भाग कर अपने को बचा नहीं सकता; अपितु वर्णाश्रमानुसार सुलक्षणसम्पन्ना उपयुक्त स्त्री परिणयपूर्वक, जन्मत: सुयोग्य नागरिकों का निर्णय करते हुए, राष्ट्र में विकास-शील जनसम्पत्ति-वृद्धिपूर्वक भविष्यनिर्माण अवश्य कर्तव्य है।[4]

प्रकृत प्रसंग में उक्त तथ्यों का विवेचन

उक्त विवेचन द्वारा प्रकृत प्रसंग की उपयोगिता के विषय में वक्तव्य है कि प्रजा-पालन, रक्षा, उन्नतिपूर्वक, अखण्ड-सम्प्रभुता-सम्पन्न, एकतामूलक आर्य राज्य की आनुवंशिक पारम्परिक स्थिति प्रदान करने का दायित्व भार अभिषिक्त क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न सम्राट् पर जन्म से ही अवस्थित है, अत: यह कर्तव्य तथा अवश्य विधेय है, जिसमें अश्वमेध का अनुष्ठान एक प्रकट प्रमाण है।

---

१. द्र०, महाभा०, विराट्पर्व।

२. अमुमेव आर्षसिद्धान्तमुपजीव्य पुण्यश्लोकतिलकमहानुभावेन उदघोषि—''स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।''

३. अत एव हितोपदेशे उक्तम्—

(क) आयु: कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिन: ।।

(ख) अत्र विषये न्यायालयेषुवङ्गदेशे प्रचलितस्य दायभागस्य, अन्यत्र भारते प्रचलिताया: मिताक्षराया विचारोऽपि विवेक्तव्य:।

४. कौटिल्यार्थशास्त्रम्, प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थाधिकरणानि।

अश्वमेधयाग का महत्त्व

सम्पूर्ण श्रौत हविर्यज्ञों में, सोमयागों में विशिष्ट अश्वमेधयाग को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस याग का अतिशय महत्त्व निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट होता है—

(क) अश्वमेध का अधिकारी अभिषिक्त क्षत्रिय सम्राट् होता था। अत एव सार्वभौम होने के कारण यह यज्ञ श्रुतियों में प्रसिद्ध है।[१]

(ब) अश्वमेध को राजयज्ञ कहा गया है। राज्याभिषेकयुक्त राजा ही इसका अधिकारी है। श्रुतियों में क्षत्रिय वर्ण मात्र सम्राट् को इसका अधिकारी कहा गया है।[२]

(ग) माण्डलिक रांजा को ही इसका अधिकारी कहा गया है।[३]

(घ) श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इस प्रकार तीनों वर्णों को ही अश्वमेधयाग का अधिकार प्रदान किया गया है;[४] किन्तु इस विषय में ध्यातव्य है कि अश्वमेध-यज्ञ-प्रतिपादक ब्राह्मण एवं श्रौतसूत्रों में प्रधानतः क्षत्रिय वर्ण को ही इस यज्ञ के कर्तृत्व का अधिकार दिया गया है।

(ङ) सूत्रभाष्यकारों ने अश्वमेध को नित्य अनुष्ठेय कहा है।[५]

अत एव अश्वमेधयज्ञ अभिषिक्त क्षत्रिय सम्राट्-कर्तृक होने से सार्वभौम है। सामाजिक तथा राजनैतिक स्तर पर इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।[६]

---

१. ''राजा सार्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत्।'' (द्र०, आ०श्रौ०सू०)

२. क्षत्रियमात्रस्याप्यधिकार इति। (बौ०श्रौ०सू०)

३. विजितस्य वा मध्ये यजेत् इति। (ला०श्रौ०सू०)

४. त्रयाणां वर्णानाम् अधिकार इति आश्वलायनश्रौतसूत्रस्य सिद्धान्तभाष्यम्।

५. ''नित्योऽश्वमेधः। नित्यवत् कालनिर्देशः'' इति श्रौतसूत्रोक्तिः श्रूयते।

६. द्र०, हरिवंशपुराणे-''त्वया वृतं क्रतुं चैव वाजिमेधं परन्तप। क्षत्रियाणां हरिष्यति यावद् भूमिर्धरिष्यति।। अद्य प्रभृति देवेन्द्रं जितेन्द्रियमस्थिरं क्षत्रिया वाजिमेधेन यक्ष्यन्ति हि शौनक इति।

तृतीय परिच्छेद

अधिकारिलक्षणाध्याय

क्षत्रियसाध्य सोमयाग : अश्वमेध एवं राजसूय

श्रौत प्रयोगों में विभिन्न प्रकार के सोमयागों का उल्लेख है; परन्तु अश्वमेध एवं राजसूय विशिष्ट सोमयाग हैं। 'अश्वमेध' सोमयाग होने पर भी स्वनाम से अश्वप्राधान्य द्योतित करता है, राजसूय में भी 'राज' शब्द यज्ञाधिकारी का वाचक है। राजसूय, अश्वमेध दोनों सोमयाग होने पर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार लक्षणविशिष्ट अश्वप्राधान्य के कारण 'अश्वमेध' एवं स्वतन्त्र श्रौत यज्ञ होने पर भी 'राजसूय' कतिपय साधर्म्य से युक्त है यथा क्षत्रियसाध्यत्व, दिग्विजयकर्तृत्व, सोमवत्व इत्यादि।

अश्वमेध महायाग, राजसूय महायाग का सहोदर ज्येष्ठ भ्राता है। अश्वमेध का अनुष्ठाता चक्रवर्ती सम्राट् होता है और राजसूय का अनुष्ठाता राजा होता है। अश्वमेध के समान राजसूय भी एक दीर्घकालिक, अनेकवर्षसाध्य, महाप्रतापी क्षत्रिय द्वारा अनुष्ठित किया जाता है। पूर्वापर की व्यवस्थानुसार राजसूय का अनुष्ठान पूर्वकालिक और अश्वमेध का अनुष्ठान पश्चात्कालिक है। जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ का सार्वभौम रूप अन्ताराष्ट्रिय राजनैतिक होते हुए भी अनुष्ठानात्मक रूप कर्मकाण्डात्मक ही है, वही स्थिति राजसूय की भी है।

सोमयागों में अनेक प्रकार के श्रौतप्रयोग हैं, जिनमें ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों को सम्पादन का अधिकार प्राप्त है; किन्तु अश्वमेध एवं राजसूय क्षत्रिय मात्र साध्य सोमयाग हैं एवं राजनैतिक भूमि पर आधारित हैं।

अत: प्रसंग प्राप्त होने के कारण 'सोमयाग' एवं 'सोम के स्वरूप' पर संक्षिप्त विवेचन करते हुए राजसूय यज्ञ के कर्मकाण्डात्मक रूप पर भी किञ्चित् दृष्टिपात किया गया है; क्योंकि सोमयागत्व सामान्येन सहोदर लघुभ्राता होने के कारण राजसूय अश्वमेध का साधर्म्य-वैधर्म्य-निरूपण अवश्य करणीय है।

सोमयाग का संक्षिप्त विवेचन

जिस यज्ञ में सोमपान तथा सोमाहुति प्रधान अंग होता है और जिसका सत्र तीन वर्ष तक चलता रहता है, उसे सोमयाग कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा

श्रौतसूत्रों में इसका विस्तृत विवरण है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में इसका विवरण इस प्रकार है—

ब्रह्महत्याप्रशमनं सोमयागफलं मुने ।
वर्षसोमलतापानं यजमानः करोति च ।।
वर्षमेकं फलं भुङ्क्ते वर्षमेकं जलं मुदा ।
त्रैवार्षिकमिदं यागं सर्वपापप्रणाशनम् ।।
यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भूतिवृद्धये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ।।
महाराजश्च देवो वा यागं कर्तुमलं मुने ।
न सर्वसाध्यो यज्ञोऽयं बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।।[1]

सोमयाग विशेष

श्रौतप्रयोगों के विवेचन में अनुष्ठेय विधियों का विभिन्न वर्गीकरण उपलब्ध होता है। यथा—इष्टि-पाशुक-सोम। सोमयागों का विवरण सर्वत्र समान नहीं है। इस सन्दर्भ में अनेक श्रौतसूत्रों में दृष्टिभेद उपलब्ध है, यथा—

१. अग्निष्टोम, २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ्य, ४. षोडशी, ५. वाजपेय, ६. अतिरात्र, ७. आप्तोर्याम।[2]

इसमें अग्निष्टोम समस्त सोमयज्ञों का प्रकृति रूप है। यह ऐकाहिक होता है। प्रकारान्तर से सोमयाग के अन्य प्रकार भेद भी हैं, यथा[3]—

१. एकाह, २. अहीन, ३. सत्र।

सोमलतात्मक सभी श्रौतप्रयोगों में सोमप्रवाक[4] एवं सोमक्रयण आदि अपेक्षित है। सामान्यतः कुत्सगोत्रीय ब्राह्मण या किसी शूद्र से सोमलता प्राप्त की जा सकती है। महर्षि आपस्तम्ब ने किसी ब्राह्मण से भी सोमक्रयण की स्वीकृति दी है।[5] अन्यत्र सोमविक्रयार्थ पुरोहितों के अतिरिक्त कोई भी स्वीकृत किया गया है।[6] सूत्रग्रन्थों में सोम को ''राजा'' कहा गया है।

---

१. द्र०, ब्रह्मवै०पु०, श्रीकृष्णजन्म खण्ड ६०.५४-५८।
२. द्र०, ला०श्रौ०सू०, ५.४.३४; गौ०श्रौ०सू०, ८.२१।
३. द्र०, जैमिनि-सू०, १०.६.६०-६१; तन्त्रवार्तिक, २.२.२।
४. ''सोमप्रवाकी नाम ऋत्विजां ससम्मानम् आनयनम्''। (द्र०-श्रौ० पदार्थ)
५. द्र०, आ०श्रौ०सू०, १०.२०.१२·
६. द्र०, जै०सू०, ३.७.२१।

राजसूय और सोम

राजसूय शब्द घटक "राज" शब्द से यजमान एवं सोमलता दोनों का ग्रहण होता है। यहाँ पर दोनों ही राजा हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य पाणिनि का साक्ष्य प्राप्त है—

"**राजसूयसूर्यमृषोद्यरूच्यकुप्यकृष्टपचाव्यथाः**"[१]। व्याकरणान्तरे तु यथा—"**राजसूयसूर्यमृषोद्यकुप्यकृष्टपच्याः**" इत्येव।[२]

सोमक्रयण-विधियाँ

सोम-विक्रेता को चाहिए कि सोमलता में लगे हुए तृणगुल्मादि को स्वच्छ कर उसको प्रस्तुत करे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यजमानपुत्र, यजमान, अध्वर्यु, अन्य ऋत्विक या सहायक ऋत्विक् कोई भी सोमलता का संस्कार न तो कर सकते हैं, न ही देख सकते हैं।[३]

रक्तवृषभ-चर्म के दक्षिण भाग पर सोमस्थापन किया जाता है एवं उसी के उत्तर भाग पर सोमविक्रयी उपदिष्ट होता है। सोम के सम्मुख एक जलपात्र स्थापन किया जाता है, तदुपरान्त हिरण्यवती आहुति दी जाती है।

सोमक्रयण-वस्तु

यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि किसी भी मुद्रा, रत्न, धातु, भूमि या अन्य सम्पत्ति के द्वारा सोमक्रयण श्रौतप्रयोग में विहित नहीं है। अन्ताराष्ट्रिय पद्धत्यनुसार वस्तु विनिमय प्रक्रिया ही सोमक्रयण में स्वीकृत है।[३] तदनुसार यज्ञभूमि के पूर्वद्वार के दक्षिण में एक गोबन्धन किया जाता था, इसे सोमक्रयणी कहते हैं।

सोमक्रयण में गौ का स्वरूप

सोमक्रयणी गौ भी स्वेच्छानुसार श्रौतप्रयोग में इष्ट नहीं है। अतः उसका स्वरूप निश्चित है—(क) एक वर्ष की गाय। (ख) अरुणवर्णा अथवा सोमलता के वर्ण वाली। (ग) पिंगाक्षी। (घ) अप्रसूता। (ङ) सर्वाङ्गसुन्दर, विकलाङ्ग न हो। (च) बन्धनरहित।

सोमक्रयण-विधि

इस विधि के अनुसार सोमक्रयण में अधिकृत प्रधान ऋत्विक्, अध्वर्यु सोम को आवृत करने के लिए यजमान के सेवक द्वारा वस्त्र मँगवाता है, ततः

१. द्र०, आशुबोधव्याकरणम्, पं० तारानाथभट्टाचार्य; कृदन्तप्रकरणम्, ६७७।

२. द्र०, स०श्रौ०सू०, ७.१।

३. अन्ताराष्ट्रियवस्तुविनिमयपद्धतिस्तु साम्प्रतमपि सर्वराष्ट्राध्यक्षैः स्वीक्रियत इति अर्थशास्त्रविदां समयः।

चार पहिये वाले रथ में सोम को स्थापित किया जाता है एवं उसे चटाइयों से आवृत किया जाता है। यहाँ पर ऋषियों ने सोमलता के अंशुओं का चयन प्रकार, हस्तग्रहण प्रकार, वस्त्राच्छादन प्रकार आदि पारम्परिक आचारप्रधान अनुष्ठानों का विस्तृत वर्णन किया है।[१]

सोमक्रयण की कतिपय औपचारिकतायें एवं कुछ विकल्प भी प्रस्तुत किये जाते हैं, जिसमें स्वर्णादि विभिन्न वस्तुओं के विनिमय का विवरण है।[२] यजमान द्वारा सोम का अभिनन्दन, अभिवादन एवं अदिति पूजा के पश्चात् अध्वर्यु एवं सोमविक्रेता में विनिमय निश्चित होता है। सोमक्रयणी गौ को गोशाला में भेजकर अन्य गौ से निष्क्रय किया जाता है। यहाँ अन्य कतिपय उपचारों के अनन्तर उद्गातृ वर्ण के अन्यतम सुब्रह्मण्य द्वारा "सुब्रह्मण्या इष्टि" के अनुष्ठान के पश्चात् सोम का आनयन एवं उसको "राजा" का स्वरूप मानकर आतिथ्येष्टि एवं आसनादि स्थापना के सम्पन्न होने पर शकट से सोम को लाकर, विशिष्ट आसन में मृगचर्म बिछाकर स्थापित किया जाता है।

क्षत्रियकर्तृक सोमरसपान-निषेध

आर्ष ग्रन्थों में क्वचित् दुष्प्रसंगवशात् इन्द्र के सोमभक्षण निषेध होने पर क्षत्रियों के लिए भी यह निषिद्ध कहा गया है। यथा—

"यज्ञेन्द्रं देवताः पर्यवृञ्जन् विश्वरूपं त्वाष्ट्रमभ्यामंस्त।

वृत्रमस्तृत यतीन् सालावृकेभ्यः प्रादादरूर्मघानवधीद् ।।

बृहस्पतेः प्रत्वधीदिति; तत्रेन्द्रं सोमपीथेन व्यार्ध्यतेन्द्रस्यानु व्यृद्धिं क्षत्त्रं सोमपीथेन व्यार्ध्यतापीन्द्रः सोमपीथेऽभवत्, त्वष्टुराऽमुष्य सोमं तद् व्यृद्धमेवाद्यापि क्षत्त्रं सोमपीथेन, स यस्तं भक्षं विद्याद् क्षत्त्रस्य सोमपीथेन व्यृद्धस्य येन क्षत्त्रं समृध्यते, कथं ते वेदमुत्थापयन्तीति।[३]

एवं सोमपान के स्थान पर अन्य अनेक विकल्प भी विहित हैं[४]; परन्तु संस्कृत वाङ्मय में सोमपायी राजाओं के अनेक विवरण हैं। स्मार्त ग्रन्थों में क्रमशः तीन वर्षों का आय-व्यय संयोजन उपलब्ध रहने पर सोमयाग सम्पादन का विधान है।[५] पूर्वोक्त ब्रह्मवैवर्तपुराणवचन में भी महाराजकर्तृक सोमयाग का ही विधान है।

---

१. द्र०, आ०श्रौ०सू०, १०.२४.७-१४; का०श्रौ०सू०, ७.६.७-९।

२. द्र०, श०ब्रा० ३.३.३; आ०श्रौ०सू०, १०.२५.१-१६; स०श्रौ०सू०, ७.२।

३. द्र०, ऐ०ब्रा०, ३५.२.३।

४. ऐ०ब्रा० ३५.२.४;

५. द्र०, म०स्मृ०।

अन्यत्र वटवृक्ष के नवोद्गत कोमल पल्लव (शुंगा) अथवा अन्य पवित्र वृक्षों यथा उदुम्बर आदि के फलों को दधिमिश्रित कर, सोम के विकल्प में क्षत्रिय के लिए विहित है।[१]

सोम और राजसूय

श्रौतप्रयोगों में अनेक सोमयागों का उल्लेख किया गया है, परन्तु राजसूय में सोमप्रयोग की विशेषता प्रतीत होती है। जिस प्रकार अश्वमेधयाग सोमयाग होने पर भी स्वनाम से ही अश्व प्राधान्य द्योतित करता है, यही स्थिति राजसूय शब्द में भी है, यहाँ राज शब्द यज्ञाधिकारी एवं सोमलता उभयवाची है।

''सोम'' नाम क्यों है?

सोमलता का सोमनाम भी गम्भीर रहस्यगर्भ है। वैदिक विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि ही अग्निसोमात्मक है। अग्नि और सोम ये दोनों पदार्थ ही परस्पर भिन्नार्थ प्रतिपादक हैं; परन्तु ''अग्निसोमात्मकं जगत्''[२] इस प्रत्यक्षसिद्ध व्यवहार-मूलक पदार्थात्मक सभी पदार्थ अग्निसोमात्मक होने से ये दोनों पदार्थ भी उभयात्मक हैं। इसी सिद्धान्त का पर्याप्त विश्लेषण करने पर ''**सर्वं सर्वात्मकम**'' यह यौगिक प्रक्रिया भी प्रकट होती है।

काशी की परमविभूति महामहोपाध्याय प्रातःस्मरणीय म.म. श्री गोपीनाथ कविराज जी ने स्वसाधना पद्धति में भी इस तथ्य को प्रकट किया था एवं उनके गुरुदेव योगिराजाधिराज श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव जी ने उक्त 'सर्व सर्वात्मकम्' सिद्धान्त का प्रकट रूप सार्वजनिक रूप से प्रत्यक्ष करवाया था।[३]

इसी प्रसंग की वाङ्मयी स्थिति ''सर्वे सवार्थवाचकाः'' योग परम्परा में उपलब्ध है, जबकि '**सर्वे परमार्थवाचकाः**' का सिद्धान्त भी आगम परम्परा में मान्य है, जो कि पूर्वापेक्षया उच्चतर स्थिति है। उपर्युक्त स्थितियों में सुदृढ़ होने पर ही ''एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।''[४] उक्त कामधेनु[५] का कथात्मक आलंकारिक वर्णन वसिष्ठ, जमदग्नि आदि के आश्रम के सन्दर्भ में पुराणों में असकृत् उपलब्ध है।

---

१. प्रसिद्धोऽयं विधिः पुंसवनसंस्कारेऽपि।

२. अत्र वैज्ञानिककमर्थान्तरमपि प्रसिद्धम्। (द्र०, म०म० गिरिधरशर्माचतुर्वेदिकृत वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ०३८)

३. द्र०, मनीषी की लोकयात्रा, पृ०४४;

४. द्र०, महाभाष्यपम्पशाह्निम्।

५. कामधेनुरिति कश्चिद् गवां प्रशस्तजातिविशेषोऽपि। तल्लक्षणं तु प्रसवं विनैव दुग्धसम्भवा इति प्रसिद्धिः।

प्रसंगप्राप्त उपर्युक्त विवरण उपयोगी होने पर भी, प्रकृत प्रसंगानुसार "**अग्निसोमात्मकं जगत्**" पर दृष्टिकोण प्रस्तुत है। प्रश्न है कि जब सभी पदार्थ अग्निसोमात्मक हैं, तो अग्नि भी अग्निसोमात्मक है और सोम भी अग्निसोमात्मक है, तब अग्निसोमात्मक यह व्यवहार और सिद्धान्त परस्पर असंगत है।

व्यपदेशस्तु भूयस्त्वात्

उक्त प्रश्न का समाधान यही है कि सभी पदार्थ सर्वात्मक "**सर्वं सर्वात्मकम्**" होने पर भी, जिस अधिकरण में जिस तत्त्व की अधिकता होती है, वहाँ अधिक तत्त्वात्मक पदार्थ का व्यवहार होता है। इस आधिक्य का परिमाण ५०% अर्थात् किसी अधिकरण में आश्रित सर्वात्मक तत्त्व का अर्धांश यत् तत्त्व रूप में होगा, वही तत्त्व उस समष्टि का व्यावहारिक[१] रूप होगा।

उपर्युक्त समस्त सिद्धान्तों का सामञ्जस्य करते हुए यह स्पष्ट है कि सोमबहुल पदार्थ सोमपदवाच्य है। यही स्थिति अग्निपदार्थ में भी है एवं परस्पर भिन्न ये दोनों पदार्थों के द्वारा तृतीय पदार्थ की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार सोमपदार्थ सर्वाधिक सोमात्मक तत्त्व बहुल दृश्यमान सोममण्डल ही है। व्यवहार में भी सोम मण्डल की सोमता = सौम्य प्रसिद्ध है।[२] जैसा कि पूर्वनिरूपित है कि गुणधर्मसादृश्यादिवशात्[३] शब्द प्रयोग परम्परा प्रसिद्ध है। इसी आधार पर लता विशेष का नाम सोम है।

सोम और सोमलता

उपर्युक्त समस्त विवेचनों के आधार पर विवेच्य लता का नाम सोम क्यों है? यह स्पष्ट है। तदनुसार यह लता सोमात्मक है और सोमसदृश = सोमप्रधान है।

---

१. "अत्र विषये वेदान्तशास्त्रस्य साक्ष्यम् अपि अनुकूलम्, तच्च पंचीकरणप्रक्रियारूपेण प्रसिद्धम्, तद्यथा वेदान्तसारे उक्तम्—

"द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते ।।"

महाभाष्येऽपि अयं विषयः 'ब्राह्मणग्रामः' इति शब्देन उक्तः। अवश्यमेव सर्वत्र ग्रामे पंचकारूकी भवति। पंचीकरणं क्वचित् त्रिवित्करणमपि उच्यते।

२. सोममण्डलीमिति। अत्र किंचित्-वैदिकविज्ञानानुसारं सोममण्डलं बहुधा, अत एव 'सोमेनादित्याः बलिनः' इत्यादिभौतिकवादः संगच्छते, अन्यत्र इतिहासपक्षे सोमेन = सोमपानेन, आदित्या = देवा बलिनः इत्यादि संगच्छत इति दिक्। (द्र०, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ०१२)

३. "तात्स्थ्यात् चैव ताद्धर्मात् तात्सादृश्याच्चैव च"। (द्र०, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा)

वनस्पति रूप सोमलता के विषय में विभिन्न श्रौतसूत्र एवं आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णनात्मक एवं लक्षणात्मक विवरण उपलब्ध है। इसके गुणातिशय एवं सोमपायी की अद्‌भुत उपलब्धियों का अनेकत्र प्रकीर्ण वर्णन भी उपलब्ध होता है। अत्यन्त दुःखास्पद तथ्य यह है कि राजसूय, अश्वमेध आदि महान् प्रयास एवं अत्यधिक वैभवसाध्य यज्ञादि श्रौतप्रयोगरूपी दीर्घकालिक राष्ट्रीय परियोजनाओं की परम्पराएँ शिथिल या समाप्त होने पर सोमलता का भी व्यावहारिक पक्ष कालातीत हो गया।

सोमलता की दुर्लभता

सोमलता चिरकाल से ही दुर्लभ वस्तु है। जब भारतदेश ने "भारतवर्ष" के रूप में विश्व के हृदय में स्थित होकर, सम्पूर्ण जम्बूद्वीप (युरेशिया) के आधिपत्य से भी विस्तृत क्षेत्र के शासनसूत्र का दिशानिर्देश किया था, उस समय सोमलता भी भारतवर्ष (वर्तमान भारतसंघमात्र नहीं) के सीमा-क्षेत्र में प्राप्त था। श्रौतयज्ञों में अनेक विकल्पों का उल्लेख मिलता है, यथा—अर्जुन, पूतीकतृणादि। अत एव इसकी दुर्लभतानुरूप महनीयता एवं महनीयतानुरूप दुर्लभता दोनों स्पष्ट हैं।

सोमसादृश्य-विचार

सोमलता के सन्दर्भ में परम्पराप्राप्त विवेचनानुसार दृश्य सोममण्डल से वनस्पतिरूप सोमलता का सादृश्य स्पष्ट है, यथा—दृश्य सोममण्डल में प्रति-पद से पूर्णिमा तक एक-एक कला का शुक्लपक्ष तक विस्तार होता है एवं षोडश-कलात्मक सोममण्डल पूर्ण होता है, अन्यत्र कृष्णपक्ष में प्रतिपद से एक-एक कला क्षीण होकर अमावास्या में चन्द्रमण्डल का दर्शन नहीं होता।

सोमलता में १५-१६ वर्ण होते हैं एवं प्रतिपद से एक-एक सोमपत्र का विकास होता है। इसी क्रम में द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी के तिथिक्रम से एक-एक पत्र प्रस्फुटित होता हुआ षोडश-कलात्मक पूर्णिमा में षोडशपत्रात्मक सोमलता विकसित होती है एवं सम्पूर्ण सोमलता अपने विकास की चरम स्थिति में होती है, पश्चात् कृष्णपक्षारम्भ में प्रतिपद तिथि से एक-एक पत्र का संकोच होता है एवं कृष्णपक्षीय प्रतिपद, द्वितीया, तृतीया आदि तिथियों में क्रमशः एक-एक पत्र संकुचित होता हुआ अमावास्या तिथि को सोमलता शाखिका मात्र रह जाती है।

सिनीवाली और कुहू[१]

ज्योतिषशास्त्रीय गणनानुसार अमावास्या के दो रूप हैं—सिनीवाली और कुहू। जिस अमावास्या में थोड़ा-बहुत चन्द्रमा दीख पड़ता है, उसे सिनीवाली कहते हैं तथा जिसमें सम्पूर्ण चन्द्रमा का अदर्शन होता है, उसे कुहू कहते हैं।

सोमलता एवं अमावास्या

सिनीवाली में सोमलता का एकाध पत्र टूटकर भी रह जाता है एवं कुहू अमावास्या में सोमलता के समस्त पत्रों का पतन एवं लता भी मुह्यमान हो जाती है। इस प्रकार सोमतत्त्व प्रधान दृष्ट सोममण्डल से सर्वाधिक प्रभावित आदि गुणात्मक अनेक परिस्थिति होने के कारण इस वनस्पति का नाम 'सोमलता' है।

सोमलता और अन्य वनस्पतियाँ

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अत्यधिक सोमात्मक दृश्य सोममण्डल से प्रभावित होने के कारण उक्त लताविशेष सोमलता है एवं वनस्पतियाँ भी दृश्य सोममण्डल से सर्वांश से न होने पर भी अधिकांश में प्रभावित होती है।

सोम = औषधीश

दृश्यमान सोममण्डल का नाम भी औषधीश है।[२] आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न तिथियों के अनुसार कृषिकर्म की व्यावहारिकता दृग्गोचर होती है। सम्पूर्ण तिथि, नक्षत्रों की गणनाएँ चन्द्रकेन्द्रित होती हैं। व्यावहारिक दृष्टि में कुमुदिनी, रजनीगन्धा आदि में चन्द्रमा का अतिशय प्रभाव प्रत्यक्षसिद्ध है।

राजसूय, अश्वमेध

राजसूय और अश्वमेध दोनों सोमयाग होने पर भी "**प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**"[३] के अनुसार लक्षणविशिष्ट अश्वप्राधान्य के कारण "अश्वमेध" एवं राजसंज्ञक सोमप्रधान अथवा "राजोपाधिप्राप्तिकारणीभूत" होने से "राजसूय" शब्द का व्यवहार है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपर्युक्त विषयातिरिक्त सभी कृत्य दोनों यागों में समान हैं; अपितु कतिपय साधर्म्य[४] मात्र के अतिरिक्त दोनों श्रौतयज्ञ पृथक्-पृथक् हैं।

---

१. (क) "सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुः कला कुहूः"। (द्र०, अमर०, १.४.९)
(ख) "सिनीवाली तु दृष्टेन्दुकलामादुर्गयोः स्त्रियाम्।" (द्र०,मे०, १५७.१६६)
(ग) "कुहूः स्त्री कोकिलालापनष्टेन्दुकलदर्शयोः"। (द्र०,मे०, १७५.२)

२. "ओषधीशो निशापतिः"। (द्र०, अमर०, १.३.१४)

३. "व्यपदेशः मुख्यव्यवहारः"। (द्र०, परिभाषेन्दुशेखरः, परिभाषावृत्तिः)

४. क्षत्रियसाध्यत्व-दिग्विजयकर्तृत्व-सोमवत्व इत्यादि उभयत्र समानमिति साधर्म्यपदस्य तात्पर्यम्।

राजसूय का संक्षिप्त परिचय

सोमयागों में सत्र, अहीन, गोसव, सर्वस्वारेष्टि आदि विभिन्न अनुष्ठान सूत्र-ग्रन्थों में निरूपित हैं; परन्तु यह सभी अनुष्टान व्यक्ति स्तर पर ही विहित हैं। राष्ट्रिय-अन्तराष्ट्रिय या विश्व स्तर पर अनुष्ठेय प्रयोगों में बृहस्पतिसव, वाजपेय, विश्वजित्, राजसूय एवं अश्वमेध अवश्य ही उल्लेख्य हैं।

अन्ताराष्ट्रिय या विश्व स्तर पर दृष्टादृष्ट उभयफलात्मक, आनुवंशिक, उत्तरदायित्वपूर्ण विश्व की एकता और अखण्डता की परम्परा को सुदृढ़ एवं चिरस्थायी बनाने के लिए दो श्रौत अनुष्ठान अवश्य ही नेतृत्वाभिलाषी सभी व्यक्तियों के लिए मननीय हैं, इनमें भी जन्मप्रभृति उपर्युक्त उपलब्धि के लिए अश्वमेध महायाग, सुदीर्घ एवं गम्भीर व्यवस्था के सुदृढ़ एवं व्यावहारिक संस्थापक, रागद्वेषविहीन, सर्वभूतकल्याणकामी भारतीय मनीषियों की उदात्त मनीषा का चरम दिग्दर्शन है।

विवेचन करने पर यह कहा जा सकता है कि राजसूय महायाग, अश्वमेध महायाग का सहोदर लघुभ्राता है। इसका अनुष्ठाता राजा होता है और अश्वमेध का अनुष्ठाता चक्रवर्ती होता है। अश्वमेध के समान राजसूय भी एक दीर्घकालिक, अनेकवर्षसाध्य, महाप्रतापी क्षत्रिय के द्वारा अनुष्ठित किया जाता है। पूर्वापर की व्यवस्थानुसार राजसूय का अनुष्ठान पूर्वकालिक है एवं अश्वमेध का अनुष्ठान पश्चात्कालिक है। प्रत्यक्ष उपलब्धि की ओर दृष्टिपात करने से यह सिद्ध है कि अश्वमेध जैसी विश्वव्यापी महायोजना को सम्पन्न करने पर राजसूय यज्ञानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। चक्रवर्ती नरेश महाराज युधिष्ठिर ने भी अधिकार प्राप्त करने पर अनेक श्रौतप्रयोगों के प्रसंग में उपर्युक्त दोनों महायोजनाओं का सफल सम्पादन किया था; परन्तु वहाँ भी पूर्वापर क्रम उपर्युक्त ही है, अर्थात् राजसूय का अनुष्ठान महाभारत की घटना के पूर्व एवं अश्वमेध का अनुष्ठान उसके पश्चात् सम्पन्न हुआ था।[१]

राजसूयारम्भ काल

ऋतु के अनुसार राजसूय यज्ञानुष्ठान का आरम्भ काल वसन्त है, चान्द्र गणनानुसार इसका स्पष्टीकरण यथा—

१. मास- शुद्ध चान्द्रफाल्गुन[२], २. पक्ष- शुक्लपक्ष, ३. तिथि- प्रतिपद।

---

१. द्र०, महा०भा०, सभापर्व, आश्वमेधिकपर्व च।

२. अत्र शुद्ध इति पदेन अधिकमासनिवृत्तिः।

कतिपय अनुष्ठान

(क) यजमान को सर्वप्रथम पवित्र नामक दीक्षा ग्रहण।

(ख) तदुपरान्त पाँच दिन पर्यन्त प्रतिदिन एक-एक आहुति।

(ग) फाल्गुन पौर्णमासी को अनुमती इष्टि एवं चातुर्मास्य आरम्भ, वर्षपर्यन्त चातुर्मास्येष्टि।

(घ) पूर्णिमा, अमावास्या के मध्य मासिक यज्ञ।

(ङ) पवित्र यज्ञदीक्षा के एक वर्ष पश्चात् अभिषेचनीयेष्टि।

(च) आगामी फाल्गुन शुक्लपक्ष के प्रथम दिन शुनासीरीय पर्व के साथ चातुर्मास्य की समाप्ति।

(छ) पञ्चवातीय कृत्य।

(ज) अपामार्ग होम।

द्वादशाहुति विशेष

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत द्वादश विशेष आहुतियाँ दी जाती हैं, इसे ''रत्नीनां हवींषि'' कहा जाता है। ये द्वादश आहुतियाँ १२ व्यक्तियों के निवास-स्थानों पर अनुष्ठित होती हैं। यथा—

	व्यक्ति	**यज्ञदेवता**
१.	यजमान	इन्द्र
२.	सेनापति	अग्नि-अनीकवान्
३.	पुरोहित	बृहस्पति
४.	महारानी	अदिति
५.	सूत	वरुण
६.	ग्रामणी	मरुत्
७.	क्षत्ता	सविता
८.	संग्रहीता	अश्विनीकुमारद्वय
९.	अक्षावाप (द्यूताधीक्षक)	रुद्र
१०.	गोविकर्ता	रुद्र
११.	दूत	अग्नि
१२.	परिवृक्ता	निर्ऋति

ततः राजसूय यज्ञ का केन्द्रीभूत पञ्चदिनात्मक अभिषेचनीय कृत्य होता है, इसके अन्तिम अर्थात् पञ्चम सुत्यदिन में सोम रस का सवन होता है।

दशपेय कृत्य

अभिषेचनीय कृत्य के समानान्तर दशपेय कृत्य भी अनुष्ठेय है। दोनो का स्थान क्रमशः यज्ञस्थल के उत्तर और दक्षिण में होता है[1]—

यज्ञभूमि (राजसूय)

दक्षिणभाग (अभिषेचनीय कृत्य)

उत्तरभाग (दशपेय कृत्य)

साधर्म्य

१. भृगुगोत्रीय होता

२. सोम आनयन

देवसू हवि

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आठ देवों को आठ चरु आहुतियाँ दी जाती हैं—

१. सविता, २. अग्नि-गृहपति, ३. सोम वनस्पति, ४. बृहस्पति, ५. इन्द्र, ६. रुद्र, ७. मित्र, ८. वरुण।

दिशाओं से जलानयन[2]

देवसू हवि के पश्चात् सप्तदश उदुम्बर (गूलर) काष्ठपात्र में पृथक्-पथक् सप्तदश प्रकार का जलसंग्रह होता है—

१. सरस्वती नदी-जल, २. अध्वर्यु स्वयं प्रथम जल में प्रवेश कर, ततः व्यक्ति या पशु को प्रवेश कराकर उत्पन्न तरंगयुक्त जल अथवा बहती नदी का जल, ३. प्रतिस्रोत (विपरीत प्रवाह), ४. अपयती जल (ग्रीष्मादि काल में प्रवाह से पृथक् होकर अन्य मार्ग से पुनः मूल प्रवाह में मिलने वाला जल), ५. समुद्र जल, ६. समुद्र जल में काष्ठ ऊर्ध्वमुख स्थापन करके बलपूर्वक गिराकर स्थानान्तर में ले जाने के प्रसंग का जल, ७. निवेश्य जल = भ्रमी जल, ८. प्रत्यातप में स्थित ह्रद

१. द्र०, (क) ता०महा०ब्रा०, १८.९.२।
(ख) का०ब्रा०, १५.४.१
(ग) शां०ब्रा०, १५.१३.२

२. द्र०, का०श्रौ०सू०, १५.४.२१-३५।

के प्रवाहशील जलों में स्थिर जल[१], ९.आतपवर्ष्य = पृथ्वीपतन से पूर्व सूर्य प्रकाश में गिरता जल,[२] १०. सरस्य जल, ११. कूप जल, १२. तुषार जल, १३. ओस जल[३], १४. मधु, १५. गोरुल्व्य जल[४], १६. पयः, १७. घृत।

उपर्युक्त सभी जलों को उदुम्बर पात्र में मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् के पास रखा जाएगा।[५]

अभिषेक

उपर्युक्त समस्त जलों से अभिषेक और द्यूतक्रीड़ा सम्पन्न होने के बाद होता द्वारा शुनःशेप कथा की प्रस्तुति होती है।[६]

विशेष होमद्वय

अभिषेचनीय कृत्य के उपरान्त नामव्यतिसंजनीय नामक दो विशेष होम किये जाते हैं, जिनके अन्तर्गत ज्येष्ठ पुत्र[७] को पहले पितामह स्वरूप कहकर, ततः वास्तविक स्वरूप का आख्यान किया जाता है, ततः अभिनयात्मक गोहरण के पश्चात् ''रथविमोचनीय'' नामक चार आहुतियाँ सम्पन्न करके यजमान दानकृत्य सम्पादन करता है, पश्चात् अनुष्ठास्यमान द्यूतक्रीडा में राजा की विजय घोषणा की जाती है।

---

१. ''आदित्येन प्रतिकालम् आतप्यते, न कदाचिद् वृक्षादिछायया अवष्टभ्यत इति प्रत्यातपो देवविशेषः। (द्र०, का०श्रौ०सू०, १५.४.३३)

२. आतपवर्ष्यम् इति—यत्तु सातपवर्षेण दिव्यस्नानमुच्यते।

३. यत्र प्रदेशे बहूनि आर्द्राणि तृणानि भवन्ति, तत्र शुद्धं वस्त्रं प्रक्षिप्य निष्पीड्य ग्रहणम्।

४. उल्व्यः = गर्भवेष्टनम्; तथा च भगवद्गीतायाम्—''यथोल्वेनावृतो गर्भः। तत्र भवाः उल्व्याः गोरुल्व्याः = गवां प्रसवकालिका आपः।

५. अश्वमेधप्रसङ्गे चतसृभ्यः दिग्भ्यः चतसृणाम् अपाम् = ४×४=१६ षोडशापां संग्रहः पूर्व निरूपितः। एवमेव शारदीयमहापूजायाः महास्नानप्रसङ्गे तत्तद्दिग्भ्यस्तत्तदपां संग्रहो महादेव्याः स्नानार्थम् अग्रे निरूपितः।

६. शुनःशेप इति। इयं कथा हरिश्चन्द्रोपाख्यानपूर्वभागरूपा (द्र०,ऐ०ब्रा०)।

७. ज्येष्ठपुत्र इति। अत्र किञ्चित्—अद्यापि दाक्षिणात्येषु द्रविडब्राह्मणेषु पितामहनामात्मकं। पौत्रनाम भवति। किञ्चान्यत्रापि यथा साहित्यदर्पणकृद्विश्वनाथकविराजमहोदयैः स्वस्य पितामहवृद्धप्रपितामहयोः नारायणदासेति समानं नाम निर्दिष्टम्। कलिङ्गानां कविराजमहोदयानां वंशे इदं कदाचित् काकतालीयमपि संभाव्यते; किन्तु विन्ध्यदक्षिणनिवासिनां पञ्चद्राविडान्यतम-द्राविड़ब्राह्मणानां तु एषां कौलिकी परम्परा। परम्परेयं कदाचिन्नामकरणप्रकरणे—''त्रिपुरुषानूकम्'' इति गृह्यवचनमनुसृत्य प्राचलदिति दिक्।

द्यूतक्रीडा में निम्नलिखित व्यक्ति स्वीकृत हैं—

१. यजमान राजा, २. राजभ्राता, ३. सूत, ४. ग्रामणी, ५. ग्रामणीभ्राता।

इस कार्यक्रम के अनन्तर "संसृपहविष" का अनुष्ठान है। इसमें १० हविष विहित हैं, जिनमें षष्ठी तिथि से आगामी ६ दिनों = एकादशीपर्यन्त प्रतिदिन एक-एक आहुति = ६ आहुतियाँ एवं द्वादशी में अवशिष्ट चार आहुतियों का विधान है।

इसके पश्चात् चमसभक्षण का विधान है। क्षत्रियकर्तृक सोमभक्षणनिषेधपक्ष में यजमान के चमस में न्यग्रोध रस, अन्यत्र सोमरस का स्थापन।

चमसभक्षणसग्धि[१]

वेद में श्रौतप्रयोग प्रसंग में सहभोजन का अनेकत्र उल्लेख है, जिसको वैदिक भाषा में "सग्धि" कहा जाता है।

चमससग्धि का स्वरूप

एक-एक चमस का दस-दस ब्राह्मण भक्षण करेंगे। इन भक्षणकर्ता १० ब्राह्मणों में एक ऋत्विक् होंगे, शेष अन्य ब्राह्मण होंगे।

चमसभक्षणकर्ता

ऋत्विक् = १ अन्य ब्राह्मण = ९

समष्टि = १०

यह कार्य वैशाख मास में सम्पन्न होगा। वैशाख मास की अन्तिम तिथि अर्थात् वैशाख शुक्ल पूर्णिमा तिथि को "पञ्चविल" नामक चरु प्रस्तुत किया जाएगा, जिसमें ५ हविष प्रक्षेपण होगा। उसके बाद द्वादश प्रयुग्घवि नामक इष्टियाँ होंगी। इसमें कई मतान्तर हैं। यथा—

(क) एक मास के अन्तराल में।

(ख) प्रथमेष्टि के अनुष्ठानानन्तर शमीपतनोपरान्त देश-काल में।

---

१. सग्धिरिति। समानाग्धिः = सग्धिः, अद्-धातोः क्तिन्प्रत्यये, "बहुलं छन्दसि" इति घस्लादेशे; "घस् + ति" इति स्थिते "घसिवशोः हलि च" (६.४.१००) इति उपधालोपे, झलो झलीति (८.२.२६) सलोपे, 'झषस्तथोर्धोऽधः (८.२.४०) इति धकारे, "झलां जश् झशि' इति धकारस्य गकारे, ग्धिः = भोजनम्। अमरकोशे तु "सग्धिः स्त्री सहभोजनम्" (२.९.५५) रुद्राष्टाध्यायां चमकाध्यायेऽपि 'सग्धिश्च मे' इत्यादि-प्रसिद्धमेव। (द्र०, मही० भाष्यम्, १८.९; तै०सं०, ४.७.४१)

(ग) वैशाख पूर्णिमा तिथि को ही प्रातः एवं अपराह्ण षट् + षट् अर्थात् द्वादश इष्टि।

प्रयुग्हवि इष्टि

मासान्तराल | शमीपतनोपरान्त | वैशाखपूर्णिमा

प्रातः = षट् | अपराह्ण = षट्

पशुबन्ध

उक्त कृत्य सम्पादन के पश्चात् चान्द्र ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की अन्तिम तिथि अर्थात् अमावास्या में दो पशुबन्ध। इसकी दस तिथियों के पश्चात् चान्द्र ज्येष्ठ सुदी एकादशी तिथि से ५ दिन अर्थात् पूर्णिमा पर्यन्त अतिरात्र संस्थाक ''केशवपनीय'' नामक सोमयाग का अनुष्ठान। इसी प्रकार चान्द्र आषाढ़ कृष्ण प्रतिपद तिथि में विष्टवी द्विरात्र का संकल्प। षोडश दीक्षा, द्वादश उपसद एवं दो सुत्याह। ततः श्रावण कृष्ण प्रतिपद एवं आश्विन कृष्ण प्रतिपद तिथियों में कतिपय अनुष्ठानों के पश्चात् कार्तिक पूर्णिमा में चरकसौत्रामणि इष्टि सम्पन्न की जाती है। यह राजसूय का अङ्गयाग है एवं इसमें तीन पशुओं का प्रयोजन होता है।

यजमान-पत्नी का वस्त्रविन्यास

राजसूय यज्ञ में यजमान राजा की पत्नी चण्डातक[१] नामक वस्त्र धारण करती है।

राजसूय का संक्षिप्त रूप

अश्वमेध महायज्ञ के समान राजसूय महायज्ञ भी दीर्घकालव्यापी अन्ता-राष्ट्रिय स्तरीय, अनेक अनुष्ठानात्मक राजनैतिक विशाल परियोजना है। जिस

---

१. चण्डातक इति। ''अर्धोरुकं वरस्त्रीणां स्याच्चण्डातकमंशुकम्'' (अमर०, २.६.११९)। अन्यत्राऽपि—''अर्धोरुकं वरस्त्रीणां वासश्चण्डातकः स्मृतः'' इति पुंसकाण्डे वोपालितोक्तेः पुल्लिङ्गोऽपि। अत्र किञ्चित्—''चण्डातकम्'' ''अर्धोरुकमिति'' च अनर्थान्तरम्। तत्रेदं बोध्यम्—एतत्संज्ञाफलभूतविभक्तिसमभिव्याहारानपेक्षया लोके अर्थविषयकबोधजनकत्वमिति उभयसामान्यनवीनाभिमतार्थवत्त्वलक्षणघटक एतत् संज्ञापदे तन्त्रेण ''एतत् संज्ञा'' ''एषा च सा संज्ञा च'' इति विग्रहे स्वीकृते सति अर्थवत्समुदायानां प्रातिपदिकत्वे इष्यमाणे, अर्थवत्-समुदायेत्यत्र तन्त्रेण कर्मधारयषष्ठीतत्पुरुषयोः सतोः कर्मधारयपक्षे भाष्यकृता उदाहृतम्—''दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम् आजाजिनम् अर्धोरुक... कुमार्य्यै कृतस्य पिता प्रतिशीनः'' इति। 'अर्धोरूकम्' इति प्रयोगोऽपि अत्र पूर्वमर्थमनु

प्रकार अश्वमेध यज्ञ का सार्वभौम रूप अन्ताराष्ट्रिय राजनीतिक होते हुए भी विशाल परियोजना है। जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ का सार्वभौम रूप अन्ताराष्ट्रिय राजनैतिक होते हुए भी अनुष्ठानात्मक रूप कर्मकाण्डात्मक है, वही स्थिति राजसूय की भी है। राजनैतिक दृष्टि से यह भी प्रायः अश्वमेध के समान ही कारणों की अपेक्षा करता है। साथ ही इसका अनुष्ठानात्मक कर्मकाण्ड रूप निम्नलिखित है—

(क) **ऊनपञ्चाशदधिक-चतुश्शतम् इष्टयः,** (ख) **पशुयागद्वयम्,** (ग) **सोमयागाष्टकम्,** (ग) **सप्तदर्वी-होमाः**।

उपर्युक्त समस्त कृत्य समूह को राजसूय कहा जाता है। यह राजसूय यज्ञ का कर्मकाण्डात्मक पक्ष है।

उपर्युक्त सभी कृत्य प्रधानतया अनुष्ठेय हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सोमयाग के अंगभूत इष्टियाँ, पशु एवं सौत्रामणि आदि भी अनुष्ठेय हैं।

राजसूय और अश्वमेध में कालसाम्य

जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ का कर्मकाण्डरूप सवनत्रयविभक्त दिनत्रय-मात्रव्यापी होने पर भी सोमप्रवाक् से आरम्भ कर अश्वमोचन, विश्वदिग्विजय एवं अवभृथ के पश्चात् आगामी वर्षपर्यन्त प्रत्यृतु षट्पश्वालंभन आदि को मिलाने पर प्रायः वर्षत्रयात्मकरूप अपेक्षित है, यही स्थिति राजसूय की भी है। इसके अनुष्ठान में भी न्यूनातिन्यून एकविंशति मास एवं पूर्वोक्त प्रयुग्हविष इष्टि का मासान्तराल अनुष्ठानपक्ष में त्रयस्त्रिंशत् मास (२१+१२=३३) अपेक्षित है।

राजसूय और अश्वमेध का साधर्म्य-वैधर्म्य

उपर्युक्त दोनों सार्वभौम विशाल योजनाओं पर सम्पूर्ण विवेचन स्वतन्त्र शोधनिबन्ध का अध्ययनात्मक विषय है। राजसूय एवं अश्वमेध में कतिपय साम्यासाम्य विचार करणीय हैं।

राजसूय एवं अश्वमेध का साधर्म्य-वैधर्म्य अनेक अंशों में प्रकृत शोधनिबन्ध में अनेकत्र प्रस्तुत है, जिसका रोमंथन यहाँ अनपेक्षित है।

अवश्य ही यह मन्तव्य है कि श्रौतसूत्र के अनुसार, पूर्वोद्धृत सोमयागों की तालिका में अश्वमेध एवं राजसूय प्रभृति सभी सोमयाग हैं; परन्तु ''प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'' के अनुसार ''मेध्यम् अश्वविशेषात्'' एवं ''राजात्मकसोमा-भिषवणकारणात्'' ''अश्वमेध'' या ''राजसूय'' यह पृथक्-पृथक् नामकरण है।

पौराणिक कोश एवं हिन्दूधर्मकोशानुसार राजसूय यज्ञ[१]

पौराणिक कोशानुसार यह एक यज्ञविशेष है, जिसके सम्पादन के पश्चात् राजा सम्राट् कहलाता है। पवित्र नामक सोमयज्ञ से इसका आरम्भ और सौत्रामणि से इसकी समाप्ति होती है। इष्टि-पशु-सोम और दर्वीहोम इसके प्रधान अंग हैं।

हिन्दूधर्मकोशानुसार राजसूय वेदकालीन सोमयज्ञ है। परवर्ती साहित्य में यह राजनैतिक यज्ञ अथवा राजाओं का अभिषेक संस्कार माना गया है। राजसूय की मुख्य क्रियायें निम्नलिखित हैं—राजा को उसके पदानुसार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया जाता था तथा उसे सम्राट् चिह्न धनुष-बाण दिये जाते थे। वह अभिषिञ्चित होकर, किसी राजन्य के साथ कृत्रिम युद्ध करता था, फिर व्याघ्र-चर्म पर चरण रखकर सिंह सदृश शक्ति तथा महत्त्व प्राप्त करता था।

राजसूय शब्दार्थ

आचार्य पाणिनिकृत शब्दानुशासनानुसार राजसूय शब्द निपातनात्[२] सिद्ध है। तदनुसार ''राजसूय'' शब्द के निम्नांकित अर्थ हैं—

---

१. द्र०,. पौराणिक कोश; हिन्दुधर्मकोश।

२. निपात इति। पाणिनीयव्याकरणे निपातन-निपात-शब्दावसकृद् व्यवहृतौ। तत्रेत्थं विवेकः—''आचार्यकर्तृकमन्यादृशे प्रयोगे प्राप्तेऽन्यादृशप्रयोगकरणं बाधकं निपातनम्'' इति। यथा—सर्वनामपदे ''पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः'' इति प्राप्तणत्वस्य निपातनाद् बाधः। ''बाधकान्येव निपातनानि'' इति ''सर्वादीनि-'' सूत्रस्थप्रदीपः। ''अबाधकान्यपि तानि'' इति वृत्तिकाराः, तेन ''पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'' सूत्रे पुराणशब्दनिपातनादपि पुरातनशब्दस्य न बाधः। वस्तुतस्तु बाधकपक्ष एव सिद्धान्ततः पुराणशब्दस्तु पृषोदरादेराकृतिगणत्वात्साधुः।

सौत्राणां बाधकत्वन्तु न, अत एव तानि नास्माभिः प्रयोक्तुं शक्यन्ते। यथा—''ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः'' इत्यत्र समाहारे पुंस्त्वम्। अयमेव उभयोर्भेदः। उभयोस्साधुत्वाविशेषेऽपि निपातनं बाधकम्, अस्माभिरप्यन्यत्र तथा प्रयोक्तव्यम्। सौत्रन्तु-ऋषिभिरेव, तद्वाक्यानुपूर्व्युच्चारणप्रसङ्गे चास्माभिरपि तथा प्रयोक्तुं शक्यते, अन्यत्र तु ह्रस्वदीर्घप्लुताः ''ह्रस्वदीर्घप्लुतम्'' इति वा, नान्यत्।

निपातस्तु—''प्राग्रीश्वरान्निपाताः'' (१.४.५६) इति सूत्रम्, अस्याधिकारः ''अधिरीश्वरे'' (१.४.९७) एतस्मात् प्राग्यावत्। (न तु—''ईश्वरे तोसुन्कसुनौ'' (३.४.१३) इति यावत्। अत्र चत्वारिंशत् सूत्राणि अन्तर्भवन्ति। एतन्मध्ये उपसर्ग-गति-कर्मप्रबचनीयसञ्ज्ञा अपि विधीयन्ते। ''या या सञ्ज्ञा सा सा फलवती'' इत्युक्त्या तत्तत्कार्याणि यथासञ्ज्ञं बोध्यानि।

अत्र किञ्चित्—''ईश्वरे तोसुन्कसुनौ'' (३.४.१३) इत्यस्यावधित्वनिवृत्त्यै ''प्राग्रीश्वरात्०'' इत्यत्र सरेफो निर्देशः, तेन ''अधिरीश्वरे'' (१.४.९६) इति यावदेवास्याधिकार इति व्यवस्था। इदमपि-''निजां त्रयाणाम्-'', ''आद्युदात्तश्च'' इत्यादौ ''त्रायाणाम्'' ''आदि''-पदे इव, शास्त्रे च ''प्रथमोपस्थिततत्यागे मानाभावः'' इति न्यायानाश्रयणे प्रमाणम्, अन्यथा प्रथमोपस्थित्यैव ''अधिरीश्वरे'' (१.४.९७) इत्यस्यावधित्वे सिद्धे, तदर्थं सरेफनिर्देशो व्यर्थः स्यादिति दिक्। (द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणम्, निपातार्थनिर्णयः, सम्पादकः—पं० मनुदेवभट्टाचार्यः)

(क) राज्ञा = क्षत्रियेण, सोतव्यः = अभिषवद्वारा निष्पादयितव्यः।

(ख) राजा = लतात्मकः सोमः, सूयते = कण्ड्यते यज्ञविशेषे इति राजसूयः।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों का तात्पर्य

(क) राजा के द्वारा जिस यज्ञ में सोम का अभिषवण किया जाता है।

(ख) राजात्मक सोमलता जिस यज्ञ में अभिसुत होती है।

अभिषवण-शब्दार्थ

यहाँ अभि उपसृष्ट 'सूञ् अभिषवे' (स्वा०अ०उ०) यह सोपदेश धातु[1] है। अभिषव शब्द का निम्नलिखित अर्थ है—

(क) स्नान, (ख) स्नपन, (ग) पीडन, (घ) मद्यनिर्माण[2]।

प्रकृत में पीडन अर्थ विहित है। अतः—

(क) राज्ञा = क्षत्रियेण, सोतव्यः = अभिषवद्वारा, पीडनेन = निष्ठ्यूतेन।

(ख) लतात्मकसोमो राजा सूयते = कण्डयते = विद्यते (पूर्वोक्तमेव तात्पर्यम्) कडि भेदने,[3] चुरादि उभयपदी, तस्य कर्मणि रूपम्।

इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार जिस यज्ञ में क्षत्रिय राजा के द्वारा सोमलता का अभिषवण किया जाता है, उसे "राजसूय" कहते हैं। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार सोमलता रूप राजा का जिस यज्ञ में अभिषवण किया जाता है।

---

१. सोपदेश इति।
सेक्-सृप-स्तृ-सृजस्त्यान्ने दन्त्यान्तासादयः।
एकाचः षोपदेशाः स्युः स्विड्-स्वञ्ज-सृङ-स्मृङः ।।
ततः अर्थस्तु दन्त्यश्च अच्च इति दन्त्याचौ। तौ अन्ते येषां ते दन्त्याजन्ताः। अथ च मूर्धन्यषकारादयः। सादय इति पाठेऽपि स एवार्थः। एवञ्च दन्त्यान्ताः अजन्ताः मूर्धन्यषकारादयश्च धातवः षोपदेशाः। एतेषु "धात्वादेः षः सः" भवति। न चैवं दन्त्यादिरेव उपदिश्यतामिति वाच्यम्। आदेशभूतसत्वेन 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यधिकारप्रवृत्त्या 'तुष्टाव' इत्यादौ षत्वादिसिद्धिरिति दिक्।

२. द्र०, धातुपाठः स्वादि।

३. कडि भेदने इति-अयं मदे भ्वादौ तुदादौ च।
तथा चोक्तम्—
"कड मद इति धातुः पठ्यते भूतदादौ कडतिरूपं तद्द्वयोस्तुल्यमेतत्।
किमुभयगणपाठे कार्यमेतन् न वाच्यम्, स्वकृत इह भेदः, तद्द्वयोरस्ति यस्मात् ।।
(द्र०, दशबलकारिका)

राजसूय शब्द विमर्श

उपर्युक्त दोनों अर्थों के अनुसार क्षत्रिय-साध्य सोमयाग मात्र राजसूय हो सकता है, इसमें ज्योतिष्टोम, अश्वमेध भी आ जाता है। परन्तु यहाँ राजसूय शब्द से ज्योतिष्टोम-अश्वमेध की निवृत्ति एवं स्वनाम प्रसिद्ध अर्थ की स्वीकृति अपेक्षित है। ''राजसूय'' शब्द योगरूढ़ है। शब्दशक्तिनिरूपणप्रसङ्ग में यौगिक, रूढ़ि, योगरूढ़ि इत्यादि भेद प्रसिद्ध हैं। तदनुसार राजसूय शब्द योगरूढ़ है। अतः अवयवार्थाविरोधेन एकदेश में शक्त हैं, यथा व्याकरण में प्रत्याहार[1] शब्द है, तदनुसार पूर्वनिरूपित दोनों व्युत्पत्तियों में प्रथम व्युत्पत्ति से अश्वमेध आदि में एवं द्वितीय व्युत्पत्ति से ज्योतिष्टोमादि में अतिप्रसंग निरास।[2] सोमाभिषवण के कारण ही राजसूय का अश्वमेध के साथ अवश्य ही साम्य है; परन्तु राजसूय के द्वारा सोमयाजी राजा अवश्य होगा, चक्रवर्ती सम्राट् नहीं होगा।

अत एव श्रौतसूत्रक्रमानुसार राजसूय के बाद निरूपित अश्वमेध सोमयाजी सार्वभौम होता है, अश्वमेध के निरूपण प्रसंग में सार्वभौम ही प्रथम कोटि का अधिकारी आर्षग्रन्थों में स्वीकृत है; परन्तु यहाँ अवश्य ही यह प्रश्न दण्डायमान होता है कि श्रौतग्रन्थानुसार सार्वभौम व्यक्ति अश्वमेध-सोमयागाधिकारी है एवं अश्वमेध सोमयाग सम्पन्न होने पर व्यक्ति सार्वभौम होता है। यह परस्पर अन्योन्याश्रय है।[3]

---

१. प्रत्याहारमिति। प्रत्याह्रियन्ते = संक्षिप्यन्ते इति व्युत्पत्त्या प्रत्याङ्-उपसृष्ट ''हृ'' धातोर्घञ्। अधिकरणसाधनोऽयम्। योगरूढित्वादेव आदिरन्त्येन इत्येतद् विहितसंज्ञानां ग्रहणं न तु ग्राहकशास्त्रविहितानामिति। (द्र०, बृहच्छब्देन्दुशेखरः)

२. राजसूयशब्दः क्यबन्तो निपात्यते, निपातनाद् दीर्घः। अत्र किञ्चित्—निपातनं च रूढ्यर्थम्, तेन आद्यपक्षे अश्वमेधादौ द्वितीयपक्षे ज्योतिष्टोमादौ नातिप्रसङ्ग इति। (द्र०, तत्त्वबोधिनी, ३.१.१०४ सूत्रम्)

३. अन्योन्याश्रयेति। स्वज्ञप्त्यधीनज्ञप्तिकत्वमन्योन्याश्रय इति। (द्र० वरवर्णिनी) केचित्तु—''स्वापेक्षापेक्षितनिबन्धकप्रसङ्गः'' इति ''स्वग्रहसापेक्षग्रहसापेक्षग्राहकः'' इति वा तल्लक्षणमूचुः, द्वितीयलक्षणे तार्किकाभिमते ग्रहधातुर्ज्ञानपरः, गृहीतशक्तिः = ज्ञातशक्ति-रित्यादौ तथदर्शनात्। एवञ्च स्वग्रहः = स्वज्ञानम्, तत्सापेक्षः = तदपेक्षाकारी यो ग्रहः = ज्ञानं यस्य सोऽन्योन्याश्रयः। अन्योन्यस्य आश्रयणम् अन्योन्याश्रयः, परस्पराश्रय इतरेतराश्रय इति पर्यायाः। आत्माश्रयव्याकृत्यै अन्योन्येति। शब्दकल्पद्रुमे तु—परस्परज्ञानसापेक्षज्ञानाश्रय इति स्मार्ताः। स्वापेक्षेत्यादिपूर्वलक्षणे अपेक्षा च उत्पत्तौ स्थितौ ज्ञप्तौ च बोध्या। सारे तु-अन्योन्याश्रयस्य उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा प्रतिबन्धकत्वमभ्युपगतम्, न तु स्थितावपि (धात्वर्थ०, १।११)। (द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणम्, धात्वर्थ-निर्णयः, सम्पादकः–पं० मनुदेवभट्टाचार्यः)

उक्त शंका का निराकरण

१. प्रथमत: विश्वदिग्विजयादि होने पर व्यक्ति राजनैतिक दृष्टि से सार्वभौम हो जाता है। यहाँ सम्प्रति निर्वाचन में बहुमत प्राप्त दल राजनैतिक दृष्टि से विजयी होता है। अवश्य ही शपथ ग्रहणादि औपचारिकताएं बाद में की जाती हैं।

२. विश्व दिग्विजय सम्पन्न होने पर राजनैतिक दृष्टि से सार्वभौम अवश्य हो जाता है, पश्चात् त्रिरात्रव्यापी कर्मकाण्डात्मक अश्वमेध सोमयाग सम्पन्न होने पर धार्मिक दृष्टि से सार्वभौम होता है।

३. जिस प्रकार जंगलस्थ दण्ड एवं कुम्भकारगृहस्थ दण्ड दोनों में शक्यतावच्छेदक समान होने पर भी जंगलस्थ दण्ड स्वरूपयोग्यताकमात्र है एवं कुम्भकारगृहस्थ दण्ड घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताक फलोपधायक है, उसी प्रकार प्रकृत में भी विश्वदिग्विजय प्रसंग में स्वरूपयोग्यताक सार्वभौमत्व सम्पन्न होने पर अश्वमेध—सोमयाग में समस्त शासकों की उपस्थिति में मान्यताप्राप्तिपूर्वक, कराधान सम्पन्न होने पर फलोपधायक सार्वभौमत्व सिद्ध होता है।

४. व्यवहार में सूतशाटकन्याय से भाविनी संज्ञा निर्देश सिद्ध है। तदनुसार भी उपर्युक्त अश्वमेध सोमयाजी सार्वभौम ही है।

इसके पश्चात् सम्राट् और चक्रवर्ती के लक्षणों पर संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है। राजसूय सोमयाजी अवश्य ही सम्राट् है; परन्तु सार्वभौम चक्रवर्ती के लिए अश्वमेध यज्ञ सम्पादन की ही अपेक्षा है।

सम्राट्-लक्षण-विमर्श

अश्वमेधयज्ञसम्पादक प्रधान यजमान राजा अभिषिक्त एवं सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् होता है। अत एव प्रसंगानुसार सामुद्रिकशास्त्रीय लक्षणानुसार सम्राट् एवं चक्रवर्ती के अंगलक्षणों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इसमें यह ध्यातव्य है कि सम्राट् के लक्षणों से चक्रवर्ती सम्राट् का लक्षण किञ्चित् विशिष्ट होता है।

१. **ललाटमिति** — वाऽप्युच्चभाला: क्षितिपाश्च योगिन:।
२. **भ्रूस्वरूपमिति** — वक्रभ्रूश्च नृपो मर्त्यो रसिक: पण्डितोऽथवा।
३. **ओष्ठस्वरूपमिति** — ऋजुबिम्बोपमोष्ठाभ्यां भूपो भवति निश्चितम्।
४. **स्वरवर्णनमिति** — करिवृषभेरीमृदङ्गसिंहाब्दनि:स्वना: भूपा:।

५. ग्रीवास्वरूपमिति—

स्तम्भग्रीवो यदा देवि! कम्बुकण्ठश्च यो नरः ।
सर्वसंस्कारसम्पन्नो मन्त्रज्ञो विजयी भवेत् ।।

६. मणिबन्धस्वरूपमिति — मणिबन्धनैर्निगूढैर्दृढैश्च सुश्लिष्टसन्धिभिर्भूपाः।

७. नखस्वरूपमिति — ताम्रैश्च भूपतयः।

८. अङ्गुष्ठाङ्गुलिस्वरूपमिति—

(क) तिस्रो रेखा मणिबन्धनोत्थिता करतलोपगा नृपतेः ।

(ख) शङ्खाऽऽतपत्र – शिबिका – गजाऽश्वपद्मोपमा नृपतेः ।।

९. बलिलक्षणमिति — नृपं त्वबलितम् ।

१०. पृष्ठलक्षणमिति — पृष्ठरोमा नरो राजा।

११. स्फिक्लक्षणमिति — मण्डूकस्फिङ्नरो राजा।

१२. पदलक्षणमिति —

अस्वेदितौ मृदुतलौ कमलोदरसन्निभौ ।
श्लिष्टाङ्गुली ताम्रनखौ पादावृष्णौ शिरोज्झितौ ।।
कूर्मोन्नतौ गूढगुल्फौ सुपार्ष्णी नृपतेः स्मृतौ ।।

१३. विशेषाङ्गशुभवर्णनम्—

(क) कनिष्ठाङ्गुलीमूलदेशे नृपालः ।

(ख) तिलस्त्वनाभिकादेशे रमा विद्यानिधिर्भवेत् ।

१४. साम्राज्यलक्ष्मीलाभयोगः—

(क) प्रसन्नमूर्तिः समुदारचेताः वंशाभिमानी शुभवाग्विलासः।
अनीतिभीरुर्गुरुसाधुनम्रः साम्राज्यलक्ष्मीं लभते मनुष्यः ।।

(ख) शङ्खाः शरा यत्र भवन्ति पाणौ समुद्रतुल्यां प्रभुतां वदन्ति।

(ग) दिक्शङ्खयोगे नृपतिर्यथा वा।

(घ) नवचक्रे नृपतिश्चैव।

(ङ) सर्वासु चक्रैः परिपूरितासु महाबलप्राप्तिवरेण्यलक्षणम्।

(च) सीपैकं करशाखायां यस्य राजा भवेन्नरः।

१५. राजयोगफलवर्णनमिति—

(क) प्रसूतिकाले प्रबला यदि स्युर्नृपालयोगाः पुरुषस्य यस्य।
सद्राजचिह्नानि पदे तदीये भवन्ति वा पाणितलेऽमलानि ।।

(ख) मध्याङ्गुलेर्या मणिबन्धमाप्ता राज्याप्तये सा च किलोर्ध्वरेखा ।

(ग) विराजमानं यवलाञ्छनं चेदङ्गुष्ठमध्ये पुरुषस्य यस्य ।
भवेद्यशस्वी निजवंशभूषा भूषाविशेषः सहितो विनीतः ।।

(घ) वेद्वारणो वातपवारणो वा वैसारिणः पुष्करिणी सृणिर्वा ।
वीणा च पाणौ चरणे नराणां ते स्युर्नराणामधिपा वरेण्याः ।।

(ङ) आदर्शमालाकरवालशैलहलाश्च तत्पाणितले मिलन्ति।
यन्मण्डलीकोऽवनिपालको वा कुले नृपालः कुलतारतम्यात् ।।

(च) चेद्यस्य पाणौ चरणे च चक्रं धनुर्ध्वजाऽब्जव्यजनासनानि ।
रथाश्वदोलाकमलाविलासात्तस्यालये स्युर्गजवाजिशालाः ।।

(छ) स्तम्भस्तु कुम्भस्तु तरुस्तुरङ्गो गदा मृदङ्गोऽङ्घ्रिकरप्रदेशे ।
दण्डोऽथवाऽखण्डितराज्यलक्ष्म्या स्यान्मण्डितः पण्डितशौण्डको वा ।।

(ज) सद्वृत्तमौलिस्तु विशालभालश्चाकर्णनीलोत्पलपत्रनेत्रः।
आजानुबाहुं पुरुषं तमाहुर्भूमण्डलाखण्डलमार्यवर्याः ।।

(झ) नरस्य नासा सग्ला च यस्य वक्षःस्थलं चापि शिलातलाभ्रम् ।
नाभिर्गभीरातिमृदु भवेतामारक्तवर्णौ चरणौ स भूपः।।

(ञ) करतले यदि यस्य तिलो भवेदविरलः किल तस्य धनागमः।
पदतले च तिलेन समन्विते नृपतिवाहनचिह्नसमन्वितः ।।

(ट) एतत्फलं राजकुलोद्भवानां स्यान्मानवानां मुनयो वदन्ति ।
सङ्कल्पयेदन्यकुलोद्भवानां नूनं तद्वनं स्वकुलानुमानात् ।।[1]

---

१. (क) सचित्रसामुद्रिकरहस्यम्, पं० श्रीकालिकाप्रसादशर्मणा सङ्कलितम्।
(ख) नरपतिजयचर्यास्वरोदयः, श्रीमान् नरपतिकविविरचितः।

चक्रवर्ती-लक्षण-विमर्श[१]

अंग	**वर्ण**	**विशेषता**
ललाट	ईषद्रक्ताभ	विशाल प्रशस्त।
भ्रूमध्य	सामान्य	रोमावर्त।
नयन	,,	दीर्घ-कमलसदृश-कर्णपर्यन्त।
नेत्रपक्ष्म	,,	अराल।
मुखवायु	,,	कमलवत् सुगन्ध।
नासिका	—	उन्नत-दीर्घ।
अधर	रक्तवर्ण	कृश।
करद्वय	,,	शंखचक्रचिह्नित-प्रशस्तरेखायुक्त।
चरणद्वय	रक्ताभ	अतिशयकोमल-ध्वजरथतुरग। क्षत्रकमल-मत्स्यचिह्नयुक्त।
स्वर		गम्भीर प्रस्फुटस्पष्टवर्णवान्।
मुख		विस्तृत।
सन्धिस्थल		परिपुष्ट।
उरस्थल		सिंहवत्।
गति		मत्तमातंगगजवत्।
सर्वावयव		न्यग्रोधपरिमण्डल।
हस्त		आजानु।
शरीरपरिमाप		स्वचतुरहस्त।
जिह्वा		स्वच्छरक्ताभ।
राजदन्त[२]		स्वच्छकान्तियुक्त।

मत्स्यपुराणोक्तश्चक्रवर्तिलक्षणविमर्शः[३]

पद्मपत्रायताक्षाश्च पृथुवक्त्राः सुसंहताः ।
सिंहोरस्का महासत्त्वा मत्तमातङ्गगामिनः ।।

---

१. द्र०, म०पु०, अध्याय १४२.६०-७३श्लोक।

२. राजदन्तमिति,
राजदन्तास्तु चत्वारो दशानां पुरतः स्थिताः ।
राजदन्तास्तु तौ प्रौक्तौ उपरिश्रेणिकौ क्वचित् ।। (द्र०, दाधिमथी टिप्पणी)

३. द्र०, म०पु०, १४२.६०-६२, ६६-७६, महामहोपाध्यायपंचाननतर्करत्नसंस्करणम्।

महाधनुर्धराश्चैव त्रेतायां चक्रवर्तिनः ।
सर्वलक्षणपूर्णास्ते न्यग्रोधपरिमण्डलाः ।।
न्यग्रोधौ तु स्मृतौ बाहू व्यामो न्यग्रोध उच्यते ।
व्यामेन तूच्छ्रयो यस्य ततश्चोर्ध्वं तु देहिनः ।।
समुच्छ्रयः परीणाहो न्यग्रोधपरिमण्डलः ।
अत्यद्‌भुतानि चत्वारि बलं धर्म सुखं धनम् ।।
अन्योऽन्यस्याविरोधेन प्राप्यन्ते नृपतेः स्वयम् ।
ऐश्वर्येण अणिमाद्येन प्रभुशक्तिबलान्विताः ।।
श्रुतेन तपसा चैव ऋषींस्तेऽभिभवन्ति हि ।
बलेनाभिभवन्त्येते तेन दानवमानवान् ।।
लक्षणैश्चैव जायन्ते शरीरस्थैरमानुषैः ।
केशस्थिता ललाटेन जिह्वा च परिमार्जिनी ।।
श्यामप्रभाश्चतुर्दंष्ट्राः श्रवसाश्चोर्ध्वरेतसः ।
आजानुबाहवश्चैव तालहस्तौ वृषाकृती ।।
परिणाहप्रमाणाभ्यां सिंहस्कन्धाश्च मेधिनः ।
पद्मयोः चक्रमत्स्यौ तु शङ्खपद्मे च हस्तयोः ।।
असङ्गा गतयस्तेषां चतस्रश्चक्रवर्तिनाम् ।
अन्तरिक्षे समुद्रेषु पाताले पर्वतेषु च ।।

चक्रवर्ती लक्षणों का संक्षिप्त विवेचन[१]

	अंग	विशिष्ट लक्षण
१.	ललाट	सन्ध्यारुणबालचन्द्रकलाभ

---

१. समृद्ध-मनोरथः शुकनासस्तु शनैः शनैरङ्गप्रत्यङ्गान्यस्य निरूपयन् प्रीतिविस्फारितलोचनः भूमिपालमवादीत्—"देव। पश्य पश्य, अस्य कुमारस्य गर्भसम्पीडनवशादस्फुटावयवशोभस्यापि माहात्म्यमाविर्भावयन्ति चक्रवर्त्तिचिह्नानि। तथा हि, अस्य सन्ध्यांशुकरक्तबालशशिकलाकारे ललाटपट्टे नलिन-नाल-भङ्ग-तन्तुतन्वीयमूर्णा परिस्फुरति। एतद्विकचपुण्डरीकधवलं कर्णान्तायतं मुहुर्मुहुरुन्मिषितैर्धवलयतीव वासभवनमरालपक्ष्मलोचनयुगलम्, विजृम्भमाण-कमल-कोश-परिमल-मनोहरमियमस्य सहजमाननामोदमाजिघ्रतीव दूरायता कनकलेखेवनासिका। रक्तोत्पलकलिकाकारमुद्वहन्तीव चास्याधररुचकम्। रक्तोत्पलकलिकालोहित-तलौ भगवतो विष्टरश्रवस इव शंखचक्रचिह्नौ प्रशस्तलेखालाञ्छितौ करौ। अभिनवकल्पतरु-पल्लवकोमलं लेखामयैर्ध्वजाश्व-रथ-तुरगातपत्र-कमलैरलङ्कृतम् अनेकनरेन्द्रसहस्र-चूडामणिचक्र-चुम्बनोचितं चरणयुगलम्। एष च दुन्दुभिरिवातिगम्भीरः स्वरयोगोऽस्य रुदतः श्रूयते। (द्र०, कादम्बरी, पूर्वार्द्धम्, बाणभट्टः, "कुमारवर्णनप्रसङ्गः")

२.	ललाटमध्य	विसतन्तुसन्निभ सूक्ष्मरोमावर्त
३.	नेत्र	कमलवत् कर्णपर्यन्त
४.	नेत्रपक्ष्म	कुटिल
५.	नासिका	उन्नतसुवर्णरेखासमान
६.	श्वास	कमलवत् सुरभि
७.	हस्ततल	रक्तकमलकोरकवत्
८.	हस्त	शंखचक्रचिह्नाङ्कित
९.	चरण	ध्वजरथाश्वछत्रकमलादिचिह्नयुक्त कोमल
१०.	स्वर	जलद-गम्भीर

राजा एवं चक्रवर्ती शब्द-विमर्श

प्राचीन काल से ही राजाओं को कई श्रेणियों में बाँटा गया है—

(क) ऋग्वेद में कई स्थलों पर राजा शब्द आया है। यह शब्द मित्र एवं वरुण नामक देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[१] यह दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१. राजा अर्थ में[२]

२. ''भद्र'' व्यक्ति के अर्थ में[३]

(ख) सम्राट् शब्द ऋग्वेद में वरुण एवं इन्द्र की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[४]

''साम्राज्य'' शब्द भी उल्लिखित है।[५] ऋग्वेद में इन्द्र को 'एकराट्' कहा गया है।[६]

शतपथब्राह्मण[७] में राजा एवं सम्राट् का अन्तर स्पष्ट है—''राजसूय के सम्पादन से राजा होता है और वाजपेय के सम्पादन से सम्राट्''।

---

१. द्र०, ऋ०वे०,७.६४.२, १.२४.१२, १०.१७३.५।
२. द्र०, ऋ०वे०, १.६५.७, ३.४३.५।
३. द्र०, ऋ०वे०, ९.१०.३, १०.७८.१, १०.९७.६।
४. द्र०, ऋ० वे०, ६.६८.९, ८.१६.१।
५. द्र०, ऋ० वे०, १.२५.१०।
६. द्र०, ऋ०वे०, ८.३७.३।
७. द्र०, श०ब्रा०, ५.१.१-१३।

आचार्य पाणिनि के अनुसार ''सार्वभौम'' का अर्थ है—''सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी''।[१] अमरकोश के अनुसार राजा, पार्थिव, क्ष्माभृत्, नृप, भूत एवं महीक्षित् एक-दूसरे के पर्याय हैं और उनका अर्थ शासक है; किन्तु वह शासक या राजा, जिसके समक्ष सभी सामन्त झुक जाते हैं, अधीश्वर, चक्रवर्ती या सार्वभौम की उपाधि प्राप्त करता है।

क्षीरस्वामी का कथन है कि चक्रवर्ती राजा वह है जो ''राजाओं के चक्र या वृत्त पर राज्य करता है।'' या जो अपनी आज्ञाएँ राजाओं के मण्डल पर चलाता है।

चक्रवर्ती शब्द का प्रयोग सार्वभौम अर्थ के उपरान्त ''ख्याति'' अर्थ में भी आया है।[२] गौतम बुद्ध ने अपने को धर्मचक्र चलाने वाला माना है। नानाघाट अभिलेख में ''अप्रतिहतचक्रम् = चक्रस्य'' शब्द आया है। कौटिल्य ने चक्रवर्ती राजसीमा का इस प्रकार उल्लेख किया है—''समुद्र से लेकर उत्तर में हिमालय तक, जो एक सीधी पंक्ति में एक सहस्र योजन लम्बी है''।[३] कौटिल्य ने ''चतुरन्तो राजा'' अर्थात् पृथिवी की चारों दिशाओं का राजा कहा है। कुछ ग्रन्थों में कुछ चक्रवर्तियों के नाम इस प्रकार है—मान्धाता, धुन्धुकुमार, हरिश्चन्द्र, पुरूरवा, भरत, कार्तवीर्य।

राजनीतिरत्नाकर के अनुसार राजाओं की तीन कोटियाँ होती है—

(क) सम्राट्

(ख) जो कर देता है,

(ग) जो कर नहीं देता (किन्तु सम्राट् नहीं)

राजनीतिरत्नाकर नामक ग्रन्थ ने कई प्रमाणों के आधार पर कहा है कि ''चक्रवर्ती, सम्राट्:, अधीश्वर'', ''महाराज'' शब्द समानार्थक हैं। सम्राट् की उपाधि हेतु राजा राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ करते थे।[४] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चक्रवर्ती शब्द का प्रयोग उस राजा के लिए होता था, जो कि एक अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत भूक्षेत्र का स्वामी हो और अश्वमेध यज्ञ सम्पादनार्थ चक्रवर्तित्व रूप योग्यता का होना अत्यन्त आवश्यक था।

---

१. द्र०, अष्टाध्यायी, ५.१.४१-४२।

२. द्र०, धर्मशास्त्र का इतिहास, समुद्धृत मैत्रायणी उपनिषद् १.४; सामविधान-ब्राह्मण, ३.५.२।

३. द्र०, कौटिल्य अर्थशास्त्र, ९.१।

४. द्र०, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ०६०४-६०८।

चक्रवर्ती के सप्तरत्न [The seven Jewels of a Chakravarti[1]]

While describing a chakravarti emperor the Matsya gives a list of seven jewels with which a chakravarti sovereign is always associated.

चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि पूर्वं स्वायम्भुवेऽन्तरे ।।[२]

As stated here this ideal of chakravarti sovereign was handed down from the remotest antiquity. The seven treasures include the chakra, royal chariot, jewel, queen, treasure, horse and elephant.

चक्रवर्ती एवं सम्राट् लक्षण समन्वय

१. आतपत्रं करे यस्य दण्डेन सहितो भवेत् ।
ध्वजो वा चामरयुतं चक्रवर्ती स जायते ।।[३]

२. चक्रं दक्षिणहस्ते यस्य पद्मकोशस्य पादयोः।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽभिराट् विभुः ।।[४]

३. समास्त्रिणवसाहस्त्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ।
स सम्राट् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम् ।।[५]

४. निजचक्रवर्तिते ।[६]

५. द्वादशमण्डलाधीश्वरः सम्राट् ।[७]

६. येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडथ राजकम् ।।[८]

१. Matsya Puranam by Dr. V.S.Agarwal. Appendix-1, p.390.
२. द्र०, म०पु०, १४२.६३।
३. द्र०, पं० कालिकाप्रसादसंकलितं "सामुद्रिकशास्त्रम्"
४. द्र०, भा०पु०, ९.२०.२४।
५. द्र०, भा०पु०, ९.२०.३२-३३।
६. द्र०, भा०पु०, १.१६.१०।
७. द्र०, रामाश्रमी, २.८.२।
८. द्र०, अमर०, २.८.२।

७. **यस्त्वयं मानवो द्वीपस्तिर्यग्यामः प्रकीर्तितः।**
येनेदं जयते कृत्स्नं स सम्राट् इति कीर्तितः ।।[१]

चक्रवर्ती-क्षेत्र-निरूपण

सम्राट् के लक्षणों में धार्मिकता एवं राजनैतिकता स्पष्ट है; परन्तु चक्रवर्ती के लक्षणों में उसके अधिकार क्षेत्र का निरूपण स्पष्ट है। जो सार्वभौम अर्थात् सम्पूर्ण भूमि का अधीश्वर नहीं है, वह चक्रवर्ती नहीं हो सकता। 'सार्वभौम' एवं 'चक्रवर्ती' दोनों शब्द में अधिकृत क्षेत्र भी निरूपित है, यथा—''**चक्रे वर्तितुं शीलं यस्य इति चक्रवर्ती**''।[२] यहाँ चक्र शब्द का अर्थ विचारणीय है। चक्रवर्ती के पर्याय में सार्वभौम शब्द आया है, जो कि सर्वभूमि का अधीश्वर होता है।

सर्वभूमि = सम्पूर्ण धरती ९०°+९०°+९०°+९०°=३६०° यह जो सम्पूर्ण धरती है, वह आकृत्या चक्रवत् है। इसीलिए इसको पारिभाषिक रूप से ''भूगोल'' कहा जाता है।

अश्वमेध यज्ञ के माध्यन्दिन में, ब्रह्मोद्य[३] कर्म में भी पृथ्वी का चक्राकारत्व = गोलात्मकता संकेतित है।[४] शास्त्रों में भी भूमण्डल-भूचक्र-भूगोल इत्यादि शब्द प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार सर्वभूमि शब्द से सम्पूर्ण ''भूचक्र'' की पृथ्वी का ग्रहण है, जिससे कि समुद्रसहित सम्पूर्ण पृथ्वी के अधीश्वर को ''चक्रवर्ती'' कहा गया है।

महाकवि कालिदास ने भी काव्य-शैली के वर्णन द्वारा ''**आसमुद्र-क्षितीशानाम्**'' पद का प्रयोग किया है। यहाँ पर 'आङ्' का अभिविधि अर्थ मानने पर सार्वभौमत्व = चक्रवर्तित्व सिद्ध होता है। रघुवंश के प्रख्यात टीकाकार श्री मल्लिनाथ सूरि ने ''आसमुद्रक्षितीशानाम्'' अर्थात् ''सार्वभौमाणाम्'' अर्थ किया है।[५]

सम्राट् का पृथिवीपतित्व समुद्रसहित या रहित है—यह स्पष्ट नहीं है; परन्तु सार्वभौम का पृथिवीपतित्व समस्त भूचक्र में विद्यमान होने के कारण सागरसहितत्व स्पष्ट है।

---

१. द्र०, म०पु०. ११४.१५।

२. ''सुपि स्थः'' ३.२.७८ इति णिनिः (द्र०सिद्धान्तकौमुदी)

३. ''पृच्छामि त्वां परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
द्र० तै०सं० ७.४.१८.६; ऋ.वे. १.१६४.३४ य. वे. २३.६१।

४. द्र०, पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदीकृत वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ०१७८।

५. द्र०, रघुवंश प्रथमं सर्ग।

चक्रवर्ती क्षेत्र का विशेष स्पष्टीकरण

चक्रम् = सैन्यम्[1] वर्तयितुम् = सर्वभूमौ चालयितुं शीलं यस्य इति चक्रवर्ती। इस प्रकार चक्रवर्ती क्षेत्र के अन्तर्गत समुद्रसहित सम्पूर्ण पृथ्वी में जिस राजा की सेनाएँ रहती हैं, वह चक्रवर्ती है।

चक्रवर्ती क्षेत्र में नौसेना और भूसेना की विद्यमानता स्पष्ट है। सैन्यनिवेश ही सम्प्रभुता का लक्षण है। किसी भी देश में अन्य देश की सेना सन्धि के बिना नहीं रह सकती; परन्तु वर्तयितुम् = ''चालयितुम्'' यहाँ सैन्य संचालन का उल्लेख है।

जब समस्त भूचक्र पर किसी की सैनिक सत्ता सिद्ध होगी, तब आकाश-मार्ग में भी उसका अधिकार अवश्य सिद्ध होगा, अन्यथा आकाशमार्ग से आक्रमण हो सकता है। अत एव यहाँ पर भूचक्र शब्द से सम्बद्ध आकाशचक्र का भी अधिकार है, तदनुसार स्थल, जल एवं वायु तीनों स्थानों पर जिसका सैनिक अधिकार हो, वह चक्रवर्ती क्षेत्र का स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। चक्रवर्ती क्षेत्र के अन्तर्गत स्थल, जल, नभ तीनों का सम्पूर्ण स्वामित्व अपेक्षित है।

विभिन्न क्षेत्रों का शास्त्रीय प्रमाण

विश्व के इतिहास में राजनैतिक प्रभुसत्ता की उन्नति एवं अवनति के कारण विभिन्न क्षेत्रों की सीमाओं के परिमाण में भी वृद्धि और ह्रास होता रहता है। द्वितीयत: एक राष्ट्र में भी सीमाओं का प्राशासनिक दृष्टि से निरूपण शासनाधीन रहता है, यथा शासन के अनुसार किसी क्षेत्र का एक निश्चित सीमांकन होता है, इसी प्रकार पौराणिक दृष्टि से भी किसी क्षेत्र का एक निश्चित सीमांकन निरूपित है।

आर्ष वाङ्मय में भारतवर्ष, आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, यज्ञीयदेश आदि अनेक विषयों का उल्लेख है, जिनका प्रमाणयुक्त निरूपण किया जा चुका है। पूर्वोक्त क्षेत्रों में प्रथमोक्त भारतवर्ष का राजनैतिक सीमाकरण पुराणोक्त सीमांकन से अत्यल्प है। राजनीतिकरण ने भारतवर्ष को भारतसंघ बना दिया है, पूर्वोक्त चक्रवर्ती क्षेत्र भी राजनैतिक क्षेत्र है; परन्तु पुराणसमर्थित है।

चक्रवर्ती क्षेत्र के प्रमाण निरूपण प्रसंग में पुराणों में कतिपय अश्वमेधयाजी विश्वविजयी सम्राटों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनका शासन क्षेत्र भूगोलीय गणनानुसार चक्रवर्ती अर्थ को प्रकट करता है। इनमें मान्धाता,

---

१. द्र०, 'चक्रं सैन्यरथाङ्गयो:' इति विश्व:, १२९.४९।

धुन्धुकुमार, हरिश्चन्द्र आदि कतिपय भुवनाधिपति सम्राट् हैं, जिनमें मान्धाता का शासन-क्षेत्र निम्नलिखित है—

मान्धाता का शासन-क्षेत्र[1]

आर्ष वाङ्मय में युवनाश्व के पुत्र सकलभुवनाधिपति सम्राट् मान्धाता के अधिकार क्षेत्र का निरूपण करते हुए कहा गया है—

''यावत् सूर्य उदयते यावच्च प्रतितिष्ठति।

सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ।।''

वर्तमान भूगोलीय गणनानुसार पूर्वोक्त क्षेत्र का अर्थ है = ३६०, यह सम्पूर्ण पृथ्वी ही उनका शासन-क्षेत्र था। इन समस्त सीमांकित भूमण्डलों का सम्प्रति भूगोलशास्त्रीय अध्ययन एवं प्रकाशन अप्राप्त है। सम्प्रति राजनैतिक दृष्टि से भी उपर्युक्त सीमांकित क्षेत्रों के अधीश्वर शासकों के अनुरूप उत्तरदायी व्यक्तित्व न होने से इन सबों का अध्ययन बाधित हो रहा है।

विशेष ध्यातव्य विषय

पुराणोक्त विवरणों से यह आभास होता है कि अश्वमेध जैसे महायज्ञ का सम्पादन प्रधानतया सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश के सम्राटों ने ही किया। इन दोनों की राजधानी क्रमशः अयोध्या एवं हस्तिनापुर-आर्यावर्त के अन्तर्गत ही है।

मनुस्मृति के अनुसार हिमालय एवं विन्ध्य का मध्यवर्ती क्षेत्र आर्यावर्त है—''**तयोरेवान्तरं गिर्योः आर्यावर्तं विदुर्बुधाः**''।[2] मनुस्मृति में यह भी स्पष्ट है कि कृष्णसार मृग जहाँ स्वेच्छया उपलब्ध हो, वह यज्ञीयदेश है। सम्भवतः विन्ध्याचल या हिमालय की तराई में यह उपलब्ध हो रहा है।

''**आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमगिर्योः**''[3]

इसमें भी आर्यावर्त को पुण्यभूमि कहा गया है। इन समस्त प्रमाणों की एकात्मकता से आर्यावर्त क्षेत्र ही सम्भवतः अश्वमेध सम्पादक राजाओं की कर्मभूमि थी, यद्यपि उनका अधिकार अतिविशाल था।

पूर्वोक्त कोश वाक्य में पुण्यभूमित्व को यदि अश्वमेध सम्पादनार्हत्व माना जाय, तो उपर्युक्त तथ्य सर्वथा स्पष्ट है।

दक्षिण भारत और अश्वमेध यज्ञ

उपर्युक्त समस्त निरूपणों से एक मननीय विषय यह प्रस्तुत हो रहा है कि दक्षिण भारत में क्या अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कभी हुआ ही नहीं?

---

१. द्र०, पौराणिककोश; २. द्र०, म०स्मृ०, २.२२; ३. द्र०, अमर०, २.१.८।

माननीय महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने अपने 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' नामक रत्नगर्भ ग्रन्थ में 'सूर्यविज्ञान' शीर्षक प्रकरण में अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में लिखा है—''भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त और प्रत्येक देश में यज्ञ होते थे।'' प्रकृत प्रसंगानुसार यहाँ यज्ञ = अश्वमेधयज्ञ ही है कि नहीं, इसकी संगति विद्वानों द्वारा विचारणीय है।[१]

अश्वमेधयज्ञ के प्रथम सम्पादक - मनु, इक्ष्वाकु अथवा पृथु?

वीरप्रसविनी भारतवर्ष भूमि अपनी उर्वरा शक्ति के कारण अनादि काल से अनेक महापुरुषों एवं देवियों की जन्मदात्री है। समस्त रत्नों में उत्तम रत्न है– ''मनुष्य''। भगवान् वेदव्यास के शब्दों में[२]—

''**पुण्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**''।

श्रीमद्भागवत में भी स्पष्ट कहा गया है कि ईश्वर को मनुष्य-सृष्टि करने के बाद ही सृष्टि पूर्ण करने का सन्तोष मिला।[३] इससे स्पष्ट है कि मनुष्यत्व में ही सृष्टि की पूर्णता है। मनुष्यत्व का व्यंजक पदार्थ ''मनुष्य शरीर'' है। इस महती मनुष्य परम्परा के मूल पुरुष महाराज मनु हैं।[४] आचार्य मनु को वैदिक संहिताओं में ऐतिहासिक पुरुष माना गया है।[५]

---

१. द्र०, पं०गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीकृत ''वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'', लेख-''सूर्य-सिद्धान्त'', पृ०१७८।

२. द्र०, महा०भा०, शान्तिपर्व हंसगीता।

३. सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ।। (द्र, भा०पु०, ११.९.२८)

४. (क) ''मानवसृष्टि के प्रवर्तक आदिमनु, जो विराट् अण्ड से प्रकट हुए, द्र०, महा०भा०, आदिपर्व, १.३२।
(ख) वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन् महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ।। (द्र०, रघुवंश प्रथमसर्ग)

५. द्र०, (क) ऋ०वे०, १.८०.१६, ८.६३.१, १०.१००.५।
(ख) अ०वे०, १४.२.४१।
(ग) तै०सं०, १.५.१३, ५.१५.३, ६.७.१, ३.३.२.१, ५.४.१०.५।
(घ) का०सं० ८.१५।
(ङ) श०ब्रा०, १.४.४.१४।

आचार्य मनु

आचार्य मनु से ही मानव परम्परा प्रारम्भ होती है। पुराण वाङ्मय में चतुर्दश मनुओं का उल्लेख है। यथा[1]—

१.	स्वायम्भुव	८.	शैच्य
२.	स्वारोचिष	९.	भौत्य
३.	औत्तम	१०.	वैवस्वत
४.	तामस	११.	मेरु सावर्णि
५.	रैवत	१२.	ऋत
६.	चाक्षुष	१३.	ऋतधामा
७.	सावर्णि	१४.	विष्वक्सेन

पुराणोक्त कालगणनानुसार एक-एक मनु के अधिकार काल को मन्वन्तर कहते हैं। अमरकोश के अनुसार ७१ दिव्ययुग = चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है।[2] सम्प्रति पूर्वोक्त चतुर्दश मनुओं में से वैवस्वत मनु का कार्यकाल चल रहा है। इसलिए इसको 'वैवस्वत मन्वन्तर' कहा जाता है। इसके पूर्व ६ मनु अपना कार्यकाल समाप्त कर चुके हैं।[3] चतुर्दशमन्वन्तरात्मक काल को एक कल्प कहते हैं।[4] प्रसंगानुसार वैवस्वत मनु के विषय में यत्किंचित् विचार प्रस्तुत है—

वैवस्वत मनु[5]

मनु परम्परा में वैवस्वत सप्तम मनु है। विवस्वान् = सूर्यपुत्र होने के कारण वैवस्वत कहा जाता है। ये सम्पूर्ण मानव परम्परा के प्रथम पुरुष हैं। इनके पूर्व तक देव परम्परा थी।

वैवस्वत मनु सूर्यवंश के भी प्रथम पुरुष हैं। सूर्यवंश अनेक अद्भुत कृतियों के लिए प्रसिद्ध है। इस वंश के चक्रवर्ती सम्राट् राजाओं ने अनेक कीर्तिमान् स्थापित किये, जिनका उल्लेख प्रसंगतः किया जाएगा।

---

१. द्र०, (क) भा०पु०, ८.१४.२-१०।
    (ख) ब्र०पु०, ४.२.२.५।

२. "मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानाम् एकसप्ततिः" (द्र०, पौराणिक कोश)।

३. द्र०, वा०पु०, ६२.३.४ पुराणेषु मनूनां नामान्तराणि अपि लभ्यन्ते। यथा—सूर्यसावर्णिः, दक्षसावर्णिः, ब्रह्मसावर्णिः, रुद्रसावर्णिः, धर्मसावर्णिः।

४. द्र०, भा०पु०, ८.१३.३६।

५. विवस्वान् सूर्यः। "भास्वद्-विवस्वत्-सप्ताश्व-हरिदश्वोष्णरश्मयः"। द्र०, अमर० १.३. २९: तस्यापत्यं पुमान् वैवस्वतः = सूर्यपुत्रः।

विश्व को वैवस्वत मनु की देन

अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर सम्पूर्ण विश्व का संचालन एक निश्चित ''विधि'' के द्वारा होता है। इस विधि के अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) राजनीति, (ख) दण्डविधान-नीति, (ग) अर्थविधान-नीति, (घ) कराधान पद्धति, (ङ) स्वराष्ट्र-परराष्ट्रनीति, (च) ऋणादान-नीति, (छ) स्वामी-भृत्य का अंश निर्णय, (ज) चलाचल स्थायी- अस्थायी सम्पत्ति विभाग, (झ) उत्तराधिकारनिर्णय आदि।

इस महत्त्वपूर्ण सर्वमान्य न्यास को 'संविधान' कहा जाता है। भारत को यह असीम गौरव प्राप्त है कि महामहिम श्री मनु महाराज ने विश्व को सर्वप्रथम संविधान दिया। इनका संविधान **मनुस्मृति** नाम से प्रसिद्ध है। मनुस्मृति की अनेक उपलब्धियों को गिनाने में अक्षम होते हुए, उसके प्रयोजन के रूप में दो पक्षों का उल्लेख प्रस्तुत है—

(क) मनुस्मृति की आठ टीकाएँ[1] प्रसिद्ध हैं, जिनका आज भी अवलम्बन किया जाता है।

(ख) बंगभूमि में दायभाग के आधार पर उत्तराधिकार सम्पन्न होता है।

महाराज मनु और अश्वमेध यज्ञ

महाभारत में प्राप्त विवरणानुसार वैवस्वत मनु का अश्वमेधकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता;[2] परन्तु अन्य पुराणविषयक ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है कि वैवस्वत मनु ने मित्र और वरुण के प्रीत्यर्थ एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था।[3] इस प्रकार संसार के इतिहास में अश्वमेध के प्रथम सम्पादक होने का गौरव मनु को प्राप्त है। प्रसंगतः उल्लेख्य है कि भारतप्रसिद्ध अयोध्या नगरी के प्रथम निर्माता महाराज मनु थे। महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में—

''**मनुना मानवेन्द्रेण या स्वयं निर्मिता पुरी।**

---

१. महा०भा०, नामानुक्रमणिका, पृ०२४४-४५।

२. द्र०, पौराणिककोश, पृ०३९८ उद्धृत, वा०पु०, ७०.१८।

३. (क) वैवस्वत मनु की इला नाम की एक पुत्री थी (विष्णुपुराण ४.१.८-१६) जो इनके अश्वमेध यज्ञ के होता के संकल्प व्यतिक्रमवश पुत्र के स्थान पर उत्पन्न हुई। इस वर्णन से भी मनु का अश्वमेधकर्तृत्व सिद्ध है। (द्र०पौराणिककोश) पृ०.५४ वायुपुराणानुसार पूर्वोक्त इन्द्र तथा वरुण के प्रीत्यर्थ सम्पन्न वैवस्वत मनु के यज्ञ से उत्पन्न इला नामक कन्या इन्द्र और वरुण की दत्तक कन्या थी। (द्र०, वा०पु०, ८५.७-१४)

(ख) ''पाकयज्ञेनेजे—मित्रावरुणौ संजग्माते''—श०ब्रा०, १.८.१.७।

(ग) ''अकरोत् पुत्रकामस्तु—मित्रावरुणयोरिभ''। (हरि०पु०, १.१०.३, ७.१)

उक्त विषय का उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है। यथा[१]—

प्रलयकाल में मत्स्य के शृंग में नौका बाँधकर मनु ने जलप्लावन दृश्य का प्रत्यक्ष किया[२]। जिस पर्वत पर नौका बाँधी गई थी, उसे मनोग्वसर्पणम् कहा गया है।[३] स्वयं वेद भी महाराज मनु को प्रामाण्य मानता है—**यद् वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्** ।[४]

इक्ष्वाकु

वैवस्वत मनु के दस पुत्रों में इक्ष्वाकु अन्यतम हैं। इनकी माता का नाम श्रद्धा था। मत्स्यपुराण के अनुसार वशिष्ठ द्वारा इला के स्त्री होने की सूचना पाकर इक्ष्वाकु ने अश्वमेध यज्ञ करके इला को किंपुरुष में परिवर्तित कर दिया था।[५] इससे सिद्ध है कि इक्ष्वाकु भी अश्वमेधकर्ता थे। महाभारत के आश्वमेधिकपर्व के अनुसार वैवस्वत मनु के प्रपौत्र का नाम भी इक्ष्वाकु था।[६]

वैवस्वत मनु (पिता)
|
इक्ष्वाकु (पुत्र)
|
शशाद आदि १००पुत्र (पौत्र)
|
इक्ष्वाकु (द्वितीय) (प्रपौत्र)

पृथु

महाभारत में पृथु के वर्णन प्रसंग में अश्वमेधकर्तृत्व उल्लिखित नहीं है; किन्तु भागवत के अनुसार पृथु ने शताश्वमेध का सम्पादन किया था,[७] ९९यज्ञ

---

१. द्र०, (क) श०ब्रा०, १.८.१.१, (ख) का०सं०, ११.१२ (ग) कुरान, (घ) बाइबिल।

२. द्र०, श०ब्रा०, १.८.१.६।

३. द्र०, तै०सं०, २.२.१०.४।

४. द्र०, (क) म०पु०, १२.१.५।
(ख) म०पु०, ११.४०-६६, १२.१-१४।

५. द्र०, महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व, ४.२-५।

६. "अथाऽदीक्षितराजा तु हयमेधशतेन सः।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ।। (भा०पु०, ४.१४.१)

७. द्र०, (क) भा०पु०, १.३.४, २.८.९, ३.१.२२, ४.१३.२०।
(ख) म०पु०, ४.४४, ८.२.१२।
(ग) वा०पु०, ६२.१२६-१८२,६३ अध्याय।
(घ) वि०पु०, १.१३-३९।

पूर्ण होने के बाद सौवें यज्ञ में इन्द्र के द्वारा विघ्न आने पर पृथु पुत्र ने उस विघ्न का निवारण किया। इससे उनका नाम विजिताश्व हुआ।

पृथु की उपलब्धियाँ

१. सर्वप्रथम पृथु ने ही पृथ्वी को प्रोथित अर्थात् समतल किया था। तात्पर्य यह है कि असमान धरती को निवास योग्य बनाया, जिससे कि शिलान्यास, वास्तुप्रतिष्ठा, कूपप्रतिष्ठा, मन्दिर, चत्वर, मार्ग, शृंगाटक, पान्थशाला, घट्ट, सोपान, प्रासाद, स्तम्भ आदि का निर्माण सम्भव हो सके।

२. पृथु ने कृषि का सर्वप्रथम आविष्कार किया।

३. राज्यव्यवस्था का अधिकृत शासनिक प्रथम सूत्रपात्र किया, इसलिए पुराणकारों ने पृथु को आदिराज कहा है।[1]

४. पृथु के शासनकाल में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की भी शासनव्यवस्था की गई।

५. पृथु ने पृथिवी को कर्षण द्वारा खाद्यान्न उत्पन्न करने योग्य बनाया, जिससे सारी सृष्टि धनधान्यपूर्ण हो गई एवं उत्पादन की अधिकता के कारण अर्थशास्त्रीय विधि निषेधों की प्रतिबद्धता नहीं रही।

६. पृथु के शासनकाल में कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक की अनुपजाऊ भूमि को साफ कर उपजाऊ बनाया गया।[2]

७. विभिन्न वनस्पतियों के सारभूत अनेक प्रकार के रसों का अविष्कार किया, जिसका परवर्तीकालीन ऋषि-देव-गन्धर्व आदि ने अनुकरण किया।

८. पर्वतीय प्रदेशों के प्रस्तर भागों को समतल बनाकर ग्राम, नगर, उप-नगर की स्थापना सर्वप्रथम पृथु के काल में ही हुई।[3]

इस प्रकार मनु, इक्ष्वाकु, पृथु आदि सभी अश्वमेधकर्ता थे; परन्तु इन सबों का अश्वमेधानुष्ठान मुख्यतया अदृष्ट प्रयोजनार्थ ही था; क्योंकि विरोधी

---

१. द्र०, म०पु०, १०.१०-३५।

२. द्र०, भा०पु०, ४.१७-१८ अध्याय।
वि०पु०,१.१३-१९, १.४०-४३।

३. द्र०, भा०पु०, २.८.९, ३.१.२२, ४.१३.२०, १.३.१४, म०पु०, ४.४४, ८.२-१२, वा०पु०, ६२.१२६-१८२, वि०पु०, १.१३-३९।

प्रतिस्पर्धा न होने के कारण लौकिक प्रयोजनपूर्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ अनावश्यक था। इसलिए प्रकृत निबन्ध में इस विषय पर विशेष दृष्टिपात अनपेक्षित है; क्योंकि पूर्व में कथित है कि प्रस्तुत निबन्ध दृष्ट प्रयोजन-निरूपण-परक है।

भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश

अश्वमेध यज्ञ की स्वरूपयोग्यता में क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न अभिषिक्त सम्राट् अपेक्षित है। ऐसा पूर्व में युक्तिप्रमाणपूर्वक निरूपित किया गया है। अतः प्रकृत विषय के ज्ञानार्थ क्षत्रिय राजवंशों का सामान्य परिचय प्रस्तुत है।

यद्यपि सूर्यवंश और चन्द्रवंश—दो क्षत्रिय राजवंश ही प्रसिद्ध हैं; परन्तु आर्ष वाङ्मय में तीन क्षत्रिय राजवंशों का परिचय मिलता है—

क्षत्रियराजवंश

सूर्यवंश चन्द्रवंश अग्निवंश

कविकुलकुलपति महाकवि श्री कालिदास ने भी क्षत्रियों के तीन वंश का ही संकेत किया है। इनकी कालजयी पञ्चसन्धिसमन्वितादि सर्वलक्षणाक्रान्त धीरोदात्त नामक समुन्नति एवं मुग्धानायिका-प्रकृतिपुत्री, कण्वाश्रमकल्पलतिका शकुन्तला के पदविन्यास धन्य अभिज्ञान-शाकुन्तल के प्रथम अंक में नायिकासखी प्रियंवदा राजा से परिचय में पूछती है—

"**कतम आर्येण राजर्षिवंशो अलङ्क्रियते**।"[१]

यहाँ कतमः[२] प्रयोग बहुत में एक के लिए होता है, जो कि बिना तीन के अनुपपन्न है।[३]

मीमांसाशास्त्र में "**कपिंजलान् आलभते**"[४] इस वाक्य में "कपिंजलान्" पद के विचार में बहुवचनसिद्धि के लिए न्यूनातिन्यून त्रित्व संख्या की आवश्यकता को युक्ति-प्रमाण से सिद्ध किया गया है। यही तथ्य "**बहुषु बहुवचनम्**"[५] आदि व्याकरण-सूत्रों पर भी समझना चाहिए।

१. द्र०, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सुरेन्द्रदेवशास्त्री सम्पादित, पृ० ६५।
२. "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्। (५.३.९३)
३. "बहुत्वं त्रित्वपर्यवसायि।
४. द्र०, "कपिंजलाधिकरणमीमांसा।
५. अष्टाध्यायी, १.४.२१।

सूर्यवंश[1]

पुराणों में जितने वंशों का वर्णन है, उन सबका आरम्भ मनु से होता है। मनु की सन्तति होने के कारण सभी मनुष्य "मानव" की संज्ञा से पुकारे जाते हैं। मनुओं की संख्या चौदह है; परन्तु वंश-प्रतिष्ठापक की दृष्टि से दो मनु विशेष प्रभावशाली हैं—

१. स्वायम्भुव प्रथम मनु ब्रह्मा के प्रथम पुत्र तथा पृथ्वी के प्रथम सम्राट् थे।

२. वैवस्वत मनु, सप्तम तथा इस समय प्रचलित मनु। वैवस्वत मनु के वंशजों का विवरण पौराणिक इतिहास का मेरुदण्ड है। आज प्रचलित मन्वन्तर के ये ही अधिपति हैं। मनु सूर्यवंश के प्रथम राजा थे। इस वंश का आविर्भाव बहुत ही प्राचीन काल में हुआ। इसमें अनेक बलशाली तथा कीर्तिमान् सम्पन्न शासक हुए, जिनकी गाथा आज भी हमारा प्रेरणा स्रोत है। ऐसे शासकों में प्रियव्रत, ऋषभ, नाभि, भरत, ध्रुव, भद्राश्व, पृथु आदि अभिषिक्त चक्रवर्ती सम्राट् शासक प्रख्यात हैं। भरत के नाम पर पूर्व में अजनाभ नाम से विश्रुत यह वर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मनु के नव पुत्र हुए, जिनसे निम्नलिखित वंशों की उत्पत्ति हुई—

१. इक्ष्वाकु ज्येष्ठ पुत्र से इक्ष्वाकुवंश

२. नाभानेदिष्ट से प्रधान वंश की स्थापना

३. कारुष द्वारा विशाल साम्राज्य स्थापना

४. धृष्ट द्वारा विशाल क्षेत्र पर विजय

५. नाभाग द्वारा राज्य स्थापना

६. शर्याति द्वारा राज्य स्थापना

७. नारिष्यन्त शक नाम से प्रख्यात।

चन्द्रवंश[2]

मनुपुत्री इला का पौराणिक वृत्त बड़ा विलक्षण है। इला का विवाह सोम (चन्द्र) के पुत्र बुध से हुआ था। इससे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इला से उत्पन्न होने के कारण 'ऐल' कहलाया तथा सोम से उत्पन्न होने के

१. द्र०, पुराणविमर्श।

२. द्र०, "चन्द्रवंश" पं०गिरिधरशर्माचतुर्वेदिकृतं पुराणपरिशीलनम्, पृ० २२६।

कारण चन्द्रवंश का प्रवर्तक हुआ। सूर्यवंश मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु से चलता है और चन्द्रवंश पुत्री इला से। इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुध के साथ सम्पन्न हुआ, इसलिए यह वंश चन्द्रवंश के नाम से प्रख्यात है। इस विवाह से उत्पन्न राजा पुरूरवा ही चन्द्रवंश के संस्थापक के रूप में गृहीत किये जाते हैं।[1] इस वंश के प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् हैं—पुरूरवा, आयु, अमावसु, नहुष, क्षत्रवृक्ष, ययाति, पुरु, यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु आदि।

इसके अतिरिक्त इस वंश में अन्य अनेक ऐतिहासिक कीर्तिमान् वाले प्रतापी राजा हुए, जिनमें शान्तनु, कृष्णचन्द्र, युधिष्ठिर, परीक्षित प्रमुख हैं।

अग्निवंश[2]

संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार क्षत्रियों का एक वंश है, जिसकी उत्पत्ति अग्निकुण्ड से मानी जाती है।[3]

इतिहास, पुराणों में सूर्य एवं चन्द्रवंशों का संक्षिप्त विवरण मिलता है; परन्तु अग्निवंश को वर्तमान पुराण पाठों में यज्ञाग्नियों एवं अन्य भौतिक अग्नियों से सम्मिश्रित करके इस वंश की ऐतिहासिकता नष्ट कर दी गई है। चाक्षुषमन्वन्तर में एक या अनेक अग्निसंज्ञक पुरुष या प्रजापति हुए। एक प्रसिद्ध अग्निपुत्री धिषणा थी,[4] जिसका विवाह चाक्षुष मनु के ज्येष्ठपुत्र से हुआ था, इसके ६ पुत्र हुए, अंगादि "अग्नि" अंगिरा वंश में हुआ, इसी अग्नि के वंश में बृहस्पति आङ्गिरस का जन्म हुआ।[5]

द्वितीय सप्तर्षियों की पत्नियाँ षट् कार्तिकायें भी अग्निवंश में उत्पन्न हुईं, जिन्होंने रुद्रपुत्र कार्तिकेय का पोषण किया।[6] अग्नि अङ्गिरस के सात पुत्र[7] और सात पुत्रियाँ थीं।

---

१. "सोमपुत्राद् बुधाद् राजंस्तस्यां जज्ञे पुरूरवाः। (द्र०डॉ०कुँवरलाल जैन कृत, "पुराणों में वंशानुक्रमिक कालक्रम")

२. द्र०, (क) महा०भा०, आरण्यकपर्व २०७ अध्याय, (ख) मार्क०पु० ५२.२०-२१, (ग) वि०पु०, १.१०.१४-१७, (घ) म०पु०, ५१अध्याय।

३. द्र०, संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ।

४. हविर्धान अग्नि की पत्नी प्राचीनवर्ही आदि पाँच पुत्रों की माता। (द्र०, ब्र०पु०, २.३७.२३-२४; म०पु०, ४.४५; वि०पु०, १.१४.२ (पौराणिककोश)।

५. (क) "उरोस्त्वजनयत्पुत्रान् षडाग्नेयीमहाप्रभान्"। (द्र०, ब्र०पु०, १.२.३३.१०७)
(ख) उतथ्य तथा बृहस्पति नामक दो पुत्र थे। (द्र०भा०पु० ४.१.३४-३५; म.पु. १०२.१९.१०६-१७, पौराणिक कोश)

६. (क) वा०पु०, ४१,३८,४३; (ख) वि०पु० १.१५.११६; (ग) भा०पु०, ४७.६४, ६६.१४; (घ) ब्र०पु०, ४.१५.२१, २०.४६, २६.५३।

७. (क) म०पु०, ४.४३; (ख) वि०पु०, १.१३.६।

तीनों वंशों से सम्बन्धित पौराणिक मान्यता

पुराणों में भारतीय राजाओं के तीन वंश माने गए हैं—सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्निवंश। इन तीन दीप्त पदार्थों के नाम पर क्षत्रियवंश की कल्पना का रहस्य यह है कि सृष्टि में तेज तीन प्रकार का ही प्रसिद्ध है—

१. सूर्य का प्रखर तेज।
२. चन्द्र का शीतल तेज।
३. अग्नि का अल्पस्थान में व्याप्त दाहकता तेज।

इनमें भी मुख्य रूप से सूर्य ही तेज का धन है। चन्द्रमा का तेज मात्र प्रकाश रूप में है, उष्णता उसमें नहीं है, यह प्रकाश भी सूर्य से प्राप्त है। अग्नि में भी तेज सूर्य के सम्बन्ध से प्राप्त होता है।

विष्णुपुराण का कथन है कि सूर्य जब अस्ताचल को जाता है, तो अपना तेज अग्नि को अर्पित कर जाता है, इसलिए अग्नि की धारा रात्रि में दूर से ही दिखाई देती है और दिन में जब सूर्य अग्नि से अपना तेज ले लेता है, तब अग्नि का केवल धूम ही धूम परिलक्षित होता है, दूर से ज्वाला नहीं दिखती।

प्रभा विवस्वती रात्रावस्तं गच्छति भास्करे ।
विशत्यग्निस्ततो रात्रौ बहिर्दूरात् प्रकाशते ।।[1]

यही कारण है कि पुराणों में सूर्यवंश को ही मुख्य माना गया है। चन्द्रवंश और अग्निवंश को उसी की शाखा के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इनमें भी अग्निवंश का वर्णन पुराणों में अत्यल्प ही प्राप्त होता है। महाभारत युद्ध के अनन्तर ही चौहान, सोलंकी, चालुक्य, परमार आदि अग्निवंशियों का प्रभाव इतिहास में दृष्टिगोचर होता है। महाभारत युद्ध तक सूर्यवंश और चन्द्रवंश का ही प्रभाव था।[2]

अश्वमेध के सन्दर्भ में इसके उल्लेख का प्रयोजन यही है कि अश्वमेध याग अभिषिक्त क्षत्रियराजवंशोत्पन्न सम्राट् साध्य होने के कारण विश्व के इतिहास में उपर्युक्त तीन वंशोत्पन्न राजाओं को ही इसके सम्पादन का श्रेय प्राप्त है, जिसके कारण अखण्ड भारतवर्ष का एक पृथक् परिचय, निरतिशय विशिष्टता, अद्भुत पहचान, अनितर साधारण गौरवमय देदीप्यमान महार्हरत्नोपमस्थान प्राप्त है।

अन्तिम अश्वमेध सम्पादक : सम्राट् युधिष्ठिर

अश्वमेध सम्पादन की मृण्मयी शृंखला परम्परा में कुरुवंशीय पाण्डुपुत्र भुवन सम्राट् महाराज युधिष्ठिर का नाम अन्तिम है। यद्यपि युधिष्ठिर-पौत्र महाराज

---

१. द्र०. वि०पु०, २.८.२४; २. द्र०, पुराणपरिशीलनम्, पृ०२२२।

जनमेजय ने भी अश्वमेध सम्पादनार्थ प्रयास किया था; परन्तु वे सफल नहीं हो पाए थे।[१] प्रसिद्धि के अनुसार भी कलियुग में अश्वमेध निषिद्ध है।[२] जैमिनीयाश्वमेध में भगवान् व्यास ने इन्द्र को स्पष्ट कहा है कि कलियुग में यह आहुति दुर्लभ[३] हो जाएगी।[४]

युधिष्ठिरकालीन शासन व्यवस्था अत्यन्त उच्चकोटि की थी। किसी भी विशाल यज्ञ के सम्पादन में शासन व्यवस्था एवं राजा के प्रभुत्व का होना अत्यन्त अनिवार्य है। सम्राट् युधिष्ठिर अजातशत्रु थे और उनके राज्य की अवधि ३६ वर्ष की थी।

युधिष्ठिर अभिषेक

अर्जुन, भीम और युयुधान सात्यकि के बाहुबल से तथा श्रीकृष्ण की अपार नीति और दूरदर्शिता के कारण पाण्डव युधिष्ठिर भारतयुद्ध में विजयी हुए। विजय के पश्चात् युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सिंहासन पर अभिषिक्त हुए। विशाल जनसंहार से वे अत्यन्त व्याकुल थे। व्यासादि विद्वानों ने उन्हें अश्वमेध यज्ञ सम्पादन की अनुमति दी। युद्ध के कुछ मास पश्चात् परीक्षित का जन्म हुआ।

अश्वमेध यज्ञ

अश्वमेध यज्ञ युद्ध के दो वर्ष पश्चात् चैत्र में हुआ।[५] यज्ञीय अश्व की रक्षा का भार अर्जुन पर था। अर्जुन के साथ याज्ञवल्क्य का एक शिष्य भी था।[६] इस अश्वमेध यज्ञ के समय युधिष्ठिर के समकालीन निम्नलिखित राजा थे —

---

१. द्र०, हरि०पु०, भविष्यपर्व।

२. अश्वालम्भनं गवालम्भनं—कलौ पंच विवर्जयेत्। (द्र० निर्णयसिन्धु)

३. अत्र किञ्चित्—अत्र दुर्लभपदप्रयोगात् सर्वथा अलभ्यानिति प्रतिभाति। गणनानुसारं युधिष्ठिराभिषेकः द्वापरकल्योः सन्धिकाले, सर्वथा कलियुगे प्रवृत्ते तु अश्वमेधस्य कलिवर्ज्यतया दुर्लभत्वं स्पष्टमेव। अत्रेदं मननीयम्—भागवते परीक्षितविषये इत्थम् उल्लेखः—

"आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।
सारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः" ।। (भा०पु०, १.१६.३)

इति कथं सङ्गच्छताम्। गणनानुसारं तदानीं कलेः प्रवृत्तत्वाद् इति चेत्। अत्रोच्यते भागवते महाराजेन परीक्षिता स्वमहिम्ना कलेः अवरोधात्। तदुक्तं तत्रैव—

"निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।
नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं तदा ।।" (द्र०, भा०पु०, १.१६.४)

४. व्यास उवाच—

"गृहाणेन्द्र महायज्ञे घनसाराहुतिं विभो।
एहि राज्ञार्पितामेनां दुर्लभामग्रतः कलौ।। (द्र० जैमिनिः, ६४.३१)

५. द्र०, आश्वमेधिकपर्व, ८२.२३, ८३.२८; ६. द्र०, आश्वमेधिकपर्व, ७३.१७।

त्रिगर्त	—	सूर्यवर्मा
प्राग्ज्योतिष	—	वज्रदत्त
सैन्धव	—	सुरथ
मणलूर	—	पाण्डव बभ्रुवाहन
मगधराजगृह	—	मेघसन्धि
चेदि	—	शरभ
दशार्ण	—	चित्रांगद
निषाद	—	एकलव्यपुत्र
द्वारका	—	उग्रसेन
गान्धार	—	शकुनिपुत्र

इनमें से मगध, मेघसन्धि पुराणों का सोमाधि प्रतीत होता है। त्रिगर्तों का सूर्यवर्मा अर्जुन से मारा गया। सम्भवतः धृतवर्मा त्रिगर्त का अधिपति बना।[१]

राजप्रबन्ध

युधिष्ठिर के अष्टादश मुख्याध्यक्ष थे। वे 'कर्मस्थानी' भी कहलाते थे।[२] इनका महाभारत में उल्लेख है।[३] महाबुद्धि विदुर युधिष्ठिर का प्रधानमन्त्री और षाड्गुण्य का चिन्तक था।

धृतराष्ट्र-प्रस्थान

युधिष्ठिर के राज्यकाल के १५ वर्ष पश्चात् धृतराष्ट्र का मन बहुधा उद्विग्न हो जाता था। इसी १५वें वर्ष के अन्त में धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ होने का दृढ़ संकल्प कर लिया।[४]

अर्थशास्त्रविद् बह्वृच् शाम्बव्य

कुरुजांगल राज्य में धृतराष्ट्र और गान्धारी के प्रस्थान की घोषणा कर दी गई, तब प्रीतमना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र राजधानी में एकत्र हुए। उन सबका आगमन सुनकर धृतराष्ट्र अपने प्रासाद से बाहर आए। प्रजावर्ग के सम्मुख धृतराष्ट्र ने एक अत्यन्त करुणाजनक और गम्भीर वक्तृता दी।[५] इतिहास में ऐसी वक्तृताएँ कुछ एक ही हैं। प्रजा के पक्ष से उत्तर का भार अर्थशास्त्र-विशारद बह्वृच् शाम्बव्य पर डाला गया।[६] उसने रूप से अपने कर्तव्य का

१. द्र०, आश्वमेधिकपर्व, ७४.१७-२९; २. द्र०, राजतरङ्गिणी, १.२०।
३. द्र०, शान्तिपर्व, अध्याय ४०; ४. द्र०, आश्रमवासिकपर्व, ३.१३-४०।
५. द्र०, आश्रमवासिकपर्व, ९.१४, १०.१९; ६. द्र०, आश्रमवासिकपर्व, ११.१०-१२।

पालन किया। यह शाम्बव्य बह्वृच् चरण के श्रौत और गृह्ण का प्रोक्ता था। इसका एक वैद्यक ग्रन्थ भी था।

इसके पश्चात् २१ वर्ष तक युधिष्ठिर ने धर्मपूर्वक प्रजापालन किया। तत्पश्चात् कृष्ण का देहावसान और पाण्डवों का नाश सुनकर युधिष्ठिर ने भी महाप्रस्थान का विचार दृढ़ कर लिया। तब निम्नलिखित राजकुमार विभिन्न जनपदों के राजा बनाए गए—

१.	हार्दिक्य (कृतवर्मा का पुत्र)	—	मृत्तिकावत
२.	अश्वपति	—	खाण्डवारण्य
३.	कृष्णपौत्र वज्र (वज्रनाभ)	—	इन्द्रप्रस्थ - मथुरा
४.	परीक्षित	—	हस्तिनापुर

कृष्णपौत्र वज्र

विष्वक्सेन कृष्ण और सत्यभामा के नौ पुत्र और चार कन्यायें थीं।[1] इनमें से एक पुत्र अश्व था। इस अश्व का युधिष्ठिर-कन्या सुतनु से विवाह हुआ।[2] अश्व और सुतनु का पुत्र वज्र था। कृष्ण और अर्जुन का वंशवृक्ष इस प्रकार है।[3]

कृष्ण	अर्जुन
|	|
अश्व	अभिमन्यु
|	|
वज्र	परीक्षित
|	|
प्रतिबाहु	जनमेजय
|	
सुचारु	

जनमेजयकर्तृक अश्वमेधाभास

प्रामाणिक दृष्टिकोण से विचार करने पर हमारा पूर्वोक्त तथ्य सर्वथा सुदृढ़ है कि सम्राट् युधिष्ठिर अश्वमेध के अन्तिम सम्पादक थे। इसके बाद आज तक पाँच हजार वर्ष से अधिक समय तक अश्वमेध का वैधानिक सम्पादन नहीं हुआ है।

यहाँ यह विचारणीय है कि धन-जन-बल आदि के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति, किसी समय कहीं पर भी अश्वमेधानुष्ठान कर सकता है। यह महायज्ञ

१. द्र०, वा०पु०, ९६.२३८-२४०; २. द्र०, वा०पु०, ९६.२५०-२५१।

३. एतत्सर्वं द्रष्टव्यम्—पं० भगवद्दत्तकृत "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास", पृ० २२५-२२६।

केवल दृष्ट अथवा अदृष्ट प्रयोजन के लिए नहीं है, अपितु उभयसाधक है, इसलिए इस विषय में आर्ष-शास्त्रोक्त कालिक, देशिक एवं अधिकारी सम्बन्धी समस्त विधि-निषेध मान्य हैं।

अत: धन-जन-बल-प्रभावादि लौकिक योग्यतानुसार कहीं भी, कभी भी, किसी को भी उक्त महायज्ञ के अनुष्ठान करने पर उससे लौकिक ख्याति, मान-प्रतिष्ठा, यश आदि कुछ काल के लिए अवश्य ही प्राप्त हो जाय; परन्तु एतावता उससे अश्वमेध सम्पादन का फल प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि अभिषिक्त सार्वभौम, क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न एवं कलियुग प्रवृत्ति के पूर्व अनुष्ठित होने से ही वह अश्वमेध महायज्ञ कहलाएगा।

उपर्युक्त निरूपण के होते हुए भी 'अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं कारणम्'' नीति के अनुसार कतिपय अश्वमेधाभासों का उल्लेख इस प्रकार है—

महाराज युधिष्ठिर के बाद उनके प्रपौत्र, अभिमन्यु के पौत्र, परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय ने सर्पसत्र का सम्पादन करने के बाद अश्वमेध-यज्ञ[१] करने का निश्चय किया; परन्तु उस समय कलियुग को प्रवृत्त हुए दो पुरुष व्यतीत हो चुका था और परिक्षित के बाद उसका प्रभाव भी बढ़ने लगा था। अत: दूरदर्शी महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने स्पष्टत: इसका निषेध किया था।[२] इसके बाद भी जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था;[३] परन्तु उसको पूर्ण करने में असफल रहे थे। भगवान् व्यास ने वहाँ पर स्पष्ट कहा था कि भविष्य में कलियुग में सेनानी नामक काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण अश्वमेध का अनुष्ठान करवायेगा।[४]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जनमेजय का अनुष्ठान भी अपूर्ण एवं असफल होने से अश्वमेधाभा मात्र ही हुआ। हरिवंशोक्त भविष्यवाणी के अनुसार अवश्य ही कलियुग में विभिन्न राजाओं द्वारा अश्वमेध नाम से कुछ अनुष्ठान किये गये थे; क्योंकि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तात्कालिक राजनैतिक स्थिति विचार करने पर यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है कि ऐसे समस्त अनुष्ठानों के अधिकारी सार्वभौम क्षत्रिय सम्राट् नहीं थे। अवश्य ही भारतवर्ष के तात्कालिक अन्य राजाओं की अपेक्षा, अश्वमेध यज्ञ सम्पादक राजागण अधिक प्रभावशाली, वीर, धनसम्पन्न भूमिपति रहे होंगे।

---

१. हरि०पु०, भविष्यपर्व, २.४;
२. हरि०पु०, भविष्यपर्व, द्वितीय अध्याय।
३. हरि०पु०, भविष्यपर्व, पंचम अध्याय;
४. हरि०पु०, भविष्यपर्व, २.५०।

चतुर्थ परिच्छेद

विश्वविजयाध्याय

पौराणिक जम्बूद्वीप का निरूपण

अश्वमेध महायज्ञ में विश्वविजय सर्वाधिक प्रयोजनास्पद अङ्ग है। यह कार्य जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वमूलक अखण्ड एकतात्मक आर्यराज्य की पारम्परिक स्थिति के लिए सर्वथा आवश्यक है, अत एव अश्वमेध के लौकिक, राजनैतिक तथा भौगोलिक पक्ष को समझने के लिए आर्ष वाङ्मय की दृष्टि के अनुसार विश्व मानचित्र का अनुशीलन अपेक्षित है।

आर्ष परम्परा में विश्व मानचित्र के लिए भूगोल अथवा ''भुवनकोश''[1] शब्द का व्यवहार किया जाता है। कहीं-कहीं इसके लिए पद्मपत्रादि का रूपक भी प्रस्तुत किया जाता है।

यत: अश्वमेध में विश्वविजय अपेक्षित है। अत: तत्सन्दर्भ में आर्षवाङ्मय-स्वीकृत ''भुवनकोश'' या ''विश्वमानचित्र'' का संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत है—

आर्षवाङ्मय के अनुसार इस पृथ्वी[2] अथवा भूगोल या भुवनकोश में सात[3] द्वीप[4] हैं—

१. जम्बू २. प्लक्ष[5] ३. शाल्मली ४. कुश ५. क्रौंच ६. शाक ७. पुष्कर।[6]

---

१. भुवनस्य ''कोश'' इव भूगोले। (द्र०, वाच०)

२. ''रविचन्द्रमसोर्यावन् मयूखैरवभासते। ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ।।
यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डलम् । नभस्तावत् प्रमाणं हि विस्तारपरिमण्डलम् ।।
(मधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृते ''जगद्गुरुवैभवम्'' ग्रन्थे समुद्धृतं विष्णुपुराणवचनम्)

३. सप्तद्वीपा वसुमती.....। (द्र०, महाभाष्यपस्पशाह्निकम्)

४. ''द्विरापत्वात् स्मृता द्वीपाः''। (द्र०, वा०पु०, ४९.१३१, म०पु०, २३.३५)
व्याकरणानुसारं द्वीपशब्दस्य व्युत्पत्तिः ''द्व्यन्त उपसर्गेभ्योऽप ईत्'' द्विर्गता आपो यस्मात्।

५. महर्षिपतञ्जलिकृत-योगदर्शनस्यव्यासभाष्ये उक्तम्—''ततश्च द्विगुणाः द्विगुणाः शाक-कुश-क्रौंच-शाल्मल-गोमेध-पुष्कर-समुद्राश्च...इति'' (३.२६)। अत्र द्वीपविशेषस्य नाम गोमेधेति

प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य श्री भास्कराचार्य[1] के मतानुसार पृथ्वी के अर्धभाग में समुद्रों से आवृत जम्बूद्वीप है और शेष अर्धभाग में अवशिष्ट छः द्वीप हैं।

उपर्युक्त सातों द्वीप सप्तसमुद्रावृत हैं[2]। यथा— (देखें पृ.सं.-११६ तालिका-संख्या ८,९)—

१. लवणसमुद्र, २. इक्षुरस-समुद्र, ३. सुरासमुद्र, ४. घृतसमुद्र, ५. दधिसमुद्र, ६. दुग्धसमुद्र, ७. जलसमुद्र।

विश्वविजय एवं अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान

अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान के सन्दर्भ में अश्वमेधयाजी चक्रवर्ती सम्राट् होता था। उसका अधिकार-क्षेत्र सम्पूर्ण भूमण्डल होने से वह सार्वभौम एकराट् होता था, तथापि वह भारतवर्षीय होता था। वह भारतवर्ष, जम्बूद्वीप के अन्तर्गत है। भारतवर्ष एवं वर्तमान भारतसंघ (INDIA) दोनों का विश्व मानचित्र में पृथक् स्थान है। भारतवर्ष व्यापक है और भारतसंघ व्याप्य है। प्रस्तुत अध्याय में पौराणिक जम्बूद्वीप, पौराणिक भारत (देखें परिशिष्ट, मानचित्र संख्या-८) एवं वर्तमान भारतसंघ (देखें, परिशिष्ट, मानचित्र संख्या-९) का प्रधानरूपेण निरूपण किया गया है। समस्त भौगोलिक विवेचन का तात्पर्य यही है कि अश्वमेध के द्वारा न केवल भारतसंघ मात्र की, अपितु समग्र भारतवर्ष की ही नहीं, उपद्वीपादि सहित सम्पूर्ण जम्बूद्वीप जन्म प्रभृति आनुवंशिक एकता एवं अखण्डता के उत्तरदायित्व की पूर्ण स्थापना के लिए ही, अभिषिक्त क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न अश्वमेध अधिकारी सम्राट् द्वारा विश्वदिग्विजय की महनीय परम्परा का सम्पादन किया गया है।

उक्तम्। क्वचिद् मगधेति पाठान्तरं दृश्यते। वस्तुतो गोमेधमगधपाठौ भ्रष्टौ। समीचीनपाठस्तु गोमेद इति। इदं नामैव बहुषु पुराणेषु आगमेषु शास्त्रान्तरेषु च पठ्यते। गोमेदद्वीपस्य प्लक्षद्वीपेति नामापि पुराणादिष्वभिधीयते।

द्र०, (क) मृगेन्द्रतन्त्रम्, १.१३.३५, (ख) परमसंहिता, २६.१० , (ग) स्कन्दपुराण (रेवाखण्ड) १७२.६०, (घ) वशिष्ठसंहिता, ५.६, (ङ) योगवा० (उत्पत्ति), ७३.५४, (च) विन्दुयोग, पृ० ४९ (छ) स्कन्दपुराण (कुमारिका) २६। गोमेदनामकपर्वतत्वाद् द्वीपोऽयं गोमेद इत्युच्यते, हेत्वन्तरमपि दर्शितम्। द्र०, नीरक्षरविवेक, लेखक-डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, गाण्डीवं संस्कृत-साप्ताहिकम्, १४-२२ मई, १९८६।

६. द्र०, (क) ब्र०पु०, ३.२७.७१, (ख) म०पु०, ११३.४-५, १२३.३५।

१. ज्योतिषाचार्यपरम्परायां द्वौ भास्काराचार्यौ बभूवतुः, तत्र प्रथमभास्कराचार्यवर्यैः इदं समुदलेखि द्र०, भास्कराचार्य, ''भूगोलाध्यायः''।

२. द्र०, (क) भा०पु०, ४.२१.१२, ८.१९.२३, (ख) ब्र०पु०२.१९.१३६।

तालिका संख्या–८

सप्तसमुद्र

पौराणिक नाम एवं वर्तमान नाम

इक्षुरससमुद्र	सुरासमुद्र	सर्पिसमुद्र	दधिमण्डसमुद्र	क्षीरसागर	स्वादूदक	लवणसमुद्र
सीमोर	अटलाण्टिक	हडसन	अण्टार्कटिक	ह्वाइट	रमसागर	इण्डियन ओशन
SIMOR	ATLANTIC	HUDSON	ANTARCTIC	WHITE	MEDITERRANEAN SEA	INDIAN SEA

तालिका संख्या-९

द्वीप एवं तदावृत समुद्र-तालिका[१]

जम्बूद्वीप	प्लक्षद्वीप	शाल्मलीद्वीप	कुशद्वीप	क्रौञ्चद्वीप	शाकद्वीप	पुष्करद्वीप
१	२	३	४	५	६	७
लवणसमुद्र	इक्षुरससमुद्र	सुरासमुद्र	घृतसमुद्र	दधिसमुद्र	दुग्धसमुद्र	जलसमुद्र

१. (क) एते द्वीपाः सप्तसप्तभिरावृताः। लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलैः समम्।। (द्र०, वाचस्पत्यम् समुद्धृत वि०पु०)

(ख) "अहो भुवः सप्त समुद्रवत्याः"। (द्र०, भा०पु० ५.६.१३)

जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीप (द्र०, तालिका संख्या-१०)—

जिन मूर्धाभिषिक्त, जन्मप्रभृति आनुवंशिक अखण्ड आर्य साम्राज्य की एकता परम्परा स्थिर करने के लिए महामहिम आर्य राजाओं ने अश्वमेध के माध्यम से अद्भुत ऐतिहासिक मानदण्ड स्थापित किया, उनका कर्मक्षेत्र सम्पूर्ण विश्व होने पर भी, जन्म-भूमि अवश्य ही भारतवर्ष थी। वह भारतवर्ष जन्बूद्वीप के अन्तर्गत है।[१] अत एव पौराणिक जम्बूद्वीप का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(क) कहीं पर इन्द्रद्वीपादि नौ उपद्वीप।[२]

(ख) कहीं पर स्वर्णप्रस्थ आदि आठ उपद्वीप।[३]

तालिका संख्या–१०

उपद्वीपतालिका

जम्बूद्वीप के उपद्वीप	**भारतवर्ष के उपद्वीप**
१. स्वर्णप्रस्थ	१. इन्द्रद्वीप
२. चन्द्रशुक्ल	२. नागद्वीप
३. आवर्तन	३. सौम्य
४. नारमणक	४. गान्धर्व
५. मन्दरहरिण	५. वारुण
६. पांचजन्य	६. कसेरुमान
७. सिंघल	७. गभस्तिमान
८. लंका	८. ताम्रपर्ण
	९. कुमारिका

इस प्रकार पुराणों में जम्बूद्वीप के उपद्वीपों के सम्बन्ध में आपाततः विरोध प्रतीत होता है; परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। इन्द्रद्वीपादि नौ उपद्वीप पौराणिक भारतवर्ष के हैं (न कि वर्तमान भारतसंघ मात्र के), स्वर्णप्रस्थ आदि आठ उपद्वीप जम्बूद्वीप के हैं। भागवतकार के शब्दों में—"**जम्बूद्वीपस्य च राजन्! उपद्वीपान्**

---

१. पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपो सदेज्यते।
तेनाऽपि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।। (वाच० समुद्धृतं विष्णुपुराणे)

२. द्र०, ब्रह्म-मार्कण्डेय-स्कन्द-मत्स्य-पुराणेषु भुवनकोशवर्णनप्रसंगाः।

३. भा०पु०, पंचमस्कन्ध।

४. द्र०, इन्द्रविजयः (मधुसूदन-ओझाः)।

अष्टौ हि क उपदिशन्ति, तद्यथा—(क) स्वर्णप्रस्थः, (ख) चन्द्रशुक्लः, (ग) आवर्तनः, (घ) नारमणकः, (ङ) मन्दरहरिणः, (च) पांचजन्यः, (छ) सिंघलः, (ज) लंका इति।[1]

श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति के शब्दों में उक्त द्वीपों का वर्तमान स्पष्टीकरण :

(क) स्वर्णप्रस्थ

इसके अन्तर्गत सात स्थान हैं—

१. बोर्नियो २. जावा द्वीपसंघ ३. सुमात्रा ४. सिंहपुर ५. पीनाङ्ग ६. निकोबार ७. अण्डमान।

यह भारतीय उपद्वीप संघ ही जम्बूद्वीप का स्वर्णप्राचुर्य उपलब्धि के कारण स्वर्णप्रस्थ है। स्थिति– उत्तरी अक्षान्तर १०°-१६°, उत्तर-पूर्व देशान्तर १०°-२५°।

(ख) चन्द्रशुक्ल

फिलीपाइन द्वीपसंघ, वेदवर्णित पणिसमूह द्वारा गन्धर्वराज चन्द्र को भेंट किये जाने से चन्द्रशुक्ल नामकरण हुआ। स्थिति — उत्तरी अक्षांश १०°-१८°, उत्तर-पूर्व देशान्तर ३०°।

(ग) आवर्तन[2]

वर्तानिया ब्रिटेन, इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड आदि। स्थिति — उत्तरी अक्षांश ५१°-५८°। उज्जयिनी से पश्चिम देशान्तर-७५°-८०°।

(घ) नारमणक

नार्वे स्वीडन। स्थिति — उत्तरी अक्षांश ५९°-७०°, उज्जयिनी से पश्चिम देशान्तर ४५°-७०°।

(ङ) मन्दरहरिण

नोवाया जैमलिया। स्थिति– उत्तरी अक्षांश ७१°-७८°, उत्तर-पश्चिम देशान्तर २३°।

(च) पांचजन्य

जापान द्वीपसंघ—

१. संघालियन, २. जेसो, ३. निफोन, ४. सिकोप, ५.क्यूसू।

१. द्र०, भा०पु०, ५.१९।

२. आवर्तन वर्तानिया इति। अत्र किञ्चित्—आवर्तन इत्यस्माद् आङ् इत्युपसर्ग विहाय वर्तन इत्यस्माद् वर्तानिया-ब्रिटेनिया इत्यादि शब्दाः प्रचलन्ति। तत्रेत्थं विचार्यते वैयाकरणसिद्धान्तानुसारम् उपसर्गाणां द्योतकत्वेन स्वतन्त्रार्थोपस्थापकत्वाभावाद् वर्तन इत्यस्यैव आवर्तन इत्यर्थः। (द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणम्, उपसर्गनिपातार्थनिर्णयप्रकरणम्, पं० मनुदेवभट्टाचार्यसम्पादितम्)

स्थिति — पांचजनसमुदायात्मक. उत्तरी अक्षांश ५५-३०, उत्तर-पूर्व देशान्तर ४०।

(छ) सिंघल

सिलोन। स्थिति—उत्तरी अक्षांश ६ - ८, उत्तर - पूर्व देशान्तर ५।

(ज) लंकाद्वीप

लक्के द्वीप मालद्वीप। स्थिति—उत्तरी अक्षांश १-१२, उत्तर-पश्चिम देशान्तर ५।

सम्पूर्ण भूगोल का दो भाग है—१. पूर्वी गोलार्द्ध, २. पश्चिमी गोलार्द्ध। पूर्वी गोलार्द्ध ही वर्तमान जम्बूद्वीप है। पूर्वी गोलार्द्ध के केन्द्रस्थल में हिरण्यशृंग पर्वत से निकलकर, पश्चिम दिशा में बहती हुई— "अरल समुद्र" में गिरने वाली जो नदी है, उसे वेद में "यक्षु" कहा गया है।

इसी का अपभ्रंश रूप "अक्सस" है। पौराणिक वाङ्मय में इसी को 'जम्बू' कहा गया है, जो कि "अमू (दरिया)" के रूप में अपभ्रंश हुआ।

इसी प्रकार पूर्वोक्त जम्बू नदी से विभूषित पामीर प्रान्त ही प्राचीन काल में पूर्वी गोलार्द्ध का प्रधान एवं समृद्धतम केन्द्रीय प्रान्त था। पामीर का शुद्धरूप 'प्राङ्मेरु'' है। तत्रत्य निवासी भूस्वर्गवासी की मान्यतानुसार "देव" शब्द से कहे जाते थे। वहाँ उनका साम्राज्य था एवं पूर्वी गोलार्द्ध सम्पूर्ण जम्बूद्वीप से प्रसिद्ध था। वर्तमान विश्वमानचित्र में सम्पूर्ण युरेशिया (उपद्वीप सहित यूरोप एवं एशिया) पूर्वी गोलार्द्ध है। कतिपय विद्वान् अफ्रीका और आस्ट्रेलिया को भी इसी में सन्निविष्ट करते हैं। विद्यावाचस्पति के मतानुसार यह युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि सकोत्रा-मदगास्कर प्रभृति अफ्रीका के उपद्वीप एवं पापुआ आदि आस्ट्रेलिया के उपद्वीप, जम्बूद्वीप के उपद्वीपों के रूप में परिगणित नहीं हैं। इसलिए आज भी "भारतीय उपमहाद्वीप" संघ को "इण्डियन आर्किपैलेगो" कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न है, कि इस जम्बूद्वीप का नाम पूर्वनिर्णीत जम्बू नदी (वैदिक यक्षुस्, वर्तमान OXUS) के आधार पर हुआ। इस सन्दर्भ में पुराणों में सर्वत्र जम्बूद्वीप का वर्णन स्पष्ट है। आक्सस (यक्षु नदी) "हिरण्यशृंग" पर्वत से निकली है। सम्भवत: यह वर्तमान "काराकोरम" पर्वत है। जैसे ऋग्वेद[1] में हिरण्यवर्णा शब्द वहीं के अर्थ में आया है—

"**तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्ती हिरण्यवर्णाः परियन्ति यह्वी**"।

---

१. ऋ.वे. २.३५.९।

इस प्रश्न का समाधान स्पष्ट है—

(क) अवश्य ही यह कालिक वर्णन है। पुराणनिर्माणकाल में वहाँ जम्बू फल की अधिकता रही होगी। इसलिए वेदप्रसिद्ध "यक्षुस्" नाम को छोड़कर "जम्बू" नाम प्रसिद्ध हुआ। व्यवहारात् शक्तिग्रह के आधार पर वही नाम प्रसिद्ध हो गया, जैसे कि वेद में ईश, ऊर्ज, नभस्य, तपस्, सहस, सहस्य, मधु, माधव आदि द्वादश मासों के नाम हैं, जो कि प्रकृतिविज्ञान एवं पर्यावरण के आधार पर हैं; परन्तु बाद में गणितशास्त्रीय दृष्टिकोण से वैशाख, ज्येष्ठ आदि प्रसिद्ध हो गये। इसी प्रकार जम्बू शब्द के विषय में भी विवेचनीय है।

(ख) भारत के उत्तरी खण्ड में बदरी क्षेत्र प्रसिद्ध है। बदरी = बेर, बदरी फल की बहुलता के कारण इस क्षेत्र का 'बदरी क्षेत्र' नाम पुराणसिद्ध है। इस क्षेत्र की बदरबहुलता इसी से अनुमेय है कि बदरी क्षेत्र, बदरीधाम के साथ-साथ स्थानीय देवता का नाम भी *बदरीनाथ* है। इस क्षेत्र में भगवान् वेदव्यास का आश्रम था। महाभारत के अनुक्रमणिका पर्व के अनुसार महाभारत की रचना यहीं हुई थी। इसी के कारण आचार्य का नाम '*बादरायण*', पुत्र का नाम '*बादरायणि*' हुआ। ब्रह्मसूत्र भी "*बादरायणसूत्र*" कहा गया। ब्रह्मसूत्र में ही एक अन्य आचार्य "*बादरि*" भी उल्लिखित हैं। इन विभिन्न साक्ष्यों के उपलब्ध होने पर भी सम्प्रति उत्तराखण्ड की प्रसिद्धि बादर = बेर के कारण नहीं है। अत एव उक्त उल्लेख भी तात्कालिक है।

(ग) यहाँ पर यदि सांकेतिक भाषा में बदर का प्रयोग किया जाय, तो रहस्य स्फुरण होगा। संस्कृत में समस्त शास्त्र आयत्त होने पर दो उपमाएँ दी जाती हैं[१]—

१. करबदरवत्, २. करामलकवत्।

---

१. अनयोः प्रथमस्य प्रयोगो यथा—

काणादं गौतमीयं मतमुदयनदिङ्नागमिश्रादिकाना-
माङ्गैरासार्वभौमं मतमपि रघुनाथस्य चान्यस्य सर्वम् ।
क्रोडं गादाधरं वा कठिनतरमथो माथुरं जागदीशम्
इत्येवं न्यायशास्त्रं करबदरमिवाभाति येषां समग्रम् ।।

कृष्णवल्लभाचार्यः, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-कारिकावली, समर्पणश्लोकः।

इसमें करबदरवत् की अपेक्षा करामलकवत् का प्रयोग प्रशस्ततर है; क्योंकि '*करस्थ बदर*' की अपेक्षा '*करस्थ आमलक*' दर्शन स्पष्ट है। आमलक में मध्यस्थ पदार्थ भी बाहर से ही भासित होता है। आमलक का गुणातिशय भी सिद्ध है। अन्यत्र बदर, आमलक की अपेक्षा लघु है, उसमें सार कम है, अन्तस्थ पदार्थ का दर्शन भी नहीं होता। अत एव शास्त्रायत्तता के लिए 'करामलक' शब्द ही युक्त है। आदि-शंकराचार्य के प्रसिद्ध चार शिष्यों में अन्यतम आचार्य का नाम हस्तामलकाचार्य ही है।

इस दृष्टि से भी समस्त शास्त्र की आयत्तता को सिद्ध करने के लिए क्षेत्र विशेष का नाम बदर शब्द घटित होना मान्य नहीं है। जिस प्रकार सम्प्रति बदरबहुलता न होने पर भी बदरीधाम ही कहे जाते हैं, उसी प्रकार जम्बू नदी के विषय में भी समझना चाहिए।

(घ) हिरण्यशृंग पर्वत का नाम भी पदार्थदृष्टि से स्वर्णयुक्त होने के कारण अथवा सूर्यकिरणादिसम्पर्कात् हो सकता है। स्वर्ण का एक अभिधान जम्बूनद है। सम्भवत: उसी के कारण, जैसे कि हिमालय से उद्भा-वित गंगा हैमवती, ब्रह्मदेश सम्पर्क के कारण ब्रह्मपुत्रादि आलंकारिक नाम प्रसिद्ध हैं।

सप्तद्वीपा वसुमती का चतुर्दलपद्माकर रूप (देखें पृ.सं.-१२२, १२३, तालिका संख्या-११,१२)—

सप्तद्वीपा वसुमती प्रसिद्ध है। पृथ्वी का चतुर्दलपद्माकर रूप भी विख्यात है (देखें परिशिष्ट चित्र संख्या-९)। प्रश्न है कि एक ही तत्त्व का विभिन्न विभागों में निरूपण क्यों किया गया है?

यद्यपि किसी भी वस्तु का निरूपण विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। इसी प्रकार पृथ्वी के विषय में भी "सप्तद्वीपा वसुमती, चतुर्दलपद्माकर पृथ्वी"[१] एवं क्वचित् अष्टादशद्वीपा वसुमती का भी उल्लेख है।[२] पृथ्वीविषयक संख्या-भेदात्मक विभाग का कारण भौगोलिक है। जिस प्रकार ९०°+९०° अक्षांश के आधार पर भूगोल को चार भागों में विभाजित किया गया है, उसी के आधार पर पृथ्वी के भी चार विभाग हैं।

---

१. "तदेतत् पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम्।" (द्र०, मार्क०पु०)

२. "यथा अष्टादशद्वीपनिखातयूप:"।

तालिका संख्या-११

चतुष्पत्री भुवनपद्म[1]

७. वटवृक्ष
६. मत्स्य भगवान्
५. महाभद्र सरस्
४. सावित्र वन
३. सोमा नदी
२. श्रृंगी पर्वत
१. उत्तरकुरु

१. केतुमाल
२. ऋषभपर्वत
३. चक्षु नदी
४. वैभ्राजवन
५. शीतोद सरस्
६. वराह भगवान्
७. अश्वत्थवृक्ष

१. भद्राश्व
२. देवकूटपर्वत
३. सीता नदी
४. चैत्ररथवन
५. अवृणोद सरस्
६. हयग्रीव भगवान्
७. भद्रकदम्ब वृक्ष

१. भारतवर्ष
२. कैलाशपर्वत
३. अलकनन्दा
४. नन्दनवन
५. मानस सरस्
६. कच्छप भगवान्
७. जम्बूवृक्ष

---

१. द्र० 'Matsya Purana A Study, by Dr. V.S.Agarwal वि०पु०, २.२; भा०पु०, पञ्चमस्कन्ध, १६ अध्याय। द्र०, पुराणविमर्श, आ० बलदेव उपाध्याय।

तालिका संख्या–१२

चतुष्पत्री भुवनपद्म[1]

उत्तरकुरु (शृंगीपर्वत)

|

हिरण्मय (श्वेतपर्वत)

|

रम्यक (नीलपर्वत)

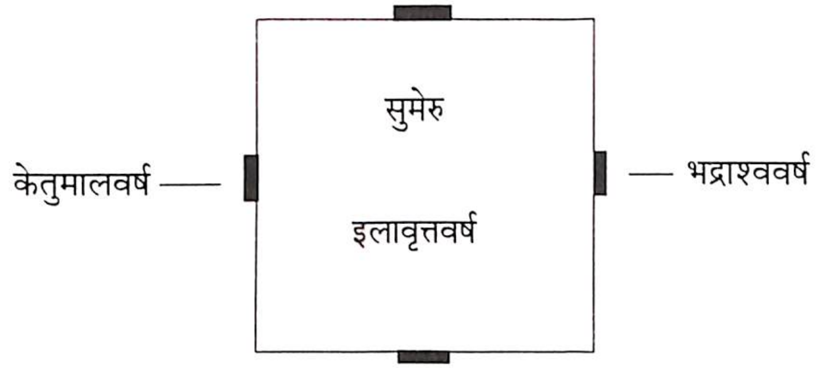

हरिवर्ष (निषधवर्ष पर्वत)

|

किंपुरुषवर्ष (हेमकूट)

|

भारतवर्ष (हिमालय)

---

१. द्र०, वि०पु० अंश-२ अध्याय-२, भा०पु०, पञ्चमस्कन्ध, अध्याय १६, देवी०भा०पु०, स्कन्ध ८, द्र०, पुराण-विमर्श, आ० बलदेव उपाध्याय, पृ०३३०।

प्रकृत प्रसंग में भौगोलिक ९०°+९०° अक्षांश के विषय में वैदिक दृष्टिकोण का संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत है—

वेद में एक प्रसिद्ध मन्त्र है[1]—

''स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।''[2]

मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। मन्त्र का सायणादि भाष्यकारों की रीति में प्रसिद्ध अर्थ है कि यशस्वी या धनप्रदाता इन्द्रदेव कल्याणकारक हो, सर्वज्ञाता अथवा संवर्धनयुक्त पूषा देवता भी शुभकारक हो। जिसके प्राण पक्षादि कभी नष्ट नही होते, ऐसे ताक्ष्र्य शुभप्रद हों और बृहस्पति भी हमारे लिए कल्याण को पुष्ट करें।

वेद सभी प्रकार के विज्ञान की निधि है, विभिन्न श्रेणी के अधिकारों को स्व-स्व अधिकार के अनुरूप सब प्रकार की शिक्षा देना, वेद का ही महत्त्व है। उच्च कक्षा के अधिकारी जब इसका मनन करेंगे और विचार करेंगे कि इन्द्र, पूषा, ताक्ष्र्य, बृहस्पति इन समष्टि रूप से मन्त्र में कथन का क्या तात्पर्य है, तब अंगों की सहायता से उन्हें यहाँ एक विचित्र चमत्कार प्रतीत होगा। इस मन्त्र में तारा सम्बन्धी विज्ञान निहित है।

भूगोल-शिक्षा, जिस प्रकार भूमि को कई भागों में विभक्त कर सुगम करती है, उसी प्रकार मान्य महर्षियों ने शिक्षा की सुगमता हेतु खगोल के भी अनेक कल्पित भाग किये हैं। सम्पूर्ण खगोल के ३६०° कल्पित अंश हैं, इनमें ३०° -३०° एक-एक मेष-वृषादि राशि बनाकर १२ भागों में सम्पूर्ण खगोल को बाँटा गया है।

द्वितीय विधि से १३ अंश २० कला का एक भाग मानकर २७ भाग खगोल के किये जाते हैं, जिनको अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्र कहते हैं। इन २७ भागरूप नक्षत्रों में से सप्तनक्षत्रों पर खगोल का एक चतुर्थांश (९०°) पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार ९०°-९०° अंश रूप ४ खगोल के भाग इस मन्त्र द्वारा वर्णित हैं।

---

१. द्र०, १. ऋ०वे०, १.८९.६, २. य०वे०, (शुक्ल), २५.१९, ३. सा०वे०, १८.७५, ४. तै०आ०, १.१.१, १.२१.३, १०.१.९।

२. ''स्वस्ति न इन्द्रो'' इति मन्त्रे खमण्डलस्य चत्वारि केन्द्रस्थानानि = चतुस्स्वतिकनामानि दृश्यन्ते। वृद्धश्रवाः = इन्द्रः = चित्राख्यतारारूपः = कौशिकमूर्तिः। ततः षड्भान्तरे रेवत्याख्यतारारूपः पूषादेवः। अथ नवत्यंशान्तरे श्रवणाख्यतारापुञ्जरूपः सुवर्णमूर्तिस्ताक्ष्र्यः। त्रयाणां ऋक्षाणां समाहारः तृक्षम्, यलोपः छान्दसः, तत् कल्पितः पक्षी ताक्ष्र्यः। तत् षड्भान्तरे बृहस्पतिः इत्याह। (द्र० मधुसूदनविद्यावाचस्पतिः, अत्रिख्यातिः)

कई नक्षत्र एक-एक तारा के हैं, कई दो-दो और अनेक ताराओं की समष्टि रूप हैं। इनमें भी एक प्रधान तारा, उन-उन नक्षत्रों का योग तारा कहलाता है, उन प्रधान ताराओं को वेद में इन्द्र, अग्नि, विष्णु, बृहस्पति आदि देवताओं के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इसका कारण किञ्चिद् गूढ़ है।

ज्योतिषशास्त्रीय मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में तत्तद् नक्षत्रों के वही स्वामी माने गये हैं, जो उनके प्रधान ताराओं के वैदिक देवता संकेतित हैं।

इसके अनुसार चित्रा नक्षत्र का स्वामी तैत्तिरीय शाखा में इन्द्र है, वही इस मन्त्र में प्रथम निर्दिष्ट हुआ है। यह नक्षत्र २७ नक्षत्रों में से मध्य का नक्षत्र है। मन्त्र में इसका 'वृद्धश्रवा' विशेषण, इसके तारासन्निवेशरूप आकार के कारण दिया गया है। इसके सम्मुख अर्धसमानान्तर पर रेवती नक्षत्र है, जिसका देवता पूषा है। नक्षत्र विभाग में अन्तिम नक्षत्र होने के कारण इस मन्त्र में विश्वेदेवा: कहा गया है। मध्य में चित्रा से प्राय: चतुर्थांश (९०°) की दूरी पर श्रवण नक्षत्र है, जो इस मन्त्र में तार्क्ष्य शब्द से युक्त है। नक्षत्रों का स्वामी विष्णु है और तार्क्ष्य विष्णु का वाहन है। यह नक्षत्र सूर्य के क्रान्तिवृत्त की अन्तिम सीमा है, अत: इसे '*अरिष्टनेमि*' कहा गया है। अरिष्ट अर्थात् सर्वविपत्तिविनाशक, सूर्यरथचक्र की नेमि पर स्थित है। इसके अर्धसमानान्तर पर रेवती से चतुर्थांश दूरी पर पुष्य नक्षत्र है, जिसका स्वामी बृहस्पति इस मन्त्र के चतुर्थ पद में निर्दिष्ट है।

इस प्रकार पुष्य, चित्रा, श्रवण, रेवती इन चार समानान्तर विभागों में विभक्त कर सम्पूर्ण खगोल को स्वकल्याणकारक बनाने की मनुष्य समाज की ईश्वर से प्रार्थना है।[1]

सप्तद्वीपा पृथ्वी (देखें परिशिष्ट, चित्र संख्या–१०)—

पृथ्वी सात द्वीपों से निर्मित है।[2] इनमें जम्बूद्वीप चारों ओर से क्षीरसमुद्र से आवृत था। ये द्वीप तथा इन्हें आवृत करने वाले समुद्र ज्यामितीय दृष्टि से क्रमबद्ध थे। विभिन्न पुराणों के मतानुसार ये सप्तद्वीपमाला तथा उनको आवृत करने वाले पौराणिक नाम बहुत्र उपलब्ध होते हैं।[3] (तालिका संख्या १३, पृष्ठ संख्या १२६)।

---

१. द्र०, ''वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति'', लेखक म०म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, लेख, ''ताराविज्ञान'', पृ० १८२-८३।

२. द्वीप और वर्ष के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि पौराणिक युग में इसका अध्ययन व्यापक भौगोलिक रूप से किया जाता था।

३. द्र०, भाग०पु०, वि०पु०।

तालिका संख्या–१३

सप्तद्वीपा वसुमती

(पौराणिक नाम) एवं (वर्तमान नाम)

जम्बूद्वीप	शाकद्वीप	कुशद्वीप	क्रौंचद्वीप	शाल्मलीद्वीप	प्लक्षद्वीप	पुष्करद्वीप
युरेशिया	आस्ट्रेलिया	दक्षिणी अमेरिका	उत्तरी अमेरिका	ग्रीनलैण्ड	अण्टार्कटिका	अफ्रीका
EURASIA	AUSTRALIA	SOUTH AMERICA	NORTH AMERICA	GREENLAND	AUNTAR CATICA	AFRICA

जम्बूद्वीप एवं भारतवर्ष

लिंगपुराण[१] के अनुसार पृथ्वी का मानचित्र एक चतुष्कोण स्वर्णिम खण्ड पर माना जाता है। इस प्रकार स्कन्दपुराण[२] एवं पद्मपुराण[३] के मतानुसार धार्मिक अनुष्ठानों के लिए विशेष रूप से मानचित्र के महत्त्व पर बल दिया जाता था।

द्वीप[४]

पुराण तथा अन्य संस्कृत साहित्य में 'द्वीप' शब्द इस प्रकार से परिभाषित है— दो विस्तृत जलखण्डों के मध्य का भूखण्ड।[५]

सप्तद्वीपा वसुमती में जम्बूद्वीप की स्थिति

जम्बूद्वीप (आंशिक रूप से यूरोप तथा एशिया) के भूखण्ड से आवृत है। यह द्वीपीय खण्ड क्रमश: छोटे अंशों में भी विभाजित है।[६] इन खण्डों को 'वर्ष' कहा जाता रहा और ये ऋषियों के निवासस्थान थे। इलावृत (पामीरखण्ड), वर्ष का केन्द्र रहा[७] एवं मेरु के पश्चिमी भाग में केतुमाल[८] था।

मेरु के पूर्वी भाग में भद्राश्ववर्ष स्थित है, अल्प वर्षा वाले[९] हरिवर्ष, किंपुरुषवर्ष और भारतवर्ष मेरु के दक्षिण भाग में स्थित हैं। इन क्षेत्रों के पर्वतों के नाम, जिन्हें "वर्षपर्वता:" समझा जाता था—"हिमवान्, हेमवान् एवं हिन्दूकुश हैं। इस प्रकार रमणकवर्ष, हिरण्यमय-वर्ष, उत्तरकुरुवर्ष, मेरु के उत्तर

---

१. द्र०, लिङ्गपु० उत्तरखण्ड ३२.२-३।

२. द्र०, स्कन्धपु०, नागरखण्ड, २६८.७।

३. द्र०, पद्मपु० उत्तरखण्ड २१७.१-३।

४. "द्वारपत्वात् स्मृता: द्वीपा:"।
द्र० वा०पु०, ४९,१३१; म०पु०, १२३.२५ "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्"
Derivation of the name of Jambudvipa : in the puranas, the name of some of the dvipas appears to be derived from the trees or plants growing there. The name of Jambudvipa is derived form the Jambutree (Eugenia Jambo lana) Geographical concepts in ancient India, by Dr. B.Dubey.

५. द्वीप शब्द का प्रयोग महादेश के अर्थ में उल्लिखित नहीं होता रहा। सामान्यत: महाद्वीप का अर्थ पर्वत, नदी और समतल भूमि से युक्त एक विस्तृत भूखण्ड है।

६. "खण्डकान्"। ग०पु०, ५४.१२।

७. ब्र०पु०, ३५.२२।

८. केतुमाल उस स्थान की ओर संकेत करता है, जिस वर्ष (राज्य) के सीमा-क्षेत्र का पर्वत मेखलाओं द्वारा निर्धारित हो एवं अपनी एक विशिष्ट प्रकार की जलवायु हो।

९. द्र०, म०पु०, १२०.७१।

में स्थित हैं। वहाँ पर्वतमाला का नाम नील, श्वेत, शृंगवान् पर्वत है। भारतवर्ष एवं उत्तरकुरुवर्ष में पर्वतमाला धनुषाकार में पूर्व-पश्चिम महासमुद्र तक विस्तृत थी।''[1] इनकी तुलना में इलावृतवर्ष चतुष्कोणाकार माना जाता है। साधारणतः द्वीप दक्षिण तथा उत्तर क्षेत्र में निम्न एवं मध्य भाग में ऊँचा रहा।[2]

जलवायु

पूर्वोल्लिखित वर्षा के वातावरण के सन्दर्भ में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, ऐसी पौराणिक मान्यता है। जम्बूद्वीप सप्त प्रमुख प्रखण्डों में विभाजित है। पामीर पर्वत केन्द्र से समुद्र तक अविच्छिन्न पर्वत मेखला ''यूरेशिया'' के पूर्वी समीप तक पाया जाता है। पामीर केन्द्र से ब्रह्मदेश तक हिमालय पर्वत विस्तृत है। यह ब्रह्मदेश का पृष्ठभूमि (मेरुदण्ड) है, भारतवर्ष की उत्तरी सीमा को निर्धारित करता है। तिब्बत के पठार एवं हेराट् प्रखण्ड चारों ओर से पर्वतो से आवृत है एवं इस प्रकार की पृथक् प्राकृतिक स्थिति को ''**वर्ष**'' का नाम दिया जा सकता है। इस पर्वत प्राचीर का पूर्वी भाग, जो कि एशिया के पूर्वी भाग तक विस्तृत है, एक विशिष्ट प्रकार की जलवायु से युक्त है। उसे '**भद्राश्व वर्ष**' कहा जाता है तथा यहाँ चीनी लोग रहते हैं। पश्चिम एशिया का मरुस्थल '**केतुमाल**' कहलाता है।

जम्बूद्वीप की भौगोलिक स्थिति

जम्बूद्वीप के मध्यभाग मेरु को स्वर्ग समझा जाता है।[3] यह पामीर केन्द्र है,जिसके चारों ओर चतुष्कोण के रूप में इलावृत है। पामीर केन्द्र १५०×१५० (ल०×चौ०) है। यह एक वर्गाकार खण्ड है। इस प्रदेश में विभिन्न नदियों तथा पर्वतों का समचतुरस्राकार[4] होना प्रसिद्ध है। मेरु केन्द्र के पूर्वी भाग में ''सीता'' नदी है। यह नदी शीतान्ता एवं कुमुञ्जा पर्वतों से उद्भावित होती है। यह नदी यारकण्ड से मिलती-जुलती है एवं चीनी लोग आज भी इसे ''सीतो'' कहते हैं। यह नदी काराकोरम पर्वतमाला से ही निकलती है, जिसे शीतान्ता कहते हैं एवं सिन्धुमार[5] के साथ मिलती है। कुमुञ्जा (मुञ्जवान् या मुस्ताग) पामीर केन्द्र

---

१. ''धनुःसंस्थे च विज्ञेये द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे।'' (द्र०वा०पु०, ३४.३.१, म०पु०, ११२.३२)

२. द्र०, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पुराणविमर्श, पृ० ३३०।

३. द्र०, देवी०भा०पु० स्कन्ध ७, ८.४-१०।

४. समचतुरस्र = Square वर्ग। द्र०, का०शु०सू०, २.२१-२२।

५. द्र०, वा०पु०, २७.४३।

के पूर्वी भाग में मिलती है। हिरण्यभारी नदी (जिसका जल स्वर्णिम होता है), इसे जराप्सान भी कहते हैं—यह यारकण्ड नदी की ही एक शाखा है। शुममृक्षु नदी पामीर केन्द्र के पश्चिम भाग में शीतोदा ह्रद से निकलकर केतुमाल होते हुए पश्चिमी समुद्र में जा मिलती है।

यह नदी ही वर्तमान में ''अमू'' दरिया कहलाती है, जिसका नाम मंगोलिया में ''वक्शू'', तिब्बत में ''पशु'' और चीन में ''फोस्तू'' है। यह नदी अरबसागर में जा मिलती है, जो कि प्राचीन काल में पश्चिमी समुद्र के नाम से प्रसिद्ध है।

पामीर के दक्षिण में गंगा नदी ही कृष्णगंगा नदी है, जो कश्मीर के उत्तरी भाग में है, गंगावल ह्रद से निकलती है। उत्तर में भद्रानदी, जिसे वर्तमान में सिरदरिया नाम से जाना जाता है, वह उत्तरी भाग में अरबसागर में गिरती है।

जम्बूद्वीप सम्बन्धी पौराणिक मत की समीक्षा

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन की समीक्षा करते हुए यह कहा जा सकता है कि पुराणों में[१] जम्बूद्वीप को अत्यन्त स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है एवं वर्णित तत्तत् स्थानों को भी मानचित्र में निर्धारित किया जा सकता है—स्वर्णप्रस्थ (सुमात्रा), चन्द्रशुक्ल (फिलीपीन्स), आवर्तन (ब्रिटिश द्वीप), रामानक (नार्वे स्वीडन), मन्द्रहिरण्य (नोवानजामेला), पाञ्चजन्य (जापानी द्वीप), सिंघल (सिलोन), लंका (सिलोन)। भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि[२] एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण[३] में भी इसी मत का समर्थन किया गया है कि पुराणों में जो जम्बूद्वीप का विवरण दिया गया है, वह उचित ही है।

जम्बूद्वीप में ही भारतवर्ष स्थित है

कैप्टन विल्फोर्ड ने अपनी पुस्तक में इस मान्यता का प्रतिपादन किया है कि ''जम्बूद्वीप को ही सामान्यत: भारत कहा जाता था।''[४] इस पुस्तक का

---

१. भागवत और देवीभागवतपुराणों में भी ८ अन्य उपद्वीपों का उल्लेख किया गया है, जो जम्बूद्वीप से संलग्न थे। (द्र०, भागवतपुराण, ५.२०.३०, देवी०भा०पु०, ८.११.३०-३२)

२. भौगोलिक संहिताओं द्वारा पौराणिक मतों का समर्थन किया गया है। (द्र०, भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, ३१.३८)

3. Bhrahma Vaivarta Purana of Later period, about 14th century A.D.also support the same convention. Geographical concepts in Ancient India, by Dr. Bechan.

4. The Sacred Islees in the west by captain Wilford.

प्रकाशन सन् १९०८ में हुआ था।[1] गिरेनी नामक प्रसिद्ध विद्वान् के मतानुसार जम्बूद्वीप ही भारत है।[2]

परन्तु श्री विल्फोर्ड और श्री गिरेनी के मत पौराणिक मतों के साथ साम्य स्थापित करते हुए प्रतीत नहीं होते। उदाहरण के लिए इन पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार जम्बूद्वीप ही भारत है, जबकि पौराणिक साहित्य के मतानुसार भारतवर्ष, जम्बूद्वीप का एक अंग मात्र है, जो कि यूरेशियन खण्ड को द्योतित करता है।''[3]

भारतवर्ष नाम क्यों ?

''वर्ष'' शब्द का विवरण

पूर्व में यह सिद्ध है कि अश्वमेध का विषय सम्पूर्ण भूमण्डल से सम्बद्ध है, भूमण्डल सप्तद्वीपवान् है, जिनमें जम्बूद्वीप में आठ उपद्वीप एवं नौ भाग हैं। प्रत्येक को ''वर्ष'' कहा गया है, अत एव प्रसंगानुसार वर्ष शब्द का विवरण प्रस्तुत है— कोश में ''वर्ष'' शब्द का निम्नांकित विवरण उपलब्ध है, यथा—

१. वृष्टिर्वर्षम्,[4] वृषु सेचने भ्वादि, परस्मैपद सेट् ''अच् विधौ भयादीनाम् उपसंख्यानम्''। (वा०, ३.३.५६) इति अचि वर्षम्, वर्षम् = वृष्टिः।

२. अथ वृष्टिर्वर्षमस्त्री केचिदिच्छन्ति वर्षणम् ।[5]

३. वर्षस्तु समा द्वीपाब्दवृष्टिषु।[6]

४. स्याद् वृष्टौ लोकधात्वंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्।[7]

५. वर्षोऽस्त्रीभारतादौ च जम्बूद्वीपाब्दवृष्टिषु[8]। उपर्युक्त कोश वाक्यों से सिद्ध है कि जम्बूद्वीपादि के अंश विशेष भारतादि को वर्ष कहते हैं। आर्ष प्रमाणानुसार जम्बूद्वीप के नौ वर्ष हैं (देखें पृ.सं.-१३१, तालिका संख्या १४)।

---

१. एशियाटिक रिसर्च ऑफ बंगाल, वाल्यूम ८, १९०८ पृ० २९१।

2. Gerini : Researches on ptolemy' s Geography of Eastern Asia. p244.

3. 'Geographical comcepts in Ancient India by Dr.Bechan Dubey. 'The world known to the Ancients') (pp.80-86)

४. द्र०, अमर० १.३.११।

५. द्र० व्याख्या-सुधासमुद्धृत शब्दार्णव १.३.११।

६. द्र०, हेम०, २.५८३।

७. द्र०, अमर०, ३.३.२२४, लोकधातुः = जम्बूद्वीपादिः, तदंशे = भारतादौ (व्याख्या-सुधा)

८. द्र०, मे०, १६७.२४।

तालिका संख्या–१४

जम्बूद्वीप के वर्ष

१	२	३	४	५	६	७	८	९
भारत	**किंपुरुष**	**हरि**	**रम्यक**	**हिरण्यमय**	**उ.कुरु**	**इलावृत**	**भद्राश्व**	**केतुमाल**

''वर्ष'' शब्द का आर्ष ग्रन्थों में स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है; परन्तु अनुमानतः आकाशीय परिमण्डल एवं खगोल के साथ भूगोल के परिप्रेक्ष्य में भी जम्बूद्वीप के प्राकृतिक पर्यावरण में अवश्य ही स्वतन्त्र प्रकृति के नौ भेदों का अस्तित्व सिद्ध है, जिसका कि वर्ष अर्थात् वृष्टि के माध्यम से परिरक्षण होता है। वर्तमान पर्यावरण वैज्ञानिक, मौसम-वैज्ञानिकों की इस सन्दर्भ में प्रयोगपरीक्षणमूलक अनुसन्धान में प्रवृत्ति अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में ब्रह्माण्डपुराण में उल्लेख मिलता है।[1]

किञ्चित् विवेचन

(क) भारतवर्षस्य चत्वारि नामानि यथा—

यदिदं भारतवर्षं स्कान्दे तन्नाभिवर्षमप्युक्तम् ।
आर्षववर्षं चान्यैर्हैमवतं वर्षमप्यन्ये ।।
भारतस्यायं देशस्तस्मात्भारत इति प्रथितः ।
भारतं त्वेतमनेकं स्मरन्ति पौराणिकाः सर्वे ।।[2]

(ख) नाभेः अर्थात् आग्नीध्रनृपपुत्रस्य वर्षः।

जम्बूद्वीपस्थे नववर्षमध्ये वर्षभेदे ......तस्य नाभिसंज्ञकत्वेऽपि पश्चात् तत् कुलजो भरतनाम्ना तत् ख्यातम् । तथा हि—

नाभिपुत्रस्य ऋषभस्य पुत्रो भरतः तेन चिरं पालितत्वाद् अस्य भारतवर्षेति संज्ञा उक्ता। नाभिवर्षस्य भारतवर्षनामता .....अत एव विष्णुपुराणे 'नाभिश्च प्रथमं वर्षम्' इत्युपक्रमे नववर्षाणि उक्त्वा 'भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निशामय' इति नाभिवर्षस्यैव भारतवर्षत्वेन उक्तिः[3]।

---

१. द्र०, ब्र०पु०, ३५.२२।

२. मधुसूदनविद्यावाचस्पतिः ''इन्द्रविजयः'';

३. नृसिंह उपपुराणे ३० अध्याय।

(ग) **''आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज।**
ऋषभाद् भरतो यज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ।।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।।''[१]

(घ) **''भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रतिष्ठता वनम्''।**[२]

(ङ) **''नाभेः पुत्रस्तु ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।**
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ।।''[३]

कुछ विद्वान् दुष्यन्तपुत्र भरत के आधार पर इस देश का नाम स्वीकार करते हैं।

''तंसुरोधाच्च दुष्यन्तो दुष्यन्ताद् भरतोऽभवत् ।
शकुन्तलायां तु बली यस्य नाम्ना तु भारतः ।।''[४]

शतपथब्राह्मण में भी—

''तेन हैतेन भरतो दौष्यन्तिरीजे, तेनेष्ट्वा—''[५]

इस प्रकार ''भरत'' से सम्बन्धित दो वंशवृक्षों का ज्ञान होता है—

आग्नीध्र—हिमवर्ष
|
ऋषभ— ,,
|
भरत – भारतवर्ष

तंसुरोध
|
दुष्यन्त + शकुन्तला
|
भरत

यहाँ पर महामनीषी श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति ने दुष्यन्तपुत्र भरत के आधार पर भी ''भारत'' देश का नामकरण माना है।

वस्तुतः दुष्यन्तपुत्र भरत के आधार पर ही देश का नाम भारत मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता; अपितु उस कुल का नाम भारत कुल है। महाभारत में स्पष्ट है—

---

१. मार्क० पु० ५०।
२. वि०पु०, १.२.३२।
३. स्कन्दपु०, माहेश्वर, कौमारखण्ड ३७।
४. पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पतिसमुद्धृत अग्निपुराण, ''इन्द्रविजयः'' पृ० २७८।
५. द्र० श०ब्रा०, १३.५.४-११,१३,१४।

''दुष्यन्तस्तु ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भारतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।।
स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
भारताद् भारतीकीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ।।''[१]

महाराज भरत के कारण भारतवर्ष नामकरण—

आर्ष ग्रन्थों में भरत नाम के अनेक ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख है। यथा—

(क) जैनमत-प्रवर्तक महाराज ऋषभ एवं जयन्ती के ज्येष्ठ पुत्र महाराज भरत।''[२]

(ख) महाराज दुष्यन्त, शकुन्तला के पुत्र भरत।''[३]

(ग) दशरथ, कैकेयी के पुत्र भरत।[४]

(घ) त्रिसारिकपौत्र करन्धम का पुत्र भरत।[५]

(ङ) तालजंघ के सौ पुत्रों में एक।[६]

इनमें ऋषभ-जयन्ती के पुत्र भरत के विषय में भागवतकार लिखते हैं—

१. ''येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्, येनेदं वर्षं भारतम् इति व्यपदिशन्ति''।[७]

---

१. द्र०, महाभा० आदिपर्व ७४।
२. (क) भा०पु०, ५.४.९, ५.७.३, ११.२.१७।
(ख) वा०पु०, ३३.५१, ४१.४४।
३. (क) भा०पु०, ९.२०.१७-३५।
(ख) म०पु०, ४९.११.२८.३१।
(ग) वा०पु०, ९९.१३४,१५२.८।
(घ) वि०पु०, ४.१९.१०-१६।
४. (क) भा०पु०, ९.१०.३।
(ख) वा०पु० ८८.१८४.१८९।
(ग) वि०पु०, ४.४.८७।
५. म०पु०, ४८.२।
६. वि०पु०, ४.११.२७।
७. भा०पु०, ५.४.९।

२. **हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।**
तस्मात् तद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।[1]

३. **तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।**
विख्यातं वर्षमेतन्नाम्ना भारतमुक्तम् ।।[2]

(च) **शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना च भारतः ।**[3]

(छ) दशरथ-कैकेयी-नन्दन भरत के आधार पर न तो भरतवंश न भारतवर्ष नाम का कोई सम्बन्ध है। भरतवंश चन्द्रवंश की एक शाखा है, दाशरथि भरत सूर्यवंशी हैं।

(ज) **करन्धमस्तु त्रैसारिर्भरतस्तस्य चात्मजः ।**[4]

करन्धमपुत्र भरत अथवा तालजंघपुत्र भरत से भारत देश के नामकरण का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

मनु भी भरत है—एक नवीन तथ्य

यहाँ एक तथ्य मन्तव्य है कि मत्स्यपुराण में मनु को भी भरत कहा गया है। यथा—

''भरणात् प्रजानाञ्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम् ।।[5]

इस तथ्य के आधार पर सूर्यवंश के पूर्व पुरुष मनु भी ''भरत'' हैं एवं उनके कारण इस देश का नाम भारतवर्ष है—यह दृष्टि अत्यधिक प्राचीन है।

उपर्युक्त अनेक युक्तियों से दुष्यन्तपुत्र भरत के सहस्रों वर्ष पूर्व भी इस देश का नाम ''भारतवर्ष'' सिद्ध होता है; परन्तु उपर्युक्त युक्तियों से यह भी सिद्ध है कि भरण-पोषण करने के कारण मनु के भरत कहे जाने के आधार पर

---

१. (क) वा०पु०, ३३.५२।
(ख) मार्क० पु० ५३.४०।
२. द्र०. भा०पु०, ११.२.१७।
३. म०पु०, ४९.११।
४. म०पु०, ४८.२।
५. म०पु०, ११४.५-६।

इस देश का नाम "भारतवर्ष" होने पर भी, अन्य सुगृहीत नामधेय भरतसंज्ञक राजाओं के कारण भी पश्चात् काल में भारतवर्ष नाम की पुनः पुष्टि हुई।

पूर्वोक्त विवरणों के विषय में यह धारणा की जा सकती है कि मनु को "भरत" मानकर तदनुसार भारतवर्ष नाम होने पर भी अप्रसिद्धिवशात् अधिक व्यावहारिक नहीं हुआ। ऋषभपुत्र भरत के आधार पर भारतवर्ष नाम के पूर्व इसका नाम "अजनाभवर्ष" भी प्राप्त होता है।[१]

अन्य भरतों का परिचय

ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में "भरत" एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जाति के लोगों का नाम है। ऋग्वेद के तृतीय एवं सप्तम मण्डलों में सुदास और तृत्सुओं के सम्बन्ध में भरत प्रमुख रूप से आते हैं, जबकि षष्ठ मण्डल में इन्हें दिवोदास के साथ सम्बद्ध किया गया है।[२] विश्वामित्र जिन्हें ऐतरेय-ब्राह्मण में 'भरत-ऋषभ' अर्थात् भरतों का ऋषभ कहा गया है।[३] जिस स्थल पर भरतों की पराजय और वशिष्ठ की सहायता से उनकी रक्षा का स्पष्ट सन्दर्भ है।[४] एक स्थल[५] पर भरतगण भी तृत्सुओं की ही भाँति पुरुओं के शत्रु हैं, तृत्सुओं और भरतों को समीकृत करने के लुडविग[६] के दृष्टिकोण की प्रत्यक्ष शुद्धता पर कदाचित् ही सन्देह किया जा सकता है। यह विचार व्यक्त किया जा सकता है कि तृत्सुगण वास्तव में भरतों के पारिवारिक गायक वशिष्ठ ही हैं, जबकि गेल्डनर[७] कदाचित् अधिक सम्भावना के साथ तृत्सुओं में भरतों के राजपरिवार का आशय देखते हैं। त्सिमर का यह विचार है कि तृत्सु और भरत परस्पर शत्रु थे, भौगोलिक आधार पर भी अत्यन्त असम्भव है; क्योंकि त्सिमर के ही मतानुसार तृत्सुगण पुरुष्णी (रवि) के पूर्व के क्षेत्र में बसे थे, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि तृत्सुओं के विरुद्ध भरतगण पश्चिम दिशा से आये थे, जबकि ऋग्वेद[८] में देवश्रवस् और देववात का उल्लेख प्राप्त होता है। ओल्डेनवर्ग[९] यह

१. भा०पु०, ५.४.३।
२. ऋ०वे०, ३.५३, ९.१२.२४,३३।
३. द्र०, ऐ०ब्रा०, ७.१७.७।
४. द्र०, ऋ०वे०, ७.८.४, ३३.६।
५. द्र०, ऋ०वे०, ७.८.४।
६. ऋग्वेद का अनुवाद, ३.१७२।
७. वै०इ०, समुधृत वेदिशेस्टूडियन, २.१३६।
८. द्र० ऋ०वे०, ३.२३.४;
९. द्र०, वै०इ०।

उल्लेख करते हैं कि महाभारत में सरस्वती की एक सहायक नदी को "कौशिकी" कहा गया है और कुशिकगण निस्सन्देह उस विश्वामित्र के परिवार के ही सदस्य थे, जिनका भरतों के साथ सम्बद्ध होना निर्विवाद है। दो भरत राजाओं को सरस्वती, आपाया और दृष्टवती अर्थात् भारत के पवित्र क्षेत्र के मध्य प्रदेश में रहने वाला बताया गया है।

हिलेब्राण्ट[१] का यह विचार है कि सुदास और भरतगण इन तृत्सुओं के बाद आये, जिन्होंने उन्हें एक जाति के रूप में परिणत कर दिया तथा इनके मतानुसार वशिष्ठगण भरतों के पुरोहित बन गये। वशिष्ठगण मूलतः इन्द्र, सोम के नहीं वरन् विशेषतः वरुण के भक्त थे; परन्तु इन दोनों में किसी मत के पक्ष में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिलता।

तृत्सुओं और भरतों के सम्बन्ध में दो जातियों के मिश्रण का आभास देखते हैं; किन्तु इस मान्यता के अतिरिक्त और किसी भी प्रमाण से पुष्ट नहीं होता कि भरद्वाज परिवार के सम्बन्ध में दिवोदास का उल्लेख तथा उसी के पुत्र अथवा कदाचित् पौत्र सुदास के वशिष्ठों और विश्वामित्रों के साथ सम्बद्ध होने के तथ्य की व्याख्या करने के लिए इस प्रकार के सिद्धान्त की आवश्यकता है। परवर्ती साहित्य में भरतगण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। शतपथब्राह्मण[२] में एक राजा तथा अश्वमेध यज्ञ करने वाले के रूप में "**भरतदौष्यन्ति**" का और शतानीक सत्राजित् नामक एक अन्य भरत का भी यज्ञकर्ता के रूप में उल्लेख है। ऐतरेय-ब्राह्मण[३] में **दीर्घतम् मामतेय**" द्वारा अपना राज्याभिषेक करने वाले के रूप में भरत-दौष्यन्ति का और शतानीक का उस सोमशुष्मन् वाजरत्नायन नामक पुरोहित द्वारा अभिषिक्त होने के रूप में उल्लेख है, जिसके नाम का स्वरूप बहुत बाद का प्रतीत होता है। भरतों की भौगोलिक स्थिति इस तथ्य द्वारा स्पष्ट हो जाती है कि भरत राजा, यमुना तथा गंगा ते तट पर यज्ञ करते हैं।[४] इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण के लिए राजा के घोषणापत्र में उल्लिखित "**एष वो भरतो राजा**" वाक् पद है।[५] आपस्तम्ब[६] में जिस जाति के राजा

---

१. द्र०, वै०इ० समुधृत वैदिशे माइथोलाजी, १.११।

२. द्र०, श०ब्रा०, १३.५.४।

३. द्र०, ऐ०ब्रा०, ८.२३,२१।

४. द्र०, श०ब्रा० १३.५.४,११.२।

५. द्र०, तै०सं०, १.८.१०.२; तै०ब्रा०, १.७.४.२।

६. आ०श्रौ०सू०, १८.१२.७।

हैं, उनके अनुसार विकल्पों के रूप में "**भरताः कुरवः पांचालाः कुरुपांचालाः जनताः**" दिया गया है। काठक, मैत्रायणी[1] संहिताओं में "**एष ते जनते राजा**" पाठ है। विभेदों के अन्तर्गत "**कुरवः पांचालाः, कुरुपांचालाः भरताः**" आते हैं और महाभारत में नियमित रूप से कुरुओं के राजपरिवार को भरतवंशीय ही माना गया।[2] ओल्डेनवर्ग का यह मत है कि ब्राह्मणकाल में भरतगण कुरुपांचाल जाति में विलीन हो चुके थे और यह मत अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है। शतपथ-ब्राह्मण[3] में जातियों का उल्लेख किया गया है; किन्तु इसमें यह उल्लिखित नहीं है कि वे किस पर शासन करते थे, केवल कुरु राजा जनमेजय और भरत राजाओं का उल्लेख है।

भरतों के सांस्कारिक प्रचलनों का पञ्चविंश,[4] ऐतरेय[5], शतपथ[6] ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक[7] में बहुधा उल्लेख है। ऋग्वेद,[8] तैत्तिरीयसंहिता,[9] शतपथ-ब्राह्मण[10] में भी अग्निभारत, भरतों का उल्लेख है।

आप्रीसूक्त[11] में एक देवी भारती का उल्लेख है, जो कि भरतों की मूर्तिकृत्, दिव्य सुरक्षात्मक शक्ति है, इन सूक्तों में इस देवी के सरस्वती के साथ सम्बद्ध होने के कारण ऋग्वेद[12] में भरतों से सरस्वतीदेवी के सम्बन्धों का आभास मिलता है।

पुनः शतपथ-ब्राह्मण[13] में अग्नि को "ब्राह्मणभारत" भरतों का पुरोहित कहा गया है और हवि को "मनुवद् भरतवत्" "मनु की भाँति, भरत की भाँति" विसर्जित करने के लिए अग्नि को आहूत किया गया है।[14]

---

१. द्र०, का०सं०, १५.७; मै०सं०, २.६-७।
२. द्र०, ओल्डेनवर्ग बुद्ध, ४०९।
३. द्र०, श०ब्रा०, १३.५.४।
४. द्र०, पंचविंश० १४.३.१३, १५.५.२४।
५. द्र०, ऐ०ब्रा०, २.२५,३.१८।
६. द्र०, श०ब्रा०, ५.४.४.१।
७. द्र०, तै०आ०, १.२७.२।
८. द्र०, ऋ०वे०, २.७.१-५, ४.२५.४, ६.१६.१९।
९. द्र०, तै०सं०, २.५.९.१।
१०. द्र०, श०ब्रा०, १.४.२.२।
११. द्र०, ऋ०.वे०, १.२२.१०, १४२.९, १८८.८, २.१.११, ३.८, ३.४.८।
१२. द्र०, ऋ०वे०, ३.२३.४।
१३. द्र०, श०ब्रा०, १.४.२.२;
१४. द्र०, श०ब्रा०, १.५.१.७।

कुछ स्थलों पर सुदास अथवा दिवोदास[१] और दूसरी ओर पुरुकुत्स अथवा त्रसदस्यु का सम्बन्ध मित्रवत् प्रतीत होता है। ओल्डेनवर्ग के मतानुसार "सम्भवतः यह तथ्य भरतों और पुरुओं का कुरुओं के साथ सम्मिलन व्यक्त करता है"।[२]

भारतवर्ष एवं अजनाभवर्ष

भारतवर्ष नाम पड़ने से पूर्व यह देश अजनाभवर्ष[३] तथा हैमवर्ष[४] के नाम से प्रख्यात था। हैमवतवर्ष के नाम का हेतु यह है कि इस वर्ष में सीमा-विभाजन करने वाला हिमवत् गिरि प्रधानतः अवस्थित है और यह वर्ष-पर्वत है। फलतः हिमवत् के द्वारा उत्तर में वेष्टित होने के कारण यह नाम स्वाभाविक रीति से इस देश को दिया गया है; परन्तु 'अजनाभ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है — अज (अजन्मा भगवान् विष्णु) के नाभिकमल पर स्थित देश। इस शब्द का स्वारस्य यह है कि ब्रह्मा ने विष्णु के नाभिकमल पर निवास करते हुए, जिस प्रथम लोक का निर्माण किया, वही अजनाभवर्ष है। यह शब्द प्रदर्शित करता है कि आदि सृष्टि अजनाभवर्ष में हुई। मानवीय उत्पत्ति का स्थान यही वर्ष है। यह व्युत्पत्ति मनुस्मृति में उपलब्ध इस पद्य की प्रामाणिकता प्रस्तुत करती है—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।"

फलतः पुराण-विमर्श के अनुसार आर्य जाति का मूल स्थान यही भारतवर्ष है।[५]

आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति का मत

भारतवर्ष नामकरण के सम्बन्ध में मधुसूदन विद्यावाचस्पति का शोध मननीय एवं माननीय है। यह सिद्धान्त किसी भी प्रभावशील शासक राजवंश के नामानुसार न होकर पर्यावरण विज्ञान पर आधारित है।

---

१. द्र०, ऋ०वे०, १.११२.१४,७.१९.८।
२. द्र०, मैक्डानल और कीथ, वैदिक इण्डेक्स, सम्पा०. श्री रामकुमार राय।
३. भा०पु०, ५.७.३।
४. द्र०, वा०पु०, ३५.५२।
५. द्र०, पुराणविमर्श, पं०बलदेव उपाध्यायकृत, पृ०३३३।

मधुसूदन विद्यावाचस्पति के अनुसार— ''भारतवर्ष नाम का कारण है–यहाँ के भूमि का भारताग्नि प्रधान होना।''[१]

भारताग्नि का परिचय

वैदिक वाङ्मय में **भारताग्नि** का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है। यथा—

(क) श्रेष्ठं यविष्ठं **भारतोऽग्ने** द्युमन्तमा भर। वसो पुरुस्पृहं रयिम्[२]।

(ख) त्वं नो असि **भारताग्ने** वशामिरुक्षाभिः। अष्टापदीभिराहुतः।

(ग) तस्मा **अग्निर्भारतः** शर्मयंसज्जयोक पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम्।
य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम्।[३]

(घ) अग्ने महा आसीत्याह महान् ह्येष यदग्निब्राह्मणेत्याह **भरति** देवेद्रत्याह देवहि एतम् अनद्वत् मन्विद्ध इत्याह मनुरिहेत।[४]

(ङ) अग्ने महां असि ब्राह्मणभारतेति। ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति **भारतेत्येष** हि देवेभ्यो हव्यं **भरति** तस्माद् **भरतोऽग्निरित्याहुरेष** उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्मादेवाह भारतेति।[५]

हिन्दूधर्मकोशानुसार ''भरत''

भरत अभिजात क्षत्रिय वर्ग का एक वेदकालीन कबीला है। ऋग्वेद तथा अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण कुल का नाम है। ऋग्वेद के तृतीय एवं सप्तम मण्डल में ये सुदास एवं तित्सु के साथ तथा षष्ठ मण्डल में दिवोदास के साथ उल्लिखित है। इससे प्रतीत होता है कि ये तीनों राजा भरतवंशी थे। परवर्ती साहित्य में भरत और प्रसिद्ध हुए। शतपथ-ब्राह्मण[६] अश्वमेधयज्ञकर्त्ता के रूप में '**भरत दौष्यन्ति**' का वर्णन करता है। एक अन्य '**भरत शतानीक**' का उल्लेख मिलता है, जिसने अश्वमेध यज्ञ किया था। ऐतरेय

---

१. ''भारताग्निप्रधाने भारतवर्षेः, द्र०, वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्, पृ०२। द्र० भारतीयसंस्कृत-मासिकपत्रिका, जयपुर, सन् १९६२-६३, पण्डितमोतीलालशर्मकृतलेखः।

२. द्र०, ऋ०वे०, २.७.१।

३. द्र०, ऋ०वे०, २.७.५।

४. द्र०, ऋ०वे०, ४.२५.४।

५. द्र०, तै०सं०, २.५.९.१।

६. द्र०, श०ब्रा०, १.४.२.२।

ब्राह्मण[1] '**भरतदौष्यन्ति**' को '**दीर्घतमामामतेय**' एवं '**शतानीक**' को '**सोमशुष्मा वाजप्यायन**' द्वारा अभिषिक्त किया गया वर्णन करता है। भरतों की भौगोलिक सीमा का ज्ञान उनकी काशीविजय तथा गंगा और यमुना तट पर यज्ञ करने से होता है। महाभारत में कुरुओं को भरतकुल का कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणकाल में भरत कुरुपांचाल जाति से मिल गये थे। भरतों की याज्ञिक क्रियाओं का वर्णन पंचविंश ब्राह्मण में किया गया है।[2]

इस महाद्वीप का भरतखण्ड तथा देश का भारतवर्ष नामकरण भरत जाति के नाम पर ही हुआ। ऋषभदेव के पुत्र भरत अथवा दौष्यन्ति भरत के नाम पर देश का नाम भारत होने की परम्परा परवर्ती है।

ब्रह्मौदन अथवा भारताग्नि

नौ अग्नियों के समूह में प्रधान अग्नि को ब्रह्मौदन अग्नि कहते हैं। इसी का अन्य नाम भारताग्नि भी है। ब्रह्मौदन, ब्रह्म का प्रधान सिद्धान्त है, जिनका ओदन "ब्रह्माण्ड" है। ब्रह्मा अथवा ब्रह्मौदन का यह अग्नि-सिद्धान्त स्वयम्भू का स्व अस्तित्व है, जिसमें समग्र शक्तियों के आत्मेन्द्रण द्वारा तीनों लोकों को ओदन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।[3] अथवा जो सर्वहुत् नामक यज्ञ का सम्पादन करता है,[4] उस भारताग्नि को ही ब्रह्मौदन कहा गया है।[5]

---

१. द्र०, ऐ०ब्रा०, ८.२३.२१।

२. द्र०, पंचविंश-ब्रा०, १४.३.१३, १५.५.२४।

३. "विश्वा भुवनानि जुह्वत्" (ऋ०वे०, १०.८१.१)

४. द्र०, ऋ०वे०, १०.९०.८।

५. Among nine fires, the foremost of them is the fire called Brahmaudana, whose other name is Bharata. Brahmaudana is the great principal of Brahman himself, whose food (Odana) is the cosmos. The fiery principal of Brahma or Brahmaudana stand' s in it' s own right as the self existent creator with all' it.s Powers withdrawn into it' s own center, into which the world' s are being offered as food or obtain or who is performing the Sarvahut Sacrifice. Bharat is said to be the name of Brahmaudana. Bharat is Agni, which as prana carries the food to the Gods.

"प्राणे भरत" ऐ०ब्रा०, २.२४।

"अग्निर्वै भरतः, स वै देवेभ्यो हव्यं भरति" (कौ०ब्रा० ३२)

"एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्मादेव भरत्वादिति। (श०ब्रा०, १.५.१.८)

This Bhartagni is said to be the fire, whose mouth is Vaishvanar or the metabolic fire produced by the mutual friction of Prana and Apana. Therefore the equation as given in the Matsya Purana is.

ब्रह्मौदन = भरत = वैश्वानर = अपांरस = पवमान

अन्यत्र भारताग्नि का उल्लेख

(क) वायुपुराण में भारताग्नि अपांगरस के पिता हैं।

(ख) अंगिरास्मृति के एक पुत्र का नाम भी भारताग्नि है, जो संहूति के पति एवं पर्जन्य के पिता हैं।[1]

(ग) हिन्दूधर्मकोश में भारताग्नि का उल्लेख है।

(घ) वैदिक इण्डेक्स ''भारताग्नि'' से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है।

वैदिक/पौराणिक मतों का समन्वय

पूर्वोद्धृत मत्स्यपुराण के वाक्य में मनु को ''भरत'' कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण में जहाँ ''अग्नि'' को भरत कहा गया है,[2] वहीं उसी के आगे अग्नि को ''मन्विद्ध'' भी कहा गया है।[3]

तैत्तिरीयसंहिता[4] में भी यह स्पष्ट है। अत एव ''भरत, मुनि, अग्नि'' इन सबों का एक पदार्थशास्त्रीय गम्भीर सम्बन्ध द्योतित होता है। इसी से मनु के द्वारा प्रथम शासित भारतवर्ष कहा गया है। अग्नि और वर्षा का कार्य-कारण भाव विज्ञान सिद्ध है।

अश्वमेधयज्ञानुष्ठान के सन्दर्भ में अश्वमेधयाजी चक्रवर्ती सम्राट् होता था। उसका अधिकार-क्षेत्र सम्पूर्ण भूमण्डल होने से वह सार्वभौम एकराट् होता था, तथापि वह भारतवर्षीय होता था, अतः प्रकृत प्रसंग प्राप्त होने से भारतवर्ष पर दृष्टिपात मात्र किया गया।

अग्नि + स्वाहा

शुचि (स्वर्गीय) = सूर्य | पावक (अन्तरिक्ष) = वैद्युत् | पवमान(पृथ्वी) = वैश्वानर

(पावक →) ब्रह्मौदन | दध्यङ् अथर्वा

द्र०, ''मत्स्यपुराणानुशीलनम्'' डॉ वी०एस० अग्रवाल, काशीराजसंस्करणम्।

१. द्र०, वा०पु०, १८.१५; ब्र०पु०, २.११.१८।

२. द्र०, श०ब्रा०, १.४.२.२।

३. ''मन्विद्ध इति मनहर्येतमग्र ऐन्ध तस्मादाह मन्विद्ध''। (श०ब्रा०, १.४.२.५)

४. तै०सं०, २.५.९.१।

भारतवर्ष[१] और भारतखण्ड का भिन्नाभिन्नत्व

अश्वमेध आदि समस्त वैदिक, तान्त्रिक एवं पौराणिक प्रयोगो के संकल्प वाक्य में तथा श्रावणी उपाकर्म, मेरुदान, वृषोत्सर्ग, सागरदान, वापी-कूप-तडाग, देवगृह, पान्थशाला, चत्वर, यज्ञशाला, वाटकक्षेप, ग्रन्थालयादि प्रतिष्ठा एवं समस्त पैतृक कार्यों में भी क्रियमाण संकल्प वाक्य में— ''.......भारतवर्षे भरतखण्डे''[२] आदि अंश मिलता है। इससे सिद्ध है कि भारतवर्ष और भरतखण्ड दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। सम्भवत: इसमें कोई एक-दूसरे के अन्तर्गत है।

समस्त शास्त्रीय कृत्यों के समान अश्वमेध के संकल्प में भी ''भारतवर्षे भरतखण्डे'' इन दो विषयों का पृथक्-पृथक् उल्लेख अवश्य करणीय है। प्रकृत सन्दर्भ में—

१. भूमण्डल के समस्त द्वीप, २. चतुर्धा विभाग का कारण, ३. विशेषत: जम्बूद्वीप, ४. भारतवर्ष नाम क्यों? आदि विषयों पर संक्षिप्त

---

१. भारतवर्षमहिमविषये पुराणेषु बहुत्र बहूक्तम्। तत्र इत: पूर्वम् अपि मया एतद्विषये मत्स्यपुराणप्रसङ्ग उपस्थापित:। अन्यत्राऽपि यथा—

(क) गायान्ति देवा: किल गीतकानि ।
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।। (वि०पु०, २.३.२२-२४)

(ख) अहो अमीषां किमकारि शोभनं
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे ।।

(ग) द्र० स्वर्गीयश्रीजुगलकिशोरबिड़लामहाभागेन स्थापितम् इन्द्रप्रस्थन्यास: लक्ष्मी-नारायणमन्दिरात् पश्चात् नवदेहली। अत्र न्यासे प्रस्तरेषु इस्लामसाहित्यस्थ-हिन्दू-विषयकानि बहूनि वर्णनानि उत्कीर्णानि।

(घ) अत्र किञ्चिद् आश्चर्यास्पदं प्रस्तूयते यथा—
इस्लाममतप्रवर्तक-हजरतमोहम्मदशाहमहोदयानां पूर्वजैरित्थं भगवान् प्रार्थित:—
व यकूलन न हातहजन फइन्नक तवज्जरू ।
म अस्सेर अल्लाकन हसनन कुल्लहूम ।
यजुमन अजा अत सुम्मा (गवुल) हिन्दू ।।
हे प्रभु, मेरा समस्त जीवन लेकर केवल एक दिन भारत में निवास का दे दो; क्योंकि वहाँ पहुँचकर मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है। वहाँ की यात्रा से सारे शुभ कर्मो की प्राप्ति होती है और आदर्श गुरुजनों का सत्संग मिलता है।
द्र०, ''इस्माली अरबी साहित्य में वेदों व महादेव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा'' शीर्षकलेख: लेखक:—श्रीप्रेमचतुर्वेदी, गाण्डीवपत्रिकायां २१।५।२००० अध्यात्मविचारान्तर्गते प्रकाशित:।

२. द्र०, चतुर्वर्गचिन्तामणि: ''हेमाद्रिमहासङ्कल्पवाक्यानि''।

विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। सम्प्रति विवेच्य विषय है—

(क) भारतवर्ष, (ख) भरतखण्ड

भारतवर्ष के विवेचन के भौगोलिक विवरण ही मुख्यतया प्रस्तोतव्य हैं; क्योंकि अश्वमेधयाजी सम्राट् भारतवर्ष का पुत्र होता था। भारतवर्ष को यह गौरव प्राप्त है कि उसने ऐसे भूगोलविजयी पुत्ररत्नों को उत्पन्न किया एवं अश्वमेध जैसी अद्भुत महायोजना को सम्पन्न करने वाले अधिकारी का यह गौरव है कि उसने भारतवर्ष में जन्म ग्रहण किया। इस प्रकार दोनों ओर से भूष्य-भूषण भाव है। भारतवर्ष का प्रत्यक्ष परिचय उसकी भौगोलिकता पर है एवं भौगोलिक भारतवर्ष के ज्ञान से ही भरतखण्ड एवं वर्तमान भारतसंघ का भेदज्ञान हो सकता है। सम्प्रति भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का निरूपण किया गया है।

भारतवर्ष और उसकी प्राचीन सीमा

भारत का विचार करते समय प्राचीन भारत कहाँ तक था, उसकी सीमा क्या थी, यह जब तक स्पष्टतया न जान लिया जाय, तब तक स्पष्ट स्थिति का ज्ञान सम्भव नहीं। इसका कारण यह है कि जितने भी भारतीय आचार, व्यवहार, कला-कौशलादि हैं, वे सब प्राचीन ग्रन्थों में उपनिबद्ध हैं। उन ग्रन्थकर्ताओं ने अपने समय के भारत का चित्र अवश्य प्रस्तुत किया है। वर्तमान भारत उसकी अपेक्षा बहुत संकुचित हो गया है।

प्राचीन वाङ्मय के भारतविषयक अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ अत्यधिक विस्तृत थीं। भारत की पूर्वी सीमा चीन सागर थी, इसके अन्तर्गत ब्रह्मदेश=वर्मा, स्याम, रंगून आदि सम्मिलित थे। भारत की पश्चिमी सीमा लालसागर (भूमध्यसागर) तक थी। इस सीमा में वर्तमान पाकिस्तान-बिलोचिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया और अरब भी थे। इस प्रकार पूर्वी चीन समुद्र से पश्चिम लालसागर तक भारत कहा जाता था इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, जिसमें से कतिपय प्रमाणों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

१. भारत की दक्षिणोत्तर सीमा हिमालय और कन्याकुमारी तक प्रसिद्ध ही है—प्रथम प्रमाण मनु का आर्यावर्त सीमा-निर्देश है—

''आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः'' ।।

यह भारतवर्ष के अन्तर्गत आर्यावर्त की सीमा का निर्देश है। यहाँ पूर्व और पश्चिम समुद्र से बंगाल की खाड़ी और अरबसागर अभिप्रेत नहीं हो सकता; अपितु चीन सागर और लाल सागर से ही तात्पर्य है। भूगोल मानचित्र में विन्ध्याचल और हिमालय के मध्यभाग से पूर्व और पश्चिम की तरफ सीधी रेखा ले जाने पर उपर्युक्त दोनों समुद्र ही दोनों सीमाओं में पहले आयेंगे। बंगाल की खाड़ी और अरबसागर इस लाइन से दक्षिण भाग में रह जायेंगे। मनु का यह साक्ष्य पूर्व और पश्चिम सीमा का विस्तार स्पष्टतया प्रकट करता है।

२. व्याकरणमहाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में आर्यावर्त की सीमा का निर्देश इस प्रकार किया है—

''**प्राग् आदर्शात् प्रत्यक् कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्**''।

यहाँ ''आदर्श'' से तात्पर्य भूमध्यसागर के उत्तर प्रान्त में स्थित तारसपर्वत से है अथवा सूरत पर्वत को, (जिसको सिनाई पर्वत भी कहते हैं) आदर्श पर्वत के नाम से गृहीत किया जा सकता है। यह आदर्श पर्वत पश्चिम समुद्र या यहूदी नाम के यवन देश के समीप है।

कुछ विद्वान् महाभाष्य के इस 'आदर्श' शब्द से सिन्धु नदी के दक्षिण में स्थित सुलेमान पर्वत को लेते हैं; परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं हैं; क्योंकि पश्चिम सीमा में जो यवन देश का और समुद्र का निर्देश किया गया है, वह सुलेमान पर्वत के आदर्श पद से गृहीत होने पर उत्पन्न नहीं होता। 'तारस' नाम के सिनाई पर्वत का आदर्श नाम से गृहीत होना, अक्षरसाम्य भी रखता है।

३. मात्स्य (११४अध्याय), मार्कण्डेय (५५) आदि पुराणों में भारतवर्ष के पूर्व में किरात और पश्चिम में यवनों का होना बताया गया है। यवन देश भी केवल यूनान या ग्रीस का ही नाम नहीं है, अपितु भूमध्यसागर के पार्श्ववर्ती यहूदी जाति के निवासस्थान यहूदिया और कौण्डिया आदि प्रदेश ''यवन'' शब्द से ही कहे जाते हैं। इसके अनेक प्रमाण हैं। उनके समीप तक आर्यावर्त या भारतवर्ष की सीमा फैली हुई थी, पूर्व में जो किरात बताये गये हैं, उनके सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों का यही अनुमान है कि वह चीनसागर के पूर्ववर्ती देशों की ही निवासिनी जाति थी। इससे भी भारत की पूर्वोक्त सीमा ही सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण पृथिवी चतुर्धा विभक्त थी। यहाँ कुरु शब्द से उत्तरकुरु, अर्थात् सुमेरु प्रान्त का ग्रहण है। ये चारों परिमाण की दृष्टि से समान थे, जो भूगोल-

खगोल के कल्पित ९०ं अशों में विभक्त थे।[1] इसका साक्ष्य सूर्यसिद्धान्त के भूगोलाध्याय में है। इसके अनुसार लंका और सुमेरु को स्पर्श करती हुई जो रेखा है, उसको भारतवर्ष की मध्यरेखा कहा गया है। अतः उसके पूर्व के ४५ं और पश्चिम के ४५ं से व्याप्त जो भूभाग है, वही भारतवर्ष है — यही सिद्ध हुआ कि भारतवर्ष से ९०ं पूर्व में भद्राश्ववर्ष है और भद्राश्व से ९०ं उत्तर की ओर उत्तरकुरुवर्ष है। उसके ९०ं के बाद केतुमालवर्ष स्थित है। इस प्रकार भूपद्म के चार दलों का वर्णन मिलता है।[2] भारतवर्ष की मध्यरेखा उज्जयिनी पर मानी गई है। यह उज्जयिनी २३१९ उत्तर अक्षांश में स्थित है। पाश्चात्त्य विद्वान् 'ग्रीनविच' नाम की मध्य रेखा से देशान्तर की गणना किया करते हैं। उज्जयिनी के ऊपर होकर गई हुई भारतीय मध्यरेखा और पाश्चात्त्य विद्वानों की सम्मत

तालिका संख्या–१५

एषां चाद्यत्वे प्रचलितभाषायां नामानि यथा[3]

नामानि	पर्य्यायाः	भाषानामानि	आङ्ग्लनामानि
१. इन्द्रद्वीप	इन्द्रद्युम्न	इन्द्रदमन	अण्डमान
२. नागद्वीप	–	निकोबार	नीकोबार
३. सौम्य	सोमात्रा	सुमात्रा	यवद्वीप बलिद्वीप
४. गन्धर्व	–	फीलीपाईन-द्वीपसंघ	लुम्बकसुम्बाफलोरीन प्रभृति
५. वारुण	–	वोर्नियो	बूनाई = बूनी
६. कशेरुमान्	कसेरु	सेलेवीस	–
७. गभस्तिमान्	–	मलूका	–
८. ताम्रपर्ण, सिंहल	ताम्रपर्णी	टापूरोवेनसीलोन	सीलोन-सरन्
९. कुमारिका	कुमारी	भरतखण्ड	–

१. भूवृत्तपादे पूर्वस्या नवकोटीति विश्रुता ।
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा ।।
याम्यायां भारते वर्षे लंका तद्वन्महापुरी ।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्तिता।।
भूवृत्तपादविवरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः ।
तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः ।
न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते ।।

२. यल्लंकोज्जयिनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशते ।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ।।

३. द्र०मधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृते इन्द्रविजये सीमाप्रसङ्गः, पृ०३९।

ग्रीनविच मध्यरेखा में ७५/४३ अंशों का अन्तर है। इसी प्रकार मध्यरेखा पर स्थित उज्जयिनी से ४५ं पश्चिम तक भारत की पश्चिमी सीमा सिद्ध होती है और वह प्रदेश भूमध्यसागर के समीप ही ठहरता है।

४. भारतवर्ष के नव उपद्वीप पुराणों में प्रसिद्ध है— (तालिका संख्या-१५, पृष्ठ-सं० १४५)

१. इन्द्रद्वीप २. नागद्वीप, ३. सौम्यद्वीप ४. गान्धर्वद्वीप, ५. वारुणद्वीप, ६. कशेरुमान्, ७. गभस्तिमान्, ८. ताम्रपत्र, ९. सिंहल। इन उपद्वीपों का वर्तमान नाम भी उपलब्ध है। इन सबका विस्तृत वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। जब इतने दूर के देश उपद्वीप माने गये हैं, तब अवश्य ही भारतवर्ष बहुत विस्तृत है—यह सिद्ध होता है; क्योंकि सीमा के समीप वाले मिले हुए देश ही उपद्वीप कहला सकते हैं।

५. ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८६ सूक्त से आरम्भ होकर आगे के सूक्तों में एक वाक् कलह का संकेत प्राप्त होता है। ऋजाश्व ऋषि का दौहित्र एक जरथुस्त्र[1] नाम का व्यक्ति हुआ, उसके हृदय में स्वभावतः उस काल के अन्य ब्राह्मणों से द्वेष था। ब्राह्मणद्वेष के कारण ही उसने ब्राह्मी लिपि के विरुद्ध उल्टी लिखी जाने वाली खरोष्ठी लिपि का प्रसार किया। उसी के समय वाह्लीक देश में ऋषियों में एक विचार-संघर्ष और वाग्युद्ध उठ खड़ा हुआ। सौत्रामणि इष्टि में ऋषि इस विषय पर आपस में कलह किये कि इन्द्र को प्रधान देवता माना जाय अथवा वरुण को। जयधुष्ट्र ने परम्परा से चले आते हुए इन्द्र के प्राधान्य को अस्वीकार किया और उसके स्थान पर वरुण के प्राधान्य को प्रतिष्ठित किया।

इसका संकेत ऋक्संहिता[2] में पाया जाता है। उपस्थित ऋषियों में नृमेधा, वामदेव, हिरण्यस्तूप, गार्ग्य आदि ने इन्द्र का पक्ष लिया और सुपर्ण-काण्व-भारद्वाज आदि ने वरुण का पक्ष लिया, वशिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों को समान माना।

---

१. अयं जयधुष्ट्र एव पारसीकानां मूलग्रन्थस्य जिन्दावेस्तानामकस्य निर्माता आसीत्। जिन्दावेस्ता-ग्रन्थः पूर्वं पल्लवीभाषायाम् आसीत्। तेन एतेषां तद् ग्रन्थानुयायिनाम् अग्निपूजकानां पारसीकानां पुरात्वे चन्द्रवंशीय-क्षत्रियत्वानुमाने अपि कालेन पल्लवसंज्ञा प्रसिद्ध-जातिमुक्तत्वमनुमीयते।

द्र०, "इन्द्रविजय" मधुसूदनविद्यावाचस्पति, पृ० ६५।

जिन्दावेस्ताग्रन्थे अनेकः पौराणिकः प्रसङ्गो विद्यते यथा अकूनबिहरहमनेव्यासनाम्, अजहिन्द आमद, वसदानके आकिल चुनानेस्त। चूँ व्यास हिन्दीवलख आमद। गस्तस्य जरथुस्तरॉ वखवाद। द्र०, जिन्दावेस्ता ६५। अन्यत्र दशतीरग्रन्थेऽपि "वैवहिन्द वाजगस्ते।"

२. द्र०, ऋ०वे०, १०.८.६।

इस सम्बन्ध में विभिन्न ऋषियों के सूक्त वही हैं और इन्द्राणी का क्रोध एवं इन्द्रकृत और अन्य ऋषिकृत सान्त्वना मन्त्र भी हैं। यह विरोध बहुत अधिक बढ़ गया, तब मनुष्यावतारधारी ब्रह्मा ने, जो विद्वान् प्रभावशाली, महातेजस्वी थे, भारत के दो विभाग कर दिये।

सिन्धु नदी से पश्चिम का भाग वरुण को प्रधान मानने वालों को दिया गया तथा पूर्व का भाग इन्द्र को प्रधान मानने वालों को दिया गया। इस घटना से भी भारतीय सीमा के अतिविस्तृत होने का प्रमाण मिलता है; क्योंकि इससे सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु नदी भारत के मध्य में है न कि पश्चिमी सीमा पर। सिन्धु नदी को मध्य में मानने पर, जितना प्रदेश सिन्धु के पूर्व में है, उतना ही पश्चिम में मानना पड़ेगा और वह भाग भूमध्यसागर तक ही पहुँचेगा।

६. भारत की सीमा प्राचीन काल में अत्यधिक विस्तृत थी। इस विषय में प्राचीन काल और आधुनिक काल में प्रचलित संज्ञा शब्द भी प्रमाण है। इन्द्र और वरुण को प्रधान मानने के विचार-विरोध में ब्रह्मा ने भारत के दो विभाग कर दिये—

(क) सिन्धु नदी के उस पार तक का लालसागरपर्यन्त प्रदेश।

(ख) सिन्धु नदी के पूर्व का प्रदेश।

इस प्रकार विभाग होने के अनन्तर सिन्धु के पार वाले लोग पूर्वी तट वालों को सिन्धुस्थानीय कहने लगे।

इस शब्द का भाषावैज्ञानिक ढंग से विकृत होने वाला रूप आज हिन्दुस्तानी हो गया। इस प्रकार पूर्वी तट वाले लोग, पश्चिम के निवासियों को पारसस्थानीय कहने लगे। यही शब्द विकृति प्रक्रिया के द्वारा आज पारसी के रूप में उपस्थित हुआ है। इसी प्रकार प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त सिन्धुस्थान और पारस्थान शब्द आपेक्षिक हैं और भारत के पश्चिमी सीमा के विस्तार का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार पूर्वीय भाग के लिए 'आर्यावर्त' संज्ञा प्रसिद्ध है और पश्चिमी भारत का निर्देश 'आर्यायण' शब्द से हुआ। आवर्त्त और आयन शब्द का एक ही तात्पर्य है। वही आर्यायण शब्द भाषा नियम से ईरान बन गया। ये दो संज्ञाएँ दोनों भागों में आर्यों की स्थिति और उनकी प्रधानता का संकेत करती हैं और भारत के सीमाविस्तार को पुष्ट करती हैं।

लालसागर से पूर्व और सिन्धु नदी से पश्चिम कैस्पियन सागर के दक्षिण भाग के प्रदेश को ओरियन्स शब्द से व्यवहृत किया जाता था। यह शब्द

''आर्यवंश'' शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। यह भी अनुमान है कि ब्राह्मण-विरोधी जरधुस्त्र के अनुयायी विपरीतगामी होने के कारण 'वामग' कहलाये। इसी से 'मग' जाति प्रसिद्ध हुई और प्राचीन आर्यों के विरोधी होने के कारण उन्हें आर्यों का बाधक ''आर्यस्पश'' कहा गया। उनका देश भी आर्यस्पश कहलाया। वही शब्द 'आर्यस्प' और क्रमशः 'ओरियन्स' के रूप में आ गया। इस प्रकार यह ओरियन्स आर्यों का निकेतन सिद्ध हुआ और इस संज्ञा से भी पश्चिम विभाग में आर्यों का निवास स्फुट अनुमित होता है। एरियाना शब्द, जो कि पश्चिम देशों के लिए प्रयुक्त है, वह भी आर्य मूल निवास ही है। इण्डिया और वामनिया शब्द भी आर्यनिवासमूलक ही प्रतीत होता है। वर्तमान में और निकट अतीत में प्रयुक्त कतिपय संज्ञा शब्द भी इस विस्तार सीमा को सिद्ध करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

परवर्ती काल में प्रयुक्त होने वाला खुरासान शब्द भी इस विषय में प्रमाण है। पश्चिमी भाग का राजा वरुण था एवं ऋषि वशिष्ठ उसके प्रधान मित्र थे। पुराणों में कथा प्रसिद्ध है कि कान्यकुब्ज का राजा विश्वामित्र किसी समय वशिष्ठ के पास निवास करने वाली गौ नन्दिनी को हरण करने के लिए प्रवृत्त हुआ। नन्दिनी, विश्वामित्र के साथ जाने की इच्छुक नही थी। बलात् हरण करने पर क्रोधित होकर, उसने उस भूमि को अपने खुरों के प्रहार से खोद डाला। इस प्रकार से नन्दिनी गौ का अपहरण वशिष्ठ ऋषि भी सहन न कर सके और इन्होंने वरुण को सहायता के लिए कहा। वरुण ने पल्लहव, पारद, यवन, शक और कम्बोजों को उनकी सहायता के लिए भेजा। उन्होंने विश्वामित्र को सेना सहित पराजित किया और गौ नन्दिनी की रक्षा की। नन्दिनी के खुरों से खोदने के कारण उस प्रदेश के निवासियों का नाम खुरध-खुरद-कुर्द हुआ एवं उनके जनपद संघों का नाम खुर्दस्थान या खुरासान हुआ। यह खुरासान शब्द, जिसका प्रयोग अकबर आदि मुगल बादशाहों ने किया है, पश्चिमी भारत को भारत सिद्ध करने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। पश्चिम के देश के लिए प्रयुक्त होने वाला ईरान शब्द भी आर्यायण से ही निष्पन्न है और वहाँ आर्यों के निवास को बताता है। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब सिन्धु से पश्चिम के लालसागर तक के भारतीय प्रदेशों की ईरान, फारस, खुरासान आदि संज्ञाएँ दिखाई गई हैं, तब बहुत समय से ये नाम, विशेष भूभाग या विशेष देशों के वाचक कैसे हुए? आज ईरान, खुरासान, फारस आदि शब्द लालसागर तक के प्रदेश के वाचक नहीं, अपितु संकुचित

देशविशेषों के वाचक ही हैं। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ, द्वारका, लंका नाम के प्रदेश प्राचीन काल में आज की अपेक्षा बहुत विस्तृत थे; परन्तु कालक्रम से विभिन्न राजाओं के अधिकार में सीमाओं का संकोच और विस्तार होते रहने से आज इनका छोटा संकुचित स्वरूप रह गया है। यही बात इन पश्चिमी प्रदेशों की संज्ञाओं पर भी घटित होती है। विभिन्न समयों में, पश्चिमी प्रदेशों में राजनैतिक घटनाओं के कारण अनेक राज्य बने और विघटित हुए। समय-समय पर शासकों ने अपनी सीमाओं के निर्धारण में संकुचित प्रदेशों के लिए इन संज्ञाओं को रूढ़ कर दिया; परन्तु प्रारम्भ में जब ये संज्ञाएँ दी गई थीं, तब विस्तृत प्रदेश की ही वाचक थीं।

पुराणादि में पश्चिम प्रान्त में मऊ और केकय देश अतिप्रसिद्ध हैं। ये विशाल प्रान्त थे। वाह्लीक देश भी पश्चिम का विशाल प्रान्त था, जिसके प्रभावशाली राजा भूरिश्रवा आदि महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा थे। वाह्लीक प्रान्त में ही एक 'शाकद्वीप' नाम से प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ के क्षत्रिय "शक" कहलाते थे और जो ब्राह्मण उस प्रान्त से आकर बिहार के कुछ भाग में रह गए हैं, वे आज भी शाकद्वीपीय नाम से कहे जाते हैं। आज उस देश को स्कीथिया या स्कीदिया कहा जाता है। इस प्रकार के अनेक संज्ञा शब्द उस देश को संस्कृतज्ञ आर्यों का निवास सिद्ध कर रहे हैं और भी इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भारत पहले अत्यन्त विस्तृत प्रदेश था। राज्य क्रान्तियों के कारण वह पश्चिम से बहुत ही संकुचित होता गया और आज तो वह अतिसंकुचित दशा में पहुँच गया है।

"शास्त्रानुसार जो भारतीय संस्कृति का निरूपण होगा, उसमें इस तथ्य का ध्यान रखना होगा कि यह उस विस्तृत क्षेत्र की संस्कृति है और आज भारतीय संस्कृति में जिन अन्य देशों की संस्कृति का सम्मिश्रण ऐतिहासिक विद्वान् सिद्ध करते हैं, प्राचीन शिलालेखों और नवीन आविष्कृत प्रदेशों में जिन संस्कृतियों का आभास वे पाते हैं— वे देश भारतवर्ष में ही सम्मिलित थे।[१]

७. जो आज भूमध्यसागर कहलाता है, आर्ष वाङ्मय के अनुसार वह महीसागर है।

महीसागर = MEDITERRANEAN SEA इस विषय में यह मन्तव्य है कि आर्ष वाङ्मय में यह प्रसिद्ध है कि तारासुर के काल में मयवंशोत्पन्न साम नामक

---

१. द्र०, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, लेखक—म०म०पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, लेख—"भारतीय संस्कृति का मूल" पृ०, १८५-१९१।

प्रसिद्ध शिल्पी ने पृथ्वी में तीन जगह तीन पुरों का निर्माण किया था। ये तीनों पुर क्रमशः स्वर्ण, रौप्य और लोहमय थे। आर्ष वाङ्मय में इन तीनों पुरों को मायापुर कहा गया है। सूर पर्वत की दक्षिण उपत्यका में पृथ्वीलोक में लौहपुर, द्युलोक में स्वर्णपुर एवं पूर्वोक्त भूमध्यसागर के पूर्वी तट में भौम अन्तरिक्ष में रजतपुर था। विद्युन्माली, अम्बुजाक्ष एवं तारक क्रमशः लौह, रजत एवं सुवर्ण पुर के अध्यक्ष थे। ये तीनों पुर प्रत्येक पुष्य नक्षत्र के योग में एक साथ संयुक्त होकर आकाश में उड़ते थे। इस स्थिति में उक्त समष्टि = पुरत्रय को ''त्रिपुरी'' कहा जाता था। इस ''त्रिपुर'' के कारण असुर वर्ग अत्यधिक बलवान् हो गया था और देववर्ग को युद्ध के लिए प्रतिस्पर्धा हेतु भयभीत करता था। इस पूर्वोक्त संयुक्त त्रिपुर का ध्वंस करने का एकमात्र उपाय यह था कि पुष्य योग मे संयुक्त अवस्था में उनका संयोजन विघटित करके ध्वंस किया जाय; क्योंकि पृथक् रूप में अथवा संयुक्त हो जाने के बाद यह दुर्भेद्य था। उक्त रहस्य केवल भगवान् शिव को ज्ञात था एवं समय आने पर उन्होंने एक ही बाण से उक्त त्रिपुर का विध्वंस किया था। इस कारण भगवान् शिव को त्रिपुरारि एवं देवकोटि से महादेव का स्थान मिला। जहाँ पर भगवान् शिव ने यह विजय प्राप्त की, वह स्थान पुराणों में उनके नाम से 'शर्वतीर्थ' नाम से विख्यात हुआ। आज भी इन समस्त घटनाओं के साक्ष्य के रूप में मेडेटेरियन समुद्र साम्प्रतिक भूमध्यसागर के तट में ट्रीपोली स्थान विद्यमान है। त्रिपुर का प्रसंग वेद में बहुत प्राप्य है।[१] त्रिपुर को ब्राह्मणों में एक सुरक्षित स्थान कहा गया है; किन्तु इन स्थलों के पौराणिक होने के कारण ऐसे दुर्गों के अस्तित्व पर विशेष बल नहीं दिया जा सकता, जिनके चारों ओर तीन दीवारें हों।[२]

इन सबों के द्वारा भौमत्रिलोकी की स्थिति एवं भारतवर्ष की विशालता स्पष्ट होती है।

भरतखण्ड का निरूपण

भरतखण्ड = कुमारिकाखण्ड।[३] भरतखण्ड ही कुमारिकाखण्ड है। कुमारिकाखण्ड उस समस्त प्रदेश का सूचक है, जिसमें कश्मीर से कुमारी =

---

१. द्र०, (क) श०ब्रा०, ६.३.३.२५।
(ख) ऐ०ब्रा०, २.११।
(ग) तै०सं०, ६.२.३।
(घ) का०सं०, २४.१०।

२. द्र०, वै०इ०, भाग-एक।

३. कुमारिकेति विख्याता यस्या नाम्ना प्रकथ्यते।
....।।
इदं भरतखण्डं च मया सम्यक् प्रकल्पितम् ।। (वाच० समुद्धृत स्कन्दपुराण)

अन्तरीप तक स्थान आता है। नवद्वीपों सहित यही भारतवर्ष है। स्कन्दपुराण में इनका परिमाण निदेंश सहित तथा उपप्रदेशों की संज्ञाओं सहित विवरण दिया गया है।[1]

भिन्नाभिन्नत्व का विचार

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष और भरतखण्ड की स्थिति इस प्रकार है—भारतवर्ष व्यापक है और भरतखण्ड व्याप्य है।

इस व्याप्य-व्यापक रूप पार्थक्य की यथार्थता के आधार पर ही अद्यावधि समस्त वैदिक-तान्त्रिकादि अनुष्ठानों में भारतवर्ष और भरतखण्ड का पृथक् उल्लेख परम्पराप्राप्त है; क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते; अपितु व्यापक-व्याप्य भावरूप सूक्ष्म दृष्टि से युक्त हैं।

भारतवर्ष और वर्तमान भारतसंघ

भारतवर्ष के विशाल स्वरूप का पूर्व में सप्रमाण निरूपण किया जा चुका है। भरतखण्ड का स्वरूप भी स्पष्ट है।

वर्तमान भारतसंघ

वर्तमान भारतसंघ में कश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक एवं जम्बूद्वीप के आठ उपद्वीपों में लंका (लक्षद्वीप) एवं भारतवर्ष के नौ उपद्वीपों में इन्द्रद्वीप (अण्डमान), नागद्वीप (निकोबार) आदि सम्मिलित हैं; परन्तु पूर्वोक्त कुमारिकाखण्ड अर्थात् भरतखण्ड के सिन्धु-गान्धार मद्र-हिन्दुकुश पूर्व में ढाका, वर्मा, उत्तर में नेपाल-भूटान-तिब्बत-मानसरोवर-कांचनजंगा आदि को छोड़कर, वर्तमान भारतसंघ अत्यधिक व्याप्य कोटि में आ गया है।

उपर्युक्त समस्त भौगोलिक विवेचन का तात्पर्य यह है कि अश्वमेध के द्वारा न केवल भारतसंघमात्र की, अपितु समग्र ''भारतवर्ष'' की ही नहीं, अपितु उपद्वीपादि सहित सम्पूर्ण जम्बूद्वीप-जन्मप्रभृति आनुवंशिक एकता एवं अखण्डता के उत्तरदायित्व की पूर्ण स्थापना के लिए ही अभिषिक्त क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न अश्वमेध अधिकारी सम्राट् द्वारा विश्व दिग्विजय की महनीय परम्परा का सम्पादन किया गया है।

---

१. द्र०, पं० गिरिधरशर्माचतुर्वेदीकृत, ''पुराणपरिशीलनम्'', समुद्धृतं स्कन्दपुराणस्थ-माहेश्वरखण्डम्, कौमार० २.३९।

उपर्युक्त तर्क का व्यावहारिक प्रयोजन पक्ष

(क) जनसंख्या वृद्धि वर्तमान विश्व की नवीनतम असमाधेय उग्र समस्या है। समस्त विश्व की समस्त शासन संस्थाएँ, संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि विश्व-संस्थाएँ, तदंगभूत विश्वस्वास्थ्य संगठन आदि विश्वव्यापी संगठनों द्वारा इस समस्या के समाधान में चिन्ताएँ व्यक्त की जा रही हैं। विश्व तथा राष्ट्रीय स्तर पर अनेक कृत्रिम उपायों के अवलम्बन के लिए विभिन्न प्रचार साधनों का अहर्निश प्रयोग हो रहा है; परन्तु उपर्युक्त समस्त प्रयोग प्रचार उपायादि को प्राय: असफल करता हुआ "**भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि:**" के समान, प्राप्त विवरणों के आधार पर प्रतिवर्ष विश्व की जनसंख्या अनियन्त्रित रूप से बढ़ रही है। विश्व के अनेक शासनाध्यक्षों ने इस पर चिन्ता व्यक्त की है; परन्तु पुन: "तत्रैवावलम्बितो वेताल:" के अनुसार समस्या मानिनी नायिका के समान प्रतिकूल ही बनी हुई है।

युद्ध की अनिवार्यता का कहीं विधान इष्ट नहीं है; परन्तु वस्तुस्थिति की दृढ़ता अत्याचार-विरोध एवं औचित्य की रक्षा के लिए युद्ध स्वीकार्य भी है। राजवंशों के बहुपत्नीकरण को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी, राजोचित वैभवविलास इत्यादि के अनुकूल भी थी। तात्कालिक राजनैतिक वातावरण में यह कई दृष्टि से आवश्यक भी था।

आर्ष अनुशासनानुसार क्षत्रियवर्ग के लिए वीरगति लाभ अत्यधिक पुण्यास्पद है, आज भी वही स्थिति है; परन्तु आर्ष संविधान के अनुसार प्रत्यक्ष युद्ध में रणशीर्ष (युद्ध अग्रिम मोर्चे) पर युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त करना ही पुण्यास्पद है।

उक्त स्थिति में युद्ध को स्वीकारना एवं उसमें वीरगति प्राप्त करने के लिए अहमहमिकया जहाँ राजनीति का महत्त्वपूर्ण अंग हो, वहाँ जनसंख्या नियन्त्रण भी स्वभावत: सिद्ध है। धार्मिक युद्ध का यह भी एक कटु सत्य एवं मननीय पक्ष है।

(ख) जैसे वृक्ष की रक्षा के लिए मेड़ अर्थात् केदार का निर्माण किया जाता है। यह वृक्ष का अभिन्न अंग नहीं है; परन्तु वृक्ष की स्थिति के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार उपवन की रक्षा के लिए कण्टक-परिधि लगायी जाती है। वस्तुत: यह प्रकार या सीमारक्षा देश, जनता और राष्ट्र के राष्ट्रियत्व की रक्षा के लिए है। उसी प्रकार इस विशाल जम्बूद्वीप में जलसीमा की दृष्टि से विशाल भूखण्ड में आर्य राज्य

की सुदृढ़ स्थापना की उपलब्धि यही है कि तदन्तःपाती मानस सरोवर से लेकर कन्याकुमारी तक एवं पूर्व-पश्चिम के विशाल भूभाग की रक्षा हो सके।

(ग) जिस प्रकार मेड़ के रक्षा के कारण ही वृक्ष एवं उसके बीज-फल-पुष्प-पत्र, काष्ठमञ्जरी की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार परमवीर पुरुषों द्वारा विश्व-दिग्विजयी वैदिक अनुष्ठानों के आधार पर अतिविशाल पृथ्वी के एक चतुर्थांश पर स्वप्रभुसत्ता स्थापित करने का ही फल है कि आज भारतीय जनता को स्वतन्त्र भारतसंघ के रूप में वर्तमान भारत की नागरिकता प्राप्त है।

दशाश्वमेधरूप अश्वमेध-विशेष

वैदिक प्रयोगों में अश्वमेध सर्वान्तिम प्रयोग है। राजसूयादि महायज्ञ के बाद अश्वमेध अनुष्ठेय है; किन्तु अश्वमेधानुष्ठान के पश्चात् राजनीतिक दृष्टि से किसी अन्य प्रयोग की अपेक्षा नहीं है। अश्वमेध अनुष्ठान के पश्चात् दूसरे अश्वमेधानुष्ठान का वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि इस दृष्टि से ये यत्किञ्चित् संख्या-विशिष्ट पञ्चाश्वमेध, दशाश्वमेध का विधान नहीं मिलता; परन्तु शिष्टाचार परम्परा में दशाश्वमेध एवं शताश्वमेध का अनेकत्र उल्लेख है।

दुष्यन्तपुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के द्वारा गंगातट पर पञ्चपञ्चाशत् एवं यमुना तट पर अष्टसप्तति अश्वमेध अनुष्ठान का उल्लेख प्राप्त है।[1]

फिर भी दशाश्वमेध एवं शताश्वमेध का उल्लेख अनेक होने के कारण विचारणीय है, जिसका उत्तर राजनैतिक दृष्टि से दुर्लभ होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से मिल सकता है।

आध्यात्मिक दशाश्वमेध

आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियों को अश्व कहा गया है।[2] उपनिषद् में अश्व के लिए "हय" शब्द का प्रयोग करके इन्द्रियसमानता निरूपित है। "हय गतौ" = पशुओं में अश्व सर्वाधिक गतिशील है, वह प्रत्येक क्षण धावन के लिए तैयार रहता है।

इन्द्रियों की स्थिति भी यही है। वह हर क्षण विषयों के पीछे दौड़ती रहती हैं। दर्शनशास्त्रोक्त विवेचन के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रिय + पञ्च कर्मेन्द्रिय समष्टि में दश इन्द्रियरूपी अश्व विषयों के पीछे दौड़ रहे हैं।[3]

---

१. द्र०भा०पु० ९.२०.२५-२६।

२. द्र०, कठ०उ०, "इन्द्रियाणि हयान्याहुः"।

३. द्र०, कठ०उ०, "दुष्टावश्व एव सारथेः"।

परन्तु यदि कोई उपयुक्त पात्र इन दश इन्द्रियरूपी अश्व का ''मेध'' करने के समर्थ हो, तो वह दशाश्वमेधाधिकारी महापुरुष है। यह कार्य दुःसह होने पर भी सर्वथा असम्भव नहीं है एवं उपर्युक्त आध्यात्मिक दशाश्वमेध के लिए राजनीतिक षाड्गुण्यादि की भी कोई अपेक्षा नहीं, अपितु साधक व्यक्ति बिन्दुशोधनपूर्वक ऊर्ध्वरेता की स्थिति में दशाश्वमेध का सम्पादक हो सकता है।

आध्यात्मिक दश इन्द्रियाश्वमेध का तात्पर्य है—दश इन्द्रियों, नेत्र-जिह्वा-कर्ण-नासिका-त्वक् पञ्च ज्ञानेन्द्रियों एवं वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ पञ्च कर्मेन्द्रियों का क्रमशः रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श एवं वाणी, ग्रहण, गति, उत्सर्ग, आनन्द रूप विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होना। वस्तुतः इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति ने उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष को अवरुद्ध कर दिया है। उसको स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि भोग में जो अद्भुत सुखातिशय की उपलब्धि होती है, बिन्दुधारणपूर्वक ऊर्ध्वरेता की स्थिति में उससे सहस्र गुण दिव्य सुखानुभूति होती है। अवश्य ही यह स्थिति दुर्लभ है; परन्तु सर्वथा असम्भव नहीं है। यदि इन्द्रियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति सर्वथा असम्भव होती या बहिर्मुखी प्रवृत्ति अधिक सुखास्पद न होती, तो व्यक्ति क्यों उसमें प्रवृत्त होता। ''**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**'' योगदर्शन में इस स्थिति को '**प्रत्याहार**' शब्द के द्वारा संकेतित किया गया है।

उपनिषद् के शब्दों में—

''**पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् परां पश्यति नान्तरात्मा**''।

आधुनिक काल में कृष्णचैतन्यभारती' गुरुनानकदेव, रामकृष्णदेव इत्यादि प्रातःस्मरणीय महापुरुष इस सन्दर्भ में स्मरणीय हैं। यज्ञात्मक अश्वमेध में भी इन्द्रियसंयम की पराकाष्ठा सर्वथा अपेक्षित है।

पौराणिक दशाश्वमेध

(क) पुराणों में दशाश्वमेधिक नामक अनेक स्थानों का वर्णन है। यह सभी स्थल तीर्थों के अन्तर्गत हैं। आज भी वाराणसी, प्रयाग, अयोध्या, हरिद्वार, चित्रकूट, नैमिषारण्य आदि स्थानों में दशाश्वमेध घाट प्रसिद्ध हैं। इनमें वाराणसीस्थ दशाश्वमेध घाट का प्राचीन नाम रुद्रसरोवर तीर्थ है, गंगा जी के आने पर उक्त सरोवर गंगागर्भ में विलीन हो गया है। स्कन्द महापुराण के अनुसार ब्रह्मा ने काशिराज दिवोदास की सहायता से यहाँ पर दशाश्वमेध किया था—

साहाय्यं प्राप्य राजर्षेर्दिवोदासस्य पद्मभूः ।
इयाज दशभिः काश्याम् अश्वमेधैर्महामखैः ।।
तीर्थं दशाश्वमेधाख्यं प्रथितं जगतीतले ।
तदाप्रभृति तत्रासीद् वाराणस्यां शुभप्रदम् ।।
पुरा रुद्रसरो नाम तत्तीर्थं कलशोद्भव ।
दशाश्वमेधिकं पश्चाज्जातं विधिपरिग्रहात् ।।[1]

इसी स्थान पर दशाश्वमेधेश्वर शिवलिंग भी है।

(ख) डॉ॰ काशीप्रसाद जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया है कि इसी घाट पर कुषाणों को पराजित करने वाले नागगण भारशिवों ने भारतीय साम्राज्य के पुनरुत्थान के प्रतीक रूप में दश अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। इसलिए यह स्थान दशाश्वमेध कहलाया। इसकी सम्पुष्टि एक वाकाटक अभिलेख से भी होती है।[2]

आज भी काशी के दशाश्वमेध घाट की उत्तर दिशा में स्थित घाट का नाम घोड़ाघाट है। प्रसिद्धि के अनुसार अश्वमेध का अश्व वहीं बाँधा गया था। घोड़ाघाट में पूर्वोक्त महनीय इतिहास का दृश्य प्रस्तुत करती हुई एक अश्व की मूर्ति भी स्थापित की गई थी।[3]

इन्द्रत्व का स्वरूपयोग्यतारूपी अश्वमेधविशेष

प्रत्येक कल्प में एक इन्द्र की नियुक्ति होती है। इस प्रकार यह इन्द्र एक पद है, जो पदेन देवताओं का प्रधान शासक होता है। इन्द्र, मनु, सप्तर्षि, व्यास ये सभी पदनाम हैं। विभिन्न युगों में विभिन्न महापुरुषों द्वारा उक्त पदों

---

१. द्र०, स्कन्दपु०, काशीखण्ड, अध्याय ५२।

२. ''........भागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां भारशिवानाम्''।
द्र०, काशीप्रसाद जायसवाल का ''अन्धयुगीन भारत'' हिन्दूधर्मकोश समुद्धृत।

३. घोड़ाघाट इति। काश्यां बहूनां स्थानानां नामानि अद्यावधि पौराणिकानि ऐतिहासिकानि वा, तैर्नामभिस्तत्रत्यं तथ्यं प्रकाश्यते यथा ब्रह्मनाल-कर्णघण्टा-पिशाचमोचन-कपालमोचन-मणिकर्णिका-चक्रतीर्थ-रामघाट-हनुमानघाट-प्रभृतीनि पौराणिकानि, घोड़ाघाट इति तु ऐतिहासिकम्।
अस्मिन् स्थाने अश्वस्य काचिद् मूर्तिरपि आसीत्। तच्चित्रं तु काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय-भारतकलाभवने आसीदिति श्रूयत इति।

को शोभित किया जाता है। दीर्घकालिक होने के कारण पदासीन व्यक्ति पद-नाम से ही व्यवहृत होता है। अपने अधिकार काल में पदनाम से ही व्यक्ति का व्यवहृत होना आज भी सिद्ध है, यथा—राष्ट्रपति, राज्यपाल, कुलाधिपति, कुलपति।

अश्वमेध महायज्ञ दृष्टादृष्टोभय-प्रयोजन-साधक है। इसमें शताश्वमेध के अदृष्ट प्रयोजन में इन्द्रत्व प्राप्ति भी है, अर्थात् आर्य परम्परा में, अभिषिक्त क्षत्रियराजवंश में उत्पन्न, संस्कारसम्पन्न सम्राट् वर्णाश्रमाचारानुकूल सम्बन्ध से विधिवत् परिणीत क्षत्रिया में उत्पन्न, श्रौत-स्मार्त आचारनिष्ठ, सविधि अभिषिक्त क्षत्रिय द्वारा क्रमश: निर्विघ्न शताश्वमेध सम्पादित होने के बाद अपूर्व उत्पन्न होता है, उससे जीवात्मा का संस्कार अपार्थिव हो जाता है।

अत्र किञ्चित्—प्रत्येक जीवात्मा अपने इन्द्रिय और शरीर के कारण सदैव कर्मशील रहता है। प्रत्येक कर्म करने के पश्चात् उस कर्म से उस आत्मा पर कुछ न कुछ प्रभाव पहुँचता है और उसी प्रभाव को "संस्कार" कहते हैं। यह संस्कार यदि देव प्राणों का संग्रहकर्ता होता है, तो उस कर्म को "पुण्य" कर्म कहते हैं; किन्तु यदि वह संस्कार आसुर प्राणों से निर्मित होता है, तो उससे आत्मा कृष्ण हो जाता है, और उस कर्म को "पाप" कहते हैं। पुण्य प्रभाव से आत्मा सूक्ष्म होता है, और उसकी गति ऊर्ध्वगामी होती है; किन्तु पापकर्म से आत्मा भारी होता है। वह ऊर्ध्वगामी न होकर अधोगामी होता है, इसलिए पाप को पातक अर्थात् 'गिरने वाला' कहते हैं। यदि आत्मा में पुण्य कर्मों का संस्कार है, तो वह शुक्लमार्ग से जाएगा और पापकर्मों के संस्कार वाला आत्मा कृष्णमार्ग से जाएगा।

इन कर्मों में, ज्ञानपूर्वक यज्ञ-तप-दान-योग-उपासना ये पाँच कर्म ऐसे हैं, जिनसे आत्मा शुक्लमार्ग से चलकर देवलोक में जाता है; किन्तु इष्ट (स्मार्तयज्ञ), आपूर्त्त (वापीकूपादिनिर्माण), दत्त (अन्नादि दान) ये तीनों कर्म भी उत्तम कर्म माने जाते हैं; किन्तु इनमें कृष्णमार्ग में प्रवृत्त आत्मा नरक जाने की अपेक्षा पितृलोक में जाता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म हैं, उन्हें पाप कहते हैं, इनको करने से आत्मा में आसुर प्राण का संस्कार होकर भारयुक्त हो जाती है, वह ऊपर सूर्य की ओर न जाकर पृथ्वी से नीचे गिरता है और यही अधोगति कहलाती है।

इस प्रकार कर्म से कृष्णमार्ग और शुक्लमार्ग का भेद ज्ञातव्य है। पातकों में भी अतिपातक, महापातक आदि प्रबल पातक कर्मों से नरकगति होती है। इसी प्रकार शुक्लमार्ग में भी दो गतियाँ है—

१. ब्रह्मलोकपर्यन्त गति, २. देवलोकपर्यन्त गति।

देवलोक गति सर्वोत्तम गति होती है। वहाँ पहुँचकर कोई जीवात्मा पृथ्वीलोक में नहीं आ सकता; क्योंकि वह पृथ्वी के आकर्षण (मोह) से बहिर्भूत होता है। पृथ्वी से उसका पुनः सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता; किन्तु जो ब्रह्मलोक तक नहीं पहुँचते, उसके नीचे देवलोक में रह जाते हैं, वे पुण्य क्षीण होने पर पृथ्वीमण्डल पर आ सकते हैं। ब्रह्मलोक की गति, उग्र तप, योग या प्रबल उपासना द्वारा प्राप्त होती है। इसे वेदान्तादि शास्त्रों में "क्रम-मुक्ति" नाम से अभिहित किया गया है।[1]

शताश्वमेधकर्तृत्व

पूर्वचर्चित इन्द्रत्व की स्वरूपयोग्यता में शताश्वमेधकर्तृत्व ही आर्ष परम्परा स्वीकृत है। अन्य कोई वैदिक अथवा तान्त्रिक अनुष्ठान शताधिक सम्पन्न होने पर भी देवराजत्वरूप इन्द्रत्व के प्रति प्रयोजक नहीं है।

अन्य सभी महान् अनुष्ठान यथाविधि सम्पन्न होने पर यथाविधि फलदायी होंगे; परन्तु उनसे इन्द्रत्व की प्राप्ति नहीं होगी। इस प्रकार इन्द्रत्व की प्राप्ति के प्रति शताश्वमेधकर्तृत्व कारण है। यद्यपि कार्य-कारण में कालिक, देशिक उभयसामान्याधिकरण अपेक्षित है, इस दृष्टि से इस लोक में किये गये शताश्वमेध द्वारा लोकान्तर, कालान्तर में शरीरान्तर द्वारा इसका भोग कैसे कार्य-कारण पराधीन माना जाय? इस स्थिति में दार्शनिक दृष्टिकोण से यहाँ व्यभिचार दोष भी आ सकता है।

एक आक्षेप का समाधान

परन्तु ऐसी बात नहीं हैं; क्योंकि कार्य-कारण का देशिक, कालिक सामान्याधिकरण परतन्त्रता लौकिक विषय पर है, दिव्य विषयों पर नहीं। मीमांसा-दर्शन के अनुसार अनुष्ठानादि से उत्पन्न अपूर्व लोकान्तर तक रहता है और तज्जन्य फलभोगरूपी कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध प्राक्क्षणावच्छेदेन स्थितिरूप कारणतावान् है।

अश्वमेध विशेष—शतक्रतु एवं शक्र शब्द विमर्श

पूर्वोक्त विवरणानुसार शतक्रतु में "**क्रतु**" शब्द क्रतुविशेष अर्थात् अश्वमेधपरक ही है। आचार्य पतञ्जलि के शब्दों में[2]—"**त्रयां शब्दानां प्रवृत्तिः**

---

१. द्र०, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति", लेखक म०म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० १४१-१४२।

२. द्र०, महाभाष्यां प्रत्याहाराह्निकं ऋलृक्सूत्रम्।

जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाश्च''। इनमें शतक्रतु शब्द क्रिया शब्द माना जाएगा। धावक-पाठक आदि के समान, यथा—धावनकर्तृत्वं धावकत्वम्, पठन-कर्तृत्वं पाठकत्वम्, तथैव शताश्वमेधकर्तृत्वं शतक्रतुत्वम्। शतक्रतु का ही संक्षिप्त रूप शक्र है, ऐसा विभिन्न विद्वानों का मत है। इस पर किञ्चित् विवेचन कोशकारों के अनुसार द्रष्टव्य है—**शक्नोति, शक्लृ-शक्तौ (स्वा०प०अ०) ''स्फायितञ्चि'' (३.२.१३) इत्यादिना रक्। ''शक्रः पुमान्देवराजे कुटजार्जनभूरुहोः'' इति मेदिनी (१२९.८७)**।

शताश्वमेधों पर इन्द्रकर्तृक विघ्नसम्पादन का कारण

आर्ष वाङ्मय में, पदासीन इन्द्र द्वारा अनेक शताश्वमेध अनुष्ठान के अनन्तर शततम अश्वमेध का विघ्न किया जाना प्राप्त है। यह प्रसंग अवश्य विचारणीय है। स्थूल दृष्टि से यह अत्यधिक रागद्वेषकलुषित दुष्ट हृदय का परिचायक है। द्वितीयतः पदासीन इन्द्र को तो अपने सम्पूर्ण कार्यकाल तक रहना ही है और कार्यकाल समाप्ति के पश्चात् पदपरिवर्तन अनिवार्य है। इस प्रकार समय से पूर्व कोई शताश्वमेधयाजी सम्राट्, वर्तमान पदासीन इन्द्र को पदच्युत नहीं कर सकता। इस अनिवार्य अवश्यम्भाविता की परतन्त्रता में कोई इन्द्र के समान महनीय पदासीन व्यक्ति ऐसा उद्देश्यहीन, गर्हित, निन्दित, उपलब्धिशून्य कार्य क्यों करेगा?

उक्त आक्षेप का समाधान

वस्तुतः यह सभी आक्षेप आपातरमणीय हैं। पदासीन इन्द्र द्वारा, किसी के द्वारा क्रियमाण शततम अश्वमेध में विघ्न करना, क्रियमाण कार्य के प्रति अधिकारी का दृढ़ता सम्पादन ही लक्ष्य है। इसको स्थूणानिखननन्याय के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार स्थूणानिखनन का तात्पर्य शिथिलता में नहीं, जब कि स्थायी सुदृढ़ता में है, उसी प्रकार इन्द्र क्या और भी किसी अन्य दिव्य शक्ति के द्वारा क्रियमाण विभिन्न विघ्नों को जीत कर ही, शताश्वमेधयाजी की इन्द्रत्व प्राप्ति की वस्तुस्थिति है।

इस प्रकार शताश्वमेध सम्पादन एवं इन्द्रकर्तृक विघ्न करना दोनों इन्द्रत्व के प्रति कारण हैं।

प्रसंगतः यह भी उल्लेख्य है कि इन्द्रकर्तृक अनेक दिव्य अप्सराओं द्वारा ऋषियों के तपोभंग का वर्णन महर्षियों ने अपने ग्रन्थ में असकृत् साग्रह उल्लेख

किया है। स्थूल दृष्टि से यह अत्यधिक लज्जास्पद स्थिति है। महर्षि व्यास जैसे महापुरुषों द्वारा अपने कालजयी अनेक ग्रन्थों में, अनेक बार, अनेक प्रसंगों में, ऐसी घटनाओं का विस्तारपूर्वक, नामोल्लेखपूर्वक उल्लेख प्राप्त होता है; परन्तु इन सबों का तात्पर्य है कि तपोऽधिकारी ऋषि में जो सूक्ष्म न्यूनता है, जिसको कि सामान्य समाज में कोई समाधान नहीं कर सकता, इन्द्रादि दिव्य शक्तियों द्वारा उसको प्रकट करके अधिकारी को स्थूणानिखननन्याय से अपने लक्ष्य के प्रति और अधिक एकनिष्ठ होने के लिए प्रेरित करना ही इसका उद्देश्य है।

यहाँ यह रहस्य अवश्य ही मननीय है कि जिस एक अप्सरा के रूप-यौवन-सौन्दर्य से प्रभावित होकर अनेक महर्षियों का ब्रह्मचर्य स्खलन हो जाता था, दूसरी ओर ऐसे अनेक दिव्य रूप-सौन्दर्ययुक्त अप्सराओं के साथ अहर्निश रहने पर भी इन्द्र विकृति से सर्वथा रहित रहते हैं। महाकवि कालिदास के शब्दों में—"**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।।**"[१]

शक्र शब्द की बीजमन्त्रात्मकता

बीजमन्त्र, श्रौत, तान्त्रिक उभय वाङ्मय में 'अतिशय' का शाब्दिक व्यावहारिक रूप है। बीज में जिस प्रकार न्यग्रोध परिमण्डल सम्पूर्ण वटवृक्ष रहता है, उसी प्रकार बीजमन्त्र में सम्पूर्ण विषय रहता है। बीजमन्त्रों के अनेक स्वरूपों में एक यह भी है कि वाचक शब्द का अनुस्वारघटित आद्यक्षर ही सम्पूर्ण वाच्य की उपस्थिति कराता है। न्यासादि में यह विधि द्रष्टव्य है।

वाचक शब्द के आद्यक्षर के द्वारा वाच्य की उपस्थिति आज भी व्यवहार में स्वीकृत है, अत एव विभिन्न कार्यालयों की पत्रावलियों में अधिकारी के हस्ताक्षर का आद्यक्षर सर्वमान्य है।

शतक्रतु सखण्ड शब्द है—शत+क्रतु। इनमें आद्यक्षर श-क्र में बीजमन्त्र की शैली दृष्ट होने पर भी यह बीजमन्त्र नहीं है; क्योंकि—

(क) बीज मन्त्र के रूप नहीं चलते, यह अव्ययवत् होते हैं। हुंम् फट् वम् रम् लम् इत्यादि।

(ख) बीजमन्त्र अनुस्वारान्त होते हैं। यथा—फट्।

इसके विपरीत शक्र उदन्त है, अनुस्वारान्त नहीं और वचन, विभक्तियों में रूप चलते हैं। एतावता यह द्रव्यवाची शब्द है। **लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्।**

---

१. द्र०, कालिदास "कुमारसम्भवम्"।

शक्र शब्द का शक्तिग्रह

अर्थोपस्थापक शब्द पाँच प्रकार के हैं—

अर्थोपस्थापक शब्द

द्योतक   अनुवादक   वाचक   लक्ष्यक   व्यञ्जक

(क) द्योतक एवं अनुवादक की स्वतन्त्र अर्थोपस्थापकता नही है। द्योतक के विषय में आचार्य श्री नागेश भट्ट ने स्पष्ट कहा है[1]—"**स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठ-शक्त्युद्बोधकत्वं द्योतकत्वम्**" निपात इसी कोटि के अर्थोपस्थापक हैं।[2]

(ख) **साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।**[3]

कोश-व्याकरणादि आठों के अन्यतम उपायों से जो अर्थोपस्थापन कराता है, वह वाचक होता है एवं उसके अर्थ को वाच्य कहते हैं। जहाँ समानार्थाभिधायी अभिहित दो वाचक शब्द होगा, वहीं पुनरुक्ति दोष होता है, अन्यथा नहीं।[4] इसलिए आर्ष वाङ्मय में अनेकत्र प्र प्र पूज्य, सं संगत्य इत्यादि प्रयोग आते हैं, जो कि आपाततः देखने पर व्यर्थ प्रतीत होने पर भी उपर्युक्त विचारानुसार सर्वथा साधु हैं।

शक्र शब्द द्योतक, अनुवादक नहीं अपितु वाचक शब्द है। उच्चारित शब्द ही अर्थ का उपस्थापक होता है। आचार्य पतञ्जलि के शब्दों में—

"**उच्चारितः शब्दः प्रत्यायको भवति नानुच्चारितः।**"[5]

आचार्य भर्तृहरि ने भी स्पष्ट कहा है—

"**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।**"[6]

परन्तु अर्थोपस्थापना में शब्द का आनुपूर्वी उच्चारण कारण है। एकदेश, व्यवहित अथवा विपरीत उच्चारण तदर्थोपस्थापक नहीं होता। इस दृष्टि से शतक्रतु इस आनुपूर्वी से जायमान अर्थ श-क्र इस एकदेश से कैसे उपस्थापित होगा?

---

१. द्र०, वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा।

२. "प्राग्रीश्वरान्निपाताः—अधिरीश्वरे" द्र०, अष्टाध्यायी, १.१।

३. द्र०, मम्मटाचार्यकृत, काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास।

४. द्र०, प्राचां ष्फः तद्धितः, यथा—व्यतिलुनीते।

५. द्र०, महाभाष्यम्।

६. द्र०, अणुदित्सूत्रभाष्यम्।

यदि कहा जाय कि —"शक्र" शब्द से शतक्रतु शब्द उपस्थापित होता है एवं उससे इन्द्र रूप अर्थ की उपस्थिति होती है, अर्थात् शक्र शब्द इन्द्र अर्थ का वाचक नहीं अपितु शतक्रतु शब्द का स्मारक है; परन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि अनुभवविरुद्ध है। अनुभव के आधार पर यह सिद्ध है कि शक्र शब्द साक्षात् संकेतित इन्द्र रूप अर्थ का उपस्थापक है। अतः यह शुद्ध वाचक शब्द है। वाच्यार्थ रूप अर्थवत्ता से ही प्रातिपदिकादि कार्य होते हैं। ऐसा शक्तिग्रह व्यवहारातिशय के कारण होता है, जैसे आज भी बी०एच०यू०, न्यूज, ओम् ये सभी शब्द साक्षात् संकेतित अर्थाभिधायक हैं। यही अनुभवसिद्ध है। यदि यह शक्तिग्रह भ्रमात्मक होता, तो उत्तरोत्तर काल में बाध हो जाता; परन्तु ऐसा अद्यावधि अदृष्ट है। कोश के द्वारा भी शक्र शब्द से इन्द्र रूप अर्थ का ज्ञान होता है। यथा—

इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः।
वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः।।
विष्णुर्लेखर्षभः शक्रः शतमन्युर्दिवस्पतिः।।[१]

प्रसंगतः "द्विरेफ" शब्द पर विचार

द्विरेफ शब्द की विभिन्न दार्शनिकों ने लक्षित लक्षणा[२] के द्वारा अर्थोपस्थापना मानी है। तदनुसार द्विरेफ शब्द "द्वौ रेफो यत्र" इस व्युत्पत्ति से "भ्रमर" इस आनुपूर्वी का स्मरण कराता है, उसके बाद "भ्रमर" रूप अर्थ की उपस्थिति होती है। इस प्रकार मध्य में एक अतिरिक्त व्यापाररूप कल्पना-गौरव होता है।

कल्पनागौरवं यत्र तत्पत्रं नाद्रियामहे ।
कल्पनालाघवं यत्र तत्पक्षं आद्रियामहे ।।[३]

परन्तु महावैयाकरण श्री नागेशभट्ट ने अनुभवविरुद्ध होने से उक्त मत का खण्डन कर, द्विरेफ शब्द से भी रूढ़ि शक्ति द्वारा कोशानुसार भ्रमररूप अर्थ की उपस्थिति मानी है।[४]

१. द्र०, अमर०, १.१.४२-४३।
२. द्र०, न्यायसिद्धतमुक्तावली शब्द-खण्ड।
३. द्र०, वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वबिन्दु।
४. "द्विरेफपुष्पलिड्हभृङ्गषट्पदभ्रमरालयः"। (अमर०, २.५.२९)

इस प्रकार शक्र शब्द भी कोश के द्वारा इन्द्र रूप अर्थ का साक्षात् वाचक है।

आधुनिक दृष्टि से शक्र शब्द पर विचार

आधुनिक व्यवहार में भी पूर्वोक्त रीति विभिन्न भाषाओं में स्वीकृत है। उदाहरणार्थ किसी का नाम शकक्रतु शास्त्री है, वह शक्र शास्त्री अथवा एस०के० शास्त्री भी लिख सकता है; परन्तु दोनों में कुछ भेद है। संस्कृत में शक्र शब्द निश्चित रूप से शतक्रतु रूप अर्थ का उपस्थापक है; परन्तु आधुनिक भाषाओं में श-क्र या एस०के० से शतक्रम या शान्तनु कुमार आ सकता है। व्यवहारातिशयताभावात् निश्चित अर्थों का उपस्थापन नहीं है।

व्यवहारातिशय होने पर आधुनिक भाषाओं में भी ऐसे ही स्थलों पर निश्चित अर्थ की ही उपस्थिति होती है, यथा—एम०ए०, बी०ए०, का०हि०वि०वि० इत्यादि। संस्कृत-भाषा में कुछ ऐसे निश्चित अर्थाभिधायी शब्दों का प्रसंगत: उल्लेख किया जा रहा है—

(क) सुदी

शुक्लपक्ष, यह अव्यय पद है। यह शुक्ल दिन का संक्षिप्त रूप है।[१]

(ख) वदी

कृष्णपक्ष, यह बहुल दिन का संक्षिप्त रूप है, यह अव्यय पद है।[२]

(ग) बव

यह ज्योतिषशास्त्रोक्त एक करण का नाम है, बलवर्धनं का संक्षिप्त रूप है।[३]

उपर्युक्त समस्त शब्दों से एक निश्चित अर्थ की उपस्थिति होती है। प्रसंगत: कुछ ऐसे निश्चित अर्थोपस्थापक संक्षेपीकृत शब्दों का संग्रह किया गया है, जो आद्यन्त वर्णों के संयोग से बना है।

(क) जल

'यस्मात् सर्वाणि भूतानि जायन्ते यस्मिन् च लीयन्ते इति जलम्'। अर्थात् जन्म, लय इन दो पदों के आद्यक्षर से जल शब्द का उपस्थापन हुआ है।

---

१. द्र०, सिद्धान्तकौमुदी, अव्ययप्रकरणम्।

२. द्र०, सिद्धान्तकौमुदी, अव्ययप्रकरणम्;

३. द्र०, धर्मदिग्दर्शन, माधवाचार्य।

(ख) अक्षमाला

तन्त्रवाङ्मय में अ से लेकर क्ष तक ५१ वर्ण हैं। ५१ वर्ण के प्रतीक रूप में जपमाला का विधान है। इसलिए उसे अक्षमाला कहते हैं।[१]

(ग) अहम्

पाणिनीय व्याकरण में अ से ह तक ६४ वर्ण[२] स्वीकृत हैं। यथा—

स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शाणां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता अष्टौ चत्वारश्च यमाःस्मृताः ।।
अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीयमेव च ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयः लृकारः प्लुत एव च ।।

स्वर = २१, स्पर्श = २५, यादि = ८, यम = ४, अनुस्वार = १, विसर्ग = १, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय = २, स्पृष्ट = १, लृकार = १ = ६४।

पाणिनीय व्याकरण के प्रत्याहार-सूत्र के अनुसार प्रथम वर्ण अ और अन्तिम वर्ण ह है—''अइउण् ऋलक्'', इन्हीं का समष्टि संक्षिप्त रूप अहम् है। यह अव्यय है।[३] अहम् = अस्मद् शब्द के प्रथमा का एकवचन नहीं है, अहंकार, अहन्ता आदि शब्द की प्रकृति है।

चतुर्दश प्रत्याहारसूत्र के श्लोकात्मक व्याख्याकार आचार्य नन्दिकेश्वर के शब्दों में—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।
आदिरन्त्येन संयोज्य अहमित्येव जायते ।।[४]

(घ) हिन्दू

इस शब्द में हिमालय + इन्दु इस समष्टि का संक्षिप्त रूप है। हि + न्दु = हिन्दु। इसके द्वारा उत्तर-दक्षिण की सीमा भी निर्धारित होती है। यथा—

''हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते'' ।।[५]

---

१. द्र०, ''आदिक्षान्तसमस्तवर्णनकरी'', शंकराचार्यकृत अन्नपूर्णास्तोत्रम्।
२. ''त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाशशम्भुमते मताः''। द्र०, पाणिनीयशिक्षा।
३. द्र०, अव्ययप्रकरण, सिद्धान्तकौमुदी।
४. द्र०, निर्णयसागरमुद्रितं नवाह्निकमहाभाष्यम्।
५. द्र०, धर्मदिग्दर्शन समुद्धृत बार्हस्पत्यशास्त्रम्, उत्तरार्ध, पृ० ५८-५९।

विश्वप्रसिद्ध पाणिनीय व्याकरण की आधारशिला "प्रत्याहार" भी पूर्वोक्त रीतियुक्त ही हैं, जिनमें अण्- अच्- अक्- अल् आदि प्रत्याहार आद्यन्त वर्ण संयोग से ही बने हैं। साथ ही समष्टि वर्णरूप निश्चित वर्ण का अवश्य उपस्थापन है।

प्रसंगत: विनियोग मन्त्रों में अर्थान्तर होने पर भी सम्बद्ध द्रव्यों में यत्किञ्चित् सदृश शब्दात्मकता का निरूपण

वैदिक प्रयोगों में जिस विषय पर जिस मन्त्र का विधान है, वह मन्त्र तद्विषयक अर्थवान् हो, यह आवश्यक नहीं है; परन्तु तदर्थवाचक किसी शब्द से या शब्दैकदेश वर्ण से घटित होना चाहिए, यथा शनि के लिए मन्त्र है—

शन्नो देवीरभीष्टये।[१]

दधि प्रयोग का मन्त्र है—"**दधिक्राव्णोरकारिषम्**"।[२]

पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों के अर्थ से शनिग्रह या दधिपदार्थ से कोई तात्पर्य नहीं है; परन्तु प्रथम मन्त्र में "शनि" यह शब्दैकदेश, द्वितीय मन्त्र में "दधि" यह आनुपूर्वी मात्र ही इष्टसाधक है।

यह सम्पूर्ण विषय अत्यन्त शाब्द तत्त्व प्रकाशक होने पर भी, प्रकृत विषय निरपेक्ष होने के कारण और ग्रन्थविस्तारभयात् यहाँ अनपेक्षित है; परन्तु शक्र शब्द के प्रसंग में शब्दैकदेश से अर्थोपस्थापकता की सिद्धि में दृढ़ता प्रदर्शनार्थ दिङ्मात्र निरूपित किया गया है।

शब्दतत्त्वदर्शी मनीषि-परम्परा में—"**सर्वेऽर्थवाचका:**" "**सर्वे परमार्थवाचका:**" इन दो मननीय सिद्धान्तों की पूर्वस्थिति भी शक्र आदि शब्दैकदेश द्वारा प्रतिपादित है।

अश्वमेध के प्रसंग में शतक्रतु का ज्ञान अनिवार्य है और यह समष्टि शब्द "शक्र" रूप संक्षेपीकरण में पूर्वोक्त समस्त सिद्धान्तों को प्रकट करता है।

उपर्युक्त दृष्टि की आधुनिक "कोड वर्ड" से तुलना

आधुनिक दृष्टि से भी यह तथ्य स्वीकृत है कि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषय के प्रतिपादनार्थ एक सांकेतिक निश्चित शब्द का प्रयोग होता है, जिसको "कोड वर्ड" कहते हैं। यह "कोड वर्ड" प्रसिद्ध शब्द का संक्षेपीकरण, एकदेश, आद्यन्त अथवा आदि वर्ण रूप ही होता है, किसी भी महत्त्वपूर्ण वस्तु का प्रतिपादन उपयुक्त पात्र को देने के लिए अथवा अपात्र से रक्षा के लिए ही उक्त परिपाटी का आश्रय लिया जाता है।

१. द्र०, अथर्वद पैप्पलादशाखा प्रारम्भिक मन्त्र, सम्पादक दुर्गामोहन भट्टाचार्य।

२. द्र०, तै०सं०, १.५.११.११, ७.४.१९.१५।

सम्भवतः शक्र शब्द के प्रयोग में वैदिक मनीषियों का यह दृष्टिकोण भी रहा है; क्योंकि शतक्रतु (अश्वमेध) का मानव जीवन में निर्विघ्न सम्पादन करना विश्व का महान् आश्चर्य है।

यदि प्रति अश्वमेध में न्यूनातिन्यून एक वर्ष का समय भी अपेक्षित हो एवं एक अश्वमेध के अवभृथ स्नान के तुरन्त पश्चात् द्वितीय अश्वमेध का संकल्प लिया जाय तथा युद्ध स्तर पर प्रतिपादन करके कार्य सम्पन्न किया जाय, तो भी शतवर्ष समय लगेगा, जो कि एक मानवायुष्य काल में अत्यधिक दुर्लभ है।

यदि माना जाय कि शतायुष्य वाला महाप्रभावशील व्यक्ति अपने एक जीवन में ही उसको सम्पन्न कर देगा, वह भी आश्चर्य है; क्योंकि अश्वमेध जैसी महायोजना प्रारम्भ करने के लिए अधिकारी व्यक्ति का न्यूनातिन्यून अनिवार्यता है—युवावस्था को प्राप्त करना। तत्पश्चात् शतवर्षपर्यन्त यदि निरन्तर अश्वमेध का संकल्प ले, तब भी प्रति वार अश्व का विजय प्राप्त करके ही लौटना और आयोजन में अपेक्षित द्रव्यराशि का संग्रह, उसका विकेन्द्रीकरण एवं उसी प्रकार सैन्य शक्ति आदि का होना अत्यन्त दुर्लभ है। अश्वमेध के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित चारों पत्नियों में से किसी की भी शारीरिक अस्वस्थता अथवा मृत्यु अथवा अश्वमेधयाजी की शारीरिक स्थिति आदि सभी विषय गम्भीरतया विचारणीय हैं।

राजपरिवार से भेद-वैर-कलह आदि द्वारा भी अपने को सुरक्षित रखना आवश्यक है। अश्वमेधयाजी व्यक्ति को वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता है एवं विधान के अनुसार वर्षपर्यन्त में वावाता के साथ ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक रात्रियापन करना पड़ता है। यथा—

''आगताभिस्ताभिः सह यजमानः सायमग्निहोत्रे हुते रात्रौ उदक्शिरः कृत्वा शयानाया वल्लभायाः पत्न्या ऊर्वोरन्तराले उदक्शिराः शेते। इतराश्च पत्न्यः परितः शेरते। ब्रह्मचर्यं नियमेन रक्षेत्। एवं संवत्सरपर्यन्तं वावातया सह शयनं, सावित्र्यः तिस्रः इष्टयः ......।''[१]

आयुष्य-ब्रह्मचर्य-सच्चरित्र इत्यादि विभिन्न कारणों से शतक्रतुकर्ता एक विशिष्ट व्यक्ति है। अत एव आर्ष मनीषियों ने इसका 'कोड वर्ड' के रूप में प्रयोग कर महत्त्वपूर्ण शैली-निरूपण का आश्रय लिया है।

---

१. द्र०, का०श्रौ०भू०, पृ०६५

पञ्चम परिच्छेद

साम्राज्ञी एवं ऋत्विक्-निरूपणाध्याय

अश्वमेधयाजी की पत्नियों का निरूपण

कुछ विधियों को छोड़कर श्रौत प्रयोग सपत्नीक अनुष्ठेय है। ब्रह्मचर्य, संन्यास आदि कतिपय विधियों में पत्नी की अपेक्षा नहीं है, अन्यथा प्रायः समस्त श्रौत अनुष्ठानों में पत्नी की अपेक्षा है।

यहाँ यह मन्तव्य है कि श्रौत प्रयोगों में पत्नी सापेक्ष होने का तात्पर्य है कि सपत्नीक यजमान ही इसका अधिकारी है। सपत्नीक यजमान, अधिकारी होने पर भी संकल्प के पश्चात् संकल्पित कार्य सम्पादन की अवधि में दोनों को विशेष नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करके रहना पड़ता है। संकल्पित कार्य-सम्पादन अवधि पूर्ण होने के पूर्व ब्रह्मचर्य-पालन-रूप व्रत भंग होने पर, संकल्पित कार्य केवल अकृत ही नहीं, विकृत होगा। महर्षि जैमिनि के शब्दों में[1]—

'न कर्मकर्तृकारणवैगुण्यात्'।

अश्वमेध में संकल्पग्रहीता यज्ञाधिकारी को अश्वमेध यज्ञ सम्पादनार्थ चार पत्नियों की अपेक्षा है[2]—

(क) महिषी, (ख) वावाता, (ग) परिवृक्ता, (घ) पालागली।

अश्वमेधयाजी की पत्नियाँ[3]

अश्वमेधयाजी के लिए विधानतः चार पत्नियों की आवश्यकता है, यथा—महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली। अश्वमेधयाजी सम्राट् के यज्ञ में

---

१. द्र०, मीमांसादर्शनम्।

२. चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति–महिषी-वावाता-परिवृक्ता-पालागली। (श०ब्रा०, १३.४.१.८)।

अपेक्षित चार प्रकार की पत्नियों में महिषी प्रधान है। प्रसंगत: विवेच्य है कि सन्तति-वृद्धि की दृष्टि से बहुपत्नीकरण वेदानुमोदित है। यथा[१]—

प्रथम पत्नी शब्द से यह स्पष्ट है कि राजा की अन्य पत्नियाँ भी होती हैं। अभिषिक्त क्षत्रिय राजकुल जैसे दुर्लभ वंश की सन्तति-वृद्धि के लिए बहुपत्नीकरण प्रयोजनास्पद था। शत्रुबाधानिवारणार्थ, प्रतिक्षण युद्धविजयार्थ, आनुवंशिक वंशपरम्परा की वृद्धि के लिए भी बहुपत्नी-स्वीकार प्रयोजनास्पद है।

---

१. (क) पतिं न पत्नीं रुषती रुषन्तं ....। (ऋ०वे०,१.६.२.११)

तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेप:—

उषती:=उषत्य: =कामयमाना:, पत्नी:=पत्न्य: उषन्तं=कामयमानं, पतिं न=पतिम् इव।
(अत्र ''न'' इति इवार्थक:, तथा च निरुक्तम्– ''नेति प्रतिषेधार्थीय: उभयमन्वध्यायम्)

(ख) उ प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनय: सनीडा:।
स्वसार: श्यामीवरूषीमजुषज् चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गाव: ।। (ऋ०वे०, १.७७.१)

(ग) अवत्मना भरते केतवेदा अवत्मना भरते फेनमुदन् ।
क्षीरेण स्नात: कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणेशिकाया:।।
युयोपनाभिरूपरस्यायो: प्र पूर्वामिस्तिरते राष्टि शूर:।
अञ्जसी कुलिशी वीरपत्नी पयो हिन्वाना उदभिर्भरन्ते।। (ऋ०वे०, १.१०४.३-४)

(घ) सं मा सपन्त्यभित: सपत्नीरिव पर्शव:।
मूषो न शिशना व्यदन्ति माध्य: स्तोतारं ते शतक्रतोवित्तं मे अस्य रोदसी।। (ऋ०वे०, १.१०५.८)

(ङ) माता देवानामदिरेतनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती विभाहि।
प्रशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो व्यच्छा नो जनोजनय विश्ववारे।। (ऋ०वे०, १.११२.१९)

(च) उत न ई मतयोऽश्वयोगा: शिशुं न नावस्तरुणं रिहन्ति।
तमीं गिरो जनयो न पत्नी: सुरभिष्टमं नरां नसन्त।। (ऋ०वे०, १.८६.७)

(छ) वि पथोवाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि।
साधन्तामुग्र नो धिय:। (ऋ०वे०, ६.५३.४)

(ज) राजेव हि जनिभि: क्षेष्येवाऽव द्युभिरभि विदुष्कवि: सन् ।
पिशा गिरो मघवन् गोभिरश्वैस्त्वायत: शिशीहि राये अस्मान् ।। (ऋ०वे०, ७.१८.२)

(झ) चकार ता कृपावन्नूनमन्यायानि ब्रुवन्ति वेधस: सुतेषु ।
जनीरिव परिरेक: समानो निमामृजे पर इन्द्र: सुसवी:।। (ऋ०वे०,७.२६.३)

(ञ) अच्छा म इन्द्रं मतय: स्वर्विद:सध्रीचिर्विश्वा उशतीरनूषत परिष्वजन्ते ।
जनयो यथा पतिं मय न शुन्ध्युमघवानमृतये ।। (ऋ०वे०, १०.४३.१)

(ट) उभेधुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानि:।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्।। (ऋ०वे०, १०.१०१.११)

(ठ) तस्मात् एको बह्वीर्जाया विन्दते। (तै०सं०,६५.१.४)

अश्वमेधयाजी अभिषिक्त सम्राट् राजवंश की दुर्लभता इसी से स्पष्ट है कि पुराण वाङ्मय जैसे विशाल साहित्य में भी केवल दो वंश इस कोटि के हैं—

(क) सूर्यवंश, (ख) चन्द्रवंश

क्वचित् अग्निवंश का भी उल्लेख हुआ है—

१. सूर्यवंश, २. चन्द्रवंश, ३. अग्निवंश।

इसकी दुर्लभता का एक और प्रमाण यह भी है कि इन वंशों के वर्णन के बिना समस्त पुराण अपूर्ण हैं। पुराण के लक्षणों में यह स्पष्ट है कि सूर्य,चन्द्र एवं मन्वन्तर, सर्ग-प्रतिसर्ग एवं वंशानुकीर्तन आवश्यक है। मैक्डोनल और कीथ ने स्पष्ट किया है—मैत्रायणी संहितानुसार[2] मनु की दस पत्नियाँ थीं और शतपथ-ब्राह्मण[3] एक विशिष्ट आख्यान द्वारा बहुपत्नीत्व की व्याख्या करता है। उपर्युक्त विभिन्न प्रमाणों से प्रयोजनानुसार एकपुरुषकर्तृक अनेक पत्नी-परिणय सिद्ध है।[4]

अश्वमेधप्रसङ्गे पत्नीप्रकाराः

महिषी	वावाता	परिवृक्ता	पालागली
प्रथमा	वल्लभा	अवल्लभा	दूतपुत्री

---

१. तदुक्तम्—
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पंचलक्षणम् ।। (शब्दकल्पद्रुम)
अत्र किञ्चित्—इदं पुराणसामान्यलक्षणम् । महापुराणम् एकादशलक्षणं ब्रह्मवैवर्तविष्णु-पुराणादिषु स्पष्टम् । तथा हि—
सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषाञ्च पालनम् ।
करुणा वासना वार्ता मनूनां च क्रमेण च।।
वर्णनं प्रलयानाञ्च मोक्षस्य च निरूपणम् ।
उत्कीर्तनं हरेरेव देवानाञ्च पृथक् पृथक् ।।
महापुराणं विज्ञेयमेकादशकलक्षणम् ।। (ब्रह्म-वैं०पु०, जन्मखण्ड,१३२अ०)

२. मै०सं०, १.५.८।

३. श०ब्रा०, ९.१.४.६।

४. क्वचिद् अपवादस्वरूपम्- एकस्त्रीकर्तृकम् अनेकपतिकरणमपि उपलभ्यते। साक्षाद् विधानाभावेऽपि अपवादविषये स्वीकृतिरस्ति।

महिषी[1] का निरूपण

महिषी समस्त पत्नियों में प्रधान होती थी। इसी के साथ सम्राट् का राजसिंहासन में अभिषेक होता था, जैसे कि सम्राट् युधिष्ठिर की देविका नाम की भी पत्नी थी, जो शिविनरेश गोवासन की पुत्री थी। उन्होंने स्वयंवर में युधिष्ठिर का वरण किया था। युधिष्ठिर-देविका के पुत्र का नाम यौधेय था;[2] परन्तु फिर भी युधिष्ठिर का अभिषेक द्रौपदी के साथ हुआ था।[3] महिषी समस्त पत्नियों में प्रधान एवं प्रथम परिणीता होती थी। यथा[4]—

तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोति। इयं वाऽअषाढेयमुवाऽएषां लोकानां प्रथमासृज्यत तमितस्या एव मृढः करोत्येषाढ ह्येव लोकानामियं महिषी करोति महिषी हीयं तद्येव प्रथमा वित्ता सा महिषी।

महिषी के साथ ही अभिषेक होता था, इसलिए उसको **कृताभिषेका** कहा गया है।[5]

मैक्डोनल और कीथ के अनुसार ये सभी नाम कुछ विचित्र और बहुत बोधगम्य नहीं हैं; किन्तु प्रमाण इसी बात का संकेत करते हैं कि प्रथम विवाहित पत्नी को ही वास्तविक आशय में पत्नी माना जाता था। यह दृष्टिकोण डेलब्रुक द्वारा समर्थित इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि यज्ञ के सन्दर्भ में पत्नी का सामान्येन एकवचन में ही उल्लेख है और प्रत्यक्षतः इसके अपवादों की दशा में कुछ पुराकथाशास्त्रीय कारण भी निहित हो सकते हैं।[6] महिषी राजा की पत्नियों में से सर्वप्रथम पटरानी अभिषिक्त महारानी होती थी। परवर्ती साहित्य में इसका उल्लेख प्रचुर हुआ है। कदाचित् ऋग्वेद में भी यह शब्द इसी अर्थ के साथ व्यवहृत हुआ है—

---

१. महिषीशब्दो पत्नीविशेषपरश्च, तदुक्तम् —''कृताभिषेका महिषी'' द्र०, अमर०, २.६.५।
अन्यत्र च–महिषी नृपयोषिति सैरिभ्यामौषधीभेदे इति हैमः ३.७८२।
''मह पूजायाम्'' भ्वा०प०सेट् अविमह्योष्टिषच् ३.१.४५।

२. द्र०, महा०भा०, आदिपर्व, ९५.७६।

३. पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेकश्लाघिष्टचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्यास्तत्स्त्रियोऽकृत हतेश विमुक्तकेशाः।।
(भा०पु०,१.१५.१०)।

४. द्र०, श०ब्रा०, ८.५.३।

५. द्र०, अमर०, २.६.५।

६. द्र०, वै०इ०।

कामेतं त्वं युवते कुमारं बिभर्षि महिषी जजान ।
पूर्वीहिं गर्भः शरदो क्ववर्धाऽपश्यं जातं यदसूरमाता ।।[१]
वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य इं वहाते महिषीमिषिराम् ।
आस्य श्रवस्याद् रथ आ च घोषात् पुरू सहस्रा परिवर्तयाते ।।[२]

अश्वमेध आदि यज्ञों में राजा के साथ यही प्रमुख रूप से भाग लेती थी।[३]

मेक्डोनल के अनुसार सम्भवत: ऋग्वेद तक में ''प्रथम पत्नी'' का पारिभाषिक आशय वर्तमान है।[४]

वावाता का निरूपण

अश्वमेधयाजी की चार पत्नियों में से द्वितीय पत्नी का वैदिक नाम वावाता है। यह प्रिया तथा परिणीता पत्नी है। इस प्रकार प्रथम अधिकारिणी कृताभिषेका महिषी, जो सम्राट् के साथ राजनीति में भी अधिकार रखती थी। द्वितीय पत्नी परिणीता एवं अतिशय प्रेमास्पद होती थी। मैक्डोनल एवं कीथ के मतानुसार वावाता एक प्रिय पत्नी होती थी, जो केवल महिषी से ही हीन होती थी।[५]

परिवृक्ता का निरूपण

द्वितीय पत्नी परिणीता स्त्री वल्लभा एवं सर्वाधिक प्रिय पत्नी के बाद अश्वमेधयाजी की तृतीय पत्नी परिवृक्ता होती है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है—

परिवृक्तेन पतिविद्यमानात् पीत्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन् ।
एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम् ।।[६]

'परिवृक्ती' अथवा 'परिवृक्ता'

तृतीय अधिकारिणी अवल्लभा स्त्री का नाम ''परिवृक्ती'' अथवा ''परिवृक्ता'' है—इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि वेद में दोनों नाम आये हैं।

---

१. द्र०, ऋ०वे०, ५.२.२; २. द्र०, ऋ०वे०, ५.३७.३।
३. द्र०, हिन्दूधर्मकोश; ४. द्र०, वै०इ०।
५. द्र०, ऐ०ब्रा०, ३.२२.१.७; तै०ब्रा०, १.७.३.३; श०ब्रा०, १३.२.५.७.
६. ऋ०वे०, १०.१०२.११।

पूर्वोक्त ऋग्वेद मन्त्र में "परिवृक्ता" पद है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद[१] एवं शतपथब्राह्मण[२] में भी परिवृक्ता शब्द आया है। वेद में अनेक स्थलों पर परिवृक्ती पद भी आया है। यथा[३]—तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, काठक-संहिता, शतपथब्राह्मण आदि। वेवर[४] एवं पिशेल[५] ने परिवृक्ती = उपेक्षित को उपपत्नी माना है, जो कि नि:सन्तान रह जाती थी। मैक्डोनल एवं कीथ ने परिवृक्ता-परिवृक्ती-परिवृत्ती इन तीनों को अस्वीकृत रानी के रूप में माना है।

इस प्रकार—

प्रथम अधिकारिणी कृताभिषेका महिषी सम्राट् के साथ राजनीति में भी अधिकार रखती थी।

द्वितीय पत्नी वावाता अतिशय प्रेमास्पद होती थी।

तृतीय पत्नी परिवृक्ता परिणीता परन्तु अप्रिया होती थी।

इससे यह सिद्ध है कि सम्राट् व्यक्ति जीवन में जिस पत्नी से प्रेम न भी करता हो; परन्तु अश्वमेध जैसी महायोजना में उसका भी प्रतिनिधित्व होता था।

इसका एक राजनैतिक पहलू यह भी है कि राजपरिवार में यदि आन्तरिक कलह हो तो भी राष्ट्ररक्षा जैसी सामुदायिक योजनाओं पर सभी की क्रियात्मक एवं प्रत्यक्ष स्वीकृति अपेक्षित है। इसी नीति से राजपरिवार का कोई भी अप्रिय उपेक्षित वर्ग, विद्रोह करना तो दूर, राष्ट्ररक्षा जैसे अवश्यकरणीय विषय में सम्पूर्ण समर्पित होता था।

पालागली का निरूपण

इस महायज्ञ में अश्वमेधाधिकारी सम्राट् की पत्नियों में अपेक्षित चतुर्थ पत्नी परिणीता दूतपुत्री होती है। यह चतुर्थ और अन्तिम कोटि की अधिकारिणी है। अश्वमेध के सन्दर्भ में इसके लिए "पालागली" शब्द का प्रयोग है।

---

१. अ०वे०, ७.११३.२. २२.१२८, १०.११।

२. श०ब्रा०, १३.२.६.६, ४.१.८, ५.२.७।

३. तै०सं०, १.८.१.९; तै०ब्रा०, १.७.३.४; काण्व-सं०, १०.१५.४; श०ब्रा०, ५.३.१.१३।

४. इण्डिशे स्टूडियन, १०.६. (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)

५. वेदिशे स्टूडियन, २,१९९. (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)

पालागल और पालागली[1]

वेद में उपर्युक्त दोनों शब्दों का प्रयोग है। मैक्डोनल और कीथ के अनुसार पालागल प्रत्यक्षत: दूत अथवा मिथ्या समाचार देने वाले के आशय में शतपथ-ब्राह्मण में आता है।[2] मैक्डोनल और कीथ के अनुसार किसी राजा की चतुर्थ और सर्वाधिक कम आदरित रानी को पालागली कहा जाता है।[3]

अश्वमेधाधिकारी सम्राट् की पत्नियाँ (द्र० तालिका संख्या-१६ पृष्ठ-१७३)—

१. **महिषी**—अभिषिक्त राजवंशप्रतिनिधि (राजनीतिक रूप)।

२. **वावाता**—सर्वाधिक प्रेयसी स्त्री (समाज की प्रतिनिधि रूप)।

३. **परिवृक्ता**—अप्रिया (पारिवारिक एकता रूप)।

४. **पालागली**—दूतपुत्री (विदेशनीति रूप)।[4]

---

१. बृहत् हिन्दीकोश।

२. श०ब्रा०, ५.३.१.११

एग्लिग "सेक्रेट बुक ऑफ ईस्ट २६,६४ नामके अस्य "वाहक"रूपमर्थ प्रस्तुतं करोति। (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)

३. श०ब्रा०, १३.४.१.८

४. अत्र किञ्चित्—

महायज्ञेऽस्मिन् चतस्रोऽपि पत्न्य: चतुर्णां विषयाणां प्रातिनिध्यमावहन्ति। तद्यथा उपर्युक्त-तालिकायां स्पष्टम् । किञ्च इमा: चतस्र: नीतिचतुष्टयीरूपा अपि: तद्यथा—

(क) प्रथमा महिषी सामरूपा, तस्या: स्त्रीषु प्राधान्येन सामरूपत्वात् सामनीतिरपि नीतिषु प्रधाना।

(ख) द्वितीया वावाता नितरां प्रेयसी, ततश्च स्त्रीसमाजप्रतिनिधिरूपा सा। नीतिषु च दानरूपा। प्रेमास्पदस्त्रियै राज्ञा सर्वाधिकं रत्नालङ्कारादिकम् अवश्यं दीयते। अतो दानरूपद्वितीयनीतिमयी वावाता नीतिषु इव पत्नीष्वपि द्वितीयस्थानमधिकरोति।

(ग) इयं तृतीया पत्नी, परन्तु अवल्लभा, परमथाऽपि राजपरिवारैकतासिद्ध्यर्थं तस्याप्यत्र निवेश:। नीतिषु इयं तृतीयनीतिभेदरूपा। भेदस्तु नीतिषु परिगणिताऽपि सर्वथा प्रिया नास्ति। परिवृक्ताऽपि पत्नीषु परिगणिताऽपि प्रिया नास्ति, परन्तु पत्नीत्वसामान्येन परिवृक्ताया अपि, नीतित्वसामान्येन अप्रियस्याऽपि भेदस्येव तत् संग्रह:।

(घ) चतुर्थी दूतपुत्री परिणीता, इयं पालागली कथ्यते। दूतपुत्रीत्वेन अस्या: पत्नीषु संग्रहस्तु सन्धिविग्रहिकरूपविदेशनीतिनिवेशरूप:। इयं च दण्डरूपचतुर्थनीतिमयी। यद्यपि साम्ना, दानेन, भेदेन वा शत्रो: आत्मानुगत्यं चिकीर्षितम्, परन्तु तदभावे दण्डनीति: प्रयोज्या। एतत्प्रयोगश्च शत्रुषु एव, शत्रवश्च वैदेशिका एव, विदेशप्रातिनिध्यं च दूतेनैव इति नीतिविदां समय:। एवञ्च दूतपुत्र्या विदेशनीतिरूपत्वेन दण्डरूपचतुर्थनीतिरूपत्वं सुकल्प्यम्।

ततश्च नीतिचतुष्टयेनेव पत्नीचतुष्टयेन परिवृत: सम्राट् शासितुमिव यष्टुं क्षम इति दिक्।

तालिका संख्या-१६

अश्वमेधाधिकारी सम्राट् की पत्नियाँ

१. महिषी	२. वावाता	३. परिवृक्ता	४. पालागली
(अभिषिक्त राजवंशप्रतिनिधि)	(सर्वाधिक प्रेयसी स्त्री)	(अप्रिया)	(दूतपुत्री)
(राजनीति रूप)	(सामाजिकरूप)	(पारिवारिक एकता रूप)	(विदेशनीति रूप)

महिषियों के विभिन्न प्रकार

प्रसंगानुसार यह विवेच्य है कि राजपरिवार में स्त्रियों का पर्याप्त अधिकार था। स्त्रियों के अधिकार के विषय में आजकल के वाचाल दुरालोचकों के आक्षेपाभासों के उत्तर प्रस्तुत करने में समय व्यर्थ न करते हुए स्त्रियों के सामाजिक स्वरूप एवं अधिकार का किञ्चित् विवेचन प्रस्तुत है।

राजा की महिषियों की कोटियाँ

१. सवर्णा, २. असवर्णा (क. अनुलोम, ख. प्रतिलोम, ग. अतिसंकर), ३. अभिषिक्ता, ४. अनभिषिक्ता, ५. परिणीता, ६. अपरिणीता, ७. प्रसूता, ८. अप्रसूता, ९.ज्येष्ठा, १०. कनिष्ठा।

१. **सवर्णा**—वैदिक परम्परानुसार व्यवस्थित वर्ण-विभाग के अन्तर्गत पुरुष के वर्ण की ही स्त्री को सवर्णा कहा जाता है।[१] इस परम्परा में उत्पन्न बालक भी माता-पिता के वर्ण का ही होगा।[२] आर्ष विवाह-क्रम में यह अत्यन्त प्रशस्त विवाह है। अश्वमेध में अपेक्षित चार पत्नियों में प्रथम महिषी सवर्णा कोटि की होती है। एकाधिक सवर्णा स्त्री की स्थिति में धर्म कार्य में ज्येष्ठ का उत्तरदायित्व है। आचार्य याज्ञवल्क्य के अनुसार—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत् ।
सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठायां न विनेतरा ।।[३]

---

१. (क) पाणिग्रहणसंस्कार: सवर्णासूपदिश्यते। (म०स्मृ०, ३.४३)
(ख) सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। (म०स्मृ०, ३१२)
(ग) गुरुणाऽनुमत: स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।। (म०स्मृ०, ३.३)

२. सवर्णेभ्य: सवर्णासु जायन्ते हि सजातय:।
अनिन्देषु विवाहेषु पुत्रा: सन्तानवर्धना:।। (या०स्मृ०, आचाराध्याय: ९०)

३. या०स्मृ०, आचाराध्याय: ८८।

२. **असवर्णा**[1] — असवर्ण विवाह का विषय विस्तार व्यापक है। इसकी संक्षिप्त परिभाषा यह है कि जहाँ माता एवं पिता दोनों भिन्न-भिन्न वर्ण के होते हैं, वह असवर्णा महिषी (पत्नी) है। पूर्व की अपेक्षा यह अप्रशस्त है।

असवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तति संकर कहलाती है। इसका भेदोपभेद विस्तार बहुत है। प्रस्तुत प्रकरण में मात्र क्षत्रिय से असवर्ण विवाहिता पत्नी में उत्पन्न सन्तानों का संक्षिप्त वर्णन है। इसमें पिता सर्वत्र क्षत्रिय ही है, माता विभिन्न वर्णों की है। संकर के मुख्य तीन भेद हैं—

संकर

अनुलोम **प्रतिलोम** **अतिसंकर**

(क) **अनुलोमसंकर**

आर्ष परम्परा स्वीकृत उच्चवर्ण[2] के पुरुष से निम्न वर्ण की स्त्री में उत्पन्न सन्तति अनुलोम संकर है। इसमें ''मातृवत् संस्कार'' होता है।

(ख) **प्रतिलोमसंकर**

आर्ष परम्परा स्वीकृत निम्न वर्ण के पुरुष से उच्च वर्ण की स्त्री में उत्पन्न सन्तति प्रतिलोम संकर है।

(ग) **अतिसंकर**

संकर जाति के माता-पिता द्वारा उत्पन्न सन्तति अतिसंकर है। पूर्व में कहा गया है कि सवर्णा विवाह सर्वाधिक प्रशस्त है। संकर विवाह का स्थान सवर्णा विवाह के बाद तथा अप्रशस्त है। यहाँ 'अप्राशस्त्यम्' अर्थात् 'सवर्णभिन्नत्वम्' है।

---

१. ''न समानो वर्णोऽस्य समानस्य सादेशः।
असजातीये भिन्नवर्णे यथा ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिः।।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा।। (बृहन्ना० इति वाच०)

२. अत्रेदं रहस्यम्—वर्णगतम् उच्चत्वं नीचत्वं वा वैदिकतान्त्रिकादिविधिनिषेधेष्वेव प्रयोजकम् । नैतावता लोकेषु कश्चन समाजगतो भेद उचितः। लौकिकी उन्नतिरवनतिर्वा प्रायश्चातुरीमूला भवति, न तु ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिमूला। अत एव लौकिकेषु तत्तत्कार्येषु तत्तदधिकारिगतानि चातुर्यादीनि दृष्ट्वा, वैदिक-तान्त्रिकविधिनिषेधपरतन्त्रब्राह्मणत्वादिवर्ण-क्रमभेदापलापनमनुचितमिति।

उक्त सन्दर्भ में क्षत्रियगत विचार[१]

१. ब्राह्मणात्क्षत्रियायां विन्नायामुत्पन्नो मूर्धावषिक्तो नाम पुत्रो भवति।
२. वैश्यायां शूद्रायां च विन्नायां राजन्यां माहिष्योग्रौ यथाक्रमं पुत्रौ भवतः।
३. ब्राह्मण्यां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता यथाक्रमं सूतवैदेहक—।
४. क्षत्रिया योषिद् वैश्यान्मागधम् ।
५. क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो माहिष्यः।

(क) क्षत्रिय पुरुष द्वारा विवाहिता वैश्या और शूद्रा पत्नियों से उत्पन्न पुत्र क्रमशः माहिष्य और उग्र कहे जाते हैं। ब्राह्मणी स्त्री से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता है।

(ख) क्षत्रिय स्त्री से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र मागध कहलाता है।

(ग) ब्राह्मण द्वारा विवाहित क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्र मूर्धावषिक्त कहलाता है।

(घ) माहिष्य पुरुष द्वारा करणी स्त्री से रथकार जन्म लेता है।

क्षत्रिय + वैश्या   वैश्य + शूद्रा

माहिष्य (पुत्र)   करणी (कन्या)

रथकार[२]

असवर्ण = संकर सन्तानों की परम्परा बहुत विस्तृत है। इतिहास, पुराण, स्मृति-ग्रन्थों में इनका पर्याप्त विवेचन है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इन समस्त जाति का व्यवसाय बिना किसी राजनीतिक स्थिति के जन्म से ही आरक्षित है। अतः वृत्तिसन्देह का कोई स्थान नहीं है।

३. **अभिषिक्ता**—अश्वमेधयाजी सम्राट् की सवर्णा अर्थात् क्षत्रिया पत्नी, जिसके साथ सम्राट् का अभिषेक होता था, वह अभिषिक्ता कहलाती थी।[३]

१. द्र०, या०स्मृ०, आचाराध्यायः।
२. रथकारस्य चोपनयनादि सर्वं कार्यम्, वचनात् । यथाह शङ्खः-क्षत्रियवैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो यो रथकारस्तस्येज्यादानोपनयनसंस्कारक्रिया अश्वप्रतिष्ठारथसूत्रवास्तुविद्याध्ययनवृत्तिता च'' इति आचाराध्याये उक्तम्।
३. द्र०, अमर० ''कृताभिषेका महिषी'' इति। नाट्यशास्त्रे इयमेव देवीशब्देन अभिधीयते। अत एव ''.......नाट्योक्तौ ....'', द्र०, अमर०, १.७.११
इत्यधिकृत्य देवीकृताभिषेकायाम् इति (१.७.१३) । हेमचन्द्रोप्याह—''देवीकृताभिषेकायां तेजनीपृक्कयोरपि'' (२.५३८) ।

इसी को महिषी कहा गया है। महिषी ही अभिषिक्ता एवं समस्त पत्नियों में ज्येष्ठा होती थी। यदि प्रवृत्ति या परिस्थितिवशात् कालक्रम से असवर्णा पूर्व-विवाहिता हो, फिर भी उपर्युक्त परिभाषित अभिषिक्ता का उत्तरदायित्व सर्वाधिक होने से प्रथम स्थानीय है। सम्राट् के राजनीतिक उत्तराधिकारी में भी "महिषी" से उत्पन्न पुत्र का ही सर्वाधिक अधिकार होता था, जिसे कुमार[1] कहा जाता था।

४. **अनभिषिक्ता**—अभिषिक्ता से भिन्न सभी रानियाँ इस कोटि की होती थीं। इस कोटि में असवर्णा आदि रानियाँ होती थीं। आचार्य अमरसिंह के अनुसार—"**भोगिन्योऽन्या नृपस्त्रियः**",[2] उदाहरणार्थ—द्रौपदी, सम्राट् युधिष्ठिर की अभिषिक्ता महिषी थी एवं शिवि-राजपुत्री देविका अनभिषिक्ता राज्ञी थी। अश्वमेधयज्ञ में अपेक्षित सम्राट् की चार पत्नियों में पूर्वोक्त महिषी के अतिरिक्त वावाता-परिवृक्ता एवं पालागली—ये तीनों इसी कोटि की रानियाँ हैं।

५. **परिणीता**—शास्त्रसम्मत विधि से जिस स्त्री से विवाह सम्बन्ध होगा, वह परिणीता कहलाएगी। आर्ष ग्रन्थों में विवाह विधि आठ प्रकार की है—१. ब्राह्म,[3] २. आर्ष,[4] ३. आसुर,[5] (घ) राक्षस,[6] (ङ) दैव,[7]

---

१. कुमार इति—
(क) "कौमारं पंचमाप्दान्तम्" पौगण्डं दशमावधि भा०पु०, दशमस्कन्धे, श्रीधरस्वामी, उद्धृतवचनम्।
(ख) "कुमारो श्वानुचारके युवराजे शिशौ स्कन्धे शुके वरुणापादपे कुमारं जात्यकनके कुमारित्वपराजितानदीभिद्रामतरुणीकन्यकानवमाल्युमाजम्बूद्वीपविभागश्च" इति हैमः ३.५७४-७६।
(ग) "युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक" इति अमर०, १.७.१२।

२. द्र०, अमर०, २.६.५.; "विहाय महिषीमन्यराजयोषिति भोगिनी" मे०, ९०.३।

३. ब्राह्म इति— ब्राह्मविवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृतः ।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ।। (या०स्मृ०, आचाराध्यायः)
आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मधर्म प्रकीर्तितः ।। (म०स्मृ०, तृतीय अध्याय)

४. आदायार्षस्तु गोद्वयम्। पुनात्युत्तरजश्ज षट् ।।" (या०स्मृ०, आचाराध्यायः)
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ।। (म० स्मृ०, तृतीय अध्याय)

५. वराद् धनमादाय तस्मै कन्याप्रदानम् आसुरो विवाहः । (या०स्मृ०, आचाराध्यायः)
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।। (म.स्मृ. तृतीय अध्याय)

६. राक्षसो युद्धहरणाद् इति याज्ञवल्क्यः ।
हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ।। (म०स्मृ०)

७. "यज्ञस्य ऋत्विजे दैव" इति याज्ञवल्क्यः।
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवधर्म प्रचक्षते ।। (म०स्मृ०)

(च) प्राजापत्य,[१] (छ) गान्धर्व[२] (ज) पैशाच[३]।

अश्वमेध के प्रसंग में पूर्वोक्त सभी चार पत्नियाँ परिणीता की कोटि में हैं।

६. **अपरिणीता**—अपरिणीता पत्नी की स्वीकृति शास्त्र और समाज दोनों में दुर्लभ है और प्रायः गर्हित है। इस विषय में संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम स्मार्त ग्रन्थों में दायभाग के उत्तराधिकारी (शब्द= Varicer); जिन्हें सामान्येन पुत्र शब्द से कहा गया है, इनके अनेक भेद हैं[४]—

१. औरस	१०. क्रीतपुत्र
२. क्षेत्रज	११. दत्तात्मा
३. कानीन	१२. अपविद्ध
४. दत्तक	१३. दासीपुत्र
५. कृतक	१४. मन्त्रशिष्य
६. सहोढ	१५. ग्रन्थशिष्य
७. पुत्रिकापुत्र	१६. सब्रह्मचारी
८. गूढज	१७. भ्रातुष्पुत्र
९. पौनर्भव	१८. सगोत्र।

इनमें सम्प्रति न्यायालयों में औरस एवं दत्तक पुत्रों की ही मान्यता है. अतः अन्य सभी कलिवर्ज्य हैं। इनमें कानीन, सहोढ आदि पुत्रों को ऋषियों ने दायाद माना है। अतः अपरिणीता स्त्री की भी स्थिति स्वीकृत थी।

---

१. "इत्युक्त्वा चरतां धर्म सह या दीयतेऽर्थिने ।
स कायः पावयेत्तज्जः" इति (याज्ञवल्क्यः)।
सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ।। (म०स्मृ०)

२. गान्धर्वः समयान्मिथः इति याज्ञवल्क्यः।
इच्छाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ।। (म०स्मृ०)

३. "पैशाचः कन्यकाछलात्" इति या०स्मृ०।
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ।। (म०स्मृ०)

४. द्र०, मनुस्मृति-याज्ञवल्क्यस्मृत्यादिः।

आचार्य कात्यायन का वार्तिक है—

"**पाणिगृहीती भार्यायाम्**"[१] यहाँ पर 'पाणिगृहीती' शब्द भार्या अर्थात् विवाहिता पत्नी के लिए है।[२] इसके प्रत्युदाहरण में पाणिगृहीता शब्द आया है।

अपरिणीता स्त्री सवर्णा, भिन्नवर्णा कोई भी हो सकती है। प्रसिद्धि के अनुसार इनको "रक्षिता" कहा गया है। अश्वमेध में अपेक्षित चारों पत्नियों में अपरिणीता का कोई स्थान नहीं है।

७. **प्रसूता**, ८. **अप्रसूता**

प्रसूता के अनेक भेद हैं, यथा मृतवत्सा, पुत्रवती, बहुपुत्रवती, बहुकन्या-वती, कन्या-पुत्रोभययुक्ता, मात्र कन्यायुक्ता, मात्र पुत्रयुक्ता; परन्तु अश्वमेध के प्रसंग में इनका पृथक् उल्लेख अवश्य ही करणीय है; क्योंकि योग्य पुत्र प्राप्ति के लिए इस अश्वमेध का अनुष्ठान है[३]; परन्तु इतिहास-पुराणों में उपलब्ध उदाहरणों के अनुसार पुत्रवती महिषी भी अश्वमेध सम्पादन की अधिकारिणी है।

९. **ज्येष्ठा**, १०. **कनिष्ठा**

अश्वमेध में अपेक्षित उपर्युक्त चार पत्नियों में महिषी ज्येष्ठा है। अन्य सभी कनिष्ठा हैं। ज्येष्ठा महिषी सवर्णा एवं सवर्णाओं में प्रथमपरिणीता है। इस प्रकार महिषी—

(क) सवर्णा क्षत्रिया होगी

(ख) परिणीता होगी

(ग) बहुसवर्णाओं में प्रथमपरिणीता सवर्णा होगी।

एक विवेचन

महिषी अर्थात् क्षत्रिया (सवर्णा) परिणीता, एकाधिक क्षत्रिया पत्नियों में धर्मतः प्रथमपरिणीता एवं कृताभिषेका को छोड़कर, शेष सभी स्त्रियों को भोगिनी कहा गया है—

"**कृताभिषेका महिषी भोगिन्योऽन्या नृपस्त्रियः**" इति अमरः।[४]

---

१. द्र०, अमर०, २.८.५.।

२. तदुक्तं वाचस्पत्ये - पाणिग्रहणेन कृतसंस्कारायां सवर्णायां स्त्रियाम्। एतच्च सवर्णास्त्रीपरम्, वर्णान्तराणां शरादिग्रहणात्।

३. अत्र विषये गर्भशोधनादिप्रकारः अग्रे निरूपितः।

४. द्र०, अमर०, २.६.५१.।

इस विवेचन से ध्वनित होता है कि अभिषिक्ता महिषी सम्राट् की धर्मपत्नी है, अर्थात् समस्त धर्म-कार्यों में उसका उत्तरदायित्व है; क्योंकि अन्य पत्नियों को भोगिनी मात्र कहा गया है; परन्तु यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि शतपथब्राह्मण में 'कृताभिषेका महिषी' के अतिरिक्त वावाता, परिवृक्ता, पालागली को भी इस महायज्ञ में अधिकारिणी के रूप में अधिकृत किया है। अत एव महिषी के अतिरिक्त पत्नियों का भी सहधर्मिणी रूप वेददृष्ट है।

अभिषिक्त अश्वमेधव्रती क्षत्रियपत्नीक यजमान का वर्षपर्यन्त आचरण निरूपण

पूर्व प्रकरण में अश्वमेध महायज्ञ की आध्यात्मिक उपलब्धि को स्पष्ट किया गया है। आर्ष ग्रन्थों का समस्त विधिनिषेध मात्र लौकिक प्रयोजन के लिए नहीं है। इस तथ्य का दृष्टादृष्टोभयसाधक अश्वमेध के स्वरूप में स्पष्ट विवेचन है।

विजयनगर साम्राज्य-संस्थापक वीरबुक्क महाराज के प्रधानामात्य चतुर्वेदभाष्यकार श्री सायणाचार्य के अनुसार—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।।[१]

अत एव जन्म प्रभृति आनुवंशिक अखण्ड ऐक्यसम्पन्न महासाम्राज्य का रक्षणात्मक उत्तरदायित्व निर्वाहयोग्य, उत्कृष्ट सन्तति परम्परा प्राप्ति के अतिरिक्त आध्यात्मिक उपलब्धि भी अश्वमेध यज्ञ का एक महान् पक्ष है। साधना के क्षेत्र में अश्व इन्द्रिय का उपलक्षण है—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।[२]

समस्त इन्द्रियाँ विषयों के प्रति जागरूक अर्थात् क्रियाशील हैं। दूसरी ओर क्रियाशील अर्थात् गतिशील अर्थात् जागरूक जीवों में मृग के बाद अश्व का स्थान है। ऋषियों ने मन के प्रतीक के रूप में चन्द्रमा को स्वीकार किया है[३]।

---

१. (क) माधवाचार्यविरचित "वेदप्रकाश" ; ऋग्वेदभाष्यभूमिका।
(ख) सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अनवगतेष्वनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशपरः सर्व-पुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोः श्लिष्टत्वात् दृष्टविषये च इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वाद् नायमन्वेषणा। द्र०, बृ०उ०, शाङ्करभाष्य।

२. द्र०, कठ०उ०,तृतीयवल्ली।

३. द्र०, पुरुषसूक्तम्, समस्त वेदसंहिता।

इसलिए चन्द्रमा को मृगवाहन कहा गया है, जिससे तदुपलक्षित मन की क्रियाशीलता अर्थात् गतिमत्ता ऋषियों द्वारा संकेतित है। वर्तमान विज्ञान के द्वारा आविष्कृत पदार्थ में सर्वाधिक गतिशील सूर्यरश्मि है।[1] इसके बाद इन्द्रिय की स्थिति है, जिसका संकेत करने के लिए ऋषियों ने अश्व की प्रस्तुति की है। स्थूल अश्व में भी गतिमत्ता स्पष्ट ही है यथा अश्व का उपवेशन सर्वथा अदृष्ट है। यह स्वरूप इसकी स्थितिमत्ता के स्थान पर गतिमत्ता को प्रकट करता है। अश्व वाचक ''हय'' शब्द उक्त को अत्यधिक स्पष्ट करता है।[2] यही स्थिति इन्द्रियों की है। इन्द्रियों की गतिमत्ता अर्थात् स्वविषयानुगामिता है। इन्द्रियरूप अश्व का मेध करना ही आध्यात्मिक अश्वमेध है।

अश्वमेधयाजी अर्थात् इन्द्रियजयी

महिषी, वावाता आदि चार पत्नियों के साथ ही, सम्राट् अश्वमेध की दीक्षा ले सकता है, यह विधि अपने में स्वयं संयम का एक प्रकट रूप है। वर्षपर्यन्त चार पत्नियों के साथ रहकर भी मर्यादाच्युत न होना, यह अश्वमेध की साधनामयी स्थिति को प्रकट करता है। इस विशुद्ध मानसिकता के बाद उत्पन्न सन्तति ही भूमण्डल पर एकता स्थापित करने की अधिकारी हो सकती है।

पूर्वनिरूपित चारों स्त्रियाँ भी कोई सामान्य स्त्री नहीं हैं, अपितु राजमहिषी हैं। सभी का शरीरसौष्ठव, यौवनादि यथोचित है। इनमें से सभी रानियाँ अपनी-अपनी अनुचरियों के साथ उपस्थित होती हैं।

सम्राट्-पत्नियों की सेविकाएँ

१. महिषी की सेविकाएँ राजपुत्रियाँ होती थीं।

२. वावाता की सेविकायें क्षत्रियकन्यायें होती थीं।

३. परिवृक्ता की सेविकायें अश्वपालक की कन्यायें एवं ग्रामप्रधानों की पुत्रियाँ होती थीं।

४. पालागली की सेविकायें क्षत्ता[3] की कन्यायें होती थीं।

---

१. द्र०, ''मन की गति'' सन्मार्ग धर्मदर्शनस्तम्भ।

२. ''हय'' गतौ पचाद्यत्। द्र०, अमर०, २.८.४४.।

३. क्षत्ता स्यात् सारथौ द्वास्थे क्षत्रियायां च शूद्रजे । (अमर०, ३.३.६३)
क्षत्ता शूद्रात् क्षत्रियाजे प्रतिहारे च सारथौ ।
भुजिः स्यात् तनये क्षत्ता नियुक्ते च प्रजासृजि ।। (मे०, ४९.४०)

अनुचरियों की संख्या

उपर्युक्त चारों राजपत्नियों की प्रत्येक की पृथक्-पृथक् संख्या में अनुचरियाँ होती थीं। इन अनुचरियों की संख्या सौ-सौ थी। इस प्रकार चार राजपत्नियों की पृथक्-पथक् समाज से सौ अनुचरियाँ होती थीं।

प्रथम महिषी	=	सौ राजपुत्री अनुचरी
द्वितीया वावाता	=	सौ क्षत्रियकन्या अनुचरी
तृतीया परिवृक्ता	=	सौ अश्वपालक ग्रामणी कन्यायें
चतुर्थी पालागली	=	सौ क्षत्ताकन्यायें।

उपर्युक्त चारों राजपत्नियाँ सैकड़ों अनुचरियों से अनुगत एवं मुक्तामणि आदि से अलंकृत होती थीं। सैकड़ों अनुचरियों से अनुगत चार महिषियों के आने पर, सम्राट् सायंकालीन अग्निहोत्र करता था। रात्रि में वावाता अर्थात् सम्राट् की सर्वाधिक प्रेयसी पत्नी उत्तर की ओर मस्तक करके सोयेगी। शयन किये हुए वावाता के साथ सम्राट् शयन करेगा। इसके बाद अन्य तीनों राजपत्नियाँ अर्थात् प्रथमा महिषी, तृतीया परिवृक्ता एवं चतुर्था पालागली, वावाता के चतुर्दिक् शयन करेगी। इस स्थिति में सम्राट् नियमपूर्वक, अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए वर्षपर्यन्त निवास करेगा।[१]

महिषी = प्रथमा पत्नी का विशेष आचरण

अश्व संज्ञपन के बाद सवनीय अश्व की तीन बार परिक्रमा होता थी। तदनन्तर अश्वमेधयाजी सम्राट् की प्रथमा पत्नी महिषी मृत अश्व[२] के समीप

---

१. अत्र किञ्चित्—
उदक्शिरशयनं कथमिति चेत्, तत्रोच्यते- भूमण्डलस्य सर्वस्यापि आकर्षणम् उत्तरदिशि एव। स्पष्टं चैतद् जलयानानां कम्पासयन्त्रे। अतश्च संवत्सरं ब्रह्मचर्यरक्षणे चिकीर्षिते सति तत्र अध:स्खलनवारणाय ऊर्ध्वाकर्षणं नितराम् अपेक्षितम्। तत् सिद्धये च उत्तरदिशि शिर: संस्थाप्य शयनं कार्य इति आर्षविज्ञान-समय इति गुह्यमूह्यम्।

२. मृत अश्व इति। उपरतस्याऽपि जीवस्य स्वभावधर्मा: चर्मणि संक्रमन्ते। अत एव मृगचर्मासनं व्याघ्रचर्मासनम् ऋषिभि: कल्पितम्। तत्र मृगस्य धावनधर्मत्वेन तद्गुणा: तच्चर्मणि उपरतेऽपि सन्ति। अत एव तत्र अधिष्ठाय जातसमाधे: रक्तसंचारादिक्रम: सर्वथा अव्याहत:। एवं व्याघ्रगतक्रौर्यं तच्चर्मणि उपरतेऽपि अस्ति। अत एव तत्रोपवेशने यूका-लिक्षा-मशक-मत्कुण-उत्कुण-सरीसृप-कृकलास-मूषक-प्रभृति-शूद्रजन्तव:, किं बहुना सर्पादयोऽपि दूरादेव अपसर्पन्ति। तत्र व्याघ्रनखेनाऽपि कीटाद्यवसर्पणं भवति। अत एव बालानां व्याघ्रनखधारणं विधीयते। तदुक्तं बाणेन कादम्बर्या विन्ध्याटविवर्णने—
''बालग्रीवेनव्याघ्रनखपंक्तिमण्डितागण्डकाभरणाच्च''।

शयन करती थी।[1] मृत अश्व के समीप शयन का विधान यद्यपि कार्य रूप से ही अनुष्ठेय है, तथापि इसका रासानिक चिकित्साशास्त्रीय फल भी गर्भशोधन के पक्ष में है। प्रसंगानुसार इसका विशद विवेचन किया जाएगा। प्रकृत प्रसंग में इसके एक पक्ष का विवेचन प्रस्तुत है—

महिषी का मृत अश्व के साथ शयन का रहस्य

बाल्मीकीय रामायण में भी उल्लिखित है कि पुत्रेष्टि यज्ञ के अवसर पर दशरथ की महारानी कौशल्या ने मृताश्व के समीप एक रात्रि शयन किया था।[2] उसका रहस्य भी दिन में भ्रमणशील शक्ति अश्व है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषद् का वाक्य है—

''उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर:''[3] ।।

उक्त शक्ति के साथ शयन करना अर्थात् रात्रिभर उस शक्ति का अनुचिन्तन करना ही मन्तव्य है।[4] उत्तम वस्तु के मनन, चिन्तन, सम्पर्क का सत्फल, विशेष स्त्री द्वारा किये जाने पर उसका प्रभाव भावी सन्तान पर जन्मत: होने के कारण अत्यधिक स्थायी एवं दृढ़ होता है। इस प्रसंग में हिरण्यकशिपु की गर्भवती पत्नी कयाधु का नारद के आश्रम का सम्पर्क[5] एवं गर्भवती सुभद्रा का चक्रव्यूह-भेद श्रवण आदि घटनाएँ प्रसिद्ध हैं।[6]

अत एवं मृदङ्गादिषु छागचर्मावृतेषु सत्सु, तत्र व्याघ्रचर्मणा सुदृढसम्पर्के सति स्वरभङ्ग: स्पष्ट एव (द्र०, धर्मदिग्दर्शन, भाग १)।

प्रकृते तु अश्वनाम ''वाजी'', ''वाजं'' नाम दीयते, अत एव वाजीकरणं पुंस्त्वाधायकं वीर्यवर्धकं च। अश्वसम्पर्को हि पुंस्त्वोद्दीपकम् इति प्रत्यक्षसिद्धम्। पुंस्त्वाधानं च सर्वाधिकम्। इन्द्रियविशेषे अस्ति। तत्र श्वासाद्यवरुद्ध्य संज्ञप्ते अश्वे शारीरिकरसायनक्रियाया पूर्वोक्त-गुणा: वर्धिता: सन्त: मृतेऽपि सत्त्वात्, महिष्या: योनौ तल्लिङ्गसंयोजनपूर्वकं शयने पूर्वोक्त-समुत्कृष्टवाजीकरणयोगलाभो भवतीति संक्षेप:।

१. द्र०, षष्ठाध्याये अश्वसमीपं शयनस्य वैज्ञानिकं चिकित्साशास्त्रीयं रसायनशास्त्रीयं किञ्चिद् गर्भशोधनार्थमत्यावश्यकं कार्यं रहस्यरूपेण विहितं तथ्यं निरूपितम्।

२. ''अवसद् रजनीमेकां कौशल्या धर्म्मकाम्यया''। द्र०, वा०रा०, बालकाण्डम्।

३. द्र०, बृ०उ०, प्रथम मन्त्र।

४. द्र०, पुराणपरिशीलनम्, पृ० ३७९।

५. ऋषि: कारुणिक: स्वस्या: प्रादादुभयमीश्वर: ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ।।
तत् तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्री त्वान्मातुस्तिरोदधे।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहत् स्मृति: ।। (भा०पु०, ७.७.१५-१६)

६. द्र०, महा०भा०, द्रोणपर्व, ३५.१८-१९।

अश्वमेध में स्त्री-पुरुष वाद-विवाद सह प्रतियोगिता

अश्वमेध में कतिपय सहवाद-विवाद प्रतियोगिताओं का विधान है, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते थे। ऐसी चार प्रतियोगिताओं का आयोजन होता था—

१. होता (ऋग्वेदी) एवं तृतीया परिवृक्ता का वाद-विवाद

२ अध्वर्यु (यजुर्वेदी) एवं प्रेयसी कुमारी का वाद-विवाद

३. ब्रह्मा (अथर्ववेदी) एवं प्रथमा महिषी का वाद-विवाद

४. प्रतिहार एवं पालागली का वाद-विवाद

इसके बाद अन्य पत्नियों के द्वारा मृत अश्व के साथ शयन की हुई प्रधान महिषी को उठाये जाने पर सभी पत्नियाँ मिलकर अश्व के शरीर में सीसा, ताँबा एवं स्वर्णादि से निर्मित १०१ सुईयों का प्रवेश करवाती थीं[१]।

यज्ञोपसंहार से पूर्व सेविकाओं का नियोजन

(क) अश्वमेध अधिकारी की चतुर्थ पत्नी दूतपुत्री पालागली की सौ अनुचरियों को अध्वर्यु = यजुर्वेदाध्यायी की सेवा में समर्पित किया जाता था।

(ख) प्रथम पत्नी महिषी की अनुचरियों को ब्रह्मा = अथर्ववेदाध्यायी की सेवा में समर्पित किया जाता था।

(ग) वावाता = राजा की सर्वाधिक प्रेयसी एवं द्वितीय पत्नी की सेविकाओं को उद्गाता = सामवेदाध्यायी की सेवा में समर्पित किया जाता था।

(घ) परिवृक्ता = सम्राट् की अवल्लभा तृतीय पत्नी की सेविकाओं को होता = ऋग्वेदाध्यायी की सेवा में समर्पित किया जाता था।

अश्वमेधयाजी का राजनैतिक आचरण

उपर्युक्त विवरणों के अतिरिक्त अश्व रक्षा के विषय में राजा को अत्यन्त सावधान रहना पड़ता था और दूतों के माध्यम से समस्त घटनाओं का प्रतिदिन विश्लेषण एवं प्रतीकार करना अत्यन्त आवश्यक था। किसी भी स्थिति में दीर्घकालिक सपत्नीक सम्राट् का दीक्षा ग्रहण तभी सम्भव है, जबकि सम्पूर्ण राज्य का, परिवार के समान पारस्परिक शान्ति, सौहार्द्र, सौजन्य एवं सहयोग-मूलक मनोरम वातावरण के साथ परस्पर सम्बन्ध हो। ऐसी स्थिति में ही राजा

---

१. द्र०, श०ब्रा०, १३.२.१०.३।

काम-क्रोध-उत्तेजना-उद्वेग-आवेग-आवेशादि विकारों से रहित होकर, अनेक सेविकाओं से युक्त अलंकारादि शृंगार शोभित, रूप-यौवनसम्पन्न, चारों पत्नियों से आवृत्त होकर अश्वमेध महायज्ञ जैसे वर्षव्यापी असिधारा व्रत को स्वीकार कर सफल हो सकता है। अन्यथा मन में किञ्चित् मात्र भी विकृति आने पर मर्यादाच्युत होना कोई आश्चर्य नहीं है। उपनिषद् वचन द्रष्टव्य है—

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथं तत् कवयो वदन्ति।"[1]

अश्वमेधयज्ञ : प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग की अन्तिम उपलब्धि

वैदिक, तान्त्रिक उभय धाराओं में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग पृथक्-पृथक् रूप से निरूपित हैं। दोनों के अधिकारी भी भिन्न-भिन्न हैं। आपाततः दोनों एक-दूसरे के सर्वथा विरोधी हैं। स्थूल दृष्टि से विचार करने पर प्रवृत्ति मार्ग गृहस्थाश्रम एवं निवृत्ति मार्ग संन्यासाश्रम है। दोनों की पूर्वपीठिका क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम है। आपाततः विरोध प्रतीत होने पर भी दोनों धाराओं में ऐसी पद्धतियों का भी आविष्कार एवं विकास उपलब्ध है, जिनमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति अर्थात् भोग और मोक्ष का समन्वय है।

तान्त्रिक पद्धति में प्रवृत्ति मार्ग का समन्वय

तन्त्र और आगम साहित्य अत्यधिक विपुल है[2], जिसका विवेचन अत्यन्त उपयोगी एवं अपेक्षित होने पर भी प्रकृत में मात्र प्रसंगप्राप्त उल्लेखनीय है। तान्त्रिक साधना की शाक्त शाखा में श्रीचक्रोपासना[3] या श्रीविद्योपासना से लौकिक एवं आध्यात्मिक समस्त उन्नति की प्राप्ति होती है।

---

१. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।। (कठ०उ०, प्रथमाध्याये तृतीयवल्ली)

२. यद्यपि "तन्त्रागमशब्दौ शास्त्रमात्रपरौ यथा "व्याकरणागमे पूर्वतन्त्रे" "आगमस्तमुपासीनः" "प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रं च विविधागमम् इत्यादि व्यवहारप्रसिद्धाः। प्रकृते शैववैष्णवसिद्धान्ताः आगमपदेन, शाक्तसिद्धान्तश्च तन्त्रपदेन गृह्यन्ते। अत एव नारदपाञ्चरात्रादिग्रन्थाः वैष्णवागमाः, त्रिकदर्शनादिग्रन्थाः शैवागमाः, दशमहाविद्याग्रन्थाश्च कालीतन्त्रम् इत्यादि प्रसिद्धाः।

३. एतत् स्वरूपं यथा—
बिन्दुत्रिकोणवसुकोण-यथारविन्दमन्वस्रनागदलसंयुक्तषोडशारम् ।
वृत्तत्रिभूपुरयुतं परितश्चतुर्द्वाः श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः।।
द्र०, सौन्दर्यलहरी (क) लक्ष्मीधरभट्टाचार्यव्याख्या, (ख) भास्कररायकृत-व्याख्या च।

यह निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्ग का अद्भुत समन्वय है। आगमाचार्यों के शब्दों में स्पष्ट है—

यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः ।
श्रीसुन्दरी-सेवन-तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करायतौ स्तः ।।[१]

वैदिक दृष्टि से प्रवृत्ति मार्ग का समन्वय

अश्वमेधयज्ञ वैदिक दृष्टि से प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग का समन्वय है। अश्वमेधयज्ञ श्रौत प्रयोग की अन्तिम उपलब्धि है। इससे सम्बन्धित अनेक दृष्टिकोण हैं। प्रसंगतः प्रस्तुत प्रकरण में प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयमार्ग की एकता को प्रस्तुत किया जा रहा है—

इस महायज्ञ की प्रवृत्तिमार्गीय उपलब्धियों में भुवनसाम्राज्य स्थापना, सांसारिक उन्नति, जन्मप्रभृति उत्तरदायित्व, विश्वबन्धुत्व की स्थापना,[२] मित्रपक्ष-वृद्धि, शत्रुपक्ष अवसान इत्यादि स्पष्ट हैं, साथ ही निवृत्ति मार्ग की भी अद्भुत उपलब्धि है।

निवृत्ति मार्ग की उपलब्धि

उपनिषद् में स्पष्ट है—

परांचिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।[३]

इससे यह स्पष्ट है कि निवृत्ति मार्ग का प्रथम सोपान है— इन्द्रियों का अन्तर्मुखीकरण; श्रीकृष्ण के शब्दों में—

तस्मात् त्वं इन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।[४]

अन्यत्र भी यथा—

हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः सङ्क्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ।।[५]

---

१. द्र०, सौन्दर्यलहरी।
२. उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। (द्र०, हितोपदेशः)
३. द्र०, कठ०उ०, २.३.१।
४. द्र०, भगवद्गीता।
५. द्र०, मुक्ति०उ०, ४२।

इस प्रकार निवृत्ति मार्ग का प्रथम सोपान है—इन्द्रियजय, अर्थात् इन्द्रियों का अन्तर्मुखीकरण; योगदर्शन के अष्टाङ्गों[1] में पञ्चम प्रत्याहार[2] में यह प्रणाली मन्तव्य[3] है।

परन्तु पूर्व में कहा गया है कि अश्वमेध महायज्ञ एक असिधाराव्रत है। इसमें संसार से दूर होकर संन्यास लेकर इन्द्रियजय (जो कि अपेक्षाकृत किञ्चित् सरल है) अभीष्ट नहीं है। अपितु संसार में रहकर, समस्त भोगविलास से परिपूर्ण लौकिक वैभव, उन्नति, शत्रुजय, सम्पूर्ण राष्ट्राधिपत्य आदि आकर्षणों एवं युवावस्था में अनेक सेविकाओं के साथ चार पत्नियों सहित वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यरक्षा एक अद्भुत कृतित्व है। इसमें जिस अतिशय धैर्य एवं संयम की अपेक्षा है, उससे सरलतया सम्पूर्ण उत्तीर्ण होने पर ही "रासलीला" जैसे दिव्य विषय को किञ्चित् समझा जा सकता है।

रासलीला[4] में प्रसिद्ध है—किस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने रात्रि के समय पूर्णिमा के पूर्णचन्द्रोदय काल में यमुना तट के एकान्त में सुवासित मन्द समीर[5] एवं

---

१. "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।" द्र०योगसू०।

२. यथा व्याकरणे प्रत्याह्रियन्ते = संक्षिप्यन्ते वर्णाः यत्र (द्र० लघुशब्देन्दुशेखरं, संज्ञाप्रकरणम्) इति प्रत्याहारशब्दो योगरूढ्या। "आदिरन्त्येन सहेता" इति (१.१.७१) सूत्रनिष्पादितसंज्ञापरः, न तु "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" इति (१.१.६९) सूत्रनिष्पन्न अ-इ-उ इत्यादि संज्ञापरः, तद्वत् प्रकृतेऽपि प्रत्याह्रियन्ते = विषयेभ्यः निवृत्ताः क्रियन्ते येन इति करणव्युत्पत्त्या प्रत्याहारशब्दः विषयनिवृत्तिफलके योजयितुं शक्यः।

३. द्र०, योगदर्शनम्, व्यासभाष्यतत्त्ववैशारदी। प्रत्याहारविमर्शः।

४. रासलीलाक्षणं यथा—

(क) उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहत् प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ।। (द्र, भा०पु०, ११.११.३६)

(ख) बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरू
नीविस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणाम्
उत्तम्भयन्रतिपतिं रमयाञ्चकार ।। (भा०पु०, १०.२९.४६)

५. रासलीलास्वरूपं यथा—

(क) शृंखलाबन्धवद् द्वयोर्द्वयोर्मध्यस्थित्या क्रीडाभेदा इति वाच०।

(ख) तत्राऽरभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितप्रीतैरन्याबद्धबाहुभिः ।। (भा०पु०, १०.३३.२)

गोपिकाओं की उपस्थिति आदि समस्त लौकिक उद्दीपन कारणों के रहते हुए भी, रासलीला जैसे अद्भुत चरित्र के द्वारा अपने अच्युतत्व[1] की रक्षा की थी।

भागवत-व्याख्याकार आचार्य श्रीधरस्वामी के शब्दों में—

ब्रह्माविषयसंरूढो दर्पकन्दर्पदर्पहा।

जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डनमण्डनः ।।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अश्वमेधव्रती सम्राट् का वर्षपर्यन्त आचरण एक अद्भुत दृष्टान्तरहित वस्तु है। वर्तमान समय में लौकिक मर्यादाओं के साथ इस प्रकार का आचरण अकल्पनीय है। वेद के सम्पूर्ण प्रयोग, मात्र दृष्टप्रयोजन के लिए नही हैं, अपितु दृष्टादृष्टोभय साधक हैं। अभिषिक्त अश्वमेधव्रती सपत्नीक यजमान सम्राट् का वर्षपर्यन्त अद्भुत आचरण का इस सन्दर्भ में अद्वितीय स्थान है।

स्ववेदान्तर्गत स्वशाखाध्यायी ऋत्विजों का संख्या निरूपण

अश्वमेध महायज्ञ एक वैदिक प्रयोग है, अत एव वेदाध्ययन सम्बन्धित विधि-निषेध परतन्त्र है। यह महायज्ञ समस्त वेदों के अध्येताओं द्वारा सम्पन्न होता है; क्योंकि इसमें सभी वेदों के ऋत्विज होते हैं।

वेद क्या है?

अनादिवासनावासितप्रारब्धकर्माधीन-सृष्टिपरतन्त्र-जीवगतकरणवैकल्यराग-द्वेषभ्रमप्रमाद-विप्रलिप्सामोहाज्ञानविस्मरणस्खलनादिसमस्त-पुरुषदोषरहितः, आर्ष-ग्रन्थोक्तप्रकृतिप्रत्ययकल्पनापराधीनधातुप्रत्ययागमादेशसन्धि-समासादिव्याकरण-प्रक्रियानिष्पन्न-समस्तव्युत्पन्नशब्दस्वरगतादिमध्यान्तविशिष्टोदात्तानुदात्तस्वरितैक-श्रुतिप्रचयान्यतमस्वरयुक्तः, पुरुषकर्तृत्वाभिमानविशिष्टप्रयासाद्यजन्यः, स्वभावतः प्रकाशितभगवन्निः श्वाससारभूतपूर्वपूर्वकल्पानुगतस्वतःप्रमाणोऽनादिशब्दराशिर्वेदः[3]।

---

१. अच्युतत्वम् = स्खलनरहितत्वम् इति वाच०।
भगवतः श्रीकृष्णस्य गृहस्थजीवनेऽपि अद्भुतसंयमः, यथा भागवते—
स्मायावलोकप्रदर्शितभावहारि
भूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैः
यस्येन्द्रियं विमुथितुं करणैर्न भव्यः ।। (भा०पु०, ११.६.१८)

२. द्र०, ''रासपञ्चाध्यायी'' श्री श्रीधर स्वामी; भागवतभावार्थदीपिका।

३. पूर्वमीमांसादर्शनदर्शितदिशा एष वेदपदार्थनिरुक्तिः।

स्ववेदान्तर्गत स्वशाखाध्ययन

महर्षि जैमिनि के शब्दों में **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**[१] यहाँ पर अध्यायपद शाखापरक है। सूत्र में स्वत्व एवं एकत्व विवक्षित होने से ऋषि का तात्पर्य यही है कि स्ववंशपरम्परागत स्ववेदान्तर्गत स्वशाखा अर्थात् एक वेद की शाखा का अध्ययन करना चाहिए। इस क्रम में स्ववेद की समस्त शाखाओं एवं उसके ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के बाद वेदान्त का अध्ययन क. सकता है। इसलिए मनुस्मृति में स्पष्ट है[२] —

''वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।

समस्त वैदिक प्रयोग एवं शान्तिक, पौष्टिक आदि स्मार्त प्रयोग स्व-शाखानुसार ही विहित हैं। स्वशाखा की उपलब्धि में शाखान्तराश्रयण प्रत्यवायजनक है; परन्तु स्वशाखा की अनुपलब्धि में स्वशाखा से अविरुद्ध शाखान्तरोक्त विधि भी स्वीकृत है। यथा—

(क) पारम्पर्यगतामुक्त्वा स्वां समाख्यादिबन्धिनीम् ।
शाखां शाखान्तरं युक्तं नाध्येतं सदृशे श्रमे ।।[३]

(ख) पारम्पर्यगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः ।
तच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत् ।।[४]

(ग) अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत् ।[५]

(घ) स्वेन पित्रादिभिर्वाऽपि यः कल्पादि पुराऽऽदृतः ।
स तु नैव परित्याज्य इति वेदानुशासनम् ।।[६]

---

१. (क) द्र०, पूर्वमीमांसाद्वितीयाध्याये चतुर्थपादे शाखान्तराधिकरणे—
तत्रैव शाबरभाष्ये कुमारिलभट्टविरचिते श्लोकवार्तिके च।
(ख) शास्त्रदीपिकायाः प्रकृतप्रसङ्गे विषयोऽयं स्पष्ट एव।
(ग) द्र०श०ब्रा० ११.५.७.२।
(घ) अन्यत्राऽपि यथा 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'।
द्र० कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली।

२. द्र०म०स्मृ० ३.२।

३. द्र० वीरमित्रोदयः।

४. द्र० रुद्रकल्पद्रुमः, अन्यत्राऽपि च महामहोपाध्यायविद्याधरशास्त्रिगौडकृता भूमिका, दौलतराम गौड सम्पादित शुक्लयजुर्वेद-संहिता।

५. द्र०, सूर्योदयः (मासिक-पत्रम्) भारतधर्ममहामण्डलतः प्रकाशितम्, संवत् १९९६।

६. द्र०, तत्रैव।

स्ववेदान्तर्गत स्वशाखा को छोड़कर परशाखाश्रयण-निन्दा

पूर्व कथित है कि स्वशाखा की उपलब्धि होने से, परशाखा का आश्रयण नहीं किया जायेगा। यथा[१]—

(क) एकवेदेऽपि शाखानां मध्ये योऽन्यतमां श्रयेत् ।
स्वशाखां तु परित्यज्य शाखारण्डः स उच्यते ।।

(ख) यः स्वशाखां परित्यज्य पारक्यामधिगच्छति ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः स्वस्माद् द्विजकर्मणः ।।

(ग) आत्मशाखां परित्यज्य परशाखासु वर्तते ।
उच्छेत्ता तस्य वंशस्य रौरवं नरकं व्रजेत् ।।

(घ) स्वीया शाखोज्झिता येन ब्रह्मतेजोऽर्थिना स्वयम् ।
ब्रह्मैव तत्परिज्ञेयः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।

(ङ) न जातु परशाखोक्तं बुद्धः कर्म समाचरेत् ।
आचरन् परशाखोक्तं शाखारण्डः प्रकीर्तितः ।।

(च) यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत् ।
अप्रमाणं भृशं कृत्वा सौन्धे तमसि मज्जति ।।

(छ) स्वशाखाश्रममुत्सृज्य परशाखाश्रमं तु यः ।
कर्तुमिच्छति दुर्मेधा मौघं तत्तस्य चेष्टितम् ।।

स्वशाखा की उपलब्धि में तो परशाखाश्रयण से सम्पन्न कार्य सर्वथा अकृत अर्थात् शून्य माना जाएगा। इस सन्दर्भ में "**न कर्मकर्तृकारणवैरूप्यात्**" यह मीमांसोक्त सूत्र भी स्मर्तव्य है।

प्रमाणान्तर भी यथा[२]—

अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता विद्वद्भिः कर्मकारिणाम् ।
अक्रिया च परप्रोक्ता तृतीया च यथा क्रिया ।।

समस्त वैदिक प्रयोगों में न्यूनातिरिक्त जैसा भी विधान हो, वह स्ववेदान्तर्गत स्वशाखीय ही होना चाहिए। यथा[३]—

---

१. द्र०सूर्योदयः (मासिक-पत्रम्) भारतधर्ममहामण्डलतः प्रकाशितम्, संवत् १९६६।
२. द्र० तत्रैव। ३. द्र० तत्रैव।

ऊनो वाप्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखोदितो विधिः ।
तेनैव तनुयाद् यज्ञं न कुर्यात् पारशाखिकम् ।।

स्वशाखोक्त एवं स्वगृह्योक्त कर्मानुष्ठान से ही वैदिक प्रयोगों की इतिकर्तव्यता सम्पन्न होती है। यथा—[1]

बहुलं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत् प्रकीर्तितम् ।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्वकृतो भवेत् ।।

यहाँ यह मन्तव्य है कि अवश्य ही स्वशाखा के अविरोधी परशाखोक्त कर्म किये जा सकते हैं। यथा[2]—

यत्राम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत् ।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेया अग्निहोत्रादिकर्मवत् ।।

स्वशाखा में अनुक्त कर्म

स्ववेदान्तर्गत स्वशाखा में जो कर्म अनुक्त है, ऐसा कोई कर्म, जो सर्व-शाखा-सामान्य हो, उसके लिए परशाखा का आश्रयण किया जा सकता है। यथा[3]—

''परशाखोऽपि कर्तव्यः स्वशाखायां च नोदितः।
सर्वशाखासु यत्कर्म एवं प्रत्यवशिष्यते ।।

स्वशाखा-परशाखा विचार

यहाँ पर यह मन्तव्य है कि स्वशाखा की स्वीकरणीयता और परशाखा की वर्जनीयता तभी सम्भव है, जब यजमान एवं ऋत्विज् समानशाखीय हों। इस प्रसंग में पुराकाल में किसी विशेष कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के सन्दर्भ में तदनुकूल आचार्य के अन्वेषण की घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, यथा—

(क) राजर्षि मरुत् के द्वारा सम्वर्त (बृहस्पति के ज्येष्ठ भ्राता) का अन्वेषण।[4]
(ख) महाराज श्वेतकी के द्वारा महर्षि दुर्वासा का अन्वेषण।[5]

---

१. द्र० सूर्योदयः (मासिक-पत्रम्) भारतधर्ममहामण्डलतः प्रकाशितम्, संवत् १९६६।
२. द्र० तत्रैव; ३. द्र० तत्रैव।
४. द्र० महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व, षष्ठोऽध्यायः (नारदोक्तदिशा मरुतेन संवर्तस्य दर्शनम्) ४,१०,१५,१६,३०,३३, सप्तमोऽध्यायः (संवर्तमरुतयोर्वार्तालापो मरुतस्याग्रहेण संवर्तेन तद् यज्ञं कारयितुं स्वीकृतिप्रदानम्) श्लोक-संख्या ३-३३।
५. द्र०, महा०भा० आदिपर्व, २.२.५५-५८।

(ग) द्रुपद के द्वारा कश्यपगोत्रीय याज एवं उपयाज का अन्वेषण।[1]

चिन्तनीय विषय यह है कि उक्त परिपाटी उत्तर भारत में अदृष्टप्राय है। ऋत्विज् और यजमान सर्वदा समानशाखीय होंगे, यह कोई नियम नहीं है। ऐसी स्थिति में पौरोहित्य में यज्ञ कराने के अधिकारी आचार्य को प्रथमतः स्ववेदान्तर्गत स्वशाखाध्ययन सम्पूर्ण करके तत्पश्चात् यजमान शाखा का भी सांग अध्ययन शिष्ट परम्परा स्वीकृत है। इस दृष्टि से आचार्य का यजमान समुदाय या तो स्वशाखीय अथवा कोई अन्य निश्चित शाखीय होता था। मौलिक परम्परानुसार ऋत्विज् स्वशाखाध्ययन समाप्तिपूर्वक स्वयजमान शाखा का भी सांगोपांग अध्ययन करता था। आचार्य यदि यजमानशाखाध्यायी नहीं होगा, तो श्रौत प्रयोग निर्वाह असम्भव है एवं स्वशाखा में अनुष्ठान से वैगुण्य है।[2]

अश्वमेध के प्रसङ्ग में स्वशाखाध्येता

यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि अश्वमेध महायज्ञानुष्ठान प्रसंग में स्वशाखा की स्वीकरणीयता एवं परशाखा की वर्जनीयता के विचार का क्या औचित्य है? क्योंकि इसमें चारों वेदों के ऋत्विजों का प्रयोजन है एवं उनके तीन-तीन सहायकों के रूप में सह-ऋत्विजों की भी आवश्यकता है। जब समस्त वेदाध्यायी उपस्थित हों, तो वहाँ स्ववेद, परवेद का विचार अप्रासंगिक है, परशाखा का विचार तो सर्वथा अप्राप्त ही है।

प्रकृत समस्या का समाधान

उक्त प्रश्न के सन्दर्भ में यही मन्तव्य है कि अश्वमेध महायज्ञ जैसे विशाल कार्य में जहाँ चारों वेदों के अध्येताओं की आवश्यकता है, वहाँ भी पूर्वोक्त सिद्धान्त का सर्वथा पालन अपेक्षित है। यथा—

(क) ऋग्वेदीय स्वशाखाध्यायी वैदिक ही हौत्र कर्म करेगा।

(ख) यजुर्वेदीय स्वशाखाध्यायी वैदिक ही आध्वर्यव कर्म करेगा।

(ग) सामवेदीय स्वशाखाध्यायी वैदिक ही औद्गात्र कर्म करेगा।

(घ) अथर्ववेदीय स्वशाखाध्यायी वैदिक ही ब्राह्मकर्म करेगा।

---

१. द्र०, महा०भा०, आदिपर्व, १८८.२३-३२।

२. द्र०, प्रतिष्ठेन्दु-शान्ति-कमलाकर आदि महामहोपाध्याय विद्याधरशर्मा गौड़ कृत भूमिका, शुक्लयजुर्वेद, दौलतराम गौड़ संस्करण।

यजमान एवं आचार्य का समानशाखीय विचार

वेद की रक्षा का उत्तरदायित्व द्विजमात्र को है, अत: निम्नलिखित वर्ण इस कोटि में आते हैं—

(क) ब्राह्मण, (ख) क्षत्रिय, (ग) वैश्य, (घ) मूर्धाभिषिक्त, (ङ) अम्बष्ठ, (च) माहिष्य, (छ) जात्युत्कर्ष द्वारा ब्राह्मण, (ज) जात्युत्कर्ष द्वारा क्षत्रिय, (झ) जात्युत्कर्ष द्वारा वैश्य।

पूर्वोक्त विवरण से क्षत्रिय भी वेदरक्षार्थ उत्तरदायी है। अत: तत्समानशाखीय वैदिक के द्वारा सम्पन्न कार्य सर्वप्रशस्त होगा।

ऋत्विजों एवं सह-ऋत्विजों की खोज

प्रधान ऋत्विजों की संख्या चार होती है, इनके तीन-तीन सहायक होते हैं। इनको सह-ऋत्विज कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विजों एवं सह-ऋत्विजों की संख्या चार-चार, समष्टि में मिलकर षोडशात्मक होती है। यजमान एवं यजमानपत्नी को मिलाकर अष्टादशात्मक होती है। इसलिए वैदिक कर्मकाण्ड को "**अष्टादशोक्त कर्म**" कहा जाता है।[१] यथा—

(क) **उद्गाता**—प्रस्तोता-प्रतिहर्ता-सुब्रह्मण्य, ये चार सामवेदीय स्वशाखीय उद्गातृगण हैं।

(ख) **अध्वर्यु**—प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा-उन्नेता, ये चार यजुर्वेदीय स्वशाखीय अध्वर्युगण हैं।

(ग) **होता**—मैत्रावरुण-अच्छावाक-ग्रावस्तुत, ये चार ऋग्वेदीय स्वशाखीय होतृगण हैं।

(घ) **ब्रह्मा**—ब्राह्मणाच्छंसी-आग्नीध्र-होता, ये चार अथर्ववेदीय स्वशाखीय ब्रह्मगण हैं।

वस्तुत: सम्पूर्ण वेद-स्मृति-सिद्धान्त-प्रतिपादक वाङ्मय में उक्त रहस्य के सूचनार्थ अष्टादश संख्या का आश्रयण किया गया है। यथा—

१.	महापुराण	=	१८
२.	उपपुराण	=	१८

१. प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपा:।
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।। (मुण्ड०उ०, १.७)

३.	औपपुराण	=	१८
४.	महाभारत	=	अष्टादशपर्व
५.	भगवद्गीता	=	अष्टादशाध्यायी
६.	महाभारतयुद्ध	=	अष्टादशदिवसात्मक
७.	पाण्डवपक्षीय प्रधानवीर	=	१८
८.	श्रीमद्भागवत श्लोक-संख्या	=	१८ सहस्र
९.	देवीभागवत श्लोक-संख्या	=	१८ सहस्र
१०.	तिङ् विभक्ति	=	१८

ऋत्विजों एवं सह-ऋत्विजों के वर्ण, आचरणादि का निरूपण

पूर्वोक्त क्रम के अनुसार होतृ-वर्ग के चार ऋग्वेदीय, अध्वर्यु-वर्ग के चार यजुर्वेदीय, उद्गातृ-वर्ग के चार सामवेदीय एवं ब्रह्म-वर्ग के चार अथर्ववेदीय। इस प्रकार समष्टि में षोडश ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। इन सबों का व्यक्तिगत आचरण भी मननीय है। श्रौत प्रयोग में होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा के प्रधान ऋत्विक् एवं सह-ऋत्विक् किसी भी पद पर वरण करने वाले वैदिक को स्वयं श्रौत आहिताग्नि होना चाहिए। आहिताग्नि तत्रापि श्रौत आहिताग्नि स्ववेदीय स्वशाखीय वैदिक ही श्रौत प्रयोग में ग्राह्य है।

आहिताग्नि भी यदि स्मार्ताग्निहोत्री होगा, तो वह रुद्र-विष्णु-गायत्री आदि स्मार्त प्रयोगों में अवश्य ही प्रशस्त है; परन्तु श्रौत प्रयोग में श्रौताग्निहोत्री ही ग्राह्य होगा।

पूर्वोक्त श्रौत अग्न्याधान सपत्नीक व्रत है, अत: षोडश ऋत्विजों को विहित पद्धति के अनुसार विवाहित होना चाहिए। ऋत्विज पद के वरण लेने के पश्चात् सपत्नीक यजमान के समान ऋत्विजों को भी वर्षपर्यन्त संयत एवं अस्खलित चरित्रवान् होना अपेक्षित है।

वर्ण-विचार

सभी ऋत्विज एवं सह-ऋत्विज ब्राह्मण वर्ग के होंगे। उसमें भी प्रधानत: जन्मत: ब्राह्मण अपेक्षित है, अर्थात् पुरुषानुक्रम से ब्राह्मणत्व रूप उत्तरदायित्व का जन्मत: रक्षक, तत: कर्म से उसका संवर्धक हो। इसी को शब्दान्तर से ''**योगक्षेम**'' कहा गया है।[१] वह जन्म चाहे असगोत्र सवर्णा से हो अथवा

---

१. अलब्धलाभ = योग:, लब्धस्य परिरक्षणम् = क्षेम:।

अनुलोम संकर परम्पराप्राप्त जात्युत्कर्ष से हो—ग्राह्य होगा। जन्मतः ब्राह्मणत्व प्राप्त होने के बाद तप, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्यादि विशिष्टता ग्राह्य होगी।

क्वचित् क्षत्रिय के द्वारा याजन का भी प्रसंग प्राप्त है;[1] परन्तु यह शिष्ट व्यवहार में स्वीकृत नहीं है। असवर्ण पत्नीक ब्राह्मण का याजनाधिकार है या नहीं? इस विषय में मन्तव्य है कि सभी ऋत्विज एवं सह-ऋत्विज ब्राह्मण सपत्नीक होंगे; परन्तु उक्त ऋत्विज यदि असवर्णा पत्नीयुक्त हों, तो वह याजनाधिकारी होगा अथवा नहीं?

इस प्रसंग में यह मन्तव्य है कि ब्राह्मण के लिए असमान गोत्र[2] एवं असमान प्रवर की कन्या ही विधिवत् विवाह में प्रशस्त है, उसी से उत्पन्न पुत्र जन्मतः ब्राह्मण होगा। जन्मना ब्राह्मण यदि स्वयं असवर्णा परिणय करे, तो अश्वमेध के ऋत्विजों में ग्राह्य होगा कि नहीं? यहाँ पर प्रशस्तकल्पानुसार सवर्णा पत्नीक ब्राह्मण ही ग्राह्य है।

अवश्य ही महाराज दशरथकृत अश्वमेध एवं पुत्रेष्टि यज्ञ उन्हीं के जामाता एवं विभाण्डक ऋषि के पुत्र शृंगी ने सम्पन्न करवाया था।[3] शृंगी ऋषि की पत्नी शान्ता[4] थी, जो दशरथ-कौशल्या की जन्मतः कन्या थी एवं अङ्गदेश[5] के राजा रोमपाद की पालिता कन्या थी।

याजकों की आर्थिक प्रवृत्ति

सभी याजक = ऋत्विज एवं सह-ऋत्विज आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक निःस्पृह चरित्र वाले अपेक्षित हैं। अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् उपचार स्वरूप[6]

१. द्र०, वा०रा०, बालकाण्ड ६०.९।

२. ''असपिण्डा च या मातुः असगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।। (म०स्मृ०, ३.५)

३. द्र०, वा०रा०, बालकाण्ड, अध्याय ९-१५।

४. ''कन्यां दशरथो राजा शान्ता नाम व्यजीजनत्।
अपत्यकृत्तिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ ।।'' (उत्तररामचरितम्, भवभूति, प्रथम अङ्क)

५. अङ्गदेशो वर्तमानभागलपुरम् (बिहार) इति प्रसिद्धिः।

६. तत्र दक्षिणायां विशेषः। पूर्वविजयसमये यदूनमवाप्तं पूर्वदिक्तः, तत्र त्रेधा विभज्य भागमेकं होत्रे दद्यात्, दक्षिणदिग्लब्धस्य तृतीयांशं ब्रह्मणे, प्रतीच्यामुपलब्धस्य तृतीयांशमध्वर्यवे, उत्तरदिग्लब्धस्य तृतीयांशमुद्गात्रे, अवशिष्टमंशद्वयमनन्तरयोः सुत्यादिवसयोरेवमेव दद्यात्.....। (का०श्रौ०भू०, पृ०६६)

चारों ऋत्विजों को चारों दिशाएँ अर्थात् सम्पूर्ण भूमण्डल को औपचारिक रूप से दान दिया जाता था; परन्तु कोई भी ऋत्विज उसको व्यवहारत: स्वीकार नहीं करता था;[१] अपितु सम्पूर्ण भूमण्डल सम्राट् के पास रहता था। निष्क्रय के रूप मे याजक को निश्चित परिमाण में दक्षिणा अवश्य दी जाती थी।[२]

उपर्युक्त कार्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

उक्त औपचारिक कृत्य का यह सुखद परिणाम है कि सम्पूर्ण भूमण्डल का सम्राट् भी मात्र एक न्यासी (Trusty) के रूप में सर्वोत्कृष्ट पद (सम्राट्) पर शासन करता था। भूमण्डल के स्वामी तो ऋत्विक्‌गण हैं, सम्राट् केवल व्यवस्थापक मात्र ही है। इस मनोवैज्ञानिक परतन्त्रता के रहते हुए स्वामी स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश नहीं हो सकता था।

---

१. वा०रा०, बालकाण्डम्, १४.४३-४९।

२. वा०रा०, बालकाण्डम्, १४.४७-४८।

षष्ठ परिच्छेद

विभिन्न शास्त्रों के दृष्टिकोण से अश्वमेध-विमर्श

अश्वमेध याग का राजनैतिक स्वरूप

अवश्य ही वर्तमान समय में राजनीति एवं धर्म का स्वतन्त्र अर्थात् पृथक्-पृथक् एक-दूसरे से असम्पृक्त स्वरूप प्राप्त होता है; परन्तु आर्ष सिद्धान्तानुसार राजनीति और धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं, अत: अश्वमेध याग मात्र एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं, अपितु उसका एक राजनैतिक स्वरूप भी है। प्रसिद्ध है—''**राजनीतिर्महालक्ष्मीर्धर्मो नारायणस्स्वयम्**''। वस्तुत: राजनीति और धर्मनीति का व्यावहारिक समन्वय ही वह सुदृढ़ आधारशिला है, जिस पर जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वमूलक आनुवंशिक स्थिर शासन पद्धति का महाप्रासाद स्थापित होने पर विजयवैजयन्ती चिरकाल तक स्थापित रहेगी। राजनीति की प्रधान दुर्बलता अस्थिरता है। राष्ट्रविप्लव, राजद्रोह, सैन्यविद्रोह, चौर्यवृत्ति, कूटसन्धि, कपटाचार आदि समस्त शासन के विध्वंसक तत्त्वों का मूल है—अस्थिर शासन।

स्थिर शासन की स्थापना हेतु राष्ट्रनायक को स्वत्वसमर्पण करना अनिवार्य है। किसी भी राष्ट्र का ध्वंस करने का परोक्ष मन्त्र है, ''उस राष्ट्र में अस्थिरता उत्पन्न करना''। अश्वमेध महायज्ञ उक्त समस्या का ही स्थायी एवं सदृढ़ समाधान है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि अश्वमेध महायज्ञ मात्र यजमान और पुरोहित का एक धार्मिक गृह कृत्य नहीं है, अपितु जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण आर्य साम्राज्य परम्परा की उपलब्धि स्वरूप स्थिर शासन स्थापना की आधारशिला है। वर्तमान सन्दर्भ में अश्वमेध महायज्ञ एक दीर्घकालिक राष्ट्रीय परियोजना है।

राजनैतिक स्वरूप की उपलब्धि का मूल मन्त्र है—''शासन में अपरिवर्तनीय एकात्मकता का सातत्य''। जब पृथ्वी पर अनेक छोटे-छोटे राज्य होंगे, तभी व्यय भार अधिक होगा, परस्पर विजिगीषा, प्रतिस्पर्धामूलक युद्ध, सेना-निवेश, गूढ़ अभिसन्धि, कूटप्रयोग इत्यादि होने से अस्थिरता उत्पन्न होगी, जो कि राष्ट्रध्वंस का पर्याय है।

परन्तु जब अश्वमेध यज्ञ के माध्यम से समस्त विश्व में राजनीतिक एकता का व्यावहारिक स्वरूप स्थापित होगा, तब राष्ट्रनायक के एक ध्वज की स्थापना के द्वारा विश्व में ''**वसुधैव कुटुम्बकम्**''[१] की स्थापना करेगा।

अश्वमेध : आधुनिक महानिर्वाचन अथवा मध्यावधि निर्वाचन

स्वतन्त्र भारत की राजनैतिक उपलब्धियों में प्रजातान्त्रिक प्रणाली एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है। इस प्रणाली का हृदय 'निर्वाचन' है। सामान्य परिस्थितियों में प्रति पाँच वर्ष के समयान्तराल में लोकसभा, विधानसभा आदि प्रतिनिधि सभाओं का सामान्य निर्वाचन होता है, जो कि भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त नागरिक अधिकार से सम्पन्न होता है।

कुछ परिवर्तनों के साथ यही निर्वाचन प्रणाली राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यसभा, विधानपरिषद्, नगरपालिका, नगरमहापालिका, नगरनिगम, ग्रामसभा आदि विभिन्न संस्थाओं के अध्यक्ष, उपाध्यक्षादि के निर्वाचन में भी स्वीकृत है। लोकसभा और विधानसभा—ये दोनों शासन के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। इनमें जनता का साक्षात् प्रतिनिधित्व स्पष्ट होता है। प्रति पाँच वर्ष के अन्तराल में जनता के समक्ष निर्वाचन प्रक्रिया के द्वारा अपने बहुमत की स्थिति स्पष्ट कर किसी दल के द्वारा शासनसूत्र सँभाला जाता है।

विशेष परिस्थितियों में मध्यावधि चुनाव

कभी भी शासक दल के नेता को अपने बहुमत अथवा अपने प्रति समर्थन में सन्दिग्धता हो, तो वह मध्यावधि निर्वाचन के द्वारा पुनर्बहुमत रूप जनादेश प्राप्त कर सत्तासीन हो सकता है। यह प्रक्रिया केन्द्र-केन्द्रशासित राज्य एवं राज्यों में एक साथ या पृथक्-पृथक् भी सम्भव है। इस प्रजातान्त्रिक पद्धति में शासनाधिकार प्राप्त करने की सर्वश्रेष्ठ एवं शान्तिप्रिय योजनाबद्ध विधि है। वर्तमान समय में भारतसंघ सहित विश्व के अनेक प्रजातन्त्रवादी देशों में यह प्रक्रिया प्रचलित है। चूँकि यह विषय अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसलिए इस पर विशेष विवेचन निष्प्रयोजन है।

अश्वमेधयज्ञ और उक्त विचार की प्रासंगिकता

वस्तुत: विचार करने पर उक्त समस्त प्रक्रिया राष्ट्र में स्थिर शासन की आधारशिला को दृढ़ करने के ही प्रजातान्त्रिक उपाय हैं। अल्पमत शासन सदा

---

१. द्र०, हितोपदेश ''मित्रलाभ''।

अस्थिर होता है। विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि अश्वमेध महायज्ञ की अनेक उपलब्धियों में एक उपलब्धि यह भी है, यथा—

१. सम्राट् अभिषिक्त होने पर अपने आनुवंशिक जन्मप्रभृति प्राप्त उत्तरदायित्व के रक्षार्थ विश्व की एकता की अपेक्षा करता है, जिसकी पूर्णता अश्वमेध जैसी दीर्घकालीन परियोजनाओं में स्पष्ट है।

२. अश्वमेध महायज्ञ जैसी राष्ट्रीय परियोजना के द्वारा विश्व शान्ति के विरुद्ध सन्नद्ध या सम्भावित समस्त विद्रोहों का शासन होता है।

३. एकता का मूलभूत तत्त्व स्वमित्र संख्याओं में वृद्धि है, नीतिकारों ने स्पष्ट कहा है—"**यानि कानि च मित्राणि कर्त्तव्यानि शतानि च**"।[1]

अश्वमेध परियोजना से उक्त कार्य की स्थायी स्थिति स्पष्ट है। आन्विक्षिकी स्थापना, नीतिस्थापना, वार्तादण्डनीतिस्थापना, अमात्यमन्त्रीनियुक्ति, गूढ़-प्रयुक्ति, चारसन्निवेश (सी.आई.डी.), मन्त्राधिकारी, प्रणिधिविचार, उत्तराधिकार सुरक्षा, राजप्रणिधि, निशान्तप्रणिधि, आत्मरक्षितप्रयोग, जनपदनिवेश, भूमिछिद्र-निवारण, राजभवननिर्माण, सन्निधातृनिचय, समाहर्तृसमुदयप्रस्थापन, अक्षपटल में गाणनिक्याधिकार, समुदययुक्तापहृत का प्रत्यानयन आदि अर्थशास्त्रीय विषयों की स्थायी स्थिति भी स्थिर शासन में ही सम्भव है।[2]

उदाहरणार्थ सम्प्रति कभी राष्ट्रीय अस्थिरता होने पर शासन लोकसभा भंग कर, पुनः महानिर्वाचन सम्पन्न कर, बहुमत प्राप्त कर, स्थायित्व के आधार पर शासनसूत्र सँभाल सकता है, उसी प्रकार जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन व्यवस्था में भी कभी राष्ट्रिय विप्लव अथवा सामन्तवादियों का विद्रोह, गृहकलह, अधिकार वैमत्य आदि अस्थिर स्थिति उत्पन्न होने पर, सम्राट् द्वारा पूर्व में अश्वमेध योजना सम्पन्न होने पर भी पुनः उस योजना को लागू कर राज्य में स्थिरता ला सकता है।

जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वपूर्ण आनुवंशिक शासन व्यवस्था में, शान्ति-स्थापनादि अन्य शासनपद्धतियों की अपेक्षा, कुछ अधिक समय के लिए सम्भावित होने पर भी, चिरकालिक नहीं हो सकती। अतः एक सम्राट् के सेवानिवृत्त[3] होने पर, युवराज अभिषिक्त होकर सम्राट् होगा। वह पुनः अश्वमेध

---

१. द्र० हितोपदेश, 'मित्रलाभ'; २. द्र०, कौटिल्य अर्थशास्त्र।

३. "सेवानिवृत्तिकालस्तु साम्प्रतं सर्वत्र प्रायो विवादास्पदम्। नेतृणां तु निश्चयाभाव एव, परं जन्मप्रभृत्युत्तरदायित्वपूर्णाऽऽनुवंशिकस्थायित्वसंपादकशासनव्यवस्थायां नियुक्तिस्तु आपंचविशात् आपंचाशदिति सार्वजनीनो नियम आसीत्। तत्फलं तु तत्र निर्जीविकसमस्याभावः। तथा च प्रसिद्धिः "पंचाशोर्ध्वे वनं व्रजेत्"। तथा च स्मृतिः—"गृहस्थस्तु यदा पश्येद् बलीपलितमात्मनः। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा।"

महायोजना को लागू कर उक्त व्यवस्था को स्थापित करेगा। इस प्रकार प्रयोजनानुसार एक सम्राट् अधिकारी कई अश्वमेधों[१] की योजना को लागू कर सकता है। दशाश्वमेध-शताश्वमेध आदि इसी व्यवस्था के बृहद् रूप हैं।

जिस प्रकार प्रजातान्त्रिक पद्धति में शासनव्यवस्था की एक निश्चितकालीन स्थिरता के सम्पादन के लिए महानिर्वाचन एवं परिस्थितिविशेष में मध्यावधि निर्वाचन, वर्तमान भारतीय संविधान में स्वीकृत है, उसी प्रकार जन्मप्रभृत्युत्तर-दायित्वपूर्ण आनुवंशिक स्थायी शासन व्यवस्था में दीर्घकालीन स्थिरता लाने के लिए अश्वमेध महायज्ञ रूप राष्ट्रीय परियोजना, आर्ष संविधान अर्थात् वेदानुमोदित विधि स्वीकृत है।

अश्वमेधयज्ञ का चिकित्साशास्त्रीय अध्ययन

वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार अनेक रोगों का विनाश पशुओं के जीवाणु सम्पर्क से किया जा सकता है। इसी प्रकार पशुओं के जीवाणु सम्पर्क से अनेक रोगों की उत्पत्ति भी होती है। उदाहरणार्थ मलेरिया, प्लेग आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ तिर्यक् जाति, रोगनिवारण के लिए ही प्रसिद्ध हैं। जैसे असुल का सेवन दमा निवारण के लिए प्रसिद्ध है। पीतिमा रोग में छागमूत्र का सेवन सर्वथा लाभकारी है। गोमूत्र के सेवन से वन्ध्या स्त्री का भी गर्भधारण महाभारत में प्रसिद्ध है।[२] इसी प्रकार शीतला रोग में गर्दभी-दुग्धादि भी द्रव्यगुणविज्ञान के आधार पर सर्वाधिक उपादेय है।[३]

प्रकृत में अश्व की उपादेयता मन्तव्य है। अश्व का "वाजि" अभिधान भी प्रसिद्ध है। वेद में अश्व के लिए प्रयुक्त "शक्ति"[४] अथवा "गति" का अर्थ रखने वाला यह शब्द "दौड़", "पुरस्कार"[५] अथवा "सम्पन्नता"[६] का द्योतक है। लौकिक कोश में "वाज" शब्द का अर्थ अन्न, घृत, जल, वेगादि है।[७] इसलिए सूर्य को "वाजसनि" कहा गया है। वाजस्य अर्थात् अन्नस्य सनिः अर्थात् दानं येन इति सूर्यम्।[८]

१. "त्रीन् मेधान् महारिष्यति"। (महा०भा०, आदिपर्वे, अर्जुनजन्मप्रसङ्ग)

२. "यासां मूत्रं समाघ्राय वन्ध्या पुत्रवती भवेत्।" द्र०, महा०भा०, वनपर्व, नगरप्रवेशप्रसंगे सहदेववचनम्।

३. माधवाचार्यकृत धर्मदिग्दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ३४७-३५७।

४. द्र०, ऋ०वे०,२.२३.१३, ३.११.९, ३.३७.६, ३.४२.६, ५.३५.१।

५. द्र०, ऋ०वे०, १.६४.१३, २.२६.३, ३.२.३।

६. द्र०, ऋ०वे०, १.२७.५, १.९२.७, अ०वे०, १३.१.२२। पंचविंश ब्राह्मण, १८.७, १.७ वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत।

७. द्र०, वाच०; ८. तत्रैव।

प्रथम अश्वमेध अर्हता, सम्राट् मनु के अनुसार[1] स्पष्ट है "**आदित्यात् जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः**"। अश्ववाचक "वाजिन्" शब्द ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'क्षिप्रता' और 'शक्ति' के सन्दर्भ में अश्वों का द्योतक है।[2]

इसी प्रकार छेने (पनीर) के पानी को भी वाजिन[3] कहते हैं।[4] वाजिन शब्द का अर्थ है—वाजिभ्यः अर्थात् अश्वेभ्यः हितं देयं वा इति वाजिनम् । प्रसिद्धि के अनुसार पनीर[5] मांस से आठ गुना अधिक बलवर्द्धक है।[6] इसी प्रकार "अश्व" या "वाजि" शब्द बलवान्-वेगवान् या द्रुतगतिसम्पन्न अर्थ में आया है।

रसायनविशेष को भी "वाजीकरण" कहा जाता है, यथा "**यद् द्रव्यं पुरुषं कुर्याद् वाजिवत् सुरतक्षमं तद् वाजीकरणं ख्यातम्** ।"[7] वैदिक प्रयोगों में वाजपेय[8] यज्ञ प्रसिद्ध है। इसमें रथों का धावन-प्रतिस्पर्धा समारोह होता था, जिसमें यज्ञकर्ता का विजयी होना अनिवार्य था। इस प्रतिस्पर्धा के लिए आर्य होना आवश्यक था। आज की विश्वव्यापी शासन व्यवस्थाओं में कहीं भी इस तरह की प्रकट प्रतिस्पर्धा दृष्ट नहीं है। अवश्य ही एशियाड, ओलम्पिकादि कतिपय आयोजनों में अन्ताराष्ट्रिय स्तर के अश्वधावन सहित विभिन्न प्रतिस्पर्धाओं में पुरस्कार वितरण मात्र सम्पादन करके ही विश्व स्तर के नेता अपने शारीरिक बल का परिचय देते हुए ख्याति प्राप्त करते हैं। प्रसंगतः यह भी उल्लेख्य है कि वाजपेययज्ञ क्षत्रिय एवं ब्राह्मण पुरोहित के द्वारा करणीय है। एतावता दोनों की शारीरिक क्षमता स्पष्ट है।[9]

वाजि शब्द की सिद्धि

वाज् या वाजि शब्द "वज् गतौ" भ्वादि परस्मैपद सेट् 'हलश्च' (३.३.१२१) सूत्र द्वारा घञ् प्रत्ययान्त है। वजति अनेन इति वाजः, निष्ठायां सेट्त्वान्न कुत्वम्। वाजयति वा, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३.१.१३४)[10]।

१. द्र०, म०स्मृ०, ३.६६, मोर संस्करण।
२. द्र०, ऋ०वे०, २.५.१, २.१०.१, २.३४.७, ३.५३.२३, ६.७५.६, १०.१०३.१०।
३. तप्यते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्, इति श्रुतिः आमिक्षा = छेने का पानी। द्र०, वाच०।
४. द्र०, तै०सं०, १.६.३.१०; वा०सं०, १९.२१।
५. द्र०, पयसः नीरम् इति पयोनीरं ततः पनीर इति, अत्र नीरशब्दः सारार्थकः।
६. मांसादष्टगुणामिक्षा।
७. द्र०, वाच०। इदं च पुरुषस्य वीर्यवृद्धिकरम् औषधिविशेषद्रव्यम्।
८. द्र०, श०ब्रा०, का०श्रौ०सू०।
९. द्र०, वै०इ०, हिन्दूधर्मकोश।
१०. द्र०, (क) अमर० २.८.८७ व्याख्यासुधा।
(ख) वाजो निरवनपक्षयोः वेगे पुमानथ क्लीबे ग्रह्यज्ञान्नवारिषु। द्र० मे०, ३०.१५-१६।

उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि अश्व मात्र एक पशु नहीं है; अपितु वह वाजि अर्थात् एक रासायनिक सजीव उत्स है। अत एव वर्षपर्यन्त अपने मन को इसमें समर्पित करना एवं उसी के आधार पर समस्त भूमण्डल विजय के माध्यम से विश्वभ्रमणादि करने के पश्चात् तत्सम्पर्क में महिषी का शयन, ततः तादृश अश्व के मेद[१] को उद्धृत कर काश्मर्य[२] वृक्ष से निर्मित शूल[३] से पाक होम का विधान है।

इस प्रकार अश्वमेध महायज्ञ वैदिक भाषा में "पशुयाग" होने पर भी चिकित्साविज्ञान के द्रव्यगुण विषय के अन्तर्गत यह एक रासायनिक प्रयोग की जीवन्त प्रौढ़ परीक्षणमूलक अनुसन्धानशाला है; किन्तु इस रासायनिक प्रयोग की जीवन्त प्रौढ़ परीक्षणमूलक अनुसन्धानशाला की प्रधान उपजीव्य वस्तु अश्वजातिविशेष का "ययु" नामक "वाजि" वर्तमान समय में दुर्लभ तो क्या, सम्भवतः नष्ट हो चुका है।

अश्वमेधीयाश्व का चिकित्साशास्त्रीय स्वरूप

अश्वमेध विशिष्ट प्रकार का सोमयाग है। इसमें प्रयुक्त "ययु" नामक अश्व विशिष्ट एवं दुर्लभ होता था। वह साधारण अश्व नहीं होता था, फिर उस अश्व का खान-पान विशेष प्रकार से होता था और उसमें सभी कार्य मन्त्रों से सम्पादित किये जाते थे, कि उसका कायाकल्प होकर, उसमें साधारणता हटकर विशिष्टता आ जाती थी, वह दिव्य अश्व हो जाता था, उसमें रक्त आदि सभी धातुओं[४] का परिवर्तन होकर दुर्गन्ध आदि हट जाते थे। वह श्वेत अंश में होकर वपा[५] के रूप में हो जाता था।

महाभारत में लिखा है[६]—

तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः।
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।।

---

१. "अश्वस्य वपाभावात् तत्स्थाने मेदो ग्राह्यः।"

२. काश्मर्य = Gmelina arborea गम्भीरसर्वतोभद्रा काश्मरी मधुपर्णिका, श्रीपाणी भद्रपाणी च काश्मर्यश्चापि" द्र०, अमर०, २.४.३५-४६।

३. शूल-Table fork।

४. निःसृतरसः इति सर्वतन्त्र०।

५. वपा नाम पशोरामाशयस्योपरि तमाच्छाद्य वर्त्तमानोऽतिसूक्ष्मश्वेतवसाकृतिरूपोपाङ्गविशेषः। (द्र०का०श्रौ०भू०) अर्थान्तरं च-वपा, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में वल्मीक अथवा कूलक का द्योतक है। वै०इ०, भाग द्वितीय।
द्र०, तै०सं०, ५.१.२.५, तै०ब्रा०, १.१.३.४, श०ब्रा०, ६-३.३.३.५।

६. महा०भा०, अश्वमेधपर्व, ८९.४।

इस श्लोक में उसकी वपा के धूम्र का आघ्राण वर्णित है—साधारण अश्व की वपा तो क्या, मक्षिका आदि के अंगादि भी अग्नि में डालने पर इतनी दुर्गन्ध होती है कि वहाँ साधारण व्यक्ति भी बैठ नहीं सकता, तो राजा आदि विशिष्ट व्यक्तियों की बात ही क्या? वास्तविकता तो यह है कि मांस तो क्या, कोई भी वस्तुमात्र विशेषतः खाद्य पदार्थ के जलने पर दुर्गन्ध का होना प्रयोगसिद्ध प्रत्यक्ष है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया से कायाकल्प

अश्वमेध के अश्व की वैज्ञानिक प्रक्रिया से इस प्रकार कायाकल्प हो जाता था, जिससे उसके होम से सुगन्धि निकलती थी।[1] उक्थ्य-पुत्र ऋषि दीर्घतमा के शब्दों में[2]—

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिनिर्हरेति ।
ये चार्वतो मासंभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिनः इन्वतु ।।

उस अश्वमेध के अग्निपरिपक्व अश्व को सुरभि अर्थात् शोभनगन्ध वाला कहकर, इसी वैज्ञानिक कायाकल्प को संकेतित किया गया है। जैमिनीय अश्वमेध में उस अश्व की परीक्षा के लिए धौम्य मुनि ने उसका दक्षिण कर्ण स्पर्श किया, तो उसमें से दूध की धारा निकली।

ग्रन्थकार जैमिनि के शब्दों में[3]—

''ततो धौम्यो हयस्याशु वामं कर्णं न्यपीडयत् ।
ततो दुग्धस्य धारा तु निर्गता जनमेजय ।।
विस्मिताः सकला लोकाः शोधितं नैव दृश्यते ।।''

---

१. तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेपः—
ये पक्वं वाजिनमश्वमश्वावयवं परिपश्यन्ति परितः पावनबुद्ध्येक्षन्ते। य इं ये चैनं सुरभिः शोभनगंधोऽतो निर्हर किंचिदप्यस्मभ्यं देहीत्याहुः। यद्वा निःशेषेण देवेभ्यो हरेत्याहुः। यतः सुरभिः अतो देवयोग्यमिति। किंच ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते ये नरा अस्यार्वतोऽश्वस्य हुतशिष्टमांसयाचनामुपासते कांक्षन्ते। उतो अपि च तेषामुक्तविधानामभिगूर्तिरभित उद्यमनं नाऽस्मानिन्वतु। यथास्माभिरश्व उपालब्ध एवं स्पृहयन्ति तथा यज्ञो निर्वाहयत्वित्यर्थः। मन्त्रो देवपरो व्याख्येयः। ये देवा वाजिनं पक्वं परिपश्यन्ति, देहीत्याहुः, ये चार्वतोऽश्वस्य मांसभिक्षामुपासते तेषामभिगूर्ति न इन्वतु तेषामुद्यमो सफलो भवत्वित्यर्थः। (ऋ०वे०, १.१६२.१२)।

२. ऋ०वे०, १.१६२.१२।

३. जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि, ६४.१९,२०।

उस अश्व से दुग्धधारा प्रवाहित हुई, रक्त बिल्कुल नहीं दिखा— यह देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गए। फिर उसका शिरच्छेदन करने पर वह्निमय होकर वह सूर्य में प्रविष्ट हो गया।[१] उसके शरीर से कपूर की गन्ध आने लगी। ग्रन्थकार के शब्दों में[२]—

ऊर्ध्वगतं तच्च शिरो न चाधः।
सूर्यप्रविष्टं किल वह्निरूपम् ।।

यहाँ उस घोड़े के शिर का नीचे भूमि पर गिरना न होकर, सूर्यलोक में उसका प्रवेश दिखाया गया है।[३]

''शुद्धं ज्ञात्वा हृषीकेशस्तुतोदैनमुरःस्थले ।
बैल्वेन कण्टकेनापि भिन्नः कृष्णेन पावनः।।''[४]

यहाँ उस घोड़े का ''शुद्ध'' तथा ''पावन'' शब्द से भीतरी कायाकल्प स्पष्ट बताया जा रहा है, उसी के परिणाम से उससे दुग्धधारा का प्रवाह बताया गया है।

''निर्गता क्षीरधारा तु तुरङ्गस्य कलेवरात् ।''[५]
''एवंविधो न कस्यापि शुद्धः पूर्वतुरङ्गमः।।''[६]

यहाँ पर उस अश्व की अन्तर-बाह्य शुद्धि का वर्णन किया गया है।

''तेषां संवदतामेवं तुरङ्गमकलेवरात् ।
निर्गतं सुमहत् तेजः प्रविष्टं केशवानने''।।[७]

यहाँ पर भी पूर्वोक्त निमित्त से अश्व से एक विशेष तेज का प्रवाह कहा गया है।

''पश्चाच्छरीरं तु भूत्वा कर्पूरमेव तत् ।
विभूतिरिव रुद्रस्य च्युता गात्राद् अशोभत ।।''[८]

---

१. एतावता अश्वशरीरात् पार्थिवत्वलोपः, आग्नेयातिशयाधानं च सिध्यति। अत एव अन्येषाम् आग्नेयपदार्थानामिव तस्यापि सूर्याभिमुखत्वम्। स्पष्टं चैतत् ''स्थानेऽन्तरतमसूत्रे'' महाभाष्ये।

२. जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि-६४.२२।

३. शतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशकाण्डस्य प्रारम्भे अश्वमेधस्य सूर्यमयत्वं स्पष्टम्। (श०ब्रा०, १.१.१)।

४. जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि, ६४.२३।

५. तत्रैव, ६४.२४; ६. तत्रैव, ६४.२५।

७. तत्रैव, ६४.२७; ८. तत्रैव, ६४.२८।

यहाँ उस अश्व का विशेष विधान से कायाकल्प के कारण भूमि पर गिरने पर भगवान् शंकर की विभूति के समान श्वेत और दिव्य कर्पूर होना बताया गया है। उससे सभी अचम्भित हो गए और उसी कपूर का हवन किया गया।

आगे ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है—

विस्मिता मुनयस्ते तु कर्पूरं वीक्ष्य तेऽभवन् ।
कर्पूरं जुहुवुस्ते तु होमकुण्डे तु तत्क्षणात् ।।[१]
''**घनसारं जुहावाग्नौ देवतानां पुरस्तदा**''[२]।

हवनीय सभी पदार्थों का संस्कार करके उसमें दिव्यत्व आधान किया जाता था। हवनीय अश्व को खिलाने योग्य विशेष प्रकार का तृण, विशेष प्रकार के क्षेत्र में, विशिष्ट नक्षत्र में, विशिष्ट मन्त्रों से बोया जाता था। विशेष प्रकार के जल से सिंचित होकर, विशेष प्रकार का उर्वरक दिया जाता था। विहित मुहूर्त में तोड़कर, विहित मन्त्रों से उसका संस्कार कर, विहित समय में घोड़े को खिलाया जाता था, अश्व की विशेष प्रकार से रहन-सहनादि सभी बातें पूरी करनी होती थीं। जिस प्रकार योग्य वैद्य एक वृद्ध का भी कायाकल्प करता है, वैसे ही यहाँ पर अनुमान कर लेना चाहिए और उन याज्ञिक ऋषियों में विशेष प्रकार की शक्ति होती थी, यह महाभारत में स्पष्ट है।

जैसे लोग नासिका से जल ग्रहण करके मुख से निष्कासित कर देते हैं,[३] इससे उस अंग की शुद्धि हो जाने से फिर प्रतिश्याय[४] आदि रोग नहीं हो पाते, इसी प्रकार अश्वादि में मानसिक शक्ति से विशेषता कर दी जाती थी।

अश्वमेधयज्ञ एवं वाजीकरण का विस्तृत निरूपण

अश्वमेधयज्ञ का आनुवंशिक चक्रवर्ती राज्य स्थापना तथा उत्तरदायित्व-निर्वाह आदि पृथक् प्रयोजन पूर्वोक्त है। महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में— ''**सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्**''।[५]

---

१. जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि, ६४.२९; २. तत्रैव, ६४.३७।

३. नेतिप्रणाल्यनुसारमयं प्रकारो बोद्धव्यः। तत्र प्रथमं ग्रन्थियुक्तबहुगुणितकार्पासतन्तून् संघट्य तन्मुखं च सूच्याकारं विधाय, नासाच्छिद्रे प्रवेश्य, काकुच्छिद्द्वारा जिह्वामार्गेण मुखाद् बहिरानीय, असकृद् मृदुघर्षणेन क्रमशः, एवमेव वामं दक्षिणं च नासामार्गं परिष्कृत्य, पश्चात् तत् तन्तुं विमुच्य, कवोष्णं जलं घटिकायां नीत्वा नलिकया एकस्मिन् नासाछिद्रे जलं प्रवेश्य, छिद्रान्तरेण पातयेत्, एवम् उभयथा कुर्याद् इति।

४. ''प्रतिश्यायस्तु पीनसः'' २.६.५१ अमरः; ५. वा०रा०, १.८.२।

इस प्रकार अश्वमेध में पुत्रेष्टि यज्ञ का फल भी समाहित है। रामायण में वर्णित है—"**तुरगश्च विमुच्यताम्। सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रान्।**"[१]

अश्वमेधयज्ञ तत्प्रोक्त कर्मों के व्याज के रूप में राजा के लिए वाजीकरण के रहस्य को भी सम्भृत करता है—

"**उत्सकथ्या अवगुदं धेहि समज्जिं चारया वृषन्। यः स्त्रीणां जीवभोजनः।**"[२]

यहाँ उक्त क्रिया में जहाँ गणपति, प्रजापति रूप अश्व से प्रार्थना है, वहीं अश्वरूप 'पुरुष' से कहना भी सम्भव हो सकता है।

अश्व-महिषी का सहशयन : वैज्ञानिक रहस्य

"अश्व" वाजीकरण[३] के प्रयोग करने वाले पुरुष का नाम भी होता है। इस कर्मकाण्ड में, जो कि अश्व के साथ रानी के सहशयन का वर्णन आता है, वस्तुतः इसमें वैज्ञानिक रहस्य भी है। रानी के गर्भाशय के शोधनार्थ एवं गर्भस्थापनार्थ अश्वमेध के उस विशिष्ट घोड़े के पृथक् कृत अंग से निर्मित पदार्थ को रानी स्व अंग में निक्षेप करती है—"**प्रजननं प्रजनने सन्निधाय उपविशन्ति**"। यह मात्र भोग-विलास नहीं है, अपितु चिकित्साशास्त्रीय विधि (Technique) है। इससे स्त्री का वन्ध्यात्व, मृतवत्स्यात्व दोष निवारण होता है। इससे उसका सन्तानबाधक दोष हटकर, गर्भाशय सुसंस्कृत हो जाता है। फिर उस अश्व के अंगों के हवन करने से, जो मान्त्रिक शक्ति से उद्भूत शक्तिसम्पन्न तथा सुगन्धित हो जाते हैं, इस अभिमन्त्रित अग्नि में हवन करने, इसके गन्ध को राजा-रानी के आघ्राण से भीतर प्रविष्ट होकर शुक्र एवं योनि के दोषों को दूर करती है। इसी तथ्य का वर्णन महाभारत में है[४]—

"तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः।
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा"॥

यहाँ पाप का आशय गर्भाशयादिगत दोष ही है—

"शिष्टान्यङ्गानि यान्यासन् तस्याश्वस्य नराधिप।
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः"॥

---

१. वा०रा०, १.८.१२।

२. श्रीमही०भाष्यम्, २.३.२१।

३. "यद्द्रव्यं पुरुषं कुर्याद् वाजिवत् सुरतक्षमम्, तद् वाजीकरणं ख्यातम्।" इत्युक्ते वीर्यवृद्धि-करणे औषधभेदे। सुश्रुते द्रष्टव्यः। इति (वाच०)

४. द्र०, महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व, ८७.४-६।

इसी तथ्य का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में भी है। दोनों वर्णनों के विषय के साथ शब्दसाम्य भी अनुकरणीय है—

''पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः।
ऋत्विक् परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ।।
धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ।।
हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समस्ताः षोडशर्त्विजः'' ।।[1]

तत्पश्चात् वाजीकरण द्वारा गर्भवती होकर, चक्रवर्ती राजा की पत्नी, चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाती है। महीधरभाष्य में कथित इस रहस्य को कतिपय विद्वानों द्वारा अश्लील अर्थ कहकर वैज्ञानिक तथ्य को ढ़कने का प्रयास किया जाता है। जैसे कि आयुर्वेद अथवा चिकित्साशास्त्र के अध्येताओं को पशु मारने के पश्चात् अंगों को चीर-फाड़कर पृथक् करके आयुर्वेद के रहस्यों का ज्ञान होता है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुषों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का चिकित्साशास्त्रीय विशिष्ट अध्ययन करके ही नवीन चिकित्सा पद्धतियों का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए योनि को शुद्ध, संकीर्ण एवं विस्तृत करने वाले उपचारों का रतिशास्त्रीय ज्ञान ही तत्सम्बन्धी रोगों का निवारण कर सकता है।

अत: इस वैदिक विषय में भी उपहास न करके, अर्थों को न बदलकर, इस विषय पर अनुसन्धान करना चाहिए, जिससे वैदिक चिकित्सा पद्धतियों की सार्थकता का ज्ञान हो सके। अन्यथा आर्षविज्ञान का अनादर हो सकता है।

वाजीकरण पद्धति भी एक महत्त्वपूर्ण वैदिक योग है, अत: यहाँ भी अन्तस्तल में प्रवेश करने की आवश्यकता है। इसी के साथ यहाँ उस राजा का स्वयं भी सार्वभौमिक चक्रवर्तित्व अक्षत होता था।[2]

अश्वमेध से पुत्रोत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रिया

अश्वमेधयज्ञ अभिमत फलों का प्रदाता है। प्रधानतया इस यज्ञ का आयोजन दो समयों पर मुख्यत: किया जाता है—

(क) जब किसी चक्रवर्ती राजा का राज्याधिकारी पुत्र उत्पन्न न हुआ हो।

१. द्र०, वा०रा०, १.१४.३६-४.३८।
२. द्र०शुक्ल-यजु०, मही०भाष्यम्, २.३.२१।

(ख) शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर, चक्रवर्तित्व स्थापना करने की घोषणा करनी हो।

प्रथमत: चक्रवर्ती पुत्र प्राप्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया विवेचित है।

स्वस्थ स्त्री और पुरुष का रज एवं वीर्य गर्भाशय में एकत्र होता है, तो उक्त रज और वीर्य के कीटाणु, जो कि एक बूँद में सहस्रों होते हैं, एक-दूसरे को स्वभावत: भक्षण करने लगते हैं। इस प्रकिया के अन्त में मात्र एक कीट शेष रह जाता है, जो गर्भाशय में पुष्ट होने लगता है। यदि वह कीट वीर्याधिक्य से बना है, तो पुत्रगर्भ का हेतु है और यदि रजोऽधिकता से परिपुष्ट है, तो वह कन्या सन्तति का कारण है।

रज-वीर्य कीटाणु का रोगग्रस्त होना

अब कदाचित् रज या वीर्य के कीटाणु रोग विशेष के कारण दूषित होते हों, तो वे एक-दूसरे कीटाणुओं का भक्षण नहीं कर पाते; किन्तु स्वयं उनका भक्ष्य ही बनते हैं। ऐसी दशा में संघर्षाभाव में वे एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं, अत: गर्भ नहीं होता अथवा यदि स्त्री के गर्भाशय में रोगवश ऐसा विषैला वातावरण बन जाता है कि उसमें गये हुए रज-वीर्य के कीटाणु मूर्च्छित हो जाते हैं, किं वा मृत्यु को प्राप्त करते हैं, तब भी गर्भ-स्थिति नहीं होती; क्योंकि प्रकृति का यह अटल नियम है कि जब दो समान जीवित वस्तु सम्मिलित होती है, तभी उनके द्वारा किसी तृतीय वस्तु का प्रादुर्भाव होता है। अन्यथा एक के जीवित और दूसरे के मृत होने की दशा में मृत वस्तु, जीवित में आत्मसमर्पण करके विलीन हो जाती है, फिर उससे किसी तृतीय वस्तु का प्रादुर्भाव नहीं होता है। अश्वमेध उक्त सभी दोषों को दूर करने के लिए स्त्री-पुरुष के रजोवीर्य का संशोधन, पोषण तथा गर्भाशयगत दोषों का परिमार्जन वैज्ञानिक रीति से करता है।

सर्वप्रथम एतदर्थ श्यामकर्ण[१] नामक एक विशेष जाति के अश्व का अन्वेषण किया जाता है। इस अति उत्तम जाति का अश्व आज संसार में कामधेनु, चिन्तामणि, अमृत, सोमवल्ली, संजीवनी की भाँति सर्वथा दुर्लभ है। किन्तु पुरातन युगों में 'आफलोदयकर्मणां' सिद्धान्त के अनुसार उस घोड़े की खोज की जाती थी।

---

१. गोक्षीरसमवर्णं च कुन्देन्दुहिमसन्निभम्। पीतपुच्छं श्यामकर्णं सर्वतोगतिमुत्तमम्।। श्यामं चापि महीपालं यज्ञेऽस्मिन् तुरगं विदुः।। (जैमिनीयाश्वमेध, १.४२-४३)।

पूर्वोक्त अश्व के कायाकल्प का स्पष्टीकरण

अश्व की प्राप्ति के उपरान्त वर्षों तक वैदिक विधान के अनुसार उसे रखना पड़ता था विशिष्ट रीति से, विशिष्ट औषधि खिलाकर। मल-मूत्र-विसर्जन स्थान में विशिष्ट रीति से हवन अनुष्ठानादि मन्त्रपूर्वक करना पड़ता था। इस प्रकार मन्त्र और औषधियों के सामर्थ्य से निश्चित समय पर अश्व का सर्वथा कायाकल्प हो जाता था।

प्रसंग की स्पष्टता हेतु जैमिनीय अश्वमेध की उद्धृति

प्रसंग की स्पष्टता हेतु जैमिनीय अश्वमेध प्रकरण को प्रमाण रूप से उद्धृत किया जा रहा है। महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ में जब पूर्वोक्त विधान से घोड़े का कायाकल्प हो गया, तो पुरोहित धौम्य ने घोड़े की परीक्षा करके भीमसेन से कहा[1]—

''भीम! खड्गं समारुह्य तिष्ठ त्वं निश्चलः क्षणम् ।
यावत् परीक्षां कुर्वेऽहं वाजिनोऽस्य महामतेः ।।
ततो धौम्यो हयस्याशु वामं कर्णं न्यपीडयत् ।
ततो दुग्धस्य धारा तु निर्गता जनमेजय ।।
वादित्रनादे महति निनादिते भीमोऽलुनात्तस्य हयस्य शीर्ष्णम् ।
ऊर्ध्वं गतं तच्च गतं न चाधः सूर्ये प्रविष्टं किल वह्निरूपम् ।।
पश्चाच्छरीरं पतितं भूत्वा कर्पूरमेव तत् ।
धौम्यस्तदेव कर्पूरं स्रुवेणैव जुहाव ह ।।''

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि याज्ञिक अश्व का रुधिर दुग्ध के रूप में परिणत हो जाता था और अन्य शरीर कर्पूर बन जाता था।

वर्तमान चिकित्साविज्ञान का भी आत्मसमर्पण

यहाँ सम्भव है कि कई अल्पज्ञ यह आशंका करने लगे कि अन्ततः रक्त का दूध बन जाना कैसे सम्भव हो सकता है? इस विषय में ध्यातव्य है कि भारत में ही कसौली नामक हिमालय प्रान्तीय स्थान में जाकर, रोगग्रस्त कुत्तों द्वारा काटे जाने पर, उपचार करने वाले औषधालय में औषधि निर्माण विभाग का निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि वहाँ अब भी घोड़ों के रक्त को

---

१. द्र०, महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व।

दुग्ध तुल्य साफ, दुर्गन्धादि दुर्गुणों से रहित बनाकर टीका लगाने की औषधि के रूप में भारत के प्रायः सभी भागों में भेजा जाता है। यहाँ पशु की मृत्यु के अनन्तर औषधियों के सम्मिश्रण से ऐसा सम्भव किया जाता है। आर्ष विज्ञान की यह अनन्य साधारण उपलब्धि है। पशु की जीवितावस्था में ही खान-पान, रहन-सहन के साथ मान्त्रिक सामर्थ्य से ऐसा सम्भव हो पाता है। प्रमाणपूर्वक यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि नियमपूर्वक खान-पान के प्रभाव से व्यक्तिमात्र की विष्ठा तक सुगन्धित हो सकती है। उदाहरणार्थ—गोमय छागविष्ठा, कपोतादिविष्ठा अन्वेष्टव्य है।

श्री ऋषभदेव का ऐसा वर्णन श्रीमद्भागवत में प्रसिद्ध है। कस्तूरी मृग के रक्त का परिणाम ही कस्तूरी है। इसी प्रकार गोरोचन, गजमुक्ता, नागमणि ऐसी वस्तुएँ भी तत्तद् जीवों के पैतृक अंश की ही स्थूल परिणाम होती हैं। मधुमक्षिका का वमन ही मधुरूप में मानव समाज को प्राप्त होता है। सभी वैद्यों द्वारा मत्स्यतैल का उपयोग पुष्ट होने के लिए किया जाता है। मोती और सीप एक जलकीट के शारीरिक तेल के ही परिणाम हैं। इस प्रकार प्रकृति के निरूपण से, अनेक द्रव्य उन्हीं जीवों के देह से समुत्पन्न होते हुए भी दुर्गन्धयुक्त नहीं होते। पाश्चात्त्य देशों में ''मलविश्लेषण'' करके उसके चिकने भाग ''वैसलीन'', रासायनिक भाग से ''सारसापरीला'' जैसी रक्तशोधक औषधि और क्षारभाग से अनेक प्रकार के रसायन निर्मित किये जाते हैं।

गर्भाशय शोधन की वैदिक चिकित्सा

स्त्री-पुरुष के रजोवीर्य के शोधनार्थ अनेक औषधियों से परिपूरित, मन्त्रों से सम्यक् अभिमन्त्रित दुग्धादि पदार्थ से हव्य तैयार किया जाता था, जिसको हुतशेष समझकर स्त्री-पुरुष भक्षण करते थे।

तुलसीकृत रामायण में भी तीनों रानियों को तादृश क्षीर अर्थात् हवि खिलाने का वर्णन मिलता है। यह उपचार तो मात्र वनौषधियों द्वारा सम्पन्न होता था; परन्तु गर्भाशय को शुद्ध करने के लिए, अश्व के कर्पूर रूप में परिवर्तित 'वपा' नामक चिकने अंश को विधिवत् अग्नि में डालकर, यजमान-पत्नी उस धूम से अपने गर्भाशय को नासिका के आघ्राण द्वारा धूपित करती थी, इसलिये यजमानपत्नी कुछ पलों के लिये अकेली उस मृताश्व के निकट यज्ञशाला में रहती थी। जैसा कि वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट है—

''अवसद् रजनीमेकां कौशल्या धर्मकाम्यया''[१]।

---

१. द्र०, वाल्मीकीय-रामायणम्, बालकाण्डम्।

वस्तुत: यजमान-पत्नी के गर्भाशयगत विषैले वातावरण को दूर करने के लिए ही यह एक वैज्ञानिक उपचार किया जाता था। गर्भाशय-शोधन के विषय में पुंसवन-संस्कार में पति द्वारा अनुष्ठेय त्रिमासिक गर्भवती स्त्री की दक्षिण नासिका द्वारा कच्छपपृष्ठावरण अथवा नवसराव में वटशुंगा-माषादि को कूट-कूट कर आघ्राण विशेष प्रक्रिया भी मन्तव्य है।

वस्तुत: इसमें भी पूर्वचर्चित वाजीकरणसम्पन्न यजमान की मानसिकता ही प्रधान कारण है। वेद में मनोविज्ञान का निरूपण स्पष्ट है। मनोविज्ञान के विषय में कीटकभ्रमरन्याय अवश्य मन्तव्य है। आज का विज्ञान भी मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान आदि विभिन्न सोपानों पर चढ़ने की चेष्टा करता हुआ, वैदिक सिद्धान्तों का अनुसरण कर रहा है। गर्भाशय के अनेक दोषों को दूर करने के लिए और गर्भरक्षार्थ अनेकविध पदार्थों से योनि धूपित करने के नाना उपचार आयुर्वेद ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। संक्षेप में यथा—

"धूपयेद् गर्भसङ्गं तु योनिं कृष्णाहिकञ्चुकै:"[१]।

अश्व का उपयोग अनिवार्य

गर्भाशय को शुद्ध करने के लिए इतने व्ययसाध्य और इस प्रकार के वीभत्स हत्यापूर्ण उपचार के अतिरिक्त क्या अन्य कोई उपाय नहीं हो सकता था? उत्तर है कि अन्य भी उपाय कर चुकने पर, सफलता न मिलने पर ही इस अमोघ उपाय का आश्रय लिया जाता था। राजा दशरथ जब सब उपाय करके वृद्ध हो गये, तभी अन्त में उन्हें वैदिक उपचार का आश्रय लेना पड़ा। तभी तो वे विश्वामित्र द्वारा राम के माँगने पर बड़ी वेदनापूर्ण भाषा में कहते हैं—

"चौथे पन पायउँ सुत चारी। विप्र वचन नहिं कहेउ विचारी।।"

वाल्मीकि ने भी कहा है—

"कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि"।

आज के युग में भी असमर्थ पुरुष के लिए गर्भाधानकारक औषधियाँ हैं, उनको वाजीकरण नाम से अभिहित किया जाता है। वाजी अर्थात् अश्व।

अत: जिन औषधियों के सेवन से निर्बल मनुष्य की वाजी अर्थात् गर्भभरण सामर्थ्य, जिसे कुरुक्षेत्री भाषा में गभरू = गर्भभरू कहते हैं, बन जाय,

---

१. बृहन्निघण्टुरत्नाकरम्, १०।

वे सब उपचार 'वाजीकरण' कहे जाते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि महिषकरण, हस्तीकरण आदि नाम न देकर वाजीकरण नाम ही क्यों दिया गया? यह काकतालीयन्याय[१] से नहीं कहा जा सकता; अपितु इस नामकरण में यह तत्त्व निहित है कि गर्भधारण के उपचार में वाजी ही सर्वोपरि अमोघ देन है।[२]

अश्वमेधयज्ञ का प्रसूतिविज्ञानशास्त्रीय अध्ययन

प्रसूतिविज्ञान के आधार पर अश्वमेध परियोजना के अध्ययन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम भाग—इसमें अश्वमेधाधिकारी की महिषी का गर्भशोधन एवं वर्ष-पर्यन्त संयमादि करने के बाद, उत्तम गर्भस्थापन के पश्चात् उत्तम सन्तति प्राप्ति के द्वारा राष्ट्र की आनुवंशिक एवं अपरिहार्य सेवा में अपने को सम्पूर्ण समर्पित करने का गौरव प्राप्त है। इस विषय में पूर्व अध्यायों में प्रसंगतः बहुत प्रकाश डाला जा चुका है। पिष्टपेषणपरिहारार्थ द्वितीय भाग पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय भाग—इसमें यह विचारणीय है कि अश्वमेधयज्ञोपयुक्त "ययु"[३] जाति का अश्व लुप्तप्रजाति का है एवं उसकी उपलब्धि के सम्भावित उपाय क्या हैं?

ज्ञातव्य है कि इस जाति का अश्व चिरकाल से ही दुर्लभ था। युधिष्ठिर को भी अत्यन्त प्रयास से इसकी प्राप्ति हुई थी।[४] सम्प्रति सम्भवतः सहस्राब्दियों से "ययु" जाति का अश्व अनुपलब्ध है।

अश्वमेध महायोजना के सम्पादन की प्रयोगात्मक अर्हता न रहने के कारण भी इस "ययु" के अश्व की रक्षा नहीं हो सकती। फलतः दुर्भाग्यवशात् भारतवर्ष जैसा विशाल महादेश सम्प्रति मात्र भारतसंघ के रूप में ही संकुचित होकर रह गया है। यद्यपि सम्प्रति शासन, अनेक स्थानों पर अभयारण्यों की स्थापना कर दुर्लभ पशु जातियों की रक्षा एवं वृद्धि का उपाय कर रहा है तथा उनके शिकार पर रोक एवं उनकी जाति की रक्षा के लिए तथा विभिन्न संकर प्रजाति के आविष्कार की व्यवस्था है, जिसमें अनेक सफलताएँ भी मिली हैं।

परन्तु खेद है कि इन उपायों के अवलम्बन से भी "ययु" जाति के अश्व की उपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उक्त सभी उपायों द्वारा विद्यमान

---

१. "अतर्कितसम्भवो व्यापारः।" (सर्वतन्त्र)

२. पं० माधवाचार्य "धर्मदिग्दर्शन" उत्तरार्धम्; अश्वमेध-विचार, पृ० ८७५-८८२।

३. "ययुरश्वमेधीयः"। (अमर०, २.८.४५)

४. द्र०, जैमिनीयाश्वमेध, प्रथम अध्याय।

दुर्लभ जाति की रक्षा तो हो सकती है; परन्तु सम्भवत: सहस्राब्दियों से लुप्त, अत: सर्वथा अलभ्य जाति का आविष्कार नहीं हो सकता। प्रकृत प्रसंग में सहस्रों वर्ष पूर्व सर्वथा लुप्त "ययु" जाति के अद्भुत ऐतिहासिक अश्व की पुन: उपलब्धि के लिए प्रसूतिविज्ञानशास्त्रीय कतिपय प्रयोगात्मक उपायों को प्रस्तुत किया गया है।

अश्वमेधोपयुक्त ययु प्रजाति की प्राप्ति का उपाय

१. पूर्व में कथित है कि अश्वमेध महायज्ञोपयुक्त ययु जाति का अश्वविशेष प्राय: सहस्राब्दियों से लुप्त है। अत: सम्पूर्ण लुप्त हो जाने के कारण ऐसा अद्भुत अश्व अभयारण्यों में सुरक्षित मिलना असम्भव है। अत: इसकी उत्पत्ति के लिए कुछ प्रयास अपेक्षित है। उक्त अश्व की प्राप्ति के लिए पशुओं की गर्भाधान प्रक्रिया पर कुछ उपाय विशेष अवलम्बनीय है।

    गर्भाधान प्रक्रिया के सम्बन्ध में पशुओं में यह देखा गया है कि स्त्री पशु के वर्ण इत्यादि का शतप्रतिशत प्रभाव भावी सन्तति पर पड़ता है। उदाहरणार्थ—यदि कृष्णा गौ के साथ भिन्न वर्ण के वृषभ का संयोग हो एवं गर्भाधान काल में कृष्णा गौ में अन्य किसी वर्ण का लेपन अथवा गोमय, मृत्तिका आदि का सम्पर्क न हो, ऐसी कृष्णा गौ में गर्भाधान होने पर वत्स सम्पूर्ण कृष्ण ही होगा।

२. इसी प्रकार कृष्ण वृषभ द्वारा अन्य किसी वर्ण, लेप के प्रभाव से गर्भाधान काल में अप्रभावित श्वेत गौ में उत्पन्न वत्स सर्वथा प्राय: श्वेत वर्ण का ही होता है।

३. यदि वृषभ एवं गौ दोनों समान वर्ण के हों, तो सन्तति भी अधिकांश समान वर्ण की ही होती है।

४. यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि यदि कृष्णा गौ के ललाट आदि किसी स्थल पर चन्दन, अक्षत, दूर्वा, दुग्ध, दधि, मधु, कुंकुम, हरिद्रा आदि का लेप हो या मृत्तिका, गोमय इत्यादि संलग्न हो, उस समय किसी भी वृषभ के द्वारा गर्भाधान किये जाने पर लिप्त स्थान कृष्ण वर्ण का न होकर, उसी प्रकार के श्वेत वर्ण युक्त वत्स का जन्म होगा।

५. प्रसूतिविज्ञान के ग्रन्थों में सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी वैज्ञानिक पद्धतियों का विस्तृत विवेचन है।[१]

---

१. 'Human Physiology' by Arthur J.Vander and James. H.Sherman. 'REPRODUCTION' pp. 430-467।

६. पशु शब्द का संस्कृत में भी अर्थ किया गया है कि ''पश्यन्ति इति पशवः''[१]। एतावता भी दर्शन कर्म विशेष कर्तृत्व पशु की एक अद्‌भुतता है, अत एव पशु जैसा देखता है, उससे तुरन्त प्रभावित हो जाता है। कुछ पशु दर्शन विशेष से अत्यधिक प्रभावित परिलक्षित होते हैं, यथा महिषकर्तृक रक्त वर्णदर्शन का प्रभाव, कुक्कुर श्वेत-कृष्ण दो ही वर्ण मात्र का दर्शन करता है। इस प्रकार दर्शन क्रिया का प्रभाव प्राणिमात्र में होता है, पशुओं में अत्यधिक होता है एवं गर्भाधान काल में साभि-निवेश अधिक होता है। यह प्रयोग परीक्षणपूर्वक बहुत्र देखा गया है।

७. उपर्युक्त विचार के प्रसंग में पशु शब्द तिर्यक् योनि मात्र का उपलक्षण है। अत एव पशु-पक्षी सभी की दर्शनकर्तृत्व वैशिष्ट्य-मूलकता क्रियात्मक रूप से विद्यमान है। यथा—

(क) ऋग्वेद परिशिष्ट के अनुसार करकोटक नामक सर्प की नेत्र-रश्मि में विष रहता है—

''कर्कोटको नाम सर्पो यो दृष्टिविष उच्यते ।
तस्य सर्पस्य सर्पत्वं तस्मै सर्प नमोऽस्तु ते ।।''[२]

(ख) इसी प्रकार वकस्त्री की मेघगर्जन से गर्भ धारण की योग्यता होती है। उस अभिलाषा से वे नयनाभिराम मेघण्डली को आकर्षणपूर्वक देखती हैं। महाकवि कालिदास के कालजयी मेघदूत खण्डकाव्य के पूर्वमेघ में उल्लिखित है—

''गर्भाधानक्षणपरिचयान् नूनमाबद्धमालाः ।
प्रेक्षिष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः'' ।।[३]

उक्त पद्य में ''नयनसुभगं प्रेक्षिष्यन्ते'' यह महाकविप्रयुक्त विशेषण नितरां मन्तव्य है। इसके माध्यम से चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियों द्वारा अद्‌भुत प्रजनन प्रक्रिया का निर्देश किया गया है।

(ग) भारतवर्ष के दार्शनिकों का एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है—''दृष्टिसृष्टिवाद''। आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना के द्वारा ऊर्ध्वरेता अधिकारी को लक्ष्य कर प्रतिष्ठित उक्त सिद्धान्त, प्रसंगोपात्त जीवमात्र में प्रसूतिविज्ञान की प्रक्रिया को भी ध्वनित करता है।

---

१. 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा०प०अ०) ''अर्जिदृशि...'' (उ०, १-२७), इत्यौणादिकसूत्रेण उप्रत्ययः।
२. द्र०, ऋ०वे० परिशिष्ट, पृ० ७७६ (सातवलेकर संस्करण)।
३. द्र०, महाकवि कालिदासविरचित पूर्वमेघ, श्लोक १०।

(घ) धर्मशास्त्र स्वीकृत चतुर्दश पुत्रों में नियोगज पुत्र भी समयानुसार स्वीकृत था। "नियोग" एक योगशास्त्रीय विधि है, जिससे (नियतयोग = नियोग), वंशविच्छेद आदि संकटकाल में सन्तति परम्परा की रक्षा की जाती थी। इस निश्चित योग प्रक्रिया में नेत्ररश्मि के अद्भुत संयोग से कर्मसिद्धि होती है।

(ङ) नियतयोग प्रक्रिया में नियोगकारी को अत्यन्त संयमी एवं दृढ़ चरित्र का होना आवश्यक है एवं इस प्रक्रिया में घृतलेपन सम्पूर्ण शरीर में करना अनिवार्य है। घृतलेपन में चक्षु रश्मियों में अद्भुत शक्ति का विकास होता था।

भगवान् वेदपुरुष के शब्दों में—"**आयुर्वै घृतम्, चक्षुर्वै घृतम्, तेजो वै घृतम्**"।[1] इसमें घृत-चक्षुतेज का सामानाधिकरण्येन निर्देश किया गया है। साथ ही घृत, पुरुषवीर्य आदि के विनियोग के लिए वेद में मन्त्र का विधान है—"**तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि**"।

इन समस्त प्रक्रियाओं से सिद्ध है कि सृष्टि प्रक्रिया में 'दृष्टि' का कितना अधिक कर्तृत्व है।

अश्वमेधीयाश्व के उद्धार की सम्भावनायें

उपर्युक्त विभिन्न प्रक्रियाओं के तारतम्य में "ययु" जाति के अश्वमेधोपयोगी अश्व के उत्पत्तिविषयक कतिपय उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है। ये सभी उपाय सुझाव रूप में प्रस्तुत हैं। "ययु" जाति के अश्वमेधीय अश्व का लक्षण विशिष्ट रामायण में विवेचित है।[2]

१. इस सन्दर्भ में ऐसी उत्तम जाति के अश्व का संग्रह करना चाहिए, जो कि—

(क) पृष्ठांश में गाढ़ कृष्णवर्ण एवं उदर शुभ्र श्वेतवर्ण।

(ख) कर्णान्तर भाग से रक्त आभा प्रस्फुटित हो।

(ग) दोनों नेत्र जाज्वल्यमान एवं देदीप्यमान मुख।

---

१. द्र०, तै०सं०, २.३.२.२।

२. कालाम्भोधरसङ्काशः स्वर्णवर्णमुखो बली ।
यस्य पार्श्वावर्धचन्द्राकारौ शुभ्रसुशोभनौ ।।
पुच्छं विद्युत्प्रतीकासमुदरं कुन्दसन्निभौ ।
पादाश्चैव हरितवर्णाः वर्णौ सिन्दूरसन्निभौ ।।
अश्वस्य पालकश्चातिबलवान् पुत्र उच्यते ।
पुत्रतुल्यसुहृद्वापि बहुविघ्नः क्रतूत्तमः ।। (विशिष्टरामायाणम्, शब्दकल्पद्रुमसमुद्धृतम्)

ऐसी उत्तम जाति के घोटक-घोटकी का संग्रह किया जाय। उसके बाद पूर्ववर्णित अश्वमेधीय ''ययु'' नामक अश्व के अनुरूप उसमें लेपादि किया जाय। यथा—कर्ण में सिन्दूरादि द्वारा रक्तवर्ण, नेत्रों में उज्ज्वलता, मुख में स्वर्णवर्ण का लेप, पुच्छ में विद्युत् के समान चमकदार लेपन, पादद्वय में हरित वर्ण का लेप इत्यादि करके घोटक-घोटकी दोनों को तैयार किया जाय।

२. दोनों को जिस मन्दुरा[१] में स्थापित किया जाय, वहाँ की भित्तियों में भी पूर्वोक्त लक्षणविशिष्ट घोटक-घोटकी का चित्र अंकित हो, ऐसे ही विचित्र वर्णयुक्त घोटक-घोटकियों की मूर्ति भी स्थापित हो। वाजिशाला के चतुर्दिक् अश्वगन्धा[२] नामक वनस्पति विशेष का उपवन हो। पूर्वोक्त प्रसंग में अश्वमेधलक्षणविशिष्ट ययु का तैलचित्र, वस्त्रचित्र आदि का भी संयोजन अपेक्षित है।

३. इस सन्दर्भ में पूर्वोक्त घोटक-घोटकियों के सम्बन्धोपयोगी मुद्रायुक्त वातावरण की भी अपेक्षा है।

४. साथ ही ऐसे घोटक-घोटकी का अन्य सामान्य घोटक-घोटकी से सम्बन्ध वर्णन भी अपेक्षित है।

इस प्रकार विभिन्न उपायों द्वारा एक वंश में नहीं, अपितु अविच्छिन्न कई वंश परम्पराओं तक प्रयास किये जाने के फलस्वरूप यत्किंचित् अश्वमेधलक्षणविशिष्ट प्रजाति का प्रजनन सम्भव हो सकता है।

अवश्य ही यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रयोग परीक्षणमूलक है एवं इसकी क्रियात्मकता सम्पादनार्थ पशुशास्त्रविदों का ध्यान अपेक्षित है। इस प्रजनन प्रक्रिया में कथञ्चित् किञ्चित् वर्णगत उपलब्धि होने पर भी ''ययु'' प्रजाति के अश्व की गुणवत्ता अवश्य गवेषणीय है।

उक्त प्रयोग की क्रियात्मकता के सम्पादन के सन्दर्भ में एक सम्पन्न विधि अवश्य उल्लेख्य है—

भारत में श्वेत व्याघ्र की प्रजाति अत्यन्त दुर्लभ थी। इस प्रजाति के व्याघ्र परम्परा के रक्षार्थ पश्चिम बंगाल की अलीपुर पशुशाला में अन्य व्याघ्र से

१. (क) ''वाजिशाला तु मन्दुरा''. इति अमरः २.२.७।
(ख) मन्दुरा वाजिशालायां शयनीयार्थवस्तुनि। द्र०, मे० १३७.२००।

२. अश्वगन्धायाः प्रदीपनकर्तृत्वरूपाश्वगुणविशिष्टत्वात् तदात्मकत्वप्राप्तये मन्दुरां परितः अश्वगन्धानिष्कुटस्थापनं विधेयम्।

सम्बन्ध करके सन्तति का विकास किया गया एवं कुछ वंशों के पश्चात् शनैः शनैः सर्वांश में न होने पर भी अधिकांश में श्वेत व्याघ्र शिशु की उत्पत्ति सम्भव हुई। श्वेत व्याघ्र दुर्लभ जाति है; किन्तु ययु प्रजाति सर्वथा अलभ्य है। इसके लिए और भी अधिक धैर्यपूर्वक तत्तत् स्थानों पर उन्हीं वर्णों के लेपादि कृत्रिम उपायों द्वारा अनेक वंशपर्यन्त अविच्छिन्न निरन्तर प्रयास के उपरान्त कथञ्चित् इस लुप्त प्रजाति के अश्व की प्रायः समान उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। यदि इसमें अथक प्रयास द्वारा प्रसूति-वैज्ञानिकों और पशुशास्त्रविशारदों आदि विशेषज्ञों ने कोई भी सफलता प्राप्त भी की, तो यह विश्व की एक अपूर्व उपलब्धि मानी जाएगी।

कतिपय शास्त्रीय प्रसंग

पूर्व में अश्वमेधाधिकारी क्षत्रियत्व सिद्धि के प्रसंग में सवर्णाप्रसूत, अनुलोमज एवं जात्युत्कर्षजात क्षत्रियों का निरूपण किया गया है। इसमें जात्युत्कर्ष विधि की सफलता के लिए पाँच अथवा सात पुस्त तक प्रजनन की अपेक्षा की गई है। सम्भवतः इस लुप्त प्रजाति के अश्व के प्रजनन के लिए पंचाशत् अविच्छिन्न वंश परम्परा तक प्रजनन की अपेक्षा करनी पड़े।

वृक्षायुर्वेद का दृष्टान्त

वृक्षायुर्वेद में विभिन्न प्रजातियों की वनस्पतियों के विकासार्थ अनेक विधियों का वर्णन है। इनमें भूमि के आरोपण काल में बीज के साथ ही अनेक उपकरणों की सहायता से पुष्प, फलों की रसवत्ता एवं गुणवत्ता में वृद्धि होना आदि प्रयोग परीक्षापूर्वक सिद्ध है।

अश्वमेधयज्ञ का अश्वायुर्वेदशास्त्रीय अध्ययन

अश्वायुर्वेद भारतवर्ष के मनीषियों की लौकिक उपलब्धि के चरम दिग्दर्शनों में अन्यतम है। आज इस शास्त्र के व्यावहारिक ज्ञान से हम सर्वथा शून्य हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद चार दशकों से भी अधिक समय व्यतीत होने पर भी विशाल संस्कृत वाङ्मय का वैज्ञानिक पक्ष अद्यावधि प्रायः अप्राप्त एवं अज्ञात है। इस प्रसंग में अश्वशास्त्र के साथ गजायुर्वेद, गवायुर्वेद, धनुर्वेद, मणिरत्नपरीक्षा, विषपरीक्षा, चतुष्षष्टिकला, आर्षपद्धत्यनुसार जलयान-वायुयान निर्माण, सैन्यनिवेश, गणित, वास्तुविज्ञान आदि विभिन्न वैज्ञानिक विषयों का प्रयोग परीक्षणात्मक प्रौढ़ गवेषणामूलक शोध तो क्या, उक्त विषयों के नाम, तत्प्रतिपादक ग्रन्थों का भी सर्वथा अभाव है। स्थिति यह हो गई है कि भारत

क्या, उसके बाहर कहीं भी संस्कृत संस्थानों में उक्त विषय अश्रुत है। प्रसंगप्राप्त अश्वविषयक अश्वशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत है।

कलिकालसर्वज्ञ जैनभट्टाचार्य श्री हेमचन्द्र महासूरि के शब्दों में अश्वों के निम्नलिखित भेद हैं[1]—

१. **विनीतस्तु** साधुवाही, २. **दुर्विनीतस्तु** शूकलः, ३. **कश्यः** कशार्हो, ४. हद्वक्त्रावर्ती **श्रीवृक्षकी** हयः, ५. **पञ्चभेदस्तु** हृत्पृष्ठमुखपार्श्वेषु पुष्पितः, ६. पुच्छोरःखुरकेशास्यैः सितः **स्यादष्टमङ्गलः**, ७. सिते तु **कर्ककोकाहौ**, ८. **खोङ्गाहः** श्वेतपिङ्गले, ९. पीयूषवर्णो **सेराहः**, १०. पीते तु **हरियो** हये, ११. कृष्णवर्णे तु **खुङ्गाहः**, १२. **क्रियाहो** लोहितो हयः, १३. आनीलस्तु **नीलको**, १४. **त्रियूहः** कपिलो हयः, १५. **वोल्लाहस्त्वयमेव** स्यात् पाण्डु-केसरवालधिः, १६. **उराहस्तु** मनाक्पाण्डुः कृष्णजंघो भवेद्यदि, १७. **सुरूहको** गर्दभाभो, १८. **वोरूखानस्तु** पाटलः, १९. **कुलाहस्तु** मनाक्पीतः कृष्णः स्याद्यदि जानुनि, २०. **उकनाहः** पीतरक्तच्छायः स एव तु क्वचित्, २१. कृष्णरक्तच्छविः प्रोक्तः **शोणः** कोकनदच्छवि, २२. **हरिकः** पीतहरितच्छायः, २३. स एव **हालकः**, २४. **पिङ्गलः** सितकाचाभो, २५. **हलाहः** चित्रितो हयः।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार पूर्वोक्त अश्वमेध का वर्गीकरण

अश्वभेदः

१. बिन्दुगत — पंचभद्र

२. आवर्त — श्रीवृक्षकी

३. स्वभाव — विनीत, दुर्विनीत, कश्य

४. वर्णगत — अष्टमंगल, कर्क/कोक, खोंगाह, सेराह, हरिय, खुंगाह, क्रियाह, नीलक, त्रियूह, वोल्लाह, उराह, सुरूहक, वोरूखान, कुलाह, उकनाह, शोण, हरिक, पिंगल, हालक, हलाह।

अश्व सामान्य का अवयव परिचय

१. जिह्वा, २.सूना, ३. तालु, ४. ऊर्ध्वदन्त, ५.दन्तपीठ, ६.चिबुक, ७. अधरोष्ठ, ८. हनु, ९. सृक्कद्वय, १०. प्रयाण, ११. प्रोथ, १२. नासाच्छिद्रद्वे, १३. घोणा, १४. गण्डद्वय, १५. क्षीरिको, १६. अश्रुपाल, १७. उपाङ्ग, १८. कनीनिका, १९. नेत्रमण्डल, २०. प्रच्छादन,

---

१. द्र०, अभिधानचिन्तामणि, ४.३०१-३०९।

२१ अक्षिकूट, २२. भ्रूरेखा, २३. ललाट, २४. केशान्त, २५. श्रव, २६. मस्तक, २७. कर्णद्वय, २८. कर्णमूल, २९. शंख, ३०. कटाक्ष, ३१. मर्म, ३२. निगाल, ३३. गल, ३४. कण्ठ, ३५. ग्रीवा, ३६. केसर, ३७. वाह, ३८. काकस, ३९. पृष्ठ, ४०. आसन, ४१. निबन्ध, ४२. बाहु, ४३. मन्दिर, ४४. कलापी, ४५. जंघा, ४६. कला, ४७. ऐस्मिक, ४८. पालिहस्त, ४९. कूर्च, ५०. किण, ५१. पुष्टकी, ५२. खुरसन्धि, ५३. खुर, ५४. पार्श्नी, ५५. नख, ५६. मण्डुकी, ५७. क्षीरक, ५८. कुक्षी, ५९. जठर, ६०. नाभि, ६१. रोमराजि, ६२. मूत्रकोश, ६३. स्फिक्, ६४. पुच्छ-मूल, ६५. पायु, ६६. सीवनी, ६७. मुश्क, ६८. कटिसन्धि, ६९. उरुसन्धि, ७०. सक्थिनी, ७१. स्थूर, ७२. कालकूर्च, ७३. कुष्टिक, ७४. मण्डूक।

जयदत्तकृताश्वशास्त्रात् सारांश:[१]।

अतिप्रसिद्धा जिह्वा तु तस्या न्यूना भवेदध:।
ऊर्ध्वं तालु भवेत्तस्यास्ततोऽग्रे दन्तपीठकम् ।।
ततो दन्ता: समुद्दिष्टा ऊर्ध्वदन्ता भवन्त्यध: ।।
चिबुकं चाधरे भागे तेषां प्रोक्तं विचक्षणै: ।
चिबुकस्योपरिष्टात्तु अधरोष्ठ: प्रकीर्तित: ।।
चिबुकात्पार्श्वभागे तु हनुर्नामाभिधीयते ।
सृक्कद्वयं विजानीयात्तस्य पार्श्वे मतं बुधै: ।।
उत्तरोष्ठं प्रयाणाख्यं तदूर्ध्वं प्रोथ उच्यते ।
नासाच्छिद्रे तथा पार्श्वे प्रोथस्यैव व्यवस्थिते ।।
नासाच्छिद्राक्षिमध्ये तु घोणाख्या समुदाहृता ।
घोणापार्श्वगतौ गण्डौ क्षोरिके च तत: परम् ।।
नेत्रयोरुत्तरे भागे अश्रुपात उदाहृत: ।
कर्णान्ते चैव नेत्रान्तमपाङ्गं ब्रुवते बुधा: ।।
कनीनिकाख्यो विज्ञेयो यश्च नासासमीपग: ।
सितासितौ च तन्मध्ये नेत्रयोर्मण्डलं हि तत् ।।

---

१. द्र०, जयदत्तकृतम् अश्वशास्त्रम् (वाचस्पत्यं समुद्धृतम्)।

प्रच्छादनं भवेत्कर्म चाक्षिकूटमतः परम् ।
तस्मादूर्ध्वं भ्रुवोर्लेखा ललाटं च तदुत्तरम् ।।
अर्धं ललाटदेशात्तु केशान्तं च ततः श्रवः ।
ततः शिरो विजानीयात् श्रवादूर्ध्वगतं बुधः ।।
शिरः पार्श्वगतौ कर्णौ तयोर्मूलं सकुन्तलम् ।
अपाङ्गाद्द्व्यङ्गुलै शङ्खं विद्याद् विचक्षणः ।।
शङ्खकर्णान्तरे चैव कटाक्षं समुदाहृतम् ।
विदो मर्म्म विदुश्चैव कर्णस्याधः षडङ्गुलें ।।
घटावन्धसमीपस्थो निगालः परिकीर्तितः ।
अधस्तले निगालस्य गलानाहुर्मनीषिणः ।।
ततः कण्ठं विजानीयादधोभागे नतं बुधः ।
ग्रीवालोकप्रसिद्धा तु तस्याश्चोपरिके शिरः ।।
ग्रीवास्कन्धान्तरे चैव वाहं प्राहुर्मनीषिणः ।
वाहस्योपरि यस्तु स्यात्काकसं ककुदं च तत् ।।
ततः पृष्ठं विजानीयादासनं पृष्ठमध्यमम् ।
अंसके ककुदश्चैव निबन्धः परिकीर्तितः।।
स्यातामंसादधो बाहू तयोर्बाह्ये षडङ्गुले ।
मन्दिरः पश्चिमो भागः कलापी जानुनोऽग्रिमः ।।
जानुनश्चाधरे भागे जंघां विद्याद्विचक्षणः ।
जंघापार्श्वे कलां विद्यात् सन्ध्यं चैषिकसंज्ञकम् ।।
अग्रतः पालिहस्तः स्यात् पश्चात् कूर्च उदाहृतः ।
किणस्तत्रैव मध्यस्थोऽग्राधोभागे च कुष्टकी ।।
खुरसन्धिं ततो विद्यादधोभागे ततः खुरम् ।
खुरस्य पार्श्वे पार्ष्णिः स्यादग्रभागे नखो भवेत् ।।
खुरस्याधस्तलं चैव मण्डकी तलमध्यगा ।
खुरमासं विजानीयात् क्षीरकाख्यं विचक्षणः ।।

हृदयात्परतः कुक्षी पार्श्वतश्च विभागतः ।
जठरं पार्श्वमध्यस्थं तस्य नाभिश्च मध्यतः ।।
रोमराजीं ततो विद्यान्मूत्रकोशमतः परम् ।
माकाम्याः पश्चिमे भागे पुटस्फिचौ च कीर्तितौ ।।
पुच्छमूलं च वाहानां भाषते पुच्छमूलतः ।
तस्याधः कीर्तितः पायुः सीवनी च ततः परम् ।।
मुष्कौ च कटिसन्धिं च ततो विद्यात्परं बुधः ।
अधस्तात् कटिसन्धेस्तु ऊरू पादाभिधायके ।।
ततः स्थूरं विजानीयात्तस्याधो मन्दिरं भवेत् ।
किणं चैव ततो विद्यान्मन्दिराख्ये सुसंस्थितम् ।।
ततः परं विजानीयात् कालकूर्चं च कुष्टिकम् ।
खुरान्तसंज्ञं मण्डूकं ततो विद्याद्विचक्षणः ।।

पूर्वोक्त सभी अवयवविभाग अश्वमेधोपयुक्त ययुसमेत समस्त अश्वजाति में सामान्य हैं।

अश्वशरीरविभाग (तालिका संख्या-१७)—

''अग्रे जंघाद्वयं चैव वक्षोग्रीवाशिरोमुखम् ।
पूर्वकायः समुद्दिष्टः पृष्ठदेशस्तु मध्यमः ।।
अधःकटेः पश्चिमे भागे क्षुरान्तश्चापरं स्मृतम् ।।''

इस प्रकार अश्वों के विभिन्न लक्षणभेद उदाहरणगत विशेषताएँ अश्व-मेधोपयुक्त ययु प्रजाति के अश्व में भी मन्तव्य हैं। अश्वायुर्वेद की सामग्रियाँ

तालिका संख्या—१७

अश्व शरीर विभाग[1]

पूर्व भाग	मध्य भाग	पश्चात् भाग
(अग्रिम जंघाद्वय, वक्ष, ग्रीवा, शिर, मुख)	(पृष्ठदेश)	(कटि भाग से आरम्भ करके खुरपर्यन्त)

---

१. द्र० वाच०।

सामस्त्येन अनुपलब्ध हैं। जो उपलब्ध हैं, वह भी प्रयोगपरीक्षणमूलक प्रौढ़ गवेषणाविहित होने से प्रसिद्ध विद्वत् समाज में अव्यावहारिक हैं। अश्वमेधयज्ञ का अश्वायुर्वेद से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी अश्वत्व सामान्येन अवश्य ही सम्बन्ध है। फिर भी आर्ष मान्यता तथा वर्तमानकालिक सम्भावनाओं के अनुसार भी अश्वमेध कलिवर्ज्य है। अश्वशास्त्र कलिवर्ज्य न होने पर भी कतिपय आवश्यकताओं के अनुरूप यान्त्रिक साधन उपलब्ध होने के कारण विस्मृतप्राय: है।

अश्व एवं यान्त्रिक साधनों पर विचार

अवश्य ही गमनागमन के साधनों में अश्व, हस्ति, गो, शकट, गर्दभ, रथ, उष्ट्र, अश्वतर, याक आदि के समान मोटर, स्कूटर आदि यान्त्रिक उपाय सम्प्रति सारल्येन प्राप्त हैं; परन्तु शीतवर्षादि विभिन्न ऋतुओं में स्थपुटबालुका अधीत्यका उपत्यकादि विभिन्न मार्गों में पशुयानों की उपयोगिता अद्यावधि अबाधित है। अत: शासकीय पदारूढ अधिकारियों के लिए अद्यावधि उसका व्यावहारिक ज्ञान अपेक्षित है।

साथ ही पर्यावरण एवं भोजनादि की स्वल्प उपलब्धता द्रष्टव्य है। आधुनिक किसी भी यान में तेल के आयात में विदेशी मुद्रा का व्यय अवश्य अपेक्षित है, जो कि किसी भी राष्ट्र के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक स्थिति है। तदुपरान्त कोई भी यान्त्रिक वाहन अपने जीवन में प्रयुक्त होने के बाद कोई नवीन उपलब्धि नहीं दे सकता; परन्तु अश्वादि यावत् जीव सेवा करने के बाद अपने प्रतिनिधि को ही समाज सेवा में समर्पित कर देते हैं। स्वास्थ्यादि के लिए अश्वारोहण, गो, शकट आदि का व्यवहार अत्यन्त उपादेय है। नीरक्षीरविवेकी शिक्षित समाज का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने की अपेक्षा है।

अश्वमेधयज्ञ का कर्मकाण्डीय अध्ययन

वेद का प्रवृत्तिमार्गीय क्रियात्मक रूप है—कर्मकाण्ड। वर्तमान समय में ''कर्मकाण्ड'' शब्द का प्रयोग किञ्चित् अन्यथा अर्थान्तर में प्राय: हो रहा है। फलत: ''कर्मकाण्ड'' और ''पौरोहित्य'' पर्याय जैसा प्रतीत हो रहा है। सूक्ष्म विचार करने पर दोनों का भेद अवश्य दृग्गोचर होता है।

पौरोहित्य और कर्मकाण्ड में भेद

पौरोहित्य एक राजनीतिक कार्य है। अत एव पुरोहित का पद एक ''राजनीतिक पद'' है। पुरोहित राजा का गम्भीर परामर्शदाता, नीतिनिर्धारक और

सर्वोपरि नियन्ता तक होता था। वर्तमान राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में राजा और पुरोहित क्रमशः "संसद का नेता" और "दल का अध्यक्ष" स्वरूप हैं।[1] दल का अध्यक्ष नीति निर्धारण के साथ-साथ संसदीय दल के नेता को भी नियन्त्रित करता है। इस महान् उत्तरदायित्व की परिपूर्णता हेतु दलाध्यक्ष की विशिष्ट योग्यता, प्रभाव, नीतिमत्ता आदि गुण अनिवार्यतया अपेक्षित हैं। यही स्थिति पुरोहित की है। वह राजा का परामर्शदाता के साथ-साथ नियन्ता भी होता था। उसका स्थान मन्त्रिपरिषद् से भी महनीय था। संक्षेप में पुरोहित धर्मपिता होता था।

उदाहरणार्थ देवराज के बृहस्पति, दैत्यराज के शुक्राचार्य, इक्ष्वाकु कुल के वशिष्ठ, सम्राट् युधिष्ठिर के धौम्य, चन्द्रगुप्त के चाणक्य, वीर बुक्क के सायणाचार्य, पेशवा के रामशास्त्री, शिवाजी के पण्डित गोपीनाथ, फिलिप्स के अरस्तू आदि इस महनीय परम्परा के रत्न स्मर्तव्य हैं। आचार्य चाणक्य के शब्दों में—"**ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानमाप्तलक्षणम्**"। अत एव आप्तत्व सभी परम्परा में स्वीकृत है एवं पुरोहित राजा का परमाप्त व्यक्ति होता था।

कर्मकाण्ड का स्वरूप

कर्मकाण्ड, वैदिक क्रियाकलाप का शास्त्रीय रूप है। यह पद राजनीतिक नहीं है एवं वेदों की कर्मपरकता का विधान तथा वैदिक क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान इसका प्रतिपाद्य है। इस विषय का सम्पूर्ण विवेचन महर्षि जैमिनि रचित पूर्वमीमांसा में विस्तार के साथ किया गया है। पौरोहित्य का अधिकांश विवेचन अथर्ववेद में द्रष्टव्य है। अवश्य ही ये दोनों विषय आपस में कुछ साम्य रखते हैं; परन्तु एतावता दोनों का पार्थक्य विलीन नहीं हो सकता, अत एव परस्पर गतार्थता नहीं है।

"अश्वमेधेन यजते" इस श्रुतिवाक्य में "यजते" यह क्रिया पद है। यज् + ते। "यज्" प्रकृति है, "ते" प्रत्यय है।

व्याकरणशास्त्रीय विचार

व्याकरणशास्त्र के अनुसार फल और व्यापार दोनों धात्वर्थ हैं एवं "ते" का अर्थ है[2] कर्त्ता, संख्या एवं काल। प्रकृत में यथा—

---

१. साम्प्रतं तु अनयोः पदयोः एकस्मिन्नेव पुरुषे समानाधिकरणं प्रायो दृश्यते इति त्वन्यत्।

२. यद्यपि तिङर्थ "कर्तृ" + कर्मसंख्याकालाः" इति बृहद्वैयाकरणभूषणादौ स्पष्टं तथापि कर्तरि प्रत्यये कर्मणि प्रत्यये च पृथक् प्रविभागात् कर्तरि प्रत्यये कर्तृसंख्याकाला इति अर्थत्रयमेव परिशिष्यते।

यज् + ते

धातु — प्रत्यय

धातु: धातु, व्यापार

प्रत्यय: कर्ता, संख्या, काल

इनमें संख्या का अन्वय कर्ता में एवं काल का अन्वय व्यापार में होता है।

मीमांसा-मत—मीमांसकों का मत भिन्न है। इनके अनुसार धात्वर्थ अर्थात् प्रकृत्यर्थ मात्र फल एवं व्यापार प्रत्ययार्थ। तदनुसार यथा—

(धातु =) यज् + ते (= प्रत्यय)

फल — व्यापार (भावना)

मीमांसक व्यापार को ही 'भावना' शब्द से कहते हैं। अत: यह दोनों पर्याय हैं। आचार्य भट्टोजिदीक्षित के शब्दों में व्यापार, भावना, उत्पादना, क्रिया यह सभी पर्याय हैं।[1]

मीमांसक के अनुसार भावना के दो भेद हैं — शाब्दी भावना, आर्थी भावना। इसमें तिङ्प्रत्ययवाच्या 'आर्थी भावना' एवं लकारवाच्या 'शाब्दी भावना' है।

भावना

शाब्दी — आर्थी

"अश्वमेधेन यजते" इस कर्मकाण्डीय वाक्य में लिङ्ग के द्वारा शाब्दी भावना एवं तिङ् के द्वारा आर्थी भावना का द्योतन होता है। मीमांसास्वीकृत आर्थी भावना ही वैयाकरण मत में 'व्यापार' शब्द से विहित है। "**भवितु र्भावनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना**"।[2] प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य श्री मण्डन मिश्र के मत में भी फलमात्र धात्वर्थ है एवं व्यापार अर्थात् भावना प्रत्ययार्थ है।[3]

---

१. "व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया" द्र० वैयाकरणमतोन्मज्जनम्, धात्वर्थनिर्णय-कारिका.६।

२. द्र०, सर्वतन्त्र०।

३. अयं व्यापार: प्रत्ययवाच्य एवेति मीमांसका:। द्र० बृहद्वैयाकरणभूषणम्, पृ०४।

कर्मकाण्ड में "अश्वमेधेन यजेत्" इति वाक्यस्थ लिङ्गादि का प्रेरणादि रूप अर्थों का एकपदोपात्तत्वेन व्यापार अर्थात् भावना के साथ अन्वित होता है। शाब्दबोध में धात्वर्थ फल का बोध प्रत्ययार्थ भावना के प्रति प्रकारतया भासित होता है; क्योंकि नैयायिकनायक श्रीगदाधर भट्टाचार्य के शब्दों में—"**प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्**" इति[1]। कर्मकाण्डप्रकरणस्थ विधि वाक्यों में "यजेत" या "यजते" यह लेट् का रूप है एवं "यजेत्" यह लिङ् का रूप है। लिङ् और लेट् दोनों लकार का विधान एक ही अर्थ में है। इनमें लिङ् का प्रयोग लोक और वेद दोनों में समान है; परन्तु लेट् का प्रयोग वेद में ही है। आचार्य पाणिनि के शब्दों में— "**विधिनिमन्त्रणामन्त्रणा... सम्प्रार्थनेषु लिङ्**" एवं "**लिङर्थे लेट्**" इनमें "यजते" में "ते" के द्वारा "विधि" प्रतिपादित है। मीमांसकों के अनुसार विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण और अधीष्ट ये चारों प्रवर्तना के ही भेद हैं। प्रवर्तना अर्थात् प्रेरणा; तदनुसार—

प्रवर्तना[2]

विधि निमन्त्रण आमन्त्रण अधीष्ट

इसलिए मीमांसकों के अनुसार "**प्रवर्तनायां लिङ्**"[3] इतना ही सूत्र होना चाहिए। उनके अनुसार—

१. "इति" इति द्र०, व्युत्पत्तिवादः। अत्र किञ्चित्—वैयाकरणैस्तु प्रकृतिप्रत्यययो... इति व्युत्पत्तौ संकोचः क्रियते, तदनुसारं च उक्तम् "व्युत्पत्तेः प्रवेशः धात्वर्थ बिना। वैयाकरणसमयानुसारं फलव्यापारयोः उभयोरपि धात्वर्थेन तत्र च व्यापारस्य प्राधान्येन कर्तृकर्मादिरूपतिङर्थस्य प्रकारीभूतत्वं शाब्दबोधे सुवचम्, संकोचाकारश्च धात्वर्थातिरिक्तत्वेन। तत्र प्रमाणं तु—"भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि" इति निरुक्तवचनमेव अन्यथा प्रत्ययार्थवचनव्युत्पत्तौ सत्यां भावप्राधान्यवचनं चिन्त्यं स्यात्। आख्यातशब्दः व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् क्वचित् तिङ्परः क्वचित् तिङन्तपरः क्वचिद् धातुमात्रपरः, यथा—
(द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणस्य भूमिकायाम्)

आख्यातम्

तिङ् (ते) तिङन्त (यजते) धातु (यज्)

२. (क) विधिप्रेरणभृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् इति यावत्।
(ख) नियोगकरणम् = आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्।
(ग) आमन्त्रणं = कामचारानुज्ञा।
(घ) अभीष्टः = सत्कारपूर्वको व्यापारः। द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणे लकारार्थ०, पृ० ७४।

३. यद्यपि भूषणादिषु इदं प्रतिपादितं परन्तु चिन्त्यमेतत्, एवं सति = "अन्त्ययोर्द्वयोरसंग्रहापत्तेः"।

अस्ति प्रवर्तनारूपम् अनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।
तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया ।।
न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथापि वा।
विद्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम् ।।[1]

पूर्व में कहा गया है प्रवर्तना अर्थात् प्रेरणा। यह प्रवर्तना ही प्रवृत्त्यनुकूल धर्म होने के कारण इष्टसाधनत्व रूप है। कार्यमात्र के प्रति प्रवृत्ति में इष्टसाधनता ज्ञान हेतु होने के कारण ''अश्वमेधेन यजते'' इस विधिवाक्य में लिङ् लकार के द्वारा वही अर्थ द्योतित है।

आचार्य जैमिनि के शब्दों में—**शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्**[2]। तदनुसार शास्त्र सम्बन्धी जो फल है, यथा—''अश्वमेधेन यजते'' इस विधिवाक्य में सर्वपापप्रक्षालन, ब्रह्महत्यापनोदन, स्वर्गलाभ यह सभी प्रयोक्ता अर्थात् यज्ञानुष्ठानकर्ता में होगा; क्योंकि विधि का लक्षण है—प्रयोक्ता का लाभसाधन करना। विधि अर्थात् कर्ता के अपेक्षित उपाय।[3]

पूर्व में कहा गया है कि कर्मकाण्ड में प्रवृत्त्यनुकूल धर्म ही इष्टसाधनता है। इष्टसाधनता ज्ञान ही व्यक्ति का कर्मकाण्ड में प्रवर्तन कराता है। ''अश्वमेधेन यजते'' इत्यादि कर्मकाण्ड प्रतिपादक वाक्य में लिङ् के द्वारा आर्थी भावना से प्रवर्तना द्योतित होती है। आचार्य मण्डन मिश्र के शब्दों में—

''पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ।।[4]

इस प्रकार 'अश्वमेधेन यजते' इत्यादि कर्मकाण्ड प्रतिपादक वाक्यों में इष्टसाधनत्व ही विध्यर्थ है, यह सिद्ध हुआ।

एक शंका का निराकरण—यहाँ पर एक शंका यह है कि ''अश्वमेधेन यजते'' में तृतीया की उपपत्ति कैसे होगी? आचार्य कौण्डभट्ट के शब्दों में—''**आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः सम्बन्धः शक्तिरेव वा**'' इस महाभाष्यवचनानुसार तृतीया के दो अर्थ हैं— (क) आश्रय, (ख) शक्ति; जिनमें ''अनभिहिते'' इस अधिकारसूत्र-सामर्थ्यात् अनुक्त आश्रय में अथवा अनुक्त शक्ति में तृतीया उपपन्न होगी।[5]

---

१. द्र०, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा; २. द्रं०, मीमांसासूत्रम्।
३. द्र०, शारीरकमीमांसायाः कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वाद् इत्यधिकरणे भामत्याम्।
४. द्र, विधिविवेकः।
५. द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणम्, लकारार्थनिर्णयः।

इस प्रकार मीमांसाशास्त्र के अनुसार इष्टसाधनता ज्ञान कर्मकाण्ड मात्र के प्रति प्रवृत्ति में प्रयोजक है। कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान भी कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति में प्रयोजक माना जाता है, अन्यथा चन्द्रमण्डलानयनादि में भी व्यक्ति प्रवृत्त हो सकता है; परन्तु यह अन्तिम मत नहीं है, आचार्य मण्डन मिश्र ने इष्टसाधनत्व को ही कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति में प्रयोजक माना है, ऐसा पूर्व निरूपित है। ''अश्वमेधेन यजते'' इस विधिवाक्य में लिङ् रूप शाब्दी भावना से या तिङ् रूप आर्थी भावना से प्रवर्तना रूप अर्थ संकेतित होता है। यह प्रवर्तनात्व धर्म इष्टसाधना रूप है। कर्मकाण्ड में विधिवाक्यों के द्वारा इसी का प्रतिपादन है। ''वचनात् प्रवृत्तिः, वचनान्निवृत्तिः'' इस मीमांसास्वीकृत सिद्धान्तानुसार कर्मकाण्ड में अपौरुषेय वेदवाक्य ही इष्ट साधना में अधिकारी को प्रवृत्त कराता है।

उपर्युक्त विवेचन में अश्वमेधयज्ञ का कर्मकाण्डीय अध्ययन निरूपित है। इसमें मीमांसाशास्त्र ही मुख्य आधार है, जिसके विना कर्मकाण्डीय अध्ययन असम्भव है। अत एव मीमांसा का क्रियात्मक पक्ष ही कर्मकाण्ड है। सम्प्रति कर्मकाण्डों में कुछ मिश्र विधि दृग्गोचर होती है, साथ ही अनेकत्र देशाचार, कुलाचार आदि भी सन्निविष्ट होता आया है। फलतः मीमांसा और प्रचलित कर्मकाण्ड की परस्पर पूरकता अदृष्टप्राय है। यतः अश्वमेध जैसे वैदिक कर्मकाण्ड को देशाचार आदि ने कवलित नहीं किया था। अतः इसका कर्मकाण्डपक्ष मीमांसाभिमत ही है। शोक की बात यह है कि इस विशाल कर्मकाण्ड का व्यवहार शताब्दियों से लुप्त हो जाने के कारण इस विषय के कर्मकाण्डीय अध्ययन में अवश्य शून्यता-सी उपलब्ध होती है।

अश्वमेधयज्ञ का अर्थशास्त्रीय अध्ययन

राजनीति के दो प्रधान अंग हैं—१. अर्थशास्त्र, २. दण्डनीति। अर्थशास्त्र का तात्पर्य राजा के कोशबल से है। कोश सामर्थ्य एवं दण्डनीति से उत्पन्न राजा के तेज को क्रमशः प्रभाव एवं प्रताप कहा जाता है। नीतिकारों ने स्पष्ट कहा है—''**सप्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजः**''। परन्तु कोश एवं अर्थशास्त्र में किञ्चित् भेद परिलक्षित होता है। अर्थशास्त्रानुसार धन संग्रह के साथ-साथ विनिमय, मुद्रान्तरणादि सभी विषय आते हैं। यह विनिमय वस्तुगत भी हो सकता है। यह तो सिद्ध ही है कि राजा का अर्थबल इतना सुदृढ़ होना चाहिये कि वह वर्षपर्यन्त ऐसी सेना का सफल सञ्चालन कर सके, जो अपने राष्ट्र में एक निश्चित युद्धक्षेत्र में ही नहीं; अपितु विश्व में परिभ्रमण कर विभिन्न राष्ट्रों को चुनौती देती हुई उन्हें जीतकर विजय प्राप्त कर सके।

राजनीति में स्वीकृत साम-दान-दण्ड-भेद इन चतुर्विध[१] नीतियों में दण्डनीति सम्पूर्ण अर्थशास्त्र पर आधृत है; परन्तु यह दान धर्मशास्त्रानुमोदित अदृष्टोत्पत्त्यर्थ संकल्पपूर्वक दान नहीं है, अत एव यहाँ पर ब्राह्मणाब्राह्मण का विचार भी अप्रासंगिक है।

अश्वमेध महायज्ञ के सम्पूर्ण प्रकरण में पूर्ण विश्व पर अर्थशास्त्र का नियन्त्रण अपेक्षित है। यह बात व्यवहारसिद्ध है कि राष्ट्र जितना विशाल होगा, अर्थशास्त्र उतना ही उदार एवं सरलतया ग्राह्य होगा। निजी क्षेत्रों में पूँजी-निवेशार्थ अनेक सरकारों की अनुज्ञप्ति की अपेक्षा आदि उपचार नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि अश्वमेध महायज्ञ का व्यावहारिक रूप ही है—"**यत्र विश्वं भवत्येकनीडं समस्तम्**।"[२] उदार आर्थिक दृष्टिकोण से ही वेद की उक्त मान्यता सम्भव हो सकती है। नीतिकारों ने इसी बात को स्पष्ट किया है—"**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**।।"[३]

उक्त वेद एवं नीति वचनों का एक ही तात्पर्य है, जिसकी स्थापना में राजनीतिक दृष्टि से अश्वमेध महायज्ञ एवं व्यावहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्र का समान कर्तव्य है। यहीं पर अश्वमेध महायज्ञ एवं अर्थशास्त्र का समन्वय स्थापित होता है।

अर्थशास्त्र में राजनीतिक पदाधिकारी मुख्यतया अष्टादश हैं[४]

१. मन्त्री, २. पुरोहित, ३. सेनापति–सेना विभाग का मन्त्री, ४. युवराज, ५. दौवारिक–राजप्रसाद का प्रधान अधिकारी, ६. अन्तर्वंशिक-राजवंश के गृह कार्यों का प्रधान अधिकारी, ७. प्रशास्तृ-कारागारों का प्रधान अधिकारी, ८. समाहर्ता-माल विभाग का मन्त्री, ९. सन्निधाता-राजकोष का मन्त्री, १०. प्रदेष्टा-राजाओं का प्रचारक, ११. नायक-सैनिकों का प्रधान

१. चतुर्विध इति। अत्र किञ्चित्—
सामदानदण्डभेदाश्चेति चतस्रो नीतयः प्रसिद्धाः, परं एतद् भिन्नार्थाऽपि कश्चिद् अप्रसिद्धा नीतयः सन्ति, यथा उपेक्षा नाम काचिद् नीतिः, तदुक्तं तारानाथभट्टाचार्यैः—"राज्ञां सप्तविधौपायान्तर्गते उपायभेदे, साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपक्षणेन च इति उपेक्षा च उपाय-विशेष एव। अत एव तत्रैवोक्तम्—"उपायो नाम राज्ञां रिपुनिराकरणहेतुषु सामादिषु च। "चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ शान्तमपक्रिया" तत्र सामादयश्चत्वारस्तु प्रसिद्धा एव। क्वचित् सप्तोपायाः, तत्र माया-उपेक्षा-इन्द्रजालं चेति त्रयमधिकम् इति वाचस्पत्यम्।

२. द्र०, उपनिषद् महाकोश।

३. द्र०, हितोपदेश।

४. द्र०, हिन्दूराजतन्त्र, भाग-२, लेखक-डॉ जायसवाल, पृ० २६१-२६६।

अधिकारी, १२. पौर-राजधानी का प्रधान नायक, १३. व्यावहारिक-न्यायकर्ता, १४. कार्मातिक-कारखानों का प्रधान अधिकारी, १५. सभ्य-मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष, १६. दण्डपाल-सैन्यनिर्वाह करने का प्रधान अधिकारी, १७. राष्ट्रान्त-पाल-सीमान्त प्रान्तों का प्रधान अधिकारी, १८. दुर्गपाल-शत्रुओं से देशरक्षा करने वाला अधिकारी।

उक्त अष्टादश राजपदाधिकारी के अतिरिक्त राजदूत, गुप्तचर आदि भी ऐसे पद हैं, जो अर्थशास्त्र की नियन्त्रण कोटि में आते हैं। आज अर्थशास्त्र में समाजवाद एवं साम्यवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है; परन्तु भारत-परम्परा में वर्णाश्रम धर्म का वृत्तिपक्ष एक प्रधान लक्ष्य है—''आर्थिक विकेन्द्रीकरण'', जिसमें उक्त दोनों समस्यायें गतार्थ हो सकती हैं। जिस प्रकार भारत की पारिवारिक परम्परा में गौ को आर्थिक रूप का प्रतिनिधि माना गया है, उसी प्रकार राजनीति में अश्व अर्थशास्त्र का एक प्रतिनिधि जैसा प्रतीत होता है। अल्पव्यय में अधिक उपलब्धि यह अर्थशास्त्र का मूल मन्त्र है। राजवैभवों में गो, वृषभ, अश्व, अश्वतर, हस्ति, उष्ट्र, सिंह आदि जीवन्त प्रतीक हैं, जिनमें हस्ति, अश्व मुख्य हैं। चाणक्य ने स्पष्ट कहा है ''गजायत्तं युद्धम्'' परन्तु हस्ति का रक्षण, पोषण अत्यधिक व्यय एवं प्रयाससाध्य है। अश्व के लिए यह बात नहीं। सम्भवत: इसी कारण आचार्य चाणक्य ने कहा है— **''नास्ति गतिश्रमो यानवताम्''**[१]—यहाँ गतिश्रम से शारीरिक ही नहीं, अपितु आर्थिक, व्यावहारिक सभी का ग्रहण होना चाहिए। अश्व केवल अर्थशास्त्र का ही नहीं, अपितु राज की सक्रियता का भी प्रतीक होता है।

१. इनमें अश्वमेध के द्वारा स्वाधीन राज्य पर विजय अलब्ध लाभ है।
२. उसमें स्वशासन चलाना परिलक्षण है।
३. तत्पश्चात् पूर्वस्थिति से उस राष्ट्र की उन्नति करना विवर्धन है।
४. उद्योगादि सन्निवेश करना विवरण है।

यह कार्य अर्थशास्त्र के द्वारा ही सम्पन्न होगा। अत एव अश्वमेध एवम् अर्थशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं।

अश्वमेधयज्ञ का राजनीतिशास्त्रीय अध्ययन

अश्वमेधयज्ञ के राजनीतिशास्त्र सम्बन्धित अध्ययन पर प्रकाश डालने से पूर्व इस तथ्य पर विचार आवश्यक है कि आर्ष राजनीति का मूल स्वरूप क्या

---

१. द्र०, चाणक्यनीति, ३५५ सूत्र।

है? क्या वर्तमान राजनीति ही आर्ष राजनीति है। वर्तमान समय में यह एक गम्भीर विषय है। वर्तमान राजनीति में धर्म का हस्तक्षेप अर्थात्—नियन्त्रण नहीं है, जबकि आर्ष सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण राजनीति ही धर्मनियन्त्रक तो क्या, धर्मात्मक है। अवश्य ही धर्म आज विकृत अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। आर्ष सिद्धान्तानुसार भ्रम, प्रमाद, अज्ञान, विप्रलिप्सा, पूर्वाग्रह आदि समस्त मानवीय दोषशून्य, अनादि, अपौरुषेय, वेदविहित कर्मजन्य, अदृष्ट विशेष "धर्म" हैं, जिनका क्रियाकाण्डादि प्रत्यक्ष रूप शिष्ट परम्परा में दृग्गोचर होता है। यह धर्म व्यक्ति, काल, समाज, प्रभावादि से विनिर्मुक्त होता है। अत: उक्त धर्म में समस्त विषय यथा परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, कर्मफलभोग,लोकान्तर, देहान्तर आदि किसी मान्यता की अपेक्षा नहीं करते, इसलिए आर्ष परम्परा से अतिरिक्त भी (Rebirth Soul, Spiritual) आदि शब्दान्तर से अवश्य माने जाते हैं; परन्तु यह अत्यन्त दु:खास्पद है कि आज उक्त सार्वभौम शाश्वत-यथार्थस्वरूप वाले धर्म को छोड़कर किसी ऐतिहासिक, प्रारब्ध, कर्मपरतन्त्र सामान्य व्यक्ति विशेष के द्वारा देश, काल, परिस्थिति, समाजादि के प्रभाव से सञ्चालित कतिपय नियमों को ही "धर्म" मान लिया गया है। ऐसी मान्यताएँ इसी प्रकार हैं, जिस प्रकार किसी समिति आदि में एकता बनाये रखने के लिए किसी विशिष्ट पुरुष के द्वारा "नियम" बनाये जाते हैं। वे कितने भी श्रेष्ठ हों, परन्तु धर्म नहीं हैं; क्योंकि उनमें कोई अलौकिकता, अद्‌भुतता नहीं है। मात्र उत्तम लौकिक विषयों की उपलब्धि कर कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता। स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, संतदास आदि का जीवन इसमें दृष्टान्त है। इसी धर्म की स्थायी स्थापना का नाम ही "आर्ष राजनीति" है, जिसके लिए आनुवंशिक, जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वपूर्ण राजपरम्परा की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण अंश है और "अश्वमेध महायज्ञ" इसका एक चरम पर्यवसान है।

चूँकि ऐसी सुदृढ़ सारगर्भ एवं स्थायी धर्मानुशासनमूलक राजनीति में दलगत अथवा अल्पमत, बहुमत आदि की समस्या का स्थान नहीं, अत: आर्ष राजनीति का यह अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष है। सम्भवत: इस परिस्थिति का किसी कालविशेष में दुरुपयोग हुआ हो; परन्तु वहाँ भी व्यक्ति विशेष की दुर्बलता कारण है, न कि आर्ष राजनीति।

पशुओं में प्रकृति (स्वभाव) की दृष्टि से दो भेद हैं—

(क) सोमप्रधान प्रकृति।

(ख) अग्निप्रधान प्रकृति।

अग्निप्रधान को ही सौरशक्ति प्रधान कहा जाता है, जो कि सक्रिय, सदा सन्नद्ध एवं झटिति कार्यशील होती है। इस श्रेणी में गो, अश्व, मृगादि आते हैं। सोमशक्ति प्रधान जीव पूर्वोक्त से सर्वथा विपरीत है। अत एव अत्यधिक स्थिर, सहनशील, मृदु होते हैं। गर्दभ, महिष, उष्ट्रादि इसी कोटि के हैं।

इस विवेचन से सौरशक्तिप्रधान अश्वों में सक्रियता[1], गतिमत्ता, आलस्यहीनता आदि स्वभावगत गुण हैं, जो कि अश्व में प्रत्यक्ष हैं। अश्व शयन भी चतुष्पाद में स्थित होकर करता है। संस्कृत में अश्ववाचक हय[2] शब्द में यह सम्पूर्ण तथ्य निविष्ट है, यह सभी गुण अर्थशास्त्र के प्रतीक रूप में आता है, जो कि राजा का प्रतिनिधि है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र सम्पूर्ण राजनीति एवं शासन व्यवस्था के ''रथनेमि'' के समान आधारभूत अंग है। अत एव राजनीति के गौरवपूर्ण इतिहास का सर्वोत्तम दृष्टान्तभूत अश्वमेधयज्ञ की कल्पना तो अर्थशास्त्र के बिना असम्भव है। अवश्य ही आज की अर्थशास्त्रीय विचारधारा में ''अश्वमेध'' जैसी महनीय परियोजनाओं का सन्निवेश नहीं है, अत एव आधुनिक अर्थशास्त्रियों में इस विचारधारा का सर्वथा अभाव है, फिर भी ''**अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्**'' महाभाष्य के इस नीतिमूलक वचनानुसार अर्थशास्त्र के अध्ययन में इन महनीय विषयों का सन्निवेश होना चाहिए। आचार्य चाणक्य के अनुसार—''**अलब्धलाभादि-चतुष्टयं राजतन्त्रम्**''[3]। तदनुसार राजतन्त्र के चार स्तम्भ हैं—

राजतन्त्र

अलब्धलाभ **लब्धपरीक्षण** **रक्षितविवर्धन** **वर्धितवितरण**

उपर्युक्त राजतन्त्र के चारों विषय अर्थशास्त्र के सर्वथा आयत्त हैं और स्थिर राजतन्त्र के लिए ही अश्वमेध परियोजना विहित है।

कर्मकाण्डीय अध्ययन में यह स्पष्ट है कि पुरोहित का स्थान राजा के नियन्ता के रूप में है। धर्मस्थापना की प्रणाली का नाम राजनीति है। अवश्य ही इसमें स्वपक्ष-परपक्षादि शत्रु-मित्र उदासीन पक्ष विद्यमान है; परन्तु उचित-अनुचित का मानदण्ड धर्म ही है। मात्र ''सत्तारूढ़ होना'' ही आर्ष राजनीति

१. द्र०, धर्मदिग्दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ३५३-३५४, षष्ठ संस्करण, प्रकृतसन्दर्भे स्व० श्यामनारायणपाण्डेरचित–'हल्दीघाटी'महाकाव्यस्य चेतक-वर्णनं द्रष्टव्यम्—''राणा की पुतली फिरी नहीं तब तक चेतक उड़ जाता था''।

२. हय गतौ;

३. द्र०, चाणक्यसूत्र, ४२।

का लक्ष्य होता, तो अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल परियोजना का प्रसंग ही न होता; क्योंकि बिना ऐसे अनुष्ठानों के भी छल, बल, कपट आदि के द्वारा भी कोई व्यक्ति सत्तारूढ़ हो सकता है। इतिहास में सम्प्रति भी इसके उदाहरण अत्यन्त सुलभ हैं; परन्तु जहाँ राजनीति अध्यात्ममूलक अदृष्ट तत्त्व पर आदृत होगी, वहीं पर अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल परियोजनाएँ उपपन्न हो सकती हैं।

वर्तमान राजनीति और आर्ष राजनीति में भेद

वर्तमान राजनीति अनेक अंशों में स्वार्थप्रधान है; परन्तु आर्ष राजनीति बहुलांश में विषयप्रधान है। इसको राजधर्म कहा जा सकता है। जहाँ "राजनीति" अधिकारी-प्रधान है, वहीं "राजधर्म" कर्तव्य-प्रधान है, इसी प्रकार राजनीति "संघर्ष"-प्रधान है एवं राजधर्म उपलब्धि-प्रधान है। राजनीति में "अनिश्चयता" प्रविष्ट हो जाने के कारण अस्थैर्य-प्रधान है। राजधर्म की इन अनेक उपलब्धियों को प्रकट करने के लिए उसका "राजधर्मानुशासन" शब्द से व्यवहार किया जाता है। महामति भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर जैसे सुपात्र को अश्वमेध महायज्ञ सम्पादन के पूर्व इसका उपदेश दिया था। जहाँ आज की राजनीति में प्रधान लक्ष्य "अपने दल का बहुमत बनाये रखना" मात्र रह गया है, वहीं पर "राजधर्मानुशासन" के अनुसार "प्रजारक्षण" राजा का अनितर साधारण कर्म है, इसके विपरीत शासक की निन्दा करते हुए आचार्य द्वैपायन ने कहा है—

"राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुश्यताम् ।
अशरण्यैः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ।।"[१]

इसके अतिरिक्त—

"**असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम्, एष राज्ञां परो धर्मः**।"[२]

यहाँ पर राजा का वही कार्य कहा गया है, जो कार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने लिए कहा है—"**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्**"।[३]

वस्तुतः सज्जनों की रक्षा एवं असामाजिक तत्त्वों का शासन यही धर्म का स्वरूप है। इसलिए आचार्य श्रीकृष्ण ने साधु रक्षण एवं सत् अनुग्रह, असत्-

---

१. द्र०, महा०भा०, राजधर्मानुशासनपर्व, १२.२९।
२. द्र०, तत्रैव, १५.१६।
३. द्र०, श्रीमद्भगवद्गीता।

निग्रह के परिशेष में स्पष्ट कहा है—"**धर्मसंस्थापनार्थाय**"। राजधर्मानुशासन के द्वारा शिष्टानुग्रह, दुष्टनिग्रहपूर्वक धर्मात्मक राजनीति की स्थिर स्थापना सम्भव होती थी, जिसके कारण निश्चिन्त एवं निर्भय परिवेश वाले राष्ट्र में अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल परियोजनाओं की कल्पना साकार हो सकती थी।

अश्वमेधयाजी का राजनीतिक आचरण

राजनीतिक दृष्टि से अश्वमेध महायज्ञ का एक अद्भुत फल है—शाश्वत शान्ति स्थापना। राष्ट्रों के परस्पर वैमनस्य का एक मुख्य स्थान है—सीमाविवाद। सम्प्रति भी सीमा की रक्षा के लिए विश्व के प्रत्येक राष्ट्र को अपने-अपने वार्षिक बजट का कोटि-कोटि द्रव्य व्यय करना पड़ता है, प्रत्येक राष्ट्र का फिर भी सीमा-विवाद विद्यमान ही है। फलत: सीमा में अशान्ति, युद्ध और महायुद्ध हो सकते हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र आदि देश प्रभावी न रहा तो कभी भी मानवता का नाश हो सकता है। यह आशंकामूलक समस्या चिरकाल से ही थी; परन्तु अश्वमेध महायज्ञ जैसे विशाल अनुष्ठान के द्वारा सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता के आनुवंशिक जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वमूलक ध्रुवीकरण के द्वारा विश्व की राजनीतिक एकता स्थापित होने पर अधीनस्थ राज्यों, जनपदों की सीमाओं का विवरण मात्र विचारात्मक होगा।

इस प्रकार एक राष्ट्र के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों का सीमा-विवाद उतना भयंकर नहीं होता एवं उसका समाधान केन्द्रीय सत्ता कर सकती है। विश्व एकता संस्थापक "अश्वमेध यज्ञ" की यह राजनैतिक उपलब्धि भी है।

अश्वमेधयज्ञ का भूगोलशास्त्रीय अध्ययन

राजा को "भूपति" कहा गया है। वस्तुत: भूपतित्व अश्वमेधकर्ता में ही संगत होता है। अश्वमेध के द्वारा विश्वविजय सम्पादन के पश्चात् सम्राट् भूगोल का पति अर्थात् स्वामी होता है।

इस प्रकार सूक्ष्म निरीक्षण से यह ज्ञात होता है कि अन्य राजाओं के लिए भूपति शब्द का प्रयोग "तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्" के समान समुदायवाची शब्दों का अवयवार्थ में प्रयोग जैसा है। मान्धाता आदि अश्वमेधयाजी की भौगोलिक स्थिति इसी प्रकार उपलब्ध होती थी। यथा—

यावत् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ।।[1]

---

१. द्र०, भा०पु०, ९.६.३७।

प्रकृत प्रसंग में भौगोलिक अध्ययन विषय पर पृथ्वी के प्राकृतिक भेदों का वर्णन न करके, सम्राट् ही वास्तव में भूगोलपति है, इस विषय को स्थापित किया जाएगा।

भौगोलिक अध्ययन के सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि सम्पूर्ण भूगोल के अधीश्वर होने के कारण, समस्त भूगोल में उत्पन्न खनिज उद्भिज सस्यादि विषयों का कर के रूप में षष्ठांश सम्राट् को अवश्य प्राप्त होगा। इसके द्वारा भी अश्वमेधयाजी सम्राट् का ही भौगोलिक अधिकार सिद्ध होता है। सम्राट् के लक्षणों में 'मण्डलेश्वर' शब्द भी आया है। यहाँ मण्डल शब्द से द्वादश राजमण्डल अभिप्रेत है;[२] परन्तु शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् मण्डल शब्द भूमण्डल शब्द का भी वाचक स्वत: ही है। भू + मण्डल = भूगोल।

उसका प्रभु ही सम्राट् है। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से अश्वमेध महायज्ञ का कोई पृथक् अध्ययन अपेक्षित नहीं है; किन्तु अश्वमेध महायज्ञ के व्यावहारिक अनुष्ठान में ही "भूगोल" का अध्ययन अन्तर्निहित है। इसका स्वरूप दिग्दर्शन जम्बूद्वीप, भारतवर्ष सीमा, सप्तसमुद्र, सप्तद्वीप, चतुस्समुद्र आदि के प्रसंग में स्पष्ट है।

अश्वमेध महायज्ञ स्वयं अपने में भूगोलात्मक है। जैसा कि विहित है— इस यज्ञ में छोड़ा गया अश्व वर्षपर्यन्त पृथ्वी भ्रमण करके सम्राट् के पास लौटता है। इसके द्वारा भी भूगोल का अध्ययन ही स्पष्ट होता है। भौगोलिक अध्ययन में यह तथ्य सिद्ध है कि मण्डलाकार पदार्थ में यात्रा जहाँ से आरम्भ होगी, वहीं आकर समाप्त भी होगी। विश्व भ्रमणकारी कोलम्बस ने भी इसी सिद्धान्त का अवलम्बन किया था।

अश्वमेधयज्ञ का पुरातत्त्वशास्त्रीय अध्ययन

१. सम्प्रति किसी भी प्राचीन विषय की गवेषणा में पुरातत्त्व महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। अत: पुरातत्त्व को एक प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता है। विचार करने पर पुरातत्त्व विषय, दर्शनशास्त्र स्वीकृत बहुविध[३] प्रमाणों में अन्यतम "ऐतिह्य" प्रमाण के अन्तर्गत ही है। पुरातत्त्व के विषय में यह तथ्य तटस्थ रूप से स्वीकरणीय है कि उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री

१. द्र०. अमर० २.८.३; २. द्र०, अमर, २.८.३. व्याख्या सुधा।

३. बहुविध इति। तदुक्तम्—
यथार्थानुभव: प्रत्यक्षमेव इति चार्वाक: अनुमितिरपि इति काणादबौद्धौ; उपमितिरपि नैयायिकैकदेशिण: शाब्दमपि इति....द्र०, तर्कसंग्रह:।

से पूर्वकाल में तत्सम्बन्धी विषय की सत्ता अवश्य सिद्ध होती है; परन्तु तद्भिन्न विषयों का सर्वथा अभाव था, यह भी कहा नहीं जा सकता।

२ पुरातत्त्व, खोज के आधार पर प्रामाणिक है, अतः पूर्वकाल की अपेक्षा उत्तरोत्तर काल में सम्पत्स्यमान गवेषणाओं के आधार पर पुरातात्त्विक मान्यताएँ स्वतः ध्वंस हो जाती हैं। अत एव पुरोपलब्ध विषय के आधार पर किसी वस्तु का शृंगग्राहिकया इदमित्थं निर्णय करके, अन्तिमेत्थं नहीं कहा जा सकता। जैसे कि सृष्टि के विषय में इतिहास, विभिन्न देशों में अत्यधिक अल्पकालीन लिखा गया था। आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति के शब्दों में—

ये कोविदाः केचिदितिहासप्रमार्गणे सम्प्रति सप्रयत्नाः ।
प्रवृत्तिरासन्नतरेतिहासेष्वेवानुसन्धानकृतेऽस्ति तेषाम् ।।
अन्येषु देशेषु न चोन्नतिः प्राक् चतुःसहस्रावधिवर्षपूगात् ।
आसीत् ततस्तेषु न चेतिहासग्रन्थाः पुराणाः क्वचनोपलभ्याः ।।
अतस्त आसन्नतरस्य कालस्यैवेतिहासे कुशला भवन्ति ।
चतुःसहस्रावधिवर्षपूगात् प्रत्नेतिहासं तु न ते विदन्ति ।।
अद्यप्रभृत्याचरितं पुरस्ताच्चतुःसहस्रावधिवर्षपूगे ।
यथा बभूवेह तदेव तेषामस्तीतिहासः सुविमर्शयोग्यः ।।
ततस्तु पूर्वं यदभूच्चरित्रं न तत्र तेषामनुयाति दृष्टिः ।
ते षट्सहस्राब्दगणात् पुरस्ताद् विश्वस्थितिं हन्त न भावयन्ति ।।
एतद्वैज्ञानिकमस्त्यमीषां मतं तु तद् बालकभाषितं तु ।
यदाहुरेतेऽब्दसहस्रषट्कादेवोदयं विश्वमिदं प्रयातम् ।।[१]

पुरातन एक महान् विषय होते हुए भी उसके मुख्य आधार सर्वथा निर्णयास्पद नहीं भी हो सकते—

मुद्राशिलालेखदानपत्रप्रशंसनग्रन्थकथादिरूपम् ।
प्रमाणसामाग्र्यमिहोपलब्धं यत्किञ्चिदेतैरनुसन्दधद्भिः ।।

---

१. द्र०, श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृतं 'जगद्गुरुवैभवम्' इतिवृत्तप्रसङ्ग ऐतिह्यसमालोचना, श्लोक १,२,३,७,८,९।

तत्सर्वमर्वाक्तनमेव तेषां चतुःसहस्त्रावधिवर्षपूगात् ।
पुरातनं त्वस्ति न चोपलभ्यं कालेन तस्यातिशयेन नाशात् ।।
तत्र स्वबुद्ध्या परितर्कयद्भिस्तर्कानुसन्धानविधासु दोषात् ।
भूयाननर्थः प्रतिपाद्यते तैः क्वचिन्न मान्यं मतमस्ति तेषाम् ।।[1]

अनेक विद्वान् अपनी कतिपय कल्पनाबहुल मान्यताओं की स्थिति के लिए आर्ष इतिहास पुराण को स्पर्श तक नहीं करते।

१. **विज्ञायते भारतवर्षसभ्यता पुरातनी सर्वजगद्गुरुत्वतः ।**
अत्रैव देशे प्रथमप्रवर्तितं निर्वक्ति शास्त्रं मनुजस्य सभ्यताम् ।।

२. **यथोदितं तत्र च वेदशास्त्रे मनुष्यलोकस्य चरित्रमग्र्यम् ।**
ततो विरुद्धं तु वदन्ति येऽन्ये तदस्ति हेयं नहि तत्र सत्यम् ।।

३. **अथान्य आसीत्तु मनुर्द्वितीयकोऽयोध्यापुरीमध्यवसत् स भारते ।**
कृत्वा व्यवस्थां च पृथुः समाजगां प्रचारयामास तु तथा प्रवर्तते ।।[2]

इतिहास और पुरातत्त्व दोनों विषय वैसे ही हैं, जैसे सिद्धान्त और प्रयोग। आर्ष मान्यता के अनुसार इतिवृत्त के दो भेद हैं—

इतिवृत्त
- पुराण
- इतिहास

इनमें विश्वसृष्टि के इतिवृत्त को पुराण कहते हैं एवं मानवीय इतिवृत्त को इतिहास कहते हैं। यथा—

तच्चेतिवृत्तं द्विविधं पुराणेतिहासभेदात् प्रवदन्ति वृद्धाः ।
यद् विश्वसृष्टेरितिवृत्तमासीत् पुरातनं तद्धि पुराणमाहुः ।।
यच्चेतनानां तु नृणां चरित्रं पृथक् कृतं स्यात्स इहेतिहासः ।।[3]

---

१. द्र० श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृतं 'जगद्गुरुवैभवम्' इतिवृत्तप्रसङ्ग ऐतिह्यसमालोचना, श्लोक ४,५,६।

२. द्र०, श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृतं 'जगद्गुरुवैभवम्' इतिवृत्तप्रसङ्ग ऐतिह्यसमालोचना, श्लोक ४,५,१७।

३. (क) द्र०, श्रीमधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृतं 'जगद्गुरुवैभवम्'।
(ख) पुराणं पंचलक्षणम्, महापुराणं दशलक्षणम् इति पौराणिकानां समयः।
जैनसमयानुसारं तु—"पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात्"।
द्र०, वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास।

अश्वमेध के पुरातत्त्वशास्त्रीय अध्ययन में विचार करने पर निम्नलिखित सामग्री प्राप्त होती है—

१. मुद्राएँ, २. पात्र, ३. यूप, ४. विजयस्तम्भ, ५. स्वर्ण, ६. यज्ञवेदी।

ऐसी अनेक सामग्रियाँ पुरातत्त्वविदों को प्राप्त भी हुई हैं, जिनके आधार पर अनेक मान्यताएँ स्थिर भी हुई हैं; परन्तु उक्त शीर्षक को लक्ष्य करके पुरातात्त्विक उत्खनन आदि रूप दीर्घकालीन, बहुक्षेत्रीय परियोजनाएँ अद्यावधि सम्भव नहीं हो सकीं। अतः पुरातात्त्विक दृष्टि से अश्वमेधयज्ञ का अध्ययन अभी अपूर्ण है। यद्यपि काशी स्थित घोड़ाघाट पर जयसिंहकालीन अश्वमेध सम्बन्धित मुद्राएँ, अश्वमेध के पक्ष में उपलब्ध हैं; परन्तु ये सभी भुवन सम्राट् अश्वमेधयाजी की नहीं हैं।

दिल्ली के पुराने किले को पाण्डवों का किला कहा जाता है। यदि पुरातात्त्विक अध्ययन से यह बात प्रमाणित हो तो तीन अश्वमेध का सफल अनुष्ठान करने वाले सम्राट् युधिष्ठिर का पुरातात्त्विक अध्ययन किया जा सकता है। अश्वमेधयज्ञ में अनेकों पशुओं का यूप-बन्धन होता था। ये सभी यूप स्वर्णनिर्मित थे, जिनकी प्राप्ति में पुरातत्त्व-शास्त्रियों की सचेष्टता आवश्यक है।

पुरातात्त्विक उपलब्धि के आधार पर अश्वमेध सम्पादन

सम्राट् युधिष्ठिर ने जब अश्वमेधयज्ञ का सम्पादन किया, तो उनके सम्मुख आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। यह विशाल कार्य महाभारत युद्ध के बाद सम्पादन किया गया था।[१]

महाभारत युद्ध के समय दुर्योधन ने दिल्ली का खजाना रिक्त कर दिया था।[२] युधिष्ठिर नवीन कर लगाना नहीं चाहते थे।[३] इस स्थिति में व्यास ने यह परामर्श दिया था कि ''करन्धम'' के पौत्र एवं ''अविक्षित'' के पुत्र सम्राट् ''मरुत्'' ने हिमालय की तलहटी में अश्वमेधयज्ञ किया

---

१. य़था गोत्रकृतां हिंसा अपहास्यसि पाण्डव ।
अश्वमेधं क्रतुवरं यजश्व कुरूनन्दन ।। (जैमिनीयाश्वमेधपर्व.१)

२. ''दुर्योधनेनपृथ्वी छैता वित्त कारणात् ।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्यदुर्मतेः ।। (महा०भा०, आश्वमेधिक ३.१६)।

३. ''करमाहार्यमिष्यामि कथं शोक परायणा''। (जैमिनीयश्वमेधपर्व, ३.१४)।

था,[१] जिस यज्ञ में हिमालय में किसी विशेष उपाय से स्वर्ण की प्राप्ति हुई थी और यज्ञमण्डप से लेकर यज्ञीय पात्र, यूप, दण्ड, प्रणीता सभी स्वर्ण निर्मित थे एवं उन्होंने इतना स्वर्ण वितरण किया था कि ऋत्विजगणों के लिए पर्याप्त था।[२] यह पुरातात्त्विक तथ्य भगवान् व्यास को ज्ञात था। अतः उन्होंने युधिष्ठिर को उसके खनन के लिए आदेश दिया था। युधिष्ठिर ने वहाँ से प्राप्त स्वर्ण भण्डार से अपनी योजना को सफल किया था।

इससे यह सिद्ध है कि पुरातात्त्विक उत्खननादि विधि के सहयोग से स्वयं अश्वमेधयज्ञ का सफल अनुष्ठान इस देश में हो चुका था। सम्प्रति यह स्थान भूटान, तिब्बत देश के किसी स्थल पर है। वर्तमान समय में यहाँ पर स्वर्ण भण्डार विद्यमान है। इतिहास के अनुसार राजाओं के स्वर्ण भण्डार की विपुलता प्रसिद्ध है।

अश्वमेध का ऐतिहासिक अध्ययन

'अश्वमेध महायज्ञ के ऐतिहासिक अध्ययन' शीर्षक के सन्दर्भ में आलोच्य विषय यह है कि अश्वमेध यज्ञानुष्ठानकर्ताओं की परम्परा क्या है? सूर्य एवं चन्द्रवंश इस विषय में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उक्त दोनों परम पवित्र वंशों में उत्पन्न अनेक पुण्यश्लोक महामहिम सम्राटों ने अश्वमेध महायज्ञ जैसी दीर्घकालीन विशाल परियोजनाओं का एकाधिक आयोजन किया है। किन्हीं-किन्हीं पुण्यश्लोक राजाओं ने तो दशाश्वमेध, शताश्वमेधपर्यन्त सम्पादित करके शतक्रतुत्व की स्वरूपयोग्यता प्राप्त की थी। यद्यपि अश्वमेधकर्ताओं के कालानुसारी इतिहास की रचना अद्यावधि अप्राप्त है। अवश्य ही आर्ष ग्रन्थों में मनु से लेकर सम्राट्

---

१. सुवर्णमाहरिष्यन्तस्तत्र गच्छन्तु ते नराः ।
इत्युक्तः स वचस्तेन चक्रे कारन्धमात्मजः ।।
गङ्गाधरं नमस्कृत्य लब्धवान् धनमुत्तमम् ।
कुबेर इव तत् प्राप्य महादेवप्रसादतः ।।
शालाश्च सर्वसम्भारास्ततः संवर्तशासनान्।। (महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व, ८.३४-३५)

२. ''स यक्ष्यमाणो धर्मात्मा शातकुम्भमयान्युत ।
कारयामास शुभ्राणि भजनानि सहस्रशः ।।
मेरुं पर्वतमासाद्य हिमवत्पार्श्व उत्तरे ।
काञ्चन सुमहान् पादस्तत्र कर्म चकार सः ।।
ततः कुण्डानि पात्रीश्च पिठराण्यासनानि च ।
चक्रुः सुवर्णकर्तारो येषां संख्या न विद्यते ।।
तस्यैव च समीपे तु यज्ञवाटो बभूव ह ।। (द्र०, महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व, ८.२४-२७)

युधिष्ठिर तक परम्परा प्राप्त है। यद्यपि यह परम्परा अविच्छिन्न है या नही अथवा किस सम्राट् ने किस समय किस परिस्थिति में किस अश्वमेध का अनुष्ठान करके क्या उपलब्धि की? इसका क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण अद्यावधि अश्रुत है।

गरुड़पुराण में एकत्र २४ अश्वमेधयाजी राजाओं का संग्रह उपलब्ध होता है—

१. मनु, २. दिलीप, ३. मान्धाता, ४. सगर, ५. भगीरथ, ६. अम्बरीष, ७. अनरण्य, ८. मुचकुन्द, ९. निमि, १०. पृथु, ११. ययाति, १२. नहुष, १३. पुरु, १४. दुष्यन्त, १५. शिवि, १६. नल, १७. भरत, १८. शान्तनु, १९. पाण्डु, २०. सहस्रार्जुन।[१]

यह विवरण एकत्र संग्रहात्मक होने से उपयोगी होने पर भी इतिहास-स्वीकृत कालिक परम्परा से रहित है। मनु के बाद दिलीप, मान्धाता आदि अनेक सम्राटों के उल्लेख के बाद पृथु का एवं दुष्यन्त के बाद शिवि और नल का उल्लेख कर ''भरत'' के उल्लेख आदि से उक्त तथ्य स्पष्ट है। अत: इतिहास-स्वीकृत कालिक परम्परानुसार अश्वमेधयज्ञ का विवरण अदृष्ट होने के कारण अश्वमेधयज्ञ का ऐतिहासिक अध्ययन अपूर्ण है। इसके उपरान्त भी सामग्रियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अश्वमेधयज्ञ का ऐतिह्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा अनेक नूतन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है।

अश्वमेधयज्ञ का आनुवंशिक विज्ञानशास्त्रीय अध्ययन

जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण शासन समर्थ वंश परम्परा की सुदृढ़ स्थापना ही अश्वमेध महायज्ञ का लक्ष्य है। इसमें व्यक्तिगत कर्मोपभोग, द्रव्याभिलाष का गन्धमात्र भी नहीं है; अपितु महिषी के साथ अनिवार्य रूप से रहते हुए, अद्भुत इन्द्रियनिग्रहरूप संयम की अपेक्षा है। ऐसी स्थिति में पुरुष अथवा स्त्री के शरीर में दीर्घकाल तक शरीरसारतत्त्व संगृहीत होकर परिपक्व

---

१. ''मनुर्दिलीपो मान्धाता सगरश्च भगीरथः ।
अम्बरीषोऽनरण्यश्च मुचकुन्दो निमिः पृथुः ।।
ययातिर्नहुषः पुरुर्दुष्यन्तश्च शिविर्नलः ।
भरतः शन्तनुः पाण्डुः सहस्रार्जुन एव च ।।
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्जातधर्मसभासदः ।। (द्र०ग०पु०, १४.४३-४५)

स्थिति में आने के कारण अस्थि, मज्जा, रक्त, रस, स्नायु, मांस, शुक्र, शरीरस्थ सप्त धातुओं की शक्तिवृद्धि एवं शुक्राणुओं का विकास तथा उसमें गुणवत्ता, शक्तिमत्ता का अतिशय आधान होता था।

अश्वमेधयज्ञ भी मूलतः सोमयाग है। संज्ञपनीय पशु में अश्वप्राधान्य के कारण इसे अश्वमेध कहा जाता है। सोमयाग होने के कारण इसका अनुष्ठाता यजमान भी सोमयाजी एवं सोमपायी होता है। द्रव्यगुण के अनुसार सोमरस के पान के कारण इन्द्रियशक्ति, आयुष्य, बलादि की वृद्धि होती है। ऐसे अधिकारी का इन्द्रियसंयमपूर्वक वीर्य धारण करने से पूर्वोक्त सप्तधातुओं के अतिरिक्त ''ओजस्'' नामक अष्टम धातु का विकास होता है, जिससे व्यक्ति के मुखमण्डल पर अपूर्ण दिव्य आभा परिलक्षित होती है।[१] तत्फलरूप में वाक्शक्ति का अद्भुत सामर्थ्य दृष्टिगोचर होता है। लोक में इसे ''ओजस्वी'' वक्ता कहा गया है। ऐसी स्थिति में आनुवंशिक ज्ञानधारा का सन्तति-क्रम में विकास होता है। वर्तमान विज्ञान में कभी भी मानवता पर संकट उत्पन्न होने पर उसकी रक्षा के लिए शुक्राणुओं का संग्रह कर शून्य के नीचे ३७० बिन्दु पर उसकी संग्रह की व्यवस्था है। यद्यपि यह उपाय एक सम्भावनामात्र है, इसकी सफलता विचारणीय है।

इसी प्रकार सोमयाजी चन्द्रवंशी क्षत्रियों में सम्राट् प्रतीप के पुत्र एवं भीष्मपितामह के ज्येष्ठतात महाराज देवापि के विषय में यह पौराणिक उद्घोष है कि वे राज्यादि त्याग करके योगाभ्यास के द्वारा अपने को गोपनीय रीति से सुरक्षित कर ''कलाप'' ग्राम में रहते हैं, जो कि कलियुग में सोमवंश के स्वरूप के नष्ट होने पर पुनः सत्ययुग प्रारम्भ में उसकी स्थापना करेंगे।

देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ।
सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति ।।[२]

इस प्रकार आनुवंशिक विज्ञान की रक्षा में ''सोमयाग'' तद्विशेष अश्वमेधयागादि की अत्यन्त कृतकारिता है। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि हमारे पूर्वजों ने आनुवंशिकी विज्ञान के आधार पर, संतति धारा के रक्षार्थ, सुदीर्घ मनन-चिन्तन के व्यावहारिक प्रयोग पक्ष का प्रचलन किया, उपनिषदों में स्पष्ट है—

---

१. एतद् अवबोधनार्थमेव महापुरुषाणां दिव्यपुरुषाणां मुखमण्डलेषु किमपि वलयाकारम् आभामण्डलं निर्मीयते।

२. द्र०, भा०पु०, ९.२२.१७-१८।

"एष्टव्या बहवः पुत्रा यदेकोऽपि गयां व्रजेत् ।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।।"[१]

उक्त आर्ष सिद्धान्त में अश्वमेधयाग सम्पादन को पुत्रप्राप्ति का अन्यतम फल बताया गया है। इसमें भी आनुवंशिकी विचारधारा प्रमाणित होती है। यह तथ्य मन्तव्य है कि बहुपुत्र-लाभ का तात्पर्य सत्पुत्र-लाभ में ही पर्यवसित है—

"**एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणः क्वचित्**"[२]।

विचारास्पद यह है कि आनुवंशिकादि विद्याओं की मान्यताएँ बहुलांश में पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा निर्धारित होने के कारण आर्ष दृष्टिकोण का प्रवेश अप्राप्त है। फलतः अत्यधिक उपादेय होने पर भी सर्वथा पूर्ण या अन्तिम नहीं है। अत एव आर्ष वाङ्मय के प्रति आनुवंशिक विज्ञान शास्त्रियों का ध्यान अपेक्षित है।

अश्वमेधयज्ञ का नृतत्त्वशास्त्रीय अध्ययन

नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टिकोण से अश्वमेधयज्ञ पर दृष्टिपात करने से पूर्व यह बात विचारणीय है कि नृतत्त्वशास्त्र का बाह्य रूप अनेक अंशों में सामुद्रिक शास्त्र के अन्तर्गत है। अवश्य ही नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टिकोण आधुनिक विचारधारा से प्राप्त है; परन्तु कुछ अंशों में इसका मूलरूप अवश्य ही भिन्न है। शरीर की रचना-धर्मिता के आधार पर, अनेक ऐतिहासिक-पुरातात्त्विक मान्यताएँ स्थापित हुई हैं; परन्तु उसमें अश्वमेधविषयक दृष्टिकोण का अभाव है। अश्वमेधयज्ञ में संज्ञपनीय ययु जाति का अश्व, जो कि स्वयं सोमपायी[३] होता था, अश्वमेधयाजी एवं ऋत्विजगण सभी सोमपायी होते थे। यज्ञकर्ता एवं सम्राट् लक्षण-विभूषित होने के कारण आजानबाहु, दीर्घ नेत्र, लम्ब कर्ण, उन्नत घोण, कम्बु ग्रीव, सुदृढ़ स्कन्ध, गूढ़ जत्रु, गूढ़ मणिबन्ध, गम्भीर नाभि, कृश कटि, पृथुल वक्ष, गूढ-मेरुदण्ड, रक्त नख, रक्तापाङ्ग, रक्त जिह्वा, रक्त दाढ़, मसृण कपोल, उन्नतललाट, वक्र भ्रू, घन पक्ष्मल, रक्तोष्ठ, रक्त जुल्फ इत्यादि अनेक विशिष्ट लक्षणों से युक्त होगा।

सम्प्रति यद्यपि अनेक स्थलों पर जीवाश्म मिलने पर उसका रासायनिक एवं चिकित्सकीय प्रयोग परीक्षा करके विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाता

---

१. द्र०, इतिहासोपनिषद्।

२. द्र०, हितोपदेश।

३. सोमपायी इति, द्र०, महामहोपाध्यायचिन्नस्वामिस्मारकग्रन्थः।

है; परन्तु अश्वमेधोपयोगी दृष्टिकोण का वहाँ अभाव है। सोमपायी ऋत्विक्, यजमान, अश्व सभी का नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। सोमयागोपयोगी क्षेत्रादि का भी भूभौमिकी विज्ञान की दृष्टि से परीक्षण अपेक्षित है। यद्यपि सोमलता भारत में अप्राप्य अथवा दुष्प्राप्य है। कुछ विद्वान् इसका प्राप्ति स्थान हिन्दुकुश पर्वत बताते हैं। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि यह चिरकाल से ही दुष्प्राप्य लता थी; क्योंकि शास्त्रों में इसके बहुत से विकल्प हैं एवं यह पीतनेत्रयुक्त रक्तवर्ण की बछिया से क्रय होता था।[१] इस दुर्लभ सोमलता के पान द्वारा मनुष्य शरीर संरचना में जो परिवर्तन होगा, वह अवश्य ही अध्ययन का विषय है।

सामुद्रिक शास्त्रानुसार भी अश्वमेधयाजी सम्राट् के शरीर में अनेक विशिष्ट भेद होते हैं, जिनका विशेष उल्लेखपूर्वक निरूपण पूर्व में किया जा चुका है।[२] इस तथ्य का पिष्टपेषण न करते हुए एक विषय अत्यन्त ध्यातव्य है, यथा "**न्यग्रोधपरिमण्डल**", यह सम्राट् के सम्पूर्ण शरीर के वैशिष्ट्य को एक शब्द में व्यक्त करता है। मध्यकाल में पश्चिम बंगाल के प्रसिद्ध भगवत्संकीर्तनप्रचारक कलियुगपावनावतारी भगवान्[३] कृष्णचैतन्य के स्थूल शरीर के वर्णन में भी "न्यग्रोधपरिमण्डल" शब्द आया है।

न्यग्रोधपरिमण्डल से तात्पर्य

महापुरुषों के लक्षणों में आजानुभुज लक्षण प्रायः प्रयुक्त होता है। यथा श्रीरामचन्द्र के वर्णन प्रसंग में—"**आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षम्**"[४]। सामान्य

---

१. "अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति।"
द्र०, अरुणाधिकरणम्, मीमांसादर्शनम्।

२. द्र०, म०पु०, १४२ अध्यायः।

३. भगवान् इति—चैतन्यमहाप्रभोर्भगवत्त्वं श्रीमद्भागवते स्पष्टम्। यथा—
"नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु।
कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गन्तु पार्षदम् ।।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ।
.... ।।
कलिंगसभां यजन्त्यार्या गुणज्ञा सारभागिनः ।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ।।
द्र०, भा०पु०, ११.५, ११.३१, ३२, ३६; द्र० चैतन्यभागवतम् ।
"महाभारतेऽपि "संन्यासिकृत्क्षमः शान्तः" इत्यादि भीष्मस्तवराजाख्यं विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् इत्यलं प्रसंगोपात्तेनेति दिक्।

४. द्र०, वा०रा० बालकाण्डम्, पाठारम्भमङ्गलाचरणम्।

व्यक्ति स्वहस्त से सार्धत्रिहस्त परिमित लम्बायमान होगा। ऐसा व्यक्ति यदि दोनों हाथ फैलाकर खड़ा हो तो, उसके समस्त व्यास की परिधि सम्पूर्ण गोलाकार होगी। इस प्रकार उसका सन्नाह एवं व्यास का जो परिमण्डल = परिधि है, वह गोलात्मक है। इसी को "न्यग्रोधपरिमण्डल" कहते हैं।[1] न्यग्रोध = वटवृक्ष। सम्पूर्ण दैर्घ्य प्राप्त होने पर वटवृक्ष की शाखाएँ भूमि पर विस्तृत होते-होते अन्तिम विकास को प्राप्त होती हैं, तो वृक्ष गोलाकार प्रतीत होता है।

इसी प्रकार स्त्रियों का न्यग्रोधपरिमण्डल लक्षण स्पष्ट है[2]—

न्यग्रोधपरिमण्डल

पुरुष स्त्री

इस प्रकार नृतत्त्वशास्त्र = मानव शरीर संरचना विशेष की दृष्टि से अश्वमेधयज्ञ का अध्ययन करने पर अनेक नवीन सामग्रियों की उपलब्धि होती है। गजराज, म्यामथ आदि कई विशिष्ट हस्ति की प्रजातियाँ लुप्तप्राय हैं। उनके अलब्ध अस्थिपंजर विशेष से ही उनका अध्ययन होता है। यही स्थिति अश्वमेध-यज्ञाधिकारी की न्यग्रोधपरिमण्डलरूप विशेष शरीर संरचना की है। इस ओर नृतत्त्वशास्त्रियों का ध्यान अपेक्षित है।

अश्वमेधयज्ञ का निदानशास्त्रीय अध्ययन

निदान शब्द का अर्थ है—मूल कारण।[3] मूल कारण अर्थात् मुख्य कारण सम्प्रति यह "पैथालॉजी" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में यह रोगनिवारण के लिए अत्यन्त स्वीकृत प्रणाली है।

निदानशास्त्रीय दृष्टिकोण = (Pathological Test) — मल-मूत्र-रक्तादि की परीक्षा से रोग के प्रारम्भिक कारण का अन्वेषण किया जाता है। आयुर्वेदीय

१. यथा—न्यग्रोधौ तु स्मृतौ बाहू व्यामो न्यग्रोध उच्यते।
व्यामेन उच्छ्रयो यस्य अध ऊर्ध्वं च देहिनः।। समोच्छ्रयपरिमाणो न्यग्रोधपरिमण्डलः।
द्र०, म०पु०, १४२.६२।

२. स्तनौ तु कठिनौ यस्या नितम्बे च विशालता।
मध्ये क्षीणा भवेद्या सा न्यग्रोधपरिमण्डला ।। इति वाच०।

३ "निदानं त्वादिकारणम्" द्र०, अमर०, १.४.२८; नितरां दीयते असाधारणतया जन्यते, अनेन डुदाञ् दाने (जु०उ.अ), "करणाधिकरणयोश्च" ३.३.११७ इति ल्युट्। तत्रत्य-व्याख्या-सुधा, हैम० ३.४१५ निदानं कारणे शूद्रौ तपसः फलयाचने वत्सदामन्यवसाने च इति, अन्ये तु देङ् पालने इत्यस्मात् ल्युट् इति। द्र० वाच०।

चिकित्सा-पद्धति में नाड़ीविज्ञान के गम्भीर अध्ययन से यह उपलब्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं। नैदानिक दृष्टि से अश्वमेध महायज्ञ के अध्ययन से अनेक नवीन तथ्यों की प्राप्ति हो सकती है एवं अनेक नये सिद्धान्तों की कल्पना एवं पूर्वस्थापित सिद्धान्तों का खण्डन हो सकता है।

वर्तमान समय में नैदानिक उपलब्धियाँ बहुलतः भोजनादि के द्वारा प्रभावित होती हैं। शर्करा की मात्रा रक्त में अधिक होने से ''मधुमेह'' रोग प्रसिद्ध है। आर्ष वाङ्मय स्वीकृत गोमूत्र, गोमय, पंचगव्य, यवागू, पुरोडाश, उडुम्बर, अपामार्ग, दूर्वा, कुशोदक, चन्दनोदक, अर्जुनवृक्षत्वक्, अशोक-आम्र-निम्ब-मंजरी, पद्ममधु, नालदण्ड, शीतोपल, गोदुग्ध, पंचरत्नस्नान, पंचपल्लवस्नान, निर्झरोदकस्नान, दिव्यस्नान,[१] भस्मस्नान, अगुरुलेपन, मृत्तिकास्नान, तुलसीदल आदि विषयों के सेवन से व्यक्ति के रक्त-मज्जामांसादि में विशिष्ट परिवर्तन होता है, जिसका प्रत्यक्षीकरण मेधाशक्ति, सत्त्वगुण, स्मरणशक्ति का विकास, चित्तस्थैर्य, मनस्सन्तोष, एकान्तप्रियता, मनन-चिन्तनशीलता आदि के रूप में परिलक्षित है।

तात्त्विक वस्तु का सेवन यदि किया जाय तो व्यक्ति के मूत्र-पुरीषादि में भी उत्कट दुर्गन्ध का अभाव होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। यह विधि आमिष-निरामिष भोजन से भी प्रत्यक्ष है।[२] ऋषभदेव के पुरीषादि के विषय में सर्वथा दुर्गन्धि का अभाव एवं सुगन्धि का होना भागवत में प्रतिपादित है।[३]

इसी प्रकार ''मंकणक'' नामक ऋषिविशेष के रक्त में शाक का अंश अत्यधिक होने का प्रमाण महाभारत में उपलब्ध है।[४] इसी प्रकार एक वर्ष २७ दिवसात्मक अश्वमेधयज्ञ में असिव्रत-पालनरूप ब्रह्मचर्य, सोमपान आदि विधियों के कारण अश्वमेधयाजी सम्राट् के शरीर की निदानशास्त्रीय दृष्टिकोण से चिकित्सकीय उपलब्धि भी पृथक् होगी।

---

१. मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसञ्चैव सप्तस्नानं प्रकीर्तितम् ।।
यत्तु सातपवर्षेण तत् स्नानं दिव्यमुच्यते ।। (वाचस्पत्यसमुद्धृतं याज्ञवल्क्यवचनम्)

२. तद्यथा विडालकुक्कुरादीनाम् अल्पापि विष्ठा यदि गृहकोणे स्यात्, तर्हि दौर्गन्ध्यातिशयात् प्रवेष्टुमप्यशक्यम्। अन्यत्र गोमहिषाजादीनां विष्ठास्तु सार्वजनीना एव, न तत्र तथा दुष्प्रवृत्तिः।

३. ''तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार। (भा०पु०, ५.५.३३)

४. द्र०, महा०भा० वनपर्व, ८३.११५-११७।

अश्वमेधयज्ञ का पर्यावरणशास्त्रीय अध्ययन

पर्यावरण प्रदूषण निवारण यह साम्प्रतिक जगत् में चर्चित विषय है। इसमें राष्ट्रीय क्या विश्व स्तर पर अनेक चिन्ताएँ व्यक्त की जा रही हैं, एवं प्रदूषण निवारण और पर्यावरण सुरक्षा के लिए यथासम्भव उपाय किये जा रहे हैं। अवश्य ही सत्प्रयास का प्रारम्भ ही कार्यसिद्धि की ओर अग्रसर होने का प्रथम सोपान है। इसके अनुसार पर्यावरण पर दृष्टिपात अत्यधिक प्रशंसनीय प्रयास है; परन्तु इतना अवश्य मननीय है कि इस ओर वैज्ञानिकों का ध्यान अत्यधिक विलम्ब से आकृष्ट हुआ है। किसी भी समस्या के समाधान के दो रूप हैं—

१. समस्या को उत्पन्न न होने देना अर्थात् समस्या के मूल कारण का निवारण।

२. समस्या उत्पन्न होने के तुरन्त बाद उसके निराकरण का शीघ्र प्रयास।

प्रथमकोटि का तात्पर्य है—समस्या के कारण का निराकरण, द्वितीय कोटि का तात्पर्य है—कार्य का निराकरण। आर्ष चिकित्सा अर्थात् आयुर्वेद का सिद्धान्त है—**कारणं चिकित्स्यं स्यात्, न तु कार्यम्**।[१] आयुर्वेद के समस्त ग्रन्थों में प्रत्येक रोग के पूर्व लक्षण को स्पष्ट करके उसके निवारण का उपाय विहित है।[२]

यदि निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाया जाय, तो पूर्वोक्त प्रथम परिपाटी अधिकांशतः आर्ष परिपाटी ही है एवं द्वितीय कोटि अधिकांशतः आधुनिक वैज्ञानिक परिपाटी है। पर्यावरण सुरक्षा, वृक्षारोपण आदि सभी इसके दृष्टान्त हैं। "कृत्वा चिन्तां"[३] न्याय से अवश्य ही यह विचारणीय है। पर्यावरण रक्षा का एक शब्द में तात्पर्य है कि प्रकृति के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध व्यवहार न करना। "**महायन्त्रं न कारयेत्**" यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। अत एव विशाल यान्त्रिक उपकरणों की स्थापना से धरती की प्राकृतिक शक्ति नष्ट होती है, जिसका प्रभाव उसकी उर्वरा शक्ति पर पड़ता है। सम्प्रति पर्यावरण सुरक्षा का लक्ष्य प्राकृतिक सुरक्षा की रक्षा ही माना गया है; परन्तु इसका आर्ष लक्ष्य है—प्राकृतिक शक्ति की वृद्धि।

अश्वमेध-राजसूय इत्यादि महायज्ञों से वही परम्परा स्थापित है। पर्यावरण सुरक्षा तो क्या, पर्यावरण सन्तुलन का महान् उपाय यज्ञानुष्ठान है। किसी वस्तु

---

१. द्र०, विविधार्थ, डॉ॰ भगवानदास।

२. द्र०, निदानप्रकरण, सुश्रुत।

३. द्र०, महाभाष्य (१.३१) भ्वादि-सूत्रस्थ भ्वादि-पदप्रयोगोपपत्तिविचारक कैयटकृत प्रदीप व्याख्या।

को पृथ्वी में समर्पित करने पर न्यूनातिन्यून दश गुणा अधिक होगा, जैसे एक आम्रफल भक्षण से एक व्यक्ति को क्षणिक तृप्ति होती है; परन्तु उसकी गुठली को पृथ्वी को समर्पित करने पर एक आम्रवृक्ष से प्रतिवर्ष हजारों आम्र उत्पन्न होंगे। फलवृक्षादि से वायुप्रदूषण निवारण, काष्ठोपलब्धि, भूमि की उर्वराशक्ति वृद्धि आदि अनेक लाभ होते हैं, पृथ्वी से दश गुणा जल में एवं उसकी दश गुणा अग्नि में वृद्धि होती है।

इस प्रक्रिया का मूर्तरूप यज्ञानुष्ठान है। यज्ञाग्नि में समर्पित वस्तु का विकास होकर सूर्यरश्मि के माध्यम से सूर्यमण्डल तक विकास होता है एवं आवागमन चक्रानुसार मेघमण्डल के द्वारा वृष्टि होकर सहस्त्र गुणा प्राप्ति होती है। आचार्य मनु के शब्दों में[१]—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।

इस प्रकार जहाँ अन्य सभी उपायों से पर्यावरण की सुरक्षा मात्र होती है, वहीं यज्ञ द्वारा तो पर्यावरण की शक्ति में वृद्धि होती है। वर्तमान पर्यावरण वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर अपेक्षित है।

अश्वमेधयज्ञ का ज्योतिषशास्त्रीय अध्ययन

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार अश्वमेध महायज्ञ का अध्ययन करने पर निम्नलिखित बिन्दु ध्यातव्य हैं—

अश्वमेधयज्ञारम्भ काल

चान्द्र गणनानुसार फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी या नवमी तिथि को अश्वमेधयज्ञ का आरम्भ होता था।[२]

अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनशुक्लस्य यासौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति तस्याः पुरस्तात् षडहे वा सप्ताहे वा...... ग्रीष्म एके[३]। चान्द्रगणनानुसार ज्येष्ठ अथवा आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी या नवमी को भी इसका आरम्भ किया जा सकता है, यथा "**तदाहुः कस्मिन् ऋतावभ्यारम्भ इति ग्रीष्मेऽभ्यारभ्यते.......।**[४]

१. द्र०, म०स्मृ०, ३.७६।
२. द्र०,का०श्रौ०सू०, २०.१.२।
३. द्र०,का०श्रौ०सू०, २०.२।
४. द्र०,श०ब्रा०, १३.४.१.२, १३.४.१.४।

महाभारत के अनुसार सम्राट् युधिष्ठिर ने ग्रीष्मकाल अर्थात् चान्द्र चैत्रपूर्णिमा को इसकी दीक्षा ली थी।[१] इससे यह सिद्ध है कि अष्टमी या नवमी से प्रारम्भ करने पर ही दीक्षा पौर्णमासी को होती है।

इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र के अनुसार अश्वमेध महायज्ञ के अध्ययन में इस यज्ञ का आरम्भकाल, ऋतु, चान्द्रमास, पक्ष एवं कई वैकल्पिक तिथियो का विधान शतपथब्राह्मण एवं श्रौतसूत्रों में प्राप्त होता है, जिसका समन्वय महाभारत में भी प्राप्त है। इसलिए कहा गया है—

''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्''।[२]

अश्वमेध महायज्ञ का कराधानदृष्ट्या अध्ययन

कराधान शासनसूत्र का संचालन यन्त्र है। वास्तव में जनता से प्राप्त द्रव्य राजा का कर[३] ही है। इसके बिना शासक का कुछ भी करना असम्भव है।

अनेक विशाल परियोजनाओं की सम्पन्नता के लिए शासक जनता पर विशेष कर लगाता है; परन्तु अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल परियोजना की सम्पन्नता हेतु शासन जनता पर अतिरिक्त कर नहीं लगा सकता। अन्ताराष्ट्रिय घटना-चक्रों में अपने देश की विशेष भूमिका निर्वहन करने के लिए तथा राष्ट्रीय स्तर पर भी विशेष कार्यसिद्धि के लिए एवं युद्धविजयादि अनेक प्रयोजनों में शासक जनता पर नया कर लगा सकता है। जनता से प्राप्त 'कर' संगृहीतकर्त्ता जिसे ''कलेक्टर'' कहा जाता है, चाणक्य के काल में समाहर्ता कहा जाता था। यद्यपि इसका व्यतिक्रम इतिहास में दृष्ट है यथा ''बंगलादेशमुक्ति'' जैसी महनीय ऐतिहासिक कार्यसिद्धि के लिए भारत शासन ने जनता पर एक विशेष 'कर' लगाया था—यह अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर अतिरिक्त 'कर' लगाने का उदाहरण है। राष्ट्रीय स्तर पर यथा चन्द्रलोक में अन्तरिक्ष यात्री प्रेषण जैसे विशाल ऐतिहासिक कार्य की सिद्धि के लिए यू०एस०ए०ने एक विशेष टैक्स लगाया था।

इसके अतिरिक्त भी कर संग्रह के अनेक रूप हैं, जैसे दुर्गकर, राष्ट्रकर, खनीकर, सेतुकर, वनकर, व्रजकर, वणिक्पथकर[४] आदि। ये सभी आयस्रोत

---

१. द्र०, ''चैत्रान् हि......।'' महा०भा० आश्वमेधिकपर्व ७२.४।

२. द्र, महा०भा०, आदिपर्व।

३. (क) ''बलिहस्ताश्च कराः'' द्र०, अमर०, ३.३.१६४।
   (ख) ''करो वर्षोपले रश्मौ प्राणो प्रत्यायशुण्डयोः'' द्र० मे०, १२३.१२।

४. द्र० कौटिल्यार्थशास्त्रम्, पंचम अधिकरणम्, ९० प्रकरणस्य द्वितीयोऽध्यायः ''कोशाभिसंहारणम्'।

के आधार पर निश्चित हैं। आज भी नामान्तर से यह सभी आय-स्रोत शासनतन्त्र में निविष्ट हैं।

पूर्वचर्चित सभी राष्ट्रीय एवं अन्ताराष्ट्रिय कार्य लौकिक हैं। लौकिक होने के कारण दृष्ट फलदायी हैं। जैसा कि अश्वमेध महायज्ञ का दृष्टादृष्टोभय-साधकत्व रूप सिद्ध है। अत एव यहाँ मात्र लौकिक बुद्धि का अवलम्बन कार्यकारी नहीं होगा।

अश्वमेध महायज्ञ भी एक सोमयाग है। इसके अनुष्ठान का अधिकारी वही शासक हो सकता है, जिसके पास तीन वर्ष के आय-व्यय की सम्पूर्ण निश्चयता हो। आचार्य मनु के शब्दों में भी उक्त तथ्य का मनुस्मृति में स्पष्टत: निर्देश है।[1]

उक्त वचन शब्दत: "सोमयाग" के लिए विहित है। सोमयागत्व सोमान्येन अश्वमेधयज्ञ भी तदन्तर्गत ही है। इस प्रकार अविच्छिन्न वर्षत्रयपर्यन्त आय-व्यय जिस सम्राट् का स्थिर हो, स्पष्ट शब्दों में नवीन कर लगाने की स्थिति न हो, वही सम्राट् अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल योजनाओं का संकल्प ले सकता है। कराधान के रूप में प्राप्त समस्त द्रव्य राष्ट्र की सम्पत्ति होने के कारण जनता की सुख-सुविधा के लिए ही उपयोक्तव्य है। अत एव सम्राट् अश्वमेध महायज्ञ जैसे दृष्टादृष्टोभय साधक कार्य के लिए उसका व्यय नहीं कर सकता। यदि मात्र दृष्ट उन्नतिकारक योजना होती, जिसमें कि जनता की लौकिक उन्नति निहित है, उसमें कर का उपयोग किया जा सकता है। वेतन, दान, युद्ध, द्यूत, प्रतिस्पर्धा, शिकार आदि से प्राप्त, विजित धन सामग्री पर विजेता व्यक्ति का स्वत्व होता है।[2]

अत: राजसूय, विश्वजित् एवं अश्वमेध जैसे महायज्ञ, जो विशाल द्रव्यराशिसाध्य हैं, एवं जिनके सम्पादन के लिए राजा कोई नया कर नहीं लगा सकता तथा संगृहीत 'कर' को प्रजा की सम्पत्ति होने के कारण अपने अदृष्ट फल के लिए प्रयोग नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में युद्ध के द्वारा दिग्विजय

---

१. (क) यस्य त्रिवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ।। (म०स्मृ०, ११.७)
(ख) त्रैवार्षिकाधिकान्नो य: स हि सोमं पिबेद् द्विज: ।
प्राक्सौमिकी: क्रिया: कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत् ।। (या०स्मृ०, १.१२४)

२. दैत्यैर्जिता धरा चेयं दैत्येभ्य: क्षत्रियैर्जित। गतं स्वाम्यं च विप्राणां तस्माद् दोषो न विद्यते।। (जैमि-नीयाश्वमेध, १.३५)

से प्राप्त द्रव्य, जिस पर राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं समस्त देश की परम्परानुसार विजेता का स्वत्व है, उस द्रव्य से ही इसका अनुष्ठान किया जाय। महाभारत में अश्वमेधयज्ञ में युधिष्ठिर ने कर न लगाने की घोषणा की थी।[१]

अश्वमेधयज्ञ का कोषशास्त्रीय अध्ययन

कोष, विद्वान् और शासक दोनों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है एवं कोषहीन विद्वान् और शासक दोनों ही उपहासास्पद हैं। प्रसंगतः अश्वमेध महायज्ञ के सन्दर्भ में कोषशास्त्रीय दृष्टिकोण अपेक्षित है।[२]

अर्थसंकट होने पर शासक के लिए कोष-संग्रह सर्वथा उचित है, यथा—"**कोषमकोषः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रः संगृहणीयात्**"। परन्तु किसी भी स्थिति में राजा दुर्बल व्यक्ति से धनयाचनापूर्वक कोश-संग्रह नहीं कर सकता। "**अल्पप्राणं वा न याचेत्**"[३]। पूर्व में कहा गया है कि यज्ञादि के ब्याज से जनता पर शासक 'कर' नहीं लगा सकता; क्योंकि किसी कारण से कर प्रत्यारोपण करना चाहे, वह यज्ञादि का ब्याज ही क्यों न हो, सर्वथा अन्याय है एवं अन्याय से कोशसंग्रह करने पर जनता का कोपभाजन होकर राज्य ध्वंस रूप कुपरिणाम का सामना करना होगा।[४]

"अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः" ।।

सम्राट् का कोश दो प्रकार का होता है—१. व्यक्तिगत कोश, २. राष्ट्रकोश। पूर्वोक्त याज्ञवल्क्य के वचन में "स्वकोश" शब्द का प्रयोग है, जिससे व्यक्तिगत कोश अभिप्रेत है। आर्ष सिद्धान्तानुसार संगृहीत कोश के षष्ठांश मात्र पर ही राजा का अधिकार होता है, शेष सम्पूर्ण कोश पर जनता का अधिकार होता है।

यह षष्ठांश अर्थात् राजा का व्यक्तिगत कोष भी राजपरिवार के उत्तराधिकारी सदस्य के रूप में है। किसी कारणवश बहिष्कृत, निलम्बित या स्वेच्छया पृथक् होने पर व्यक्ति को उसके भोग से वंचित होना पड़ सकता है।

---

१. "स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ।। (महा०भा०, आश्वमेधिकपर्व, ३.१४)

२. द्र०, कौटलीय अर्थशास्त्र, योगवृत्ताधिकरण, २.१।

३. द्र०, कौटलीय अर्थशास्त्र, योगवृत्ताधिकरण, २.३।

४. द्र०, या०स्मृ०, आचाराध्याय ३४० (श्लोक)।

उदाहरणार्थ रामचन्द्र राज्य के उत्तराधिकारी थे; किन्तु पत्नी, भ्राता सहित वनगमन की स्थिति में कोश सेना के साथ-साथ राजपरिवार के रथ का भी त्याग करना पड़ा। युद्ध-पराजय, द्यूत-गानादि के द्वारा स्वत्वनिवृत्त हो जाने पर भी राजा व्यक्तिगत कोश का अधिकारी नहीं होगा, यथा—सम्राट् हरिश्चन्द्र, राजा नल, महाराज युधिष्ठिर आदि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। महाराजा प्रतापसिंह का दृष्टान्त युद्ध में पराजय के लिए है।

इस प्रकार राजा राष्ट्रीय कोश का उपयोग राष्ट्ररक्षार्थ करेगा, षष्ठांश रूप व्यक्तिगत कोश भी राष्ट्रीय कोश का एक भाग है। दुर्भिक्ष, राष्ट्रविप्लव आदि आपातकाल में उसका भी उपयोग जनता के लिए किया जाएगा। अत एव किसी भी दृष्टि से दृष्टादृष्टपरक यज्ञानुष्ठान के लिए राजा कोश का उपयोग नहीं कर सकता। व्यक्तिगत कोश भी प्रजा से प्राप्त कर का ही षष्ठांश है। अत: उसको भी ''धर्मकार्य'' में लगाया जाना ''धर्मविरुद्ध'' है।

राजसूय, अश्वमेधादि विशाल परियोजनाओं की सिद्धि के लिए द्रव्य का व्यय किस कोश के अन्तर्गत है—

(क) **विश्वविजय**—ऐसे महानुष्ठानों की सम्पूर्णता के लिए सर्वप्रथम विश्व-विजय द्वारा कोश अर्जित किया जाता है।

(ख) **विशेषोपाय**—जैसे राजा मरुत्वत ने हिमालय के स्थान विशेष से धन-संग्रह किया था।

(ग) **अन्य उपाय**—त्यक्त धन अथवा खननादि के द्वारा अर्जित द्रव्य से कोश-संग्रह किया जा सकता है।

अर्जित सम्पत्ति पर स्वत्वाधिकार

सम्पत्ति के दो रूप हैं—

सम्पत्ति

पैतृक — अर्जित

(क) पैतृक सम्पत्ति कुलक्रमागत है, जिसका अधिकार पुत्र-पौत्रादि में निहित है।

(ख) अर्जित सम्पत्ति अर्थात् स्वसामर्थ्य से अर्जितं एवं इसका स्वत्वाधिकारी व्यक्तिनिष्ठ होने से अधिकारी यथेच्छ रूप से विनियोग कर सकता है। ऐसी सम्पत्ति पुत्र को अथवा किसी अन्य न्यासादि को भी दी जा सकती है—यह अधिकारी की इच्छानुसार है; परन्तु पैतृक सम्पत्ति में पुत्र का ही अधिकार है।

अश्वमेध के प्रसंग में अधिकारी अपनी अर्जित सम्पत्ति का प्रयोग करेगा, कुलक्रमागत राष्ट्रीय सम्पत्ति का प्रयोग नहीं करेगा। अत: एकाश्वमेध, दशाश्वमेध, शताश्वमेध का प्रसंग ही क्यों न हो, उससे राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक पण भी व्यय नहीं होगा, वरन् उसकी श्रीवृद्धि ही होगी। यद्यपि विश्वविजयादि द्वारा अर्जित सम्पत्ति अश्वमेधादि महान् अनुष्ठानों में व्यय होने पर राष्ट्रीय स्थायी कोश का व्यय तो नहीं होगा; परन्तु वृद्धि कैसे होगी—इस सन्दर्भ में यह मन्तव्य है कि अश्वमेधयज्ञ का सम्पूर्ण काल वर्षपर्यन्त है एवं इस अवधि में अर्जित सम्पत्ति का ही इसमें प्रयोग होगा और उतने दिन राष्ट्रीय कोश का प्रयोग न होने से श्रीवृद्धि होगी।

अश्वमेधयज्ञ और वर्तमान विश्व बैंक

अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में विश्वविजय के द्वारा अर्जित राशि को आज की भाषा में एक शब्द में ''विश्व बैंक'' कह सकते हैं। पूँजी विकेन्द्रीकरण की सर्वथा आवश्यकता होने पर भी केन्द्रीयकरण के बिना कोई भी विशाल योजना सार्थक नहीं हो सकती।

भारतीय स्वतन्त्रता के बाद कलकत्ता स्थित मेट्रो ट्रेन विश्व बैंक की देन है। वस्तुत: बैंकिंग ही संगृहीत सम्पत्ति का सदुपयोग है।

अश्वमेधयज्ञ का भी यही रूप है। अत एव अश्वमेधयाजी सम्राट् का राजदरबार आज के परिप्रेक्ष्य में यू०एन०ओ० का रूप है एवं उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति World Bank है। आज यद्यपि ये संस्थाएँ भारत के बहिर्भूत हैं, अवश्य ही भारत उनका सदस्य है; परन्तु आर्ष शासनाधीन सम्पूर्ण भारतवर्ष में (मात्र भारतसंघ में नहीं) उक्त महासभाएँ आनुवंशिक क्रम से सुयोग्य अधिकारियों के अधीन विद्यमान थीं एवं उसी के आधार पर पुरुषानुक्रम से विश्व राजनीति संचालन का गौरव भारतीय समाज को प्राप्त था।

अश्वमेधयज्ञ का धर्मशास्त्रीय अध्ययन

यद्यपि ''धर्मशास्त्र''[१] एक व्यापक विषय है। इसमें समाज, नीति, अर्थ, दण्डशास्त्र आदि सभी का समन्वय है। एक शब्द में धर्मशास्त्र अर्थात् संविधान; परन्तु वर्तमान समय में धर्मशास्त्र का व्यवहार अत्यधिक सीमित अर्थ में हो रहा है, जिसमें वर्णाश्रमाभिमानी आचार परम्परा मात्र पर्यवसित है। इसमें भी

१. अत्र च धर्मशब्द: षड्विध: स्मार्तधर्मविषय:, तद्यथा—वर्णधर्म:, आश्रमधर्म:, वर्णाश्रमधर्म:, गुणधर्म:, निमित्तधर्म:, साधारणधर्मश्चेति। (द्र०, या०स्मृ०, मिताक्षराव्याख्या १.१)।

आश्रम-व्यवस्था प्रायः अस्वीकृत है एवं वर्ण-व्यवस्था में भी वर्णाभिमान मात्र रह गया है। वर्णानुरूप वृत्ति अर्थात् जीविका यह धर्मशास्त्र का एक बाह्य रूप है, वह भी सम्प्रति स्थानभ्रष्ट हो चुका है। वर्णानुरूप साधना, मन्त्रदर्शन, मन्त्रचैतन्य आदि का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नामस्मरण मात्र है। इस प्रकार सम्प्रति प्रचलित रूप में वर्णाश्रमधर्म, वर्णाश्रमाभिमान में पर्यवसित होकर वर्णाश्रमाभास मात्र रह गया है, जिसका कुत्सित रूप जातिवाद में परिणत होकर, समाज में संघर्ष के रूप में अपने को उपस्थित कर रहा है।

वर्णाश्रमधर्म और जातिवाद का पृथक् रूप पूर्व में विवेचित है। यहाँ संक्षेप में धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से अश्वमेध महायज्ञ के प्रसंग में विवेचन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि जन्म से क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न, विश्वविजयी सम्राट् अश्वमेध का अनुष्ठान करेगा। जन्मतः क्षत्रिय[१] होने के कारण अश्वमेधाधिकारी द्विज होता है। द्विजों के लिए धर्मशास्त्र में कतिपय संस्कार अनिवार्यतया अपेक्षित हैं। संस्कारों के अनेक भेदों में मुख्य भेद इस प्रकार हैं[२], यथा—

१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नाम-करण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकरण, ९. उपनयन, १०. विवाह।[३]

इनके बिना श्रौतपरम्परा का निर्वाह शिष्टपरम्परा में, कार्य-कारणरहित होने से अवैज्ञानिक है। सम्प्रति मात्र उपनयन और विवाह संस्कार ही दृग्गोचर होता है, वह भी बहुलांश में "उत्सव" के रूप में। धर्मशास्त्रानुसार उक्त समस्त संस्कारों में "नान्दीश्राद्ध" आदि के द्वारा संस्कार्य व्यक्ति के पूर्व पुरुषों से सम्बन्ध को प्रकट किया जाता है।

संस्कारों के विषय में यह मन्तव्य है कि धर्मशास्त्र के अनुसार पूर्व-पूर्व संस्कार के पश्चात् उत्तरोत्तर संस्कारों का कार्य-कारणभाव निश्चित है, अर्थात्

---

१. जन्मतः क्षत्रियत्वसिद्धिः कथम्? इति पूर्वं निरूपितम्।

२. "संस्कारफलं तु याज्ञवल्क्य आह—तथा हि गर्भाधानादिभिः संस्कारकर्मभिः कृतैः एनः = पापं समं याति। किम्भूतम्? बीजगर्भसमुद्भवम् = शुक्रशोणितसम्बद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिनिमित्तं न तु पतितोन्नतत्वादि। (द्र०या०स्मृ० मिताक्षराव्याख्या, १.१३)।

३. एते च द्वे पुंसवनसीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात् सकृदेव कार्ये, न तु प्रतिगर्भम्। तथाह देवलः—सकृत्तु संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता।
यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत् ।। (या०स्मृ०, आचाराध्याय, १२.१४.५२)

पूर्व संस्कारों के अभाव में उसके बाद वाले संस्कार नहीं हो सकते, इन सभी संस्कारों का निश्चित समय है। यथा—

१. ऋतुकाल में गर्भाधान
२. गर्भस्पन्दन होने पर पुंसवन
३. गर्भकाल के षष्ठ, अष्टम मास में सीमन्तोन्नयन
४. प्रसवोपरान्त नाभिच्छेदन से पूर्व जातकर्म।
५. सूतकाशौचानन्तर नामकरण।
६. चतुर्थ मास में निष्क्रमण।
७. षष्ठ मास में अन्नप्राशन।
८. अयुग्म वर्ष एवं अयुग्म मास में चूड़ाकरण।
९. क्षत्रिय का ११-१२ वर्ष की अवधि में यज्ञोपवीत।
१०. २५ वर्ष की आयु के उपरान्त विवाह।[१]

इस प्रकार धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण अर्थात् श्रौत-स्मार्त-परम्पराप्राप्त शिष्टाचारानुसार मात्र अभिषिक्त क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न होने से ही अश्वमेध यज्ञानुष्ठान की स्वरूप-योग्यता प्राप्त नहीं होती; अपितु यह यज्ञ भी अन्य श्रौतप्रयोगों के समान सपत्नीक अनुष्ठेय होने के कारण विधिवत् विवाहित होना अनिवार्य है।[२] पूर्व में विवेचित है कि पूर्वोक्त सभी संस्कारों में उत्तरोत्तर संस्कारों के अनुष्ठान के प्रति कारण है। अत एव अश्वमेधाधिकारी का विवाहित होना अपेक्षित है, अतः यज्ञोपवीत धारण भी अनिवार्य है, इसके लिए पूर्व-पूर्व संस्कार भी अपेक्षित हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर अश्वमेधयाजी को न्यूनातिन्यून दशविध संस्कारसम्पन्न होना चाहिए।[३]

सभी संस्कार संस्कार्य व्यक्ति के अभिभावक के द्वारा अनुष्ठेय होते हैं। पिता का अधिकार तभी होगा, जब वह संस्कारसम्पन्न होगा; यथा—पतित-सावित्रीक जन्ममात्र ब्राह्मण पुत्र को मन्त्रोपदेश नहीं कर सकता।[४]

---

१. अश्वमेधयज्ञे च पत्नीचतुष्टयी अपेक्षिता। (श०ब्रा०, १३)
२. तथा चोक्तम्—"सस्त्रीको धर्ममाचरेत्"। (म०स्मृ०)
३. दशविध इति—"अधिकन्तु न दोषाय" इति नीत्यनुसारं दशाधिक-संस्कारवत्त्वं तु साध्वेव। तत्र च वेदारम्भ-विद्यारम्भ-पंचगव्यासन-केशान्त-समावर्तनप्रभृतयः संस्कारा ग्राह्याः।
४. एतत् समाधानार्थं बहुत्र मन्त्रोपदेशसंस्कारादयः पुरोहितैः कार्यन्ते, तेषाम् अविच्छिन्न-संस्कारवत्त्वेन दोषाभावात्। तेषामपि क्वचित् पतितसावित्रीकत्वे पुरोहितान्तरं मृग्यम्।

इस प्रकार धर्मशास्त्र के अनुसार न्यूनातिन्यून दशविध संस्कारसम्पन्न, वंश परम्परा में दशविध संस्कारसम्पन्न माता-पिता से क्षत्रिय में उत्पन्न सम्राट् "अश्वमेध" का अधिकारी है।[१] यही धर्मशास्त्रीय पक्ष है।

अश्वमेधयज्ञ का नीतिशास्त्रीय अध्ययन

पूर्व प्रसंगों में राजनीतिक दृष्टि से अश्वमेधयज्ञ का विवेचन किया गया है। यहाँ पर नीति अर्थात् कूटनीतिक दृष्टि से अश्वमेध का विवेचन प्रस्तुत है।

कूटनीतिक दृष्टि से "अश्वमेधमहायज्ञ" एक अत्यन्त उपादेय परियोजना है। इस तथ्य के ज्ञान के लिए शासनसूत्र में कूटनीति की उपयोगिता ध्यातव्य है। कूटनीतिक भाषा में इसको "**दाण्ड्यकार्मिकम्**" शब्द से कहा गया है। आचार्य चाणक्य के अनुसार—

"स्वपक्षे परपक्षे वा तूष्णीं दण्डं प्रयोजयेत् ।
आयत्यां च तदात्वे च क्षमावानभिशाङ्कितः ।।"[२]

कूटनीतिक दृष्टि से शासक अवश्य ही पारिवारिक-कलह, राजकर्मचारी-कलह, मन्त्रिपरिषद्-विद्रोह, युवराज-वैमनस्यादि अन्तः कलहों से ग्रस्त होने पर स्थायी शासन प्रदान करने में असमर्थ होगा, जबकि अन्ताराष्ट्रिय सुख-शान्ति के लिए सुरक्षा का दृढ़ उपाय तभी होगा, जब सुदृढ़ स्थायी शासन होगा।

ऐसे विभिन्न पारिवारिक स्वजनवैमनस्यरूप दुष्प्रसंग के उपस्थित होने पर, तत्पूर्व ही राजा को तन्निवारणार्थ सक्रिय होना चाहिए। अन्यथा स्वजन पक्ष स्वानुकूल न होने पर शत्रु विजय के बाद भी स्वराज्य में ही विद्रोह का सामना करना पड़ सकता है।

साम्प्रतिक परिवर्तनशील विश्वराजनीतिक घटनाचक्र में महाशक्तिसम्पन्न राष्ट्र में भी स्वजन विद्रोह का विषम परिणाम परिलक्षित होता है।[३] आर्ष परम्परा में सुरथ राजा के राजनीतिक जीवन में यह स्पष्ट है कि शत्रु विजय के बाद अपने ही अमात्य वर्ग के विद्रोह का सामना करना पड़ा था, जिसके फलस्वरूप

---

१. माता इति। स्त्रीणां विवाहादन्यत्र सर्वे संस्काराः तूष्णीमेव भवन्ति, तदुक्तम्—"तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः"। (या०स्मृ०, १.१३)

२. द्र०, कौटिल्य अर्थशास्त्र, "योगवृत्तप्रकरणम्"।

३. द्र०, "सप्तशती", राजा शशांशशेखरकृत राजनीतिक वंगभाषात्मक व्याख्यायुक्त संस्करण, प्रथम अध्याय।

राजभ्रंश तक हुआ था।[१] यदि सम्राट् उक्त विषम परिस्थिति के निवारणार्थ दण्डप्रयोग करता है, तो अत्यधिक हास्यास्पद स्थिति होगी। अत एव कूटनीतिक स्तर पर इसका समाधान हो सकता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में शासक अपने सम्पूर्ण पक्ष-विपक्ष, बलाबल को विचार करके किसी दीर्घकालीन राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रिय परियोजना की घोषणा करता है, जिससे सम्पूर्ण राजपरिवार एवं राष्ट्रीय स्तर पर स्वतः ऐक्य स्थापित हो जाय।

वर्तमान राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रायः देखा जाता है कि अनेक माननीय शासक वर्ग देश में व्याप्त समस्याओं से जनता के ध्यान को विकर्षित करने के लिए निर्वाचन घोषणा, आयोग समिति का आदेश, विदेशी आक्रमण का भय आदि राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रिय स्तर की दीर्घकाल में समाधेय या सम्भवतः असमाधेय विधाओं का प्रयोग करते रहते हैं। इससे दलगत एकता और राष्ट्रीय एकता स्वतः स्थिर रहती है। इस दृष्टि से भी "अश्वमेध महायज्ञ" जैसी दीर्घकालिक परियोजनाओं का आयोजन विषम परिस्थितियों के निवारणार्थ सम्भव है।

राजा का अमात्य वर्ग मन्त्रिपरिषद् आदि भी युवराज या महारानी से संकेतित होकर विद्रोह की योजना बना सकते हैं। "Empty mind Devil& workshop—" इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार यदि व्यक्ति और समाज हर समय कार्य में व्यस्त रहे तो व्यर्थ या अनर्थ विचार परम्परा का उद्भव नहीं होगा। इसमें भी व्यक्तित्व एवं स्वरूप के अनुरूप भी चिन्तन, मनन स्वाभाविक है। यथा पुण्यश्लोक महामना द्वारा विश्वविद्यालय स्थापना, तिलक द्वारा स्वराज्यान्दोलनस्थापना, विवेकानन्द, अनागारिक, महास्थविर, धर्मपाल, केशवचन्द्रसेन आदि के द्वारा विश्व में हिन्दूधर्म प्रचार, विद्यासागर, राममोहन राय द्वारा स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में उन्नयन, वासवाचार्य द्वारा हिन्दू की सामाजिक स्थिति की दृढ़ता हेतु महान् संकल्प सिद्ध हुए हैं। इसी प्रकार अभिषिक्त सम्राट् के मन में कूटनीतिक दृष्टि से भी उपर्युक्त प्रयोजन के लिए अश्वमेधादि योजना स्वीकृत होने पर ही इस महासंकल्प के द्वारा जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वपूर्ण स्थायी एवं सुदृढ़ शासन परम्परा की स्थापना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य की सिद्धि से स्वच्छ समाज का निर्माण होगा।

अश्वमेधयज्ञ का मनोविज्ञानशास्त्रीय अध्ययन

सम्भवतः मनोविज्ञान विषय विचारधारा से प्रभावित है; परन्तु मूलतः यह विषय आर्ष है। अनुमान, उपमान आदि को छोड़कर सर्वाधिक स्थूल

---

१. स्वजनविद्रोहविषये मन्थराकर्तृको कैकेय्याः शत्रुकर्तृको दुयोधनस्य च भेदः इतिहासप्रसिद्ध एव। एवं कंसकर्तृकः पितृविरोधः, जरासंधकर्तृकं कालयवनाश्रयणम् इत्यादिकं सार्वजनीनमिति दिक्।

प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में भी वेदप्रामाण्यवादी दर्शनों की स्पष्ट विधि है। "**आत्ममनस्संयोगानुकूलव्यापारविशिष्टेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानं प्रत्यक्षम्**।" यह युक्तयोगज-प्रत्यक्ष, युञ्जानयोगज-प्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणादि ज्ञान में भी अवधृत है।[१] अनुमानादि प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक ही हैं। अत: वे भी मनोवैज्ञानिक कोटि के अन्तर्गत हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यद्यपि मनोविज्ञान एक विषय विशेष के रूप में अधीत हो रहा है; परन्तु ज्ञेयमात्र मनोविज्ञान के अन्तर्गत है। अत एव अश्वमेध महायज्ञ विषय इसमें सुतरां प्रविष्ट है। पूर्व में कार्यमात्र के प्रति मन की कारणता निरूपित है। अत: मनोनिवेशाभाव में कार्यानुपपत्ति भी स्वत: सिद्ध है। आचार्य गौतम के शब्दों में— "**युगपज्ज्ञानानुपपत्तिः मनसो लिङ्गम्**"।[२]

श्रौत प्रयोग में मनस् अर्थात् मन से सम्बन्धित अत्यधिक सामग्री उपलब्ध है, जिसका पर्याप्त विवेचन सर्वथा उपयोगी होने पर भी प्रकृत में अप्रासंगिक है।

उपर्युक्त शास्त्रों में मनोजय की प्रक्रिया का भी वर्णन है एवं "जितमना" व्यक्ति ही मनस्वी कहलाता है; परन्तु मन पर विजय हठात् नहीं हो सकता, इस पर विजय पाना वायु पर विजय प्राप्त करने के समान है। अश्वमेध के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक बिन्दु पर विचार करने पर सर्वप्रथम संकल्परूपी सम्पत्ति को आयत्त करना पड़ेगा। किसी भी लघु या बृहद् कार्य की क्रियात्मकता के पूर्व जो क्रियात्मकतानुकूल मनोनिवेश प्राप्त होता है, वही संकल्प है एवं इस संकल्प के द्वारा संसार में महानतम ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुआ है। अश्वमेध, राजसूय जैसी दीर्घकालीन राष्ट्रीय परियोजना के साथ पृथु के द्वारा पृथ्वी का कृषियोग करण, भगीरथ द्वारा गंगानयन आदि पौराणिक कार्य एवं आधुनिक विश्व में मार्क्स एवं लेनिन के द्वारा विश्व स्तर पर उद्योगों के लाभांश में श्रमिकों की भागीदारी, दोनों जर्मनी का एकीकरण आदि कालजयी कार्य मानसिक दृढ़ संकल्पमूलक अध्यवसाय का ही सत्फल है। वस्तुत: क्रियात्मकता के पूर्व जो मानस कार्य होता है, उसी को संकल्प कहते हैं।[३] कार्य के पूर्व मानसिक स्थिति को संकल्प कहते हैं; परन्तु शिष्ट परम्परानुसार सत्कार्य के प्रति मन से समर्पण को ही संकल्प कहते हैं। वेद में इसलिए संकल्पसूक्त के लिए "शिवसंकल्पसूक्त" शब्द का प्रयोग किया गया

१. तदुक्तम्—
योगजो द्विविध: प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदत:।
आद्यस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतो पर:।। (कारिकावली, योगजप्रत्यक्षप्रकरणम्)

२. द्र०, आचार्यगौतमप्रणीतं न्यायसूत्रम्।

३. तदुक्तम्—"संकल्प: कर्म मानसम्" द्र०, अमर० १.५.२।

है।[१] यहाँ शिव शब्द स्वरूप परिचायक है, व्यावर्तक नहीं है। अश्वमेध महायज्ञ के प्रसंग में यह सिद्ध होता है कि इसका अधिकारी सम्राट् अत्यधिक सत्त्वगुणातिशायी होगा। तभी अश्वमेध महायज्ञ जैसी दृष्टादृष्टोभयसाधक, दीर्घकालीन परियोजना में अपना मनोनिवेश कर सकता है एवं षोडश कलात्मक मन का अर्धभाग अर्थात् अष्टकलापर्यन्त मन को समर्पित कर देने के पश्चात् कार्यों का आरम्भ सम्भव है। आगम की दृष्टि से यही अष्टमी तिथि की स्थिति है।[२] इसी का संकेत करने के लिए अश्वमेध का प्रारम्भ काल ऋषियों ने अष्टमी या नवमी तिथि को विहित किया है।[३]

अश्वमेधयज्ञ का समाजशास्त्रीय अध्ययन

आज समाजशास्त्र जिस रूप में प्रचलित है, वह भी बहुलांश में पाश्चात्त्य-प्रभावित है। सम्प्रति विश्व राजनीति में भी समाजशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्षपरिपाटी के अनुसार यथायोग्य विभाग को कुछ समालोचक यथास्थितिवाद स्वीकारते हैं; परन्तु यथायोग्य विभाग ''यथास्थिति-वाद'' नहीं है, अपितु यथार्थ-स्थितिवाद है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अश्वमेध अध्ययन का केन्द्रबिन्दु है—''आर्थिक विकेन्द्रीकरण''। पूँजीवाद के निवारणार्थ यह उत्तम उपाय है। व्यक्तिविशेष के अधिकार में अमर्यादित सम्पत्ति का स्वत्व न होने देना ही इसकी उपलब्धि है। वस्तुतः व्यक्ति के स्वत्व सम्पत्ति नियन्त्रण के विषय में आचार्यों का कथन है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् सत्त्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।।[४]

धर्मशास्त्र अर्थात् आर्ष समाजशास्त्र के अनुसार आर्थिक विकेन्द्रीकरण का एक दूसरा पक्ष है—पञ्चमहायज्ञ। इसके अन्तर्गत भूतमहायज्ञ, बलिवैश्वदेव के द्वारा अज्ञात अपरिचित मनुष्य की सेवा एवं सामाजिक पशुओं की उदरपूर्ति का विधान है। इसका एक कूटनीतिक पक्ष भी है, जो कि सम्राट् जैसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के लिए परमावश्यक है। सम्राट् का भोजन पूर्व-परीक्षित होना चाहिए, इस सन्दर्भ में कतिपय पशु-पक्षियों में विष-प्रयोगादि की सद्यः प्रतिक्रिया ध्यातव्य है। तित्तिरादि की अतिशय चक्षुरागादि बातें प्रसिद्ध

१. द्र०, शिवसंकल्पसूक्तम्, शु०य०वे० ३४ अध्याय।
२. (क) सौन्दर्यलहरी लक्ष्मीधरभट्टकृतव्याख्या, (ख) तन्त्रसार, अभिनवगुप्तपाद।
३. द्र०, (क) का०श्रौ०सू०, २०.१.२, (ख) श०ब्रा०, १३.४.१.४।
४. इति पूर्वाचार्यैः।

हैं। यद्यपि यह सम्राट् का कूटनीतिक प्रयोग है; परन्तु समाजशास्त्र की लक्ष्यभूत आर्थिक विकेन्द्रीकरण की भावना इसमें निहित है। समाजशास्त्रानुसार कृष्णधन का निरोध आवश्यक है, जिसके लिए भी आर्थिक विकेन्द्रीकरण अवलम्बनीय है। अश्वमेधयज्ञ जैसी दीर्घकालीन परियोजनाएँ इसके लिए सर्वथा उपयुक्त हैं, क्योंकि इनमें दिग्दिगन्त से प्राप्त प्रभूत द्रव्यराशि का विनियोग होता था, जिसमें प्रधान ऋत्विक् अध्वर्यु से लेकर सभी राजकर्मचारियों को आर्थिक उपलब्धि होती थी।

वस्तुत: यज्ञ आर्थिक विकेन्द्रीकरण की प्रयोगशाला है, जिसमें वेदि-निर्माणार्थ भूमिशोधन से आरम्भ कर समस्त कार्य विहित हैं। इसमें ब्राह्मणादि चारो वर्णों को वृत्ति अवश्य प्राप्त होती थी, साथ ही समाज के सभी वर्गों के सामाजिक सम्मेलन का आयोजन भी इसमें विहित है, साथ ही स्त्रियों का भी इस यज्ञ में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्राट् की प्रधान महारानी महिषी से लेकर दूतपुत्री तक का इसमें निवेश है।

इस प्रकार समाजशास्त्र की अन्तिम उपलब्धि, जो "मानवतावाद" के रूप में व्याख्यात है, उसका प्रकट रूप अश्वमेध महायज्ञ में दृग्गोचर होता है।

अश्वमेधयज्ञ का युद्धशास्त्रीय अध्ययन

विश्वराजनीति का इतिहास युद्धों से रिक्त नहीं है। सृष्टि से लेकर अद्यावधि विश्व में जितने भी राष्ट्र या राज्य का निर्माण, विभाजन, उन्नति, अवनति आदि हुए हैं, उनमें प्राय: सर्वत्र ही युद्ध कारण है।

युद्धशास्त्रीय दृष्टिकोण से अश्वमेध का अध्ययन सम्पूर्ण अश्वमेध के स्वरूप में व्याप्त है। युद्ध के पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क हैं; परन्तु भारतीय मनीषा ने युद्ध को क्षत्रियधर्म[१] माना है। अत एव क्षत्रियशरीराधिष्ठित जीव के लिए युद्ध न करना अधर्म है। भारत की पराधीनता एवं तदन्तर्गत अनेक राज्यों की विशृङ्खलता आदि में अधर्म अर्थात् युद्ध न करना ही कारण है।

१. (क) शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। (गीता, १८.४३)

(ख) शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेज: त्यागश्चात्मजय: क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्रलक्षणम् ।। (भा०पु०, ७.११.२२)

(ग) प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियाणां समासत: ।। (म०स्मृ०, १.८९)

"व्याप्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाऽवच्छिन्नातिरिक्तत्वेन व्यापक-शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने संकोचः।[1]

यह नव्य वैयाकरणों की मान्यता है। तदनुसार व्यावहारिक जगत् में नित्य सन्ध्या-वन्दनादि व्यापक विधि है[2], शत्रुविजयादि व्याप्य विधि है। इस प्रसंग में यदि पूर्वोक्त नियम के अनुसार शत्रुविजयादि व्याप्यविधि प्रसंग में दैनिक सन्ध्या-वन्दनादि व्यापक विधि में शासक संकोच नहीं करेगा, तब अधर्म होगा एवं इसका फल सम्पूर्ण राष्ट्र को वहन करना पड़ेगा। प्रसिद्धि के अनुसार सन्ध्या-वन्दनादि के प्रसंग में भारत सम्राट् का अत्यन्त हीन, छलछद्मसमन्वित, दुर्बल, विधर्मी, विदेशी, युद्धमर्यादारहित, अनार्य, शासकाभास आक्रामकों द्वारा बन्धनात्मक पराजय आर्ष सिद्धान्तानुसार क्षत्रियोचित युद्धात्मक धर्महीनता का अत्यधिक प्रकट दृष्टान्त के रूप में उपस्थित होकर, दुखःद इतिहास का मर्मन्तुद प्रसंग सामने है। इस प्रसंग में दिल्ली सम्राट् महाराज पृथ्वीराज एवं काशीनरेश महाराज चेतसिंह आदि की पराजय का दुःखद प्रसंग अवश्य ही शिक्षाप्रद है। प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि शरणार्थी की रक्षा करना अवश्य ही क्षत्रियधर्म है; परन्तु शरणार्थी एवं आततायी समान नहीं हैं; अपितु एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। जिस प्रकार शरणार्थी अवश्य ही रक्षणीय है, उसी प्रकार आततायी अवश्य ही हन्तव्य है। स्मृतिकारों के शब्दों में—

गुरुं वा बालवृद्धं वा आचार्यं वाऽपि पण्डितम् ।
आततायिनमायान्तं[3] हन्यादेवाविचारयन् ।।

---

१. उत्सर्गापवादन्यायोऽपि एतद्रूप एव; तत्रापि अपवादशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन उत्सर्गशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने संकोचः। तत्र उत्सर्गो व्यापकः, अपवादो व्याप्यः "कर्मण्यण्" इति उत्सर्गः, "आतोऽनुपसर्गे कः" इति अपवादः। यथा वा "आद्गुणः" इति व्यापको विधिः, "वृद्धिरेचि" इति व्याप्यो विधिः। गुणस्य अच्परकत्वेन, वृद्धेश्च अच्त्वनिष्ठ-व्यापकतानिरूपितव्याप्यताके, च परकत्वेन विधीयमानत्वात्। तत्र संकोचरूपोक्तनियमास्वीकारे अपवादविषयेऽपि उत्सर्गशास्त्रप्रवृत्तौ विकल्पापत्त्या "देवैश्वर्यम्" इत्यादौ नित्यवृद्धिप्रसंगेऽपि गुणप्रवृत्तौ सत्याम् अशुद्धरूपप्रसङ्गापत्तेरिति दिक्।

२. तदुक्तम्—
"नित्यं संक्षेपतः कृत्वा सन्ध्यायां स्वप्रयत्नतः"।
(प०पु०, उत्तरखण्डस्थ-श्रीमद्भागवतमाहात्म्यश्रवणविधिप्रसंगः)

३. आततायिन इति। आततेन विस्तीर्णेन शस्त्रादिना अयितुं शीलमस्य। यथा बृहस्पतिः— "नाततायिवधे हन्ता किल्विषं प्राप्नुयात् क्वचित्। विनाशार्थिनमायान्तं घातयन्नापराध्नुयात्।।" तथा "नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।" "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्नापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः।"

वस्तुतः आततायी शरणार्थी के रूप में आकर ही राष्ट्र को धोखा देता है। दोनों के भेदज्ञान के लिए यह विवेक करणीय है कि शरणार्थी सर्वस्व छोड़कर स्वतः प्रवृत्त होकर दण्डप्रयोग के पूर्व, निरस्त्र, निर्व्याज चित्त से अपने को बिना शर्त, बिना स्वार्थ शरण-प्राप्ति मात्र के लिए समर्पित करता है, यथा विभीषण आदि। अपरत्र असकृत् हत्या, विष प्रयोग, आक्रमणादि करने पर भी अपनी असफलता को छिपाने के लिए युद्ध में पराजय की स्थिति में कूट दुरभिसन्धिमूलक दूषित चित्त से समयान्तर में छिद्रान्वेषणपूर्वक धोखा देकर, व्यक्ति आभास रूप में शरणार्थी बनने पर भी वह अवश्य ही दण्डनीय है। यथा—महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी आदि। इन दोनों का प्रकट भेद-विवेक न होने से ही इतिहास मे अनेक दुःखद प्रसंग हैं। उपयोगिता पक्ष के आधार पर युद्ध के दो प्रकार हैं—(क) आक्रमणात्मक, (ख) रक्षात्मक।

प्रथम स्थिति प्रबल पक्ष के लिए है। द्वितीय स्थिति दुर्बल पक्ष के लिए है। अश्वमेधयाजी सम्राट् के लिए द्वितीय का कोई प्रसंग नहीं है। प्रथम पक्ष भी वास्तव में रक्षात्मक ही है; क्योंकि स्वापेक्षया अधिक बलवान् से विजित होने पर भी, किसी अन्य की ओर से भय, शंका नहीं होगी।

युद्ध के प्रकार

स्थल **नभ** **जल**

जलयुद्ध

समुद्रयात्रा चिरकाल से एक विवादास्पद विषय है।[१] तान्त्रिक वाङ्मय में समुद्र यात्रा के विवरण की उपलब्धि प्राप्त होती है।[२] सप्तशती में भी महासमुद्र में जहाज यात्रा का प्रसंग है।[३] युद्ध के विषय में युद्धक विमानों के अन्तर्गत त्रिपुरविमान एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसमें तीन पुर = (three parts) होते थे। तीनों संयुक्त रूप से आकाश में उड़ते थे एवं पृथक् रूप से भी प्रत्येक पुर जल, स्थल और आकाश में उड़ने में समर्थ था। जल के ऊपर एवं जल के अन्दर पनडुब्बी के रूप में व्यवहार होता था। जल के अन्दर चलने की स्थिति में यात्रियों के श्वास-प्रश्वास के लिए एक विशेष यन्त्र संयुक्त किया जाता था।

१. द्र०, (क) मधुसूदनविद्यावाचस्पति ''प्रत्यन्तप्रस्थानमीमांसा''।
(ख) ''समुद्रयात्रा—शास्त्रीयपक्ष'' लेखक करपात्री स्वामी।

२. द्र०, ''मालिनीतन्त्रम्'' समुद्रयात्रोपायहेतुः (सौन्दर्यलहरी, लक्ष्मीधर भट्टाचार्य व्याख्या)

३. ''स्थितः पोते हार्णवे''—सप्तशती द्वादशाध्याय।

इसको "**शीतकारी यन्त्र**" कहते थे। एकीकृत रूप से आकाशचारी अवस्था में तीनों पुर एक-दूसरे के ऊपर संयुक्त होते थे। इस प्रकार प्रथम पुर (first part) की अपेक्षा द्वितीय पुर (Scond part) एवं द्वितीय पुर की अपेक्षा तृतीय पुर (third part) क्रमशः बड़ा होता था एवं इसके संचालन में किसी भी बाह्य उपकरण की अपेक्षा नहीं होती थी; अपितु सौर ऊर्जा से ही सम्पूर्ण यान सञ्चालित होता था। यथा—

"भास्करांशुसमुद्भूतशक्त्या संचोदितं भवेत्।"[1]

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि किसी भी अश्वमेधयाजी सम्राट् के द्वारा "त्रिपुर विमान" के प्रयोग का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार शाल्व का सौभविमान, उपरिचरवसु का विमान भी वर्णित है; परन्तु ये कोई भी अश्वमेधयाजी नहीं थे।

नभयुद्ध

इस युद्ध के दो रूप हैं। राक्षसों का मायामय नभयुद्ध एवं वैमानिक नभयुद्ध। प्रथम का प्रयोग अश्वमेधयाजी आर्य राजाओं के विषय में असम्भव है। द्वितीय के प्रसंग में अश्वमेधयाजी श्रीरामचन्द्र ने पुष्पक विमान का प्रयोग किया था।

विमान शब्दार्थ

वि + मान = विमान; वि = पक्षी, यहाँ "वि" शब्द लक्षणया "पक्षिगति" वाचक है। पक्षियों के गतिसाम्य के आधार पर ही "विमान" नामकरण हुआ है।[2]

पुष्पक-विमान

आर्ष विमानों का नामकरण, उसका अभियन्त्रण प्राविधिकी के आधार पर एवं वर्ण, आकार आदि के आधार पर होता है, जैसे पक्षी से साम्य स्वरूप वाले विमान को "शकुनिविमान", स्वर्णवर्ण वाले विमान को "रुक्म विमान",[3] दर्शनीय विमान को "सुन्दर विमान"[4]। इसी प्रकार पुष्प के समान आकार वाले विमान को "पुष्पक विमान"। वाल्मीकीय रामायण में पुष्पक विमान के प्रसंग

---

१. द्र० "यन्त्रसर्वस्ववैमानिकप्रकरणम्" महर्षि भारद्वाज प्रणीत।

२. द्र०, समराङ्गणसूत्रधारः।

३. द्र०, विमानो रुक्मवर्णत्वाद् नाम्ना रुक्म इतीरितः। (द्र०, बोधायनवृत्ति, यन्त्रसर्वस्व)।

४. द्र०, भारद्वाजप्रणीत यन्त्रसर्वस्व "वैमानिक-प्रकरण"।

में पुष्प शब्द का प्रयोग है।[१] अश्वमेधयाजी सम्राट् रामचन्द्र के अधिकार में यह विमान अवश्य था; परन्तु अश्वमेध[२] के सन्दर्भ में दिग्विजय प्रसङ्ग में इसका प्रयोग वर्णित नहीं है।[३]

स्थलयुद्ध

युद्ध का सर्वाधिक विशाल अंग स्थल सेना है। व्यूह रचना आदि के माध्यम से इस युद्ध की विशालता एवं भयंकरता सिद्ध है।

शस्त्रादि का प्रयोग—

(क) जिसके द्वारा युद्ध का सम्पादन होता है, वह शस्त्र कहलाता है।

(ख) जिसका युद्ध में प्रक्षेप किया जाता है, वह अस्त्र कहलाता है।

(ग) शस्त्रास्त्र के अन्य भी भेद हैं। यथा—

शस्त्र

दिव्यास्त्र — लौकिक अस्त्र

लौकिक अस्त्र, यथा—भल्ल, शक्ति, नाराच, शतघ्नी, गदा, प्रास, तोमर, बाण, खड्ग, छुरिका आदि प्रसिद्ध हैं।

दिव्यास्त्र का तात्पर्य

दिव्यास्त्र का कोई स्थूल स्वरूप नहीं होता। इसका प्रयोग प्रयोक्ता की व्यक्तिगत ब्रह्मचर्यात्मक स्थिति एवं मन्त्रचैतन्य, दोनों के शक्तिसम्पुटित समन्वय से होता था। वस्तुतः ब्रह्मचर्य एवं मन्त्रचैतन्य का सयुंक्त विशेष रूप ही 'दिव्यास्त्र' है। इसके प्रयोग के पूर्व प्रयोक्ता को पवित्र वातावरण में पूर्वाभिमुख आचमन, श्वास क्रिया की समतामूलक शक्त्याधान की क्षमता अर्जित करनी पड़ती थी। प्रसिद्ध ''गायत्रीमन्त्र'' से ही अनेक विधि संयुक्त होने पर विभिन्न दिव्यास्त्र प्रकट होते थे। यथा—

१. ब्रह्मास्त्र २. दण्डचक्र, ३. कालचक्र, ४. धर्मचक्र, ५. विष्णुचक्र, ६. इन्द्रचक्र, ७. वज्रास्त्र, ८. त्रिशूल, ९. ब्रह्मशिर, १०. ऐषीकास्त्र,

---

१. पुष्पम् इवेति पुष्पकम्, इवार्थे कन्।

२. ''पुष्पाह्वयं नाम महाविमानम्'' वा०रा०, सुन्दरकाण्ड।

३. द्र०, वा०रा०, उत्तरकाण्ड।

११. शिखर, १२. मोदकी, १३. धर्मपाश, १४. कालपाश, १५. वरुणपाश, १६. अशनि, (क) पैनाक, (ख) नारायणास्त्र, (ग) पाशुपतास्त्र, (घ) आग्नेयास्त्र, (ङ) दैवास्त्र, (च) वायव्यास्त्र, (छ) हयशिर, (ज) क्रौञ्चास्त्र, (झ) कंकालास्त्र, (ञ) मुसलास्त्र, (ट) कपालास्त्र, (ठ) गन्धर्वास्त्र, (ड) प्रस्वापनास्त्र, (ढ) प्रशमनास्त्र, (ण) सौर्यास्त्र, (त) सन्तापनास्त्र, (थ) रौद्रास्त्र।[१]

ये सभी अस्त्र मन्त्रात्मक होते थे तथा इनका प्रयोग एवं संहार भी किया जा सकता था।[२]

इसके अतिरिक्त स्थलयुद्ध के सैन्य सन्निवेश में पदाति, अश्व, रथ, हस्ति—ये चार प्रधान विभाग होते थे। इनके समूहों के क्रमशः पत्ति-गण-गुल्म-अनीक-वाहिनी आदि अनेक नाम होते थे एवं अन्तिम विशाल रूप को अक्षौहिणी कहते थे। सैन्यनिवेश को व्यूह कहते थे, इसके मध्य भाग में राजा, पृष्ठ में सेना, उभयपार्श्व सेना, विकट सेना एवं अग्रभाग में शहीदी जत्था रहता था।[३] व्यूहों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं[४]—

दण्ड-शकट-वराह-मकर-सूची-पद्म आदि। इनके अतिरिक्त शिलावर्षण-पांशु-शर्करा-वर्षण आदि अनेक युद्ध-क्रियायें प्रसिद्ध हैं।[५]

अश्वमेधयाजी सम्राट् अपने सेनावैभव, प्रभुत्व आदि के द्वारा सूचना के बिना हठात् आक्रमण नहीं कर सकता; अपितु अश्वमेध के प्रसंग में उसको दिग्विजय की घोषणा करनी पड़ती थी एवं ''ययु'' जाति के अश्व के ललाट पर स्वमुद्रांकित विजयपट्ट संयुक्त कर उसको सार्वजनिक करना पड़ता था कि उस अश्व का जो अवरोधन करेगा, वहीं पर युद्ध का प्रसंग आएगा। यद्यपि इस युद्ध का माध्यम अश्व अर्थात् 'पशु' होता था, इसलिए यहाँ किसी के प्रति रागद्वेष या पक्षपात का प्रसङ्ग नहीं था। अश्व का मार्ग राजनैतिक दृष्टि से निश्चित नहीं होता था। अर्जुन के दिग्विजय के प्रसंग में बभ्रुवाहन-जयद्रथपुत्रादि (पुत्र-भागिनेय) कई प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे सिद्ध है कि युद्धकर्ता

१. द्र०, अहिर्बुध्न्यसंहिता, चतुस्त्रिंशाऽध्याय।
२. द्र०, भा०पु०, प्रथम स्कन्ध।
३. द्र०, महा०भा०, आदिपर्व, २।२२-२६।
४. द्र०, वशिष्ठप्रणीत धनुर्वेदसंहिता, पृ० ६८।
५. द्र०, म०म० मधुसूदन विद्यावाचस्पति ''इन्द्रविजय'', मोतीलाल शर्मा ''वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्वम्''।

को अपनी सेना द्वारा सम्बन्धियों की राज्यसीमा में प्रविष्ट होकर भी युद्ध करना पड़ता था। चूँकि वर्षभर में अश्व परिभ्रमण कर वापस आता था, अत: किसी भी योद्धा द्वारा कालक्षेपादि नीति का अवलम्बन नहीं किया जा सकता था।

इस प्रकार युद्ध-शास्त्र के आधार पर अश्वमेधयज्ञ का अध्ययन एक प्रधान विषय है। सम्पूर्ण विवेचन एक पृथक् शोधनिबन्ध का आधार है। आर्ष भारत में युद्ध में भी छल-कपट का आश्रयण निन्दित है। रात्रि युद्ध को तामस एवं राक्षसी वृत्ति का कहा जाता है। प्रतिदिन सूर्यास्त के बाद युद्धविराम एवं युद्धकाल में भी ज्येष्ठ-कनिष्ठादि का मर्यादापालन आदि अनेक इसकी विशेषताएँ हैं। अवश्य ही इसमें अपवाद भी है; परन्तु अश्वमेध का एक धार्मिक रूप भी है। अत: इसमें छल-कपट के आश्रयण से अदृष्ट बाधित हो सकता है।

यह अवश्य ध्यातव्य है कि अश्वमेध महायाग के सन्दर्भ में, दिग्विजय प्रसंग में युद्ध का उद्देश्य राष्ट्र में स्थायी शान्ति की स्थापना ही है, जिससे आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं का शमन करके सांस्कृतिक वातावरण की दृढता सुरक्षित रहे। यह उक्ति प्रसिद्ध है—

"शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।"

सप्तम परिच्छेद

अश्वलक्षणाध्याय

अश्वमेधयज्ञ में अश्व का महत्त्व

अश्वमेध एक प्रतीकात्मक याग है। इसके प्रत्येक अंश का गूढ़ रहस्य है। यह भारतवर्ष का प्रख्यात यज्ञ है। सार्वभौम राजा चक्रवर्ती सम्राट् ही अश्वमेध का प्रथम कोटि का अधिकारी माना जाता था। अश्वमेध का आरम्भ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी से अथवा ज्येष्ठ मास की शुक्लाष्टमी से किया जाता था। आपस्तम्ब ने चैत्र-पूर्णिमा को इसके लिए उचित तिथि माना है।

मूर्धाभिषिक्त राजा यजमान के रूप में मण्डप में प्रवेश करता था और उसके पीछे उसकी चारों पत्नियाँ सुसज्जित वेश में गले में स्वर्ण निष्क पहनकर अनेक दासियों तथा राजपुत्रियों के साथ आती थीं। अश्वमेध का मुख्य नायक ''ययु'' जाति का उत्कृष्ट अश्व होता था। अश्वमेध का अश्व सुडौल, सुन्दर तथा दर्शनीय होता था। उसका शरीर अनेक प्रकार के उत्कृष्ट लक्षणों से युक्त होता था।

'अश्व' एवं 'मेध' पदों की व्याख्या तथा कोशगत व्युत्पत्ति एवं निष्कर्ष

अश्व शब्द की व्युत्पत्ति

१. अंशू व्याप्तौ स्वा०आ० सेट्, ''अशू-प्रुशि-लटि..'' (१.१५१) इति उणादिसूत्रेण क्वन्प्रत्ययः।

२. अश्नुते = व्याप्नोति मार्गम्; अशक्वन् = अश्वः पु०।[१]

३. अश्वः अर्थाद् घोटकः तत्पर्यायाः पीतिः, पानी वीतिः, घोटक्, घोटक, तुरगः, तुरंगः, तुरंगमः, वाजिः, वाहः, अर्वा, गन्धर्वः, हरः, सैन्धवः, सप्तिः।[२]

४. पीतिनाऽश्वे स्त्रियां पाने इति मेदिनी[३]।

५. अश्व = अश्नुते = व्याप्नोति अध्वानम् ''संशृप्रषिलटिकनिखांटशिभ्यः क्वन्'' (उणा. १.१४९.) इति अशु-धातोः क्वन्।[४]

---

१. द्र०, अमर०, २.८.४३; २. द्र०, वाच०।

३. द्र०, महेश्वरकृत अमरविवेकटीका, आर०के० भण्डारकर, दक्षिण कालेज, सं० १८९०।

४. नगेन्द्रनाथ वसु कृत 'हिन्दी विश्वकोश'।

इन समस्त व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि जो मार्ग को व्याप्त करता है, उसी को अश्व कहते हैं। अर्थात् "अश्व" वह सजीव यन्त्र है, जो मार्ग को नापता है।

अश्व शब्द का कोशशास्त्रीय अध्ययन[1]

अश्व शब्द के अनेक पर्याय हैं। यथा—

१. पीति, २. पीती, ३. घोटक, ४. वीति, ५. तुरंग, ६. घोटक्, ७. तुरंगम, ८. वाजि, ९. वाह, १०. अर्वन्, ११. गन्धर्व, १२. हय, १३. सैन्धव, १४. सप्ति, १५. अश्व, १६. तुरग।

निरुक्त में अश्व के अनेक अभिधान हैं। यथा—

१. हय, २. अर्वा, ३. वाजि, ४. सप्ति, ५. वह्नि, ६. दधिक्राह, ७. दधिकावा ८. एतग्वा, ९. अत्य, १०. एतस, ११. पैद्व, १२. दौगहि, १३. उच्चैःश्रवस, १४. तार्क्ष्य, १५. आशु, १६. व्रध्न, १७. अरुष, १८. मांसचत्वर, १९. अव्यध, २०. श्वेनास, २१. सुवर्णा, २२. पतगा, २३. नर, २४. भार्या, २५. हंसास, २६. अश्व।

विभिन्न देवताओं के अश्व नाम विशेष, यथा—

१. हरिः इन्द्रस्य, २. रोहितः अग्नेः, ३. हरितः आदित्यस्य, ४. रासभौ अश्विनोः, ५. अजाः पूष्णः, ६. पृषत्यः मरुताम्, ७. अरुणीगौ उषसः, ८. श्यामः सवितुः, ९. विश्वरूपः बृहस्पतेः, १०. नियुतः वायोः।

अश्व

	अश्वनाम	देवतानाम
१.	हरि	इन्द्र
२.	रोहित	अग्नि
३.	हरित	आदित्य
४.	रासभ	अश्विन्
५.	अज	पूषा
६.	पृषत्य	मरुत

१. "घोटके वीतितुरगतुरङ्गारवतुरङ्गमाः।
वाजिवाहर्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः।। (अमर०, २.८.४३)

७.	अरुणीगौ	ऊषा
८.	श्याम	सविता
९.	विश्वरूप	बृहस्पति
१०.	नियुत	वायु

अश्व शब्द का अश्वभिन्न अर्थ

(क) ***सप्त संख्या***

प्रारम्भिक मान्यतानुसार अश्वोत्पत्ति सात स्थानों से हुई है। ये सात स्थान हैं—अमृत, वाष्प, वह्नि, वेद, अण्ड, गर्भ, साम।[१] यथा—

''अमृताद्वाष्पतो वह्नेर्वेदेभ्योऽण्डाच्च गर्भतः ।
साम्नां हयानामुत्पत्तिः सप्तधा परिकीर्तिता ।।

(ख) ***कामशास्त्रप्रसिद्ध पुरुष विशेष***

काष्ठतुल्यवपुर्धृष्टो मिथ्याचारश्च निर्भयः ।
द्वादशाङ्गुलमेदश्च दरिद्रस्तु हयो मतः ।।[२]

मेध पद की व्युत्पत्ति एवं कोशगत अध्ययन

१. मेधः यज्ञः[३]

२. मेधृ सङ्गमे (भ्वा०उ०से०) अश्वो मेध्यते यत्र[४]

३. मेध्यं त्रिषु शुचौ रक्तवचारोचनयोः स्त्रियाम्

४. पूतं पवित्रं मेध्यञ्च[५]

५. अश्वमेधयागोऽपि सोमयागान्यतमः, एवञ्च सोमयागत्वेऽपि अस्याश्वस्य सवनीयपशुत्वेन अश्वमेध इति संज्ञा।[६]

६. केचित्तु धातूनामनेकार्थत्वाद्[७] अश्वः प्राधान्येन मेध्यते हिंसते यत्र इति अश्वमेधः। बाहुलकात् कर्तृरि अच् प्रत्ययः।

---

१. द्र०, वाच०।

२. द्र०, रीतिमंजरी, शब्दकल्पद्रुमसमुद्धृता।

३. द्र०, जटाधरः, शब्दकल्पद्रुमस्थितः; ४. द्र० मे०, ११६.४७।

५. द्र०, अमर०, ३.१.५५; ६. द्र०, का०श्रौ०सू०।

७. धातूनाम् अनेकार्थत्वाद् इति। धातूनाम् अनेकार्थत्वे परे ''भुवोऽवज्ञाने'' ''वनु च नोच्यते'' ''कलिर्बली कामधेनुः'' ''सेधतेर्गतौ'' ''गुपेर्जिज्ञासायाम्'' ''हरतेरनुद्यमने'' ''उपसर्गाणां द्योकत्वम् उपग्रह'' इत्यादिषु बहुषु प्रमाणेषु सत्स्वपि प्रधानं प्रमाणं तु 'कुर्दखुर्दगुर्दगुद-क्रीप्रयामेव' इत्यत्र एवग्रहणम् इति महाभाष्यव्याख्याता कैयटाचार्यः।

इस प्रकार व्याकरण या कोश के आधार पर उक्त शब्दों का शक्तिग्रह निश्चित है—**शक्तिग्राहकं व्याकरणकोशादि**।

यद्यपि नैयायिक व्याकरण, कोश के आधार पर गृहीत शक्ति की भी लाघवानुरोधात् क्वचित् उपेक्षा करते हैं;[१] परन्तु प्रकृत में वैसी स्थिति नहीं है। अत एव कोश, व्याकरणादिगत अर्थ मन्तव्य है। "मेधृ-सङ्गमे" धातु के आधार पर[२]—

(क) "अश्वस्य प्राधान्येन मेधः सङ्गमो यत्र"।

(ख) "अश्वेन सह राजमहिष्याः मेधः सङ्गमो यत्र"।

यह अर्थ भी अत्यन्त उपादेय है। इस दृष्टि से अश्वमेध शब्द धावक-पाचक आदि के समान क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तक[३] शब्द होगा। ऐसी स्थिति में मेधपद में "मेधनं मेधः भावे घञ्" ऐसी व्युत्पत्ति आवश्यक है, जो कि सर्वथा सुसमाधेय है।

अश्व-लक्षण[४]-निरूपण

"**पशुत्वनिष्ठव्यापकतानिरूपितव्याप्यताकः समवायसम्बन्धेन अश्वत्व-धर्मवान् अश्वः**"—यह अश्व सामान्य का लक्षण है, अर्थात् वह पदार्थ जिसकी गणना पशुओं में होती है और जो अश्वत्व धर्म से नित्य युक्त हो, अश्व कहलाता है।

---

१. यथा "गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इति कोशे सत्यपि नैयायिकैः शुक्लादि-पदानां गुणे शक्तिः स्वीक्रियते, गुणिनि तु लक्षणया कार्यनिर्वाहः क्रियते। गुणिन्यपि शक्तिस्वीकारे, तत्र ईश्वरेच्छाकल्पनारूपगौरवप्रसङ्गात्। अत्र किञ्चित्—यथा "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र कामं लक्षणायाः तटरूपार्थः स्वीक्रियताम्, तथापि लिङ्गव्यत्ययस्तु न शिष्टसम्मतः, अत एव "गंगातटे" इत्यर्थेऽपि "गङ्गायाम्" इत्येव प्रयोगः, तद्वत् शुक्लादिपदस्य गुणवाचकस्य कोशप्रामाण्यात् पुल्लिङ्गस्य भवद्रीत्या लक्षणया गुणिपरत्वं भवतु नाम, परन्तु शुक्लं वस्त्रम् अत्र नपुंसकत्वं कथम्? अस्मद्रीत्या तु पूर्वोक्तकोशस्य सत्त्वेन उभयत्र शक्तिग्रहेण अदोषादिति।

२. भ्वा० उ० अनिट्।

३. तदुक्तम्—"त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः"—
१. जातिशब्दः, २. गुणशब्दः, ३. क्रियाशब्दः। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।
द्र०, महाभाष्यम् द्वि० आह्निकम्, ऋऌक्सूत्रम्।

४. लक्षणं नाम असाधारणधर्मः, असाधारणधर्मो नाम सकलतल्लक्ष्यमात्रवृत्तिः, स च सकल-तल्लक्ष्यवृत्तित्वे सति सकलतल्लक्ष्यवृत्तिः, तत्स्वरूपपञ्चदोषत्रयरहितम्, तत्त्वं च अव्याप्तिरहि-तत्वे सति, अतिव्याप्तिरहितत्वे सति असंभवरूपदोषशून्यत्वम्। अत्र किंचित्—लक्ष्यैकदेशा-वृत्तित्वत्वमव्याप्तिः, यथा गोः कपिलत्वम्। अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः, यथा गोः शृङ्गित्वम्।

लक्षण का पदकृत्य[१]

यदि लक्षणवाक्य में सत्यन्त अंश का सन्निवेश न करें, तो समवाय[२]-सम्बन्धेन 'अश्वत्वधर्मवान्[३] अश्वः' यह लक्षण पर्यवसित होगा, जो कि अश्वसंज्ञक पुरुषविशेष[४] में भी अतिव्याप्त है, अतः पूर्व अंश आवश्यक है। यदि उतना ही अश्व का लक्षण हो तो, अश्वेतर गवादि में भी लक्षण अतिव्याप्त है। काष्ठादिनिर्मित अश्वप्रतिमा में, भित्तिस्थ अश्वचित्र में, अश्वच्छाया में अतिव्याप्तिनिरासार्थ "अश्वत्वधर्मवान्" अंश आवश्यक है। मृत अश्व में अतिव्याप्तिनिरासार्थ "समवायसम्बन्धेन अश्वत्वधर्मवान्" अंश आवश्यक है।

अश्वशास्त्रोक्त अश्वलक्षण

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अश्व के आठ लक्षणों से अश्वत्व का निर्णय किया जाता है—

१. आवर्त, २. वर्ण, ३. सत्त्व, ४. छाया, ५. गन्ध, ६. गति, ७. स्वर, ८. शरीर।

इसके आवर्तादि सभी लक्षण शरीरस्थ ही हैं, इसलिए शरीर ही अश्वलक्षण में प्रधान है। आचार्य नकुल के शब्दों में—

"शरीरगामी तत्सर्वलक्षणं शुभनिन्दितम् ।
श्रेष्ठं तस्मात् तुरङ्गाणां शरीरं त्वाद्यलक्षणम्" ।।

इसके अनुसार सातों वर्ण क्रमशः अश्व के लक्षण हैं।

अश्व रोम-वर्ण-भेद से शुभाशुभ-लक्षण

रोम का वर्ण	फल
१. गो/पीत/शुक्ल/अश्वेत	लक्ष्मीकारक शुभफलदाता
२. पाद/पुच्छ/वक्ष/मुख/ऊर्ध्वजंघा/श्वेत	अष्टमंगलकारक शुभफलदाता

---

१. लक्षणसन्निविष्टानां पदानां प्रत्येकं प्रत्येकं प्रयोजननिरूपणम् एव पदकृत्यम्। एतदेव व्याकरणे प्रत्युदाहरणे साध्यते।

२. नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायत्वम्, संयोगादौ अतिव्याप्तिवारणाय नित्यत्वे इति परमाण्वादौ अतिव्याप्तिवारणाय सम्बन्धत्वमिति। (द्र०, तर्कसंग्रहदीपिका, किरणावली)।

३. धर्मशब्दोऽत्र व्यावर्तकत्वेन अभिमतः, स च जातिगुणक्रियान्यतमरूपः। तत्र जातिर्नाम सामान्यम्, यथा प्रकृते अश्वत्वादिरूपम्। तद्भिन्नो धर्मश्च उपाधिः, यथा कपिलत्वम्।

४. वृषभः अश्वः शशः इत्यादयः पुरुषभेदाः कामशास्त्रे प्रसिद्धाः।

३.	अनेक अश्वेत बिन्दुयुक्त	प्रशस्त, शुभफलदाता
४.	पीत एवं अश्वेत बिन्दुयुक्त	धन्य (धनकारक)
५.	कृष्णतर एवं मल्लिकाक्ष[1]	प्रशस्त शुभफलदाता
६.	सम्पूर्ण श्वेत/कृष्ण/रक्त/पीत	संग्रामिक
७.	हरित वर्ण	राजा के लिए आयु, आरोग्य, लक्ष्मीकारक
८.	रक्तवर्ण मुख + पुरीषेन्द्रिय, श्याम-कर्ण एवं श्वेतकर्ण	प्रशस्त
९.	कपोतवर्ण, शुक्लकेसर एवं पादाग्रभाग शुक्ल	प्रशस्त
१०.	श्वेत मुख एवं चतुष्पाद	पंचभद्र
११.	श्वेतमण्डलाकार, वर्तुलाकार चित्रयुक्त	सर्वार्थकारक
१२.	श्वेतरेखायुक्त पृष्ठ एवं मस्तिष्क श्वेतकृष्ण वर्णयुक्त	जघन्य, अग्राह्य
१३.	जिसका पुच्छ एवं मस्तक का रोम विभिन्न वर्ण वाला हो	निन्दित
१४.	अव्यक्त वर्ण अथवा तित्तिरी[2] वर्ण अथवा वानराक्ष	कुत्सित

अश्वाङ्ग-चेष्टादि शुभाशुभ-लक्षण

अंगचेष्टा के विषय में कतिपय सामान्य क्रिया चेतन प्राणी मात्र में दृष्ट है, जिसमें मनुष्य, सरीसृप, पशु, जल-जन्तु, कीट-पतंगादि का अधिकार है; परन्तु गो एवं अश्व का कुछ अतिरिक्त वैशिष्ट्य यह है कि वह इच्छानुसार गात्र परिस्पन्दन भी कर सकता है। जैसे कि मनुष्यों में विभिन्न शुभाशुभ फलों का ज्ञापक तत्तद् अंग परिस्पन्दन होता है; परन्तु वह इच्छानुसार नहीं होता।

---

१. मल्लिकाक्षः—श्वेतजावेष्टितं कृष्णरेखया तारकं च यत्।
मल्लिकाक्षः स विज्ञेयः स्वामिनः सुखवर्धनः।।

२. ''अश्वान् तित्तिरकल्माषान् त्रिशतं शुकनासिकान्''।
(क) द्र०, वाच०।
(ख) महा०भा०, सभापर्व, द्यूतपर्व, ५१.४।
(ग) महा०भा०, शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व, १२४.१२।

गो एवं अश्व में गात्र परिस्पन्दन भी स्वेच्छाधीन है। अन्य जीवित प्राणी सामान्य शरीर के आंकुचन, प्रसारणादि व्यापार से यह भिन्न है। आचार्य पतञ्जलि ने उपर्युक्त दोनों के लिए दो भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। यथा[1]—

(क) सामान्य शरीर व्यापार — यह अभिप्राय आदि का सूचक होता है। इसे इंगित कहते हैं।

(ख) अश्व, गोमात्रपर्यवसायि कायपरिस्पन्दन को चेष्टित कहते हैं।

शारीरिक क्रिया

इंगित	चेष्टित
(सामान्य अभिप्रायसूचक)	(अश्व-गोपर्यवसायि)

अश्व-गो-शरीरक्रिया

सामान्य	विशेष
इंगित	चेष्टित
(अभिप्रायसूचक)	(कायपरिस्पन्दन)

अङ्गचेष्टा	**शुभाशुभ-लक्षण**[2]
१. सम्पूर्ण शरीर में ताप होने पर	अनावृष्टि
२. गुह्यांग में ताप होने पर	अन्तःपुरविनाश
३. उदर में ताप होने पर	वित्तनाश
४. पायु/पुच्छ में ताप होने पर	पराजय
५. शिव/मुख/स्कन्धपृष्ठासन तप्त	स्वामिजय
६. नेत्र, ललाट, बाहु, अग्रपाद, वक्ष तप्त	निन्दित
७. नासिका तप्त होने पर	प्रशस्त
८. यदि अश्व निरोग होकर भी भोजन न करे एवं अश्रुपात करे	स्वामी के लिए संकट
९. स्वयं प्रसन्न होकर मुख दर्शन	जयलाभ
१०. शिरोघ्न होने पर	अप्रशस्त

१. तथा च कैयटभट्टाचार्यैरुक्तम्—इंगितम् = अभिप्रायस्य सूचकः शरीरव्यापारः, चेष्टितम् = कायपरिस्पन्दः। द्र०, महाभाष्यपस्पशाह्निक, प्रदीप व्याख्या।

२. द्र०, वाच०।

११. वाम पैर से ताडन करने पर	स्वामी की यात्रा का निषेधक
१२. प्रभु के बैठते ही अपने दक्षिण भाग को न्यस्त करने वाला	जयलाभ
१३. पूँछ को वाम ओर से घुमाने पर	स्वामी का प्रवासकारी
१४. पूँछ को दाहिनी ओर घुमाने वाला	जयप्रद
१५. अत्यधिक पूँछ घुमाने पर	भीतिप्रद[1]

अश्वमान-निरूपण

अश्वमान के विषय में कोशकारों ने अनेक पक्षों को प्रस्तुत किया है। यहाँ यह मन्तव्य है कि अश्वमान को समझाने के लिए आचार्यों ने "हस्त" शब्द का प्रयोग किया है।

हस्त-परिमाण

हस्त शब्द एक परिमाण विशेषवाचक है। २४ अंगुल दैर्घ्य को एक-हस्त प्रमाण कहते हैं।[2]

अश्वमान	फल
प्रस्थ	
१. चतुर्हस्त	उत्तम
२. सार्धत्रिहस्त	मध्यम
३. मुष्टिन्यून सार्धत्रिहस्त	हीन
दैर्घ्य	
४. सार्धसप्तहस्त	श्रेष्ठ
५. षष्ठमुष्टि न्यून सार्धसप्तहस्त	मध्यम
६. पंचहस्त प्रमाण	अधम
मुखप्रमाण	
७. द्वात्रिंशत् अंगुल	उत्तम
८. पृष्ठ-वक्ष-कटि द्वात्रिंशत् अंगुल	मध्यम

१. अश्वचेष्टितविषये इदमपि बोध्यम्, यथा "उत्सर्गान्न शुभदमासनो....अपिधत्ते" द्र०, वाच०।

२. "हस्तोऽङ्गुलानां विंशत्या चतुरुत्तरया स्मृत:" द्र०,वाच०।

खुरप्रमाण

९.	सप्ताङ्गुल खुर	उत्तम
१०.	षडङ्गुल खुर	मध्यम
११.	चतुरङ्गुल खुर	अधम

जंघाप्रमाण

१२.	षोडश अंगुल	उत्तम
१३.	चतुर्दश अंगुल	मध्यम
१४.	द्वादश अंगुल	अधम

दैर्घ्य प्रमाण का अर्थ

अश्वमान के विषय में दैर्घ्य प्रमाण कहाँ से कहाँ तक लिया जाय, इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यों का निर्देश है—

''**अपाङ्गात्**[१] **पुच्छमूलं तु दैर्घ्येणाश्वं प्रमाणयेत्**''[२] अर्थात् नेत्र के कोण से पुच्छमूल = पूँछ के उत्पत्ति स्थान तक ''दैर्घ्य'' कहा जाता है।

ऊर्ध्व प्रमाण का अर्थ

अश्वमान के विषय में ''ऊर्ध्वप्रमाण'' सम्बन्धित आचार्यों की परिभाषा स्पष्ट है—

''**खुरान्तात् ककुदं यावत्**'', अर्थात् खुर की समाप्ति से ककुद तक ''ऊर्ध्वमान'' कहलाता है।

परिणाह का अर्थ

''परिणाह'' के विषय में आचार्यों ने परिभाषा की है—

वक्षोभागे तु सर्वेभ्यो रज्ज्वा वा सूत्रकेण च।
परिणाहं तुरङ्गस्य मापयेन्मतिमान् भिषक् ।।[४]

अश्वगत शुभाशुभ-लक्षण

पूर्वनिर्दिष्ट रोमवर्ण एवं चेष्टादि के द्वारा अश्व सम्बन्धी शुभाशुभ ज्ञान के समान ही अश्वगत शुभाशुभ लक्षण भी अनुसन्धान के लिए सर्वथा उपयुक्त है, जिनका विवरण प्रस्तुत है—

---

१. अपाङ्ग = नेत्रकोण द्र०, अमर०;
२. द्र०, वाच०।
३. द्र०, अमर०;
४. द्र०, वाच०।

	भेद	लक्षण
१.	ककुद	ककुद में आवर्त
२.	कृष्णजिह्व	स्पष्टार्थ
३.	कृष्णसेफ	सेफ = अण्डकोश
४.	अण्डतालुक	विस्तृत अण्डयुक्त
५.	कराली	स्पष्टार्थ
६.	हीनदन्त	स्पष्टार्थ
७.	शृंगी	जिसका इन्द्रिय छाग-सिंह तुल्य एवं केश दग्ध चर्म के समान हो[१]
८.	अधिकदन्तक	स्पष्टार्थ
९.	एकाण्ड	एकमुष्क
१०.	जाताण्ड	अत्यधिक रोमाच्छिन्न अण्डकोशयुक्त
११.	कंचुकी	स्कन्ध-वक्ष-बाहु-अंश—इन स्थानों पर भिन्न वर्णमाला
१२.	त्रिशरी[२]	शिरमात्र कृष्णवर्ण एवं सम्पूर्ण शरीर अन्य वर्ण का
१३.	मार्जारपाद[३]	पैर कूर्च में अन्य वर्ण की रेखा
१४.	व्याघ्राभ	व्याघ्रवर्ण
१५.	त्रिकर्णी	स्पष्टार्थ
१६.	द्विखुरी	गोखुरवत्
१७.	स्तनी	स्तनवत् अण्डकोशयुक्त
१८.	यमय	एकाङ्गहीन, विशेषत: निम्नाङ्ग
१९.	वामन	स्पष्टार्थ
२०.	काकतित्तिरसन्निभ	स्पष्टार्थ
२१.	वानराक्ष	स्पष्टार्थ
२२.	विडालाक्ष	स्पष्टार्थ
२३.	मुसली[४]	भिन्नवर्णैकपाद

१. शृंगी इति ''राष्ट्राद् विवासनार्ह:''।

२. त्रिशरी इति स्वामिकुलविनाशक।

३. मार्जारपाद इति कुलनाशक।

४. मुसली इति कुलविनाशक।

२४.	इन्द्रवृद्धि[1]	मुष्कवर्जित
२५.	पृष्ठहतस्वामी	स्पष्टार्थ
२६.	अजातदन्त	स्पष्टार्थ

फल के विषय में यह मन्तव्य है कि पूर्वोक्त सभी लक्षण दुष्ट अश्व के हैं, अत: अशुभ फलदायक हैं। इन अशुभ लक्षणयुक्त अश्वों का फल सामान्येन निर्दिष्ट है।

''एते दोषान्विता वाहास्त्याज्या वै भूतिमिच्छता।
धनप्राणहरा हर्यो बन्धुविग्रहकारका:।।[2]

कतिपय विशेष दुर्लक्षणों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। पूर्वोक्त समस्त तथ्य अशुभ लक्षणविषयक हैं—''**अशुभं तु फलं वाच्यम् अभावे न ततस्तथा**''। तद्भिन्नत्वेन शुभ अश्व भी ज्ञेय है, अर्थात् पूर्वोक्त समस्त दोषों से रहित अश्व ही संग्राह्य है।

विशेष शुभास्पद अश्व

अथ चेद् वडवां दृष्ट्वा विरोधमधिगच्छति।
निगूढविषणाख्यस्तु स धन्य: सर्वकामद:।।[3]

अश्वगतिसम्बन्धी शुभाशुभलक्षण

अश्वगत शुभाशुभ लक्षणप्रसंग में अश्वगति सम्बन्धी शुभाशुभलक्षण भी ध्यातव्य है। इसका विवरण इस प्रकार है—

अश्वगति

इष्ट	नेष्ट
१. भद्रगति	संकीर्णगति
२. वृषगति	एकतो भ्रष्टगति
३. मातंगगति	चङ्क्रमगति
४. सिंहगति	अत्यूर्ध्वगति
५. शार्दूलगति	वक्रगति
६. शीघ्रगति	

---

१. इन्द्रवृद्धि इति कुलविनाशक।

२. द्र०, वाच०; ३. द्र०, वाच०।

भद्रगति का लक्षण

जो ज्वलनशील अग्निकणों के ऊपर चलने के समान पैर को दूर-दूर फैलाकर चलता है। अन्य सभी लक्षण स्पष्टार्थ हैं।[१]

शीघ्रगति का लक्षण

यह पारिभाषिक शब्द है। यथा—

षोडशच्छोटिकाभिस्तु करवेष्टितजानुभिः।
शतद्विगुणितं गत्वा हस्तानां पुनरेति यः।।
स शीघ्रगतिरित्युक्तो वाजी धन्यस्तपोधनी।।[२]

अश्व का वर्णगत भेद

वर्णभेद	अश्व
१. श्वेत	कोकाह/कर्क
२. कृष्ण	खुगह
३. पीत	हरित
४. लाल	कषाय
५. पक्वतालनिभ	व्याह
६. पीयूष	शेराह
७. गन्धवर्ण	सुरूह
८. नीलवर्ण	नीलक
९. कपिल	त्रिपूह
१०. कपिश	शिल
११. पाण्डुकेश	सुवालधि
१२. चित्रक	हलाह
१३. श्वेतपीतक	त्रिपुलाह
१४. ईषत्पीत, कृष्णजानु	कुलाह
१५. आमुखात्पृष्ठपर्यन्त कृष्णरेखा एवं कृष्णजांनु	उराह
१६. पाटलवर्ण	वेरुहाण
१७. रक्त-पीत-कषायवर्ण	दुकुलाह

१. द्र०, वाच०; २. द्र०, वाच०।

अश्व का दन्तादि-प्रजनन-काल

दो वर्ष से प्रारम्भ होकर पाँच वर्ष तक दन्त एवं अण्डकोष का उत्पत्तिकाल है। इसके बाद यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है।

द्विवर्षं तु समारभ्य यावद्वा पञ्चवार्षिकः ।
दन्तानां मुष्कयोश्चैव सम्भवो वाजिनः स्मृतः ।।
अत ऊर्ध्वं न जायन्ते मुष्कौ दन्ताश्च वाजिनः ।।[1]

अश्वपुण्ड्र-लक्षण

पुण्ड्र अर्थात् शंख-चक्रादि विभिन्न चिह्न। इसके अनुसार भी अश्व का शुभाशुभ लक्षण प्रकट होता है। यथा—

पुण्ड्र

शुभ **अशुभ**

शुभ पुण्ड्र	अशुभ पुण्ड्र
१. शक्ति	काक
२. शंख	कङ्क
३. गदा	कबन्ध
४. पद्म	सर्प
५. चक्र	गृध्र
६. खड्ग	शृगाल
७. अंकुश	असित
८. पर्वत	पीत
९. चन्द्र	रक्त
१०. ध्वज	वक्रगामी
११. माला	विच्छिन्न
१२. शिरस्थ पुण्ड्र	शृंखलाबद्ध
१३. ललाटस्थ पुण्ड्र	भस्मवर्ण जिह्वा

१. द्र०, वाच०।

१४. मुखस्थ पुण्ड्र	कृष्णजिह्वा
१५.	रुक्षनेत्र
१६.	भस्मवर्ण
१७.	शूलाग्र
१८.	वामभागस्थ पुण्ड्र

उपर्युक्त विवेचन में पुण्ड्र एवं पुण्ड्रस्थान आदि सभी स्पष्ट हैं।

आवर्त-लक्षण[१]

आवर्तगत शुभाशुभ लक्षण के विषय में प्रथमत: यह ध्यातव्य है कि शुभ तथा अशुभ इन दो भेदों से आवर्त दो प्रकार का है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

शुभ आवर्त

स्थान — फल

स्थान	**फल**
१. उत्तरोष्ठ	१. शुभफल
२. प्रपाण[२]	२. शुभफल
३. सृक्कद्वय[३]	३. सर्वकामफलप्रद
४. आवर्तत्रय	४. धन्यतम
५. आवर्तचतुष्टय	५. धन्यतम
६. ललाटे आवर्तद्वय	६. धन्यतम
७. निःश्रेणी[४]	७. सर्वार्थसाधिनी
८. श्रवस्थ[५] आवर्त	८. जयवर्धन

१. आवर्तशब्दार्थ:—बहिर्मुखवृत्तमण्डलरोम, द्र०, वाच०।

२. ''उत्तरोष्ठ: प्रपाणाख्याम्'' नकुलकृतमश्वशास्त्रम्।

३. सृक्क: ओष्ठकोण:।

४. निःश्रेणिशब्दार्थस्तु—
''आनुपूर्व्या स्थिताश्चोर्ध्वं ललाटे रोमजास्त्रय:।
निःश्रेणी नाम सा ख्याता भर्तु: सर्वार्थसाधिनी।।'' द्र० वाच०।

५. श्रवशब्दार्थस्तु—''शिर:केशान्तयोर्मध्यभाग: श्रव:'' द्र० वाच०।

९. देवमणि आवर्त	९. शुभप्रद
१०. कर्णमूलस्थावर्त	१०. पूजित
११. अग्रपादयुगलस्थ	११. पूजित
१२. केशान्तस्थ	१२. पूजित
१३. मस्तकस्थ	१३. पूजित
१४. वक्षस्थ आवर्तचतुष्टय कण्ठे एका स्पष्टरेखा	१४. अभीष्टसर्वकामप्रद
१५. रन्ध्रस्थावर्त	१५. अभीष्टार्थप्रद
१६. उपरन्ध्रस्थ	१६. सम्मानित
१७. शंखोपम[1]	१७. विशेषेण सुखप्रद
१८. चक्रोपम	१८. विशेषेण सुखप्रद
१९. गदोपम	१९. विशेषेण सुखप्रद
२०. शुक्ति-वज्रोपम	२०. विशेषेण सुखप्रद

अशुभ आवर्त

स्थान फल

स्थान	**फल**
१. पोथस्थ[2] आवर्त	भर्तृनाश
२. नासिकाछिद्रोपरि स्थित	कष्टदायक
३. गण्डस्थ	स्वामिहन्ता
४. अश्रुपातस्थ[3]	भर्तृकुलनाशक
५. शंखस्थ[4]	भर्तृनाशक
६. भ्रूदेशस्थ	सुहृद्वियोगकृद् अर्थनाशक
७. शिरास्थ[5]	कुत्सित
८. कुक्षिस्थ	युद्ध में स्वामिघातक

---

१. शंखशब्दार्थस्तु—"अपाङ्गाद्यङ्गुले चैव प्रदेश: शंख उच्यते।"

२. पोथशब्दार्थ:-"नासिकापुटयोर्मध्ये प्रदेश: पोथ उच्यते"।

३. अश्रुपातशब्दार्थ:-"अश्रुपात: समुद्दिष्ट: प्रदेशश्चक्षुषोरध:"।

४. शंखशब्दार्थस्तु-"अपाङ्गाद्यङ्गुले चैव प्रदेश: शंख उच्यते"।

५. शिराशब्दार्थस्तु-"सव्यां ग्रीवां शिरां विद्यात्"।

९.	हनुस्थ[1]	दारुण
१०.	चिबुकस्थ/कर्णस्थ[2]	कुत्सित
११.	वालकस्थ[3]/स्कन्धसंधिस्थ	निन्दित
१२.	कूर्चस्थ[4]	युद्धमारक
१३.	ककतास्थ[5]	शराघातेन स्वामि मृत्यु
१४.	ककुदस्थ	विनाशक
१५.	वाहस्थ[6]	ससुत स्वामिमृत्यु
१६.	काकसस्थ	सभर्तृकनाश:
१७.	क्रोडे/आसने/हृदये	स्वामिघातक
१८.	पार्श्वस्थ	स्वामिपक्षनाश
१९.	कुष्टिस्थ[7]	जघन्य
२०.	जानुस्थ	जघन्य
२१.	नाभिज/मुष्कज/त्रिकज/पुच्छमूलस्थ	जघन्य
२२.	कुक्षिस्थ	जघन्य, क्षय
२३.	पायुस्थ/त्रिवलिमध्यस्थ	सर्वार्थनाशक
२४.	स्फिचिज[8]/खुरज	सर्वार्थनाशक
२५.	(क) शतपादी, (ख) मुकुल, (ग) आवर्त, (घ) संघात, (ङ) पादुक, (च) अर्ध-पादुक, (छ) सूक्ति, (ज) अवरीढ़।	शतपादी इत्यादि आठों आवर्त भी अपने-अपने स्थानानुसार शुभाशुभ फलदायी हैं।

---

१. हनुशब्दार्थस्तु-''चिबुकस्थसमीपस्थो वामदक्षिणभागत: प्रदेशस्तु हनुर्नाम।''

२. चिबुकशब्दार्थस्तु-''अधरोष्ठस्य चाधस्तु चिबुको हि प्रसिद्धक:''।

३. वालकशब्दार्थस्तु-''कण्ठस्थाथ निगालस्थमध्ये वालक उच्यते''।

४. कूर्चशब्दार्थस्तु-''अधस्तात् जंघयोश्चैव ग्रन्थि: कूर्च इति स्मृत:''। कूर्च: = जंघादौ ग्रन्थि:।

५. ककताशब्दार्थस्तु-''कूर्चाद् अष्टाङ्गुलं चोर्ध्वं पार्श्वयो: ककता स्मृत:'' ककता = कूर्चाद् अष्टाङ्गुलोर्ध्व पार्श्वभाग:।

६. वाहशब्दार्थस्तु-ककुदपुरोभागसमीपदेश:—''ककुदस्थपुरोभागे समीपे वाह उच्यते''।

७. कुष्टिशब्दार्थस्तु-कूर्चाधोभाग: कुष्टि:, ''कूर्चस्याध:प्रदेशस्तु कुष्टिश्च परिकीर्तित:''।

८. स्फिचिशब्दार्थस्तु-कटिप्रोथ: ''प्रोथोऽश्वघोणाध्वगयो: कट्याम्'' इति हैम: २.२२२।

अश्व सम्बन्धी विप्रादि जाति

१.	त्रासीलुब्ध एवं दयालु	—	विप्रजाति
२.	शूरदृढ मन्यु	—	क्षत्रियजाति
३.	पापीरूप दुष्ट	—	वैश्य
४.	विरूप विषमचण्ड	—	शूद्र।

पदार्थमात्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र रूप वर्गीकरण का निरूपण पूर्व में किया गया है। इसी तारतम्य में अश्व के भी गुणस्वभावानुसार चतुर्धा वर्गीकरण प्राप्त होता है। इनमें ब्राह्मण जाति के अश्व को शक्ति से, क्षत्रिय जाति के अश्वों को स्वभावनीति से, वैश्य जाति के अश्वों को दण्ड एवं शब्द से तथा शूद्रजाति के अश्वों को दण्डमात्र से प्रेरित करना चाहिए।

अश्व सम्बन्धी गुणक्रियागत जाति-विचार

जाति[1]

भद्रजाति मन्दजाति मृगजाति मिश्रजाति (मिश्रगुणयुक्त)

भद्रजाति	मन्दजाति	मृगजाति
१. शीघ्रगामी	अल्पनिद्र	ईर्ष्यालु
२. धीर	क्रोधी	भीत
३. शुभलक्षण	कामी	त्रसी
४. अल्पनिन्दित	ईर्ष्यालु	शंकालु
५. तीव्र	प्रथमतः वीर	असन्तुष्ट
६. शीघ्र भूलने वाला	पश्चात् भीत	शीघ्र म्लान
		निरन्तर निन्दित

यज्ञ में अग्राह्य अश्व

श्रौत अनुष्ठानों में विभिन्न पशुयाग विहित हैं। ऐसे समस्त पशुयाग सम्बन्धित अनुष्ठानों में संज्ञपनीय पशु सर्वथा दोषरहित होना चाहिए। पूर्वोक्त आवर्त, पुण्ड्रादि में त्याज्य अश्व पूर्वनिरूपित है। साथ ही हीनाङ्ग, भग्नाङ्ग, रोगी, छिन्नाङ्ग, छिन्नरोमा, भग्नखुर, लूनपुच्छ, लूनकर्ण, भग्नदन्त आदि समस्त

१. द्र०, वाच०।

दोषयुक्त अश्व यज्ञ में सर्वथा अग्राह्य हैं। रोगादि अभिभूत होने पर उसका प्रायश्चित्त विधान है।[१]

रोग	प्रायश्चित्त
१. श्राम	पौष्णचरु
२. अक्षिरोग	सौर्यचरु
३. जलमरण	वारुणेष्टि
४. अरिष्टयामय (अशस्त्रकृद्रोग)	वैश्वानरपुरोडाशनिर्वपन
५. नष्ट होने पर	द्यावापृथिव्य, वायव्य, सौर्येष्टि
६. वडवासम्बद्ध होने पर	वायव्यपयोविधि

अश्वमेधीयाश्व का स्वरूप

अश्वमेधयागोपयुक्त अश्व को 'ययु' या 'ययी' कहते हैं।[२] इसके स्वरूप के विवेचन में दो विशेषण प्रधानतया प्राप्त हैं—

१. कालाम्भोदरसंकाश[३]

२. कुन्देन्दुहिमसन्निभ[४]

रामाश्वमेध में प्रथम विशेषण घटित होता है,[५] जबकि अन्यत्र अश्वमेधप्रसंग में ही अश्व को कुमुदेन्दु वर्ण[६] कहा गया है। आपाततः दोनों में विरोध स्पष्ट है। इसका समाधान यह है कि अश्वमेधीय अश्व वस्तुतः श्वेतवर्ण का होता था एवं दक्षिणकर्ण सम्पूर्ण कृष्णवर्ण का होता था तथा कर्णान्तिर से रक्तवर्ण की आभा निकलती थी। प्रशस्तरूपवान्, ललाट में त्रयावर्त, चतुर्विंशति दन्तयुक्त, तीन वर्ष से अधिक वय वाला, पुरुष, पुंस्तवयुक्त अश्व ही श्यामकर्ण अश्व कहलाता था। वस्तुतः कर्णगत वैशिष्ट्य के कारण ही इसको श्यामकर्ण कहा गया है। पूर्वोक्त शब्दकल्पद्रुमोक्त "कालाम्भोदरसंकाशः" पद में भी श्यामकर्ण का ही तात्पर्य है। वस्तुतः "श्यामकर्ण" पद पारिभाषिक है।

१. द्र०, श०ब्रा०, १३.३.८; का०श्रौ०सू०२०.३।

२. "ययुरश्वोऽश्वमेधीयः" द्र०, अमर०, २.८.४५।

३. द्र०, शब्दकल्पद्रुमः।

४. द्र०, जैमिनीयाश्वमेधः, १.४२।

५. हयं लक्षणसम्पन्नं कृष्णारं मुमोच ह। (वा०रा०, उत्तरकाण्ड ९२.१)।

६. "अश्वश्च भाव्यः कुमुदेन्दुवर्णः पीतश्च पुच्छे मलिनश्च कर्णे"। (जैमिनीयाश्वमेधः, २९.४३)।

श्यामकर्ण अश्व की परिभाषा इस प्रकार है—गोदुग्ध, कुन्दपुष्प, चन्द्र अथवा हिम के समान श्वेत, पीतपुच्छ, श्यामकर्ण एवं उत्तम गतिमान् अश्व को ही श्यामकर्णाश्व कहा जाता है। आचार्य जैमिनि के शब्दों में —

''गोक्षीरसमवर्णं च कुन्देन्दुहिमसन्निभम्।
पीतपुच्छं श्यामकर्णं सर्वतोगतिमुत्तमम् ।।
श्यामं चापि महीपाल यज्ञेऽस्मिन् तुरगं विदुः ।।

इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण एवं जैमिनीयाश्वमेध में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट अश्वमेधीयाश्व के स्वरूप एवं युधिष्ठिराश्वमेधीयाश्व के स्वरूप का समन्वय स्थापित होता है।[२]

अश्वमेधीयाश्व का लक्षण

कालाम्भोधरसङ्काशः स्वर्णवर्णमुखो बली ।
यस्य पार्श्वार्विर्धचन्द्राकारौ खलु सुशोभनौ ।।
पुच्छं विद्युत्प्रतीकाशमुदरं कुन्दसन्निभम् ।
पादाश्चैव हरितवर्णाः कर्णं सिन्दूरसन्निभम् ।
ज्वलदग्निनिभा जिह्वा चक्षुषी भास्करोपमे ।
विराजितो रोमराज्या सानुलोमविलोमया ।।
विचित्रैर्विविधैर्वर्णैश्चित्रै रजतबिन्दुभिः ।
यो वेगे वायुतुल्यः स्यादुच्चैरुच्चैः श्रवा यथा ।।
यस्य गात्रोद्भवो गन्धो गन्धर्वमपि मोहयेत् ।
एवंलक्षणसंयुक्तो यज्ञीयः पशुरुच्यते ।।
अश्वस्य पालकश्चातिबलवान् पुत्र उच्यते ।
पुत्रतुल्यसुहृद् वापि बहुविघ्नः क्रतूत्तमः ।।

अश्वमेधोपयुक्त अश्व का प्राप्तिस्थान[३]

अश्व किस स्थान का आदि जन्तु है, इस विषय में बहुत मतभेद है। वेदों में अश्व सम्बन्धी वर्णन बहुत्र हैं। अत एव पूर्व काल से ही एशिया के नाना

१. द्र०, जैमिनीयाश्वमेध, १.४३।
२. द्र०, विशिष्टरामायणम्, शब्दकल्पद्रुमसमुद्धृतम्।
३. द्र०, हिन्दी विश्वकोश।

स्थानों में अश्व पाये जाते थे और आर्यगण अश्वों को रथ में जोतते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार अफ्रीका अश्व का आदि वासस्थान है और मिश्र के निवासियों ने सर्वप्रथम अश्वपालन शुरू किया। एशिया, अफ्रीका, यूरोप, अमेरिका में बहुत पुराने मेमथ और गेड़े की हड्डियों के साथ अश्व की हड्डियाँ भी पायी गयीं। कोलम्बस ने जिस समय अमेरिका की यात्रा की थी, उस समय वहाँ घोड़े नहीं थे। इसी से हड्डी देखकर विश्वास होता है कि पहले अमेरिका में घोड़े थे; परन्तु कोलम्बस के समय में वहाँ के अश्वों का नाश हो गया था। यूरोपियों के वहाँ अश्व छोड़ देने से वहाँ जंगली घोड़े भी पाये जाते हैं।

स्थानभेद से घोड़ों की आकृति और वर्ण नाना प्रकार के होते हैं। चराचर, अल्प रक्तवर्ण, श्वेत एवं कृष्ण वर्ण के अश्व देखे जाते हैं। आस्ट्रेलिया, अरब और बरबरी के घोड़े अधिक प्रसिद्ध हैं। कच्छदेशीय अश्व मध्यम आकृति का होता है। ब्रह्मदेश का अश्व बलवान्, कष्टसहिष्णु, प्रभुभक्त और बुद्धिमान् होता है। अरबी अश्व इन्हीं सब गुणों के लिए अधिक विख्यात है।

आइन-ए-अकबरी में अश्व को सात श्रेणियों में विभक्त किया गया है— १. अरबी, २. पारसी, ३. मुजन्नसी, ४. तुर्की, ५. आबू, ६, ताजो, ७. जंगली।

उपर्युक्त समस्त विवेचनों में अश्वमेधोपयुक्त ययु अश्व के प्राप्ति स्थान का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जैसा कि पूर्व निरूपित है कि इस विशिष्ट प्रजाति का अश्व पंचम सहस्राब्दी के पूर्व से ही अत्यन्त दुर्लभ, सम्प्रति विलुप्त या अप्राप्त जाति है। इस दृष्टि से इस प्रजाति के अश्व मेमोथ, ड्रेगोन, डायनोसारस, पुराणप्रसिद्ध गरुड, मकर, श्वेतहस्ति, पंचशीर्ष सर्प आदि प्राणी के समान ही दुर्लभ कोटि के हैं। इनमें पुराणोक्त गरुड आदि दिव्य जीव भी हो सकते हैं। आचार्य अमरसिंह ने अप्रसिद्ध कतिपय पशु जाति का उल्लेख किया है, जो सम्प्रति दुर्लभ हैं। यथा—१. गन्धर्व, २. शरभ, ३. राम, ४. सृमर।[1]

ये सभी दुर्लभ जाति के पशुभेद है। गन्धर्व का अश्व, कोकिल देवयोनि आदि अर्थ प्रसिद्ध है; परन्तु पशु जाति विशेष गन्धर्व सम्प्रति अप्राप्त है। इसी प्रकार शरभ भी एक अप्राप्त पशु जाति विशेष है। यही स्थिति ''राम'' ''सृमर'' आदि पशुओं की है।[2] शरभ के विषय में यह विवरण प्राप्त है कि इसके

१. द्र०, अमर०, २.५.११।

२. ''अष्टापदेव करभे शरभस्यान्मृगान्तरे इति तालव्यादौ रभसः द्र० व्याख्या-सुधा। अत्र अष्टापदशब्दस्य कनकपरकत्वं न शक्यम्। अष्टापदी चन्द्रमाल्यां शरभे मरकटे पुमान् इति मेदिन्युक्तेः। (मे०७७.४४)

चतुष्पाद ऊपर एवं चतुष्पाद नीचे होते थे।[१] यह सिंह को भी मार देता था। इसी प्रकार हिम, जल, वालुका, मानव आदि की सत्ता भी विभिन्न प्रमाणों से कथञ्चित् सिद्ध होने पर भी ये जातियाँ अत्यधिक दुर्लभ हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि अनेक अप्राप्य और दुष्प्राप्य पशु जातियाँ चिरकाल से गवेषणा की पात्र रही हैं। अश्वमेधोपयुक्त ययु जाति के अश्व की भी यही स्थिति है। भारत की पूर्व दिशा में स्थित सुन्दर वन एवं अफ्रीका के जगंल अनेक दुर्लभ पशु जातियों के साक्षी हैं। अश्वमेधोपयुक्त 'ययु' अश्व भी महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल अर्थात् आज से पंचसहस्राब्दी पूर्व ही सर्वथा अलभ्य न होने पर भी, अत्यधिक दुर्लभ हो गया था। अश्वमेध जैसी महायोजना के अनुष्ठान प्रसंग में उक्त प्रजाति के अश्व की प्राप्ति के लिए सम्राट् युधिष्ठिर को भी चिन्ता हुई थी, जिसका समाधान लोकसंग्राही महर्षि वेदव्यास ने किया था एवं अश्वमेधोपयुक्त अश्व का प्राप्ति-स्थान हिमालय या कोई अन्य पर्वतीय स्थान बताया था, जहाँ पर महाराज यौवनाश्व की भद्रावती नगरी में अश्वमेधीयाश्व प्राप्त था। हस्तिनापुर से चलकर तीसरे दिन महाबली भीम, कर्णपुत्र वृषकेतु एवं घटोत्कचपुत्र मेघवर्ण भद्रावती में पहुँचे तथा पर्वतारोहणपूर्वक उस स्थान का अवलोकन किया।[२]

इन सभी वर्णनों से 'ययु' अश्व की दुर्लभता प्राचीनकाल से ही सिद्ध है, अत एव उसकी सुरक्षा, सम्मान, निवासादि की विशाल योजनाएँ भी वर्णित हैं। अतः सम्प्रति ययु का स्थान मेमोथ, ड्रेगोन आदि के समान ही ध्यातव्य है। यहाँ यह अवश्य ही अनुसन्धेय है कि पुरातात्त्विक दृष्टिकोण से ऐसी किसी दुर्लभ प्रजाति के अश्व का जीवाश्व अद्यावधि कुत्रचित् प्राप्त है या नहीं, यह गवेषणीय है।

अश्व का अंग-विभाग संज्ञा-विमर्श

किसी भी सावयव वस्तु के अंगों का विवरण सर्वथा अपेक्षित है; क्योंकि अंगों के विवरण के बिना अंगी का विवरण अपूर्ण है।[३] अतः अंगी का सांग विवेचन अपेक्षित है। इसी को प्रत्यङ्ग विवेचन कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में सन्दर्भानुसार अश्व के प्रत्येक अंगों का विवरण उपस्थापित किया गया है[४]—

१. द्र०, वाच०।
२. द्र०, महा०भा०, ११७ अध्याय।
३. द्र०, जैमिनीयाश्वमेध ४.३६-४०।
४. द्र०, नकुलकृतमश्वशास्त्रम्।

१. जिह्वा, २. सूना (जिह्वा के नीचे), ३. तालु (जिह्वा के ऊर्ध्व), ४. दन्त्यपीठ, ५. ऊर्ध्वदन्त्य, ६. अधोदन्त्य, ७. चिबुक, ८. अधरोष्ठ (चिबुकस्योर्ध्व भाग), ९. हनु (चिबुकस्य पार्श्वभाग), १०. सृक्कद्वय, ११. प्रमाण (उत्तरोष्ठ), १२. प्रोथ (उत्तरोष्ठोर्ध्वभाग), १३. नासाछिद्रद्वय (प्रोथस्य पार्श्वभाग), १४. नासिका (नासाछिद्र एवं नेत्रमध्यभाग), १५. गण्डद्वय (नासिकापार्श्वभाग), १६. क्षीरिकद्वय, १७. अश्रुपात (नेत्राधोभागद्वय), १८. अपाङ्ग (कर्णान्ति से नेत्रान्त भाग), १९. कनीनिका (नासासमीपस्थ), २०. श्वेतश्याममण्डलद्वय (नेत्रमध्यस्थ), २१. प्रच्छादन, २२. अक्षिकूट, २३. भ्रूद्वय, २४. ललाट, २५. केशान्त (ललाटोपरि), २६. स्तुव, २७. शिर (मस्तक), २८. कर्णद्वय, २९. सुकुन्तलद्वय (कर्णमूलद्वय), ३०. शंख (उपाङ्गाद् द्वयङ्गुल:), ३१. कटाक्षद्वय (शंखकर्णयोर्मध्यभाग:), ३२. मर्मबिन्दु (षडङ्गुल, कर्णाद् अधोभाग:), ३३. निगाल (घण्टाबन्धसमीपदेश:), ३४. गला (निगालस्य निम्नभाग:), ३५. कण्ठ, ३६. ग्रीवा, ३७. केसर, ३८. दह (ग्रीवास्कन्धयोर्मध्यभाग:), ३९. काकस, ४०. ककुद, ४१. पृष्ठ, ४२. आसन, ४३. पृष्ठमध्य, ४४. निबद्ध (अंसद्वयं ककुदश्च), ४५. बाहुद्वय (अंसस्य निम्नभाग:), ४६. किण (बाहुमध्य), ४७. जानुद्वय, ४८. मन्दिर (गुह्याङ्ग), ४९. कलापी (जानु-अग्रभाग), ५०. जंघा, ५१. कला (जंघाया: पार्श्वभाग:), ५२. वैशिक (सन्धि-भाग), ५३. पालिहस्त (अग्रभाग), ५४. कूर्च (पश्चाद्भाग), ५५. किण (मध्य-भाग), ५६. कुष्ठित (अधोभाग), ५७. खुरसन्धि, ५८. खुर, ५९. पार्ष्णि (खुर-पार्श्व), ६०. नख, ६१. मण्डूकी (खुरतलमध्यभाग), ६२. कक्ष (हृदयमध्य), ६३. पार्श्वद्वय, ६४. जठर (पार्श्वमध्यस्थ), ६५. नाभि, ६६. रोमराजि, ६७. मूत्रकोश, ६८. पुण्ड्रद्वय, (कट्यात् पृष्ठभाग:), ६९. स्फिजद्वय, ७०. रन्ध्र (कुक्षस्थ अधोभाग), ७१. उपरन्ध्र, ७२. पुच्छमूल, ७३. पायु, ७४. सीवनी (पायुस्थ पश्चात्), ७५. मुष्कद्वय, ७६. कटिसन्धि, ७७. उरुसन्धि, ७८. उरुपाद (सीवनीतलसंधि), ७९. स्थूल, ८०. वैकुष्टिका।

अश्वाङ्ग-विभाग

अश्वों के पूर्वोक्त समस्त अंगों के तीन प्रधान विभाग हैं—

अश्वाङ्ग विभाग[1]

- पूर्वकाय
- मध्यकाय
- पश्चिमकाय

१. "अग्रजंघाद्वयं चैव वक्षोग्रीवाशिरोमुखम्।
पूर्वकाय: समुद्दिष्ट: पृष्ठदेशस्तु मध्यम:।।
आकटे: पश्चिमो भाग: खुरान्तश्चारस्मृत:।। (नकुलकृतमश्वशास्त्रम्, प्रदेशाध्याय:)।

१. पूर्वकाय

अग्रजंघाद्वय, वक्ष, ग्रीवा, शिर—इन पाँचों को सामूहिक रूप से पूर्वकाय कहा जाता है।

२. मध्यकाय

इसे पृष्ठदेश भी कहते हैं।

३. पश्चिमकाय

कटि से लेकर क्षुर तक पश्चिमकाय है।

अश्व की विभिन्न जातियाँ एवं अश्वमेधीयाश्व

अश्व की विभिन्न जातियाँ हैं एवं अश्व के प्रशस्त, अप्रशस्त विवेचन में भौगोलिक स्थिति भी उल्लिखित है, जिनमें स्थान विशेष के आधार पर चार भेद प्रसिद्ध हैं।

१. वनायुज

वनायु देशोत्पन्न अश्व वनायुज कहलाता है। वनायु = अरब। प्रचलित भाषा में अरब में अरबी अश्व को वनायुज कहते हैं। वनायु को भारतीय जनपद कहा जाता है।

२. पारसीक

पारस्य = फारस, आधुनिक नाम ईरान, यहाँ के अश्व फारसी घोड़े कहलाते हैं।[१]

३. कम्बोज

कम्बोज देशोत्पन्न अश्व। इस शब्द का उल्लेख निरुक्त[२] में भी आया है। कुछ लोग इसे वर्तमान कम्बोडिया मानते हैं। महाभारत के अनुसार पश्चिमोत्तर भारत खण्ड का एक जनपद, जिसे अर्जुन ने जीता था।[३] युधिष्ठिर के रथ में कम्बोज घोड़े संयोजित किये जाते रहे। कम्बोजाश्व रमणीय तथा शुकपक्षवर्ण होते हैं। नकुल के रथ में भी ऐसे घोड़े जोते जाते थे।[४] कम्बोजादि कई देशों के अश्व दौड़ते समय अपने पुच्छ, कर्ण एवं नेत्र स्थिर रखते हैं।[५]

---

१. ''महाभारते पारसीकनामकभारतीयजनपदस्योल्लेखः अस्ति''।

२. द्र०, निरुक्त।

३. द्र०, महा०भा०, सभापर्व, २७.२३।

४. द्र०, तत्रैव, ५३.५।

५. द्र०, महा०भा०, द्रोणपर्व, ३६.३६।

महाभारतकालिक कम्बोजराज सुदक्षिण का अनुज उपर्युक्त अश्व पर सवार होकर युद्ध के लिए चला था।[1]

४. वाह्लीक

वलख देश।[2] महाभारत के अनुसार यह एक भारतीय जनपद है।[3] आचार्य अमरसिंह ने उपर्युक्त चार भिन्न देशीय अश्वों का पृथक् उल्लेख किया है—"**वनायुजाः पारसीकाः कम्बोजा वाह्लीका हयाः।**"[4]

५. आजानेयाश्व

यह उत्तम जाति के अश्व की प्रजाति है।[5] आचार्य अमरसिंह के शब्दों में—

(क) "आजानेयाः कुलीनाश्वाः" आजेन = क्षेपेण, आनेयाः = प्रापणीयाः, आयत्ता वा।

(ख) अश्वं कुलीनम् आजानेयम्।[6]

(ग) आजानेय अश्व की परिभाषा, यथा—"शक्तिभिर्भिन्नहृदयाः स्खलन्तश्च पदे पदे आजानन्ति यतः संज्ञाम् आजानेयाः ततः स्मृताः।"[7]

(घ) आजानेय शब्द का अन्य अर्थ यथा—
आजे = विक्षेपे अपि, आनेयः = अश्ववाहो यथास्थानम् अस्य इति आजानेयः।

पूर्व अर्थ की अपेक्षा द्वितीय अर्थ अत्यधिक निकट है, जो कि अश्व की गुणवत्ता का ख्यापन करता है, अत्यधिक प्रशिक्षित अश्व में ही वह गुण होता है कि युद्ध में घायल होने पर भी आरोही स्वामी को यथास्थान सुरक्षित पहुँचा देता है। यह कौलीन्य गुण ही सामान्य अश्व से इसको पृथक् करता है। महाभारत के अनुसार दुर्योधन आजानेय अश्वारोही था। यथा—आजानेयाः वहन्त्यश्वाः;[8] परन्तु इन सभी प्रशस्त अश्वों में अश्वमेधीयाश्व का अन्तर्भाव

---

१. द्र०, महाभा०, भीष्मपर्व, ७१.१३।

२. द्र०, बृहत् हिन्दीकोश।

३. द्र०, महाभा०, भीष्मपर्व, ४.४७.५४।

४. द्र०, अमर०, २.८.४५।

५. द्र०, अमर०, २.८.४४।

६. द्र०, व्याख्या-सुधाधृत नाममाला।

७. द्र०, अश्वतन्त्रम्।

८. द्र०, महाभा०, शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व, १२४.१०।

नहीं होता; क्योंकि उपर्युक्त अश्वभेदों के वर्णनोपरान्त आचार्य अमरसिंह ने अश्वमेधीयाश्व का पृथक् निरूपण किया है। यथा[1]—"**ययुरश्वोऽश्वमेधीयः**"।

यदि उपर्युक्त किसी लक्षण में "ययु" अश्व गतार्थ होता, तो कोशकार पूर्ववर्णित आजानेय, वनायुज आदि का उल्लेख कर ययु का पृथक् उल्लेख नहीं करते। सम्राट् युधिष्ठिर को भी "ययु" अश्व की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयास करना पड़ा था। यदि आजानेय या वनायुज आदि विशिष्ट अश्व ही अश्वमेधीय "ययु" अश्व होता, तो यह विवेचनीय है कि पूर्वोक्त महाभारत साक्ष्य के अनुसार वह दुर्योधनादि के आरोहण कार्य के लिए था। यह महाभारत युद्ध के पूर्व की स्थिति है। चतुर्दश वर्ष पश्चात् महाभारत युद्धान्तर वह अश्व उतना दुर्लभ न होता, कि सम्राट् युधिष्ठिर की अश्वशाला उससे शून्य होती एवं व्यास जैसे महाज्ञानी पुरुष के निर्देशानुसार महाबली भीम, घटोत्कचपुत्र मेघवर्ण एवं कर्णपुत्र वृषकेतु जैसे वीर योद्धाओं को भद्रावतीपुरी जाकर यौवनाश्व से युद्ध में विजय प्राप्त करके विजित अश्व को प्राप्त करना पड़ता।

यदि सम्प्रति उपलब्ध आजानेय, वनायुज, कम्बोज, वाह्लीक, पारसीक अश्व में 'ययु' अश्व का लक्षण घटता हो, तो उसे "अश्वमेधीयाश्व" कहा जाएगा अथवा नहीं, इस पर विद्वानों की सम्मति विचारणीय है। इसमें वनायुज, पारसीक, कम्बोज, वाह्लीक—ये तत्तद्देशीय नाम प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वान् आजानेय अश्व को ही काबुली अश्व कहते हैं। इस अश्व की गुणवत्ता पूर्ववर्णित है और इसे कुलीनाश्व भी कहा गया है। अत एव यह एक निश्चित प्रजाति का अश्व है; परन्तु कोशों में इसका भौगोलिक विवरण प्राप्त नहीं है। कतिपय विद्वानों के अनुसार कम्बोजाश्व ही काबुली घोड़े हैं। कम्बोज भी भारतीय जनपद था।[2] गुणवत्ता के अनुसार काबुली घोड़ों की भी अश्वमेधोपयोगिता सिद्ध नहीं है।

ययु एवं नीलवृष का निरूपण

जिस प्रकार अश्वमेधीयाश्व ययु का शास्त्रों में एक विशेष लक्षण[3] है, उसी प्रकार नीलवृष भी एक लक्षणविशिष्ट वृष विशेष है। प्रकृत प्रसंग में नीलवृष का विवेचन इसलिए प्रसंगप्राप्त है कि अनेक स्थानों पर अश्वमेध महायज्ञ के समानान्तर में इसका उल्लेख किया गया है। यथा—

---

१. द्र०, अमर०, २.८.४५।

२. द्र०, बृहत् हिन्दीकोश।

३. "कालाम्भोधरसंकाशः कुन्देन्दुसन्निभः" द्र०, अश्वशास्त्रं नकुलकृतम्।

''एष्टव्या बहवः पुत्रा यदेकोऽपि गयां व्रजेत् ।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।।[१]

स्पष्ट है कि नीलवृषोत्सर्ग विधि अश्वमेध के समानान्तर रूप में प्रस्तुत है।

नीलवृष का लक्षण

''श्वेतः खुरविषाणाभ्यां मुखे पुच्छे च पाण्डुरः ।
रोहितो यस्तु वर्णेन स नीलो वृष उच्यते ।।[२]

---

१. (क) द्र०, उपनिषत्संग्रह, द्वितीय भाग, इतिहासोपनिषद् २.१८।
(ख) अन्यत्राऽपि यथा—
जायेरन् बहवः पुत्रा यदेकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।। (पुरोहितप्रदीप)

२. (क) द्र, उपनिषद्संग्रह, द्वितीय भाग, इतिहासोपनिषद्।
(ख) अन्यत्राऽपि—
''लोहितो यस्तु वर्णेन शंखवर्णखुरो वृषः।
श्वेतः शिरसि लाङ्गूले स वै नीलवृषः स्मृतः।। (पुरोहितप्रदीप)
(ग) लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलवृष उच्यते।। (पुरोहितप्रदीप, द्वितीयकाण्ड)
(घ) लोहितो यस्तु वर्णेन शंखवर्णखुरस्तथा।
श्वेतस्थिरसि लाङ्गूले स नीलवृष उच्यते।। इति (पुरोहितप्रदीपोद्धृतं कात्यायनवचनम्)।
(ङ) अन्यत्राऽपि यथा—
''गवोत्सर्गः प्रकर्तव्यो नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
अश्वमेधसमं पुण्यं वृषोत्सर्गादवाप्यते।।
रेवत्यामाश्विने मासि कार्तिक्यां कार्तिकस्य वा।
सतोरणं भवेत् तीर्थ उत्सर्गो गोकुलेऽपि वा।।
चतस्रो वत्सिका भद्रा द्वौ वा संभवतोऽपि वा।
वत्सं सर्वाङ्गसम्पूर्णं कन्या वा वत्सिका भवेत्।।
अलङ्कृत्य यथाशोभमुत्सर्गं कारयेद् मुनेः।
वृषेण चाश्वमेधस्य यागस्य फलदायकम्।। (पुरोहितप्रदीप, द्वितीयकाण्ड)
(च) अन्यच्च—
''अंकित्वोत्सृज्यते पूर्वं न चालंकृत्य सर्वतः।
तप्तेन वामतश्चक्रं याम्ये शूलं समालिखेत्।।
धातुना हेमतारेण आयसेनाथवाङ्कयेत्।
एवं कृत्वा अवाप्नोति फलं वाजिमखोदितम्।। (पुरोहितप्रदीप-समुद्धृतं देवीपुराणम्)।
(छ) चरणानि शिरः पुच्छं यस्य शुक्लानि गोपतेः।
लाक्षारससवर्णश्च स नीलवर्ष उच्यते।।
श्वेतपुच्छः शिरश्चैन्द्री ताम्रवर्णोऽक्षिलोहितः।
रक्तवर्णमुखश्चैव त्रायते नरकार्णवात्।। (पुरोहितप्रदीपोद्धृतं मत्स्यसूक्तम्)

नीलवृष का वर्ण

नीलवृष का लक्षण पूर्वोक्त है। इस प्रकार यहाँ नील शब्द पारिभाषिक है, न कि नीलवर्णवाचक है, जैसे कि ग्रीनलैण्ड, उत्तरी ध्रुवीय प्रदेश है; परन्तु वह शाद्वलप्रान्त नहीं है, अपितु रमणीक प्रदेश है, इसी अर्थ में 'ग्रीन' शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार कालासागर, लालसागर आदि का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

प्रो० राजबली पाण्डेय ने "नीलवृषदानं" शब्द के निरूपण में कहा है कि "नील वर्ण का वृषभ" यह उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मतभेद प्रकट करता है।[१]

नीलवृष और नीलगाय

नीलवृष का विशेष लक्षण जानने के बाद यह ध्यातव्य है कि "**विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते**" इस प्रसिद्ध न्यायानुसार नीलवृष में भी गौ का सामान्य लक्षण अवश्य घटित होगा अर्थात् समवाय सम्बन्धेन गलकम्बलवत्त्वम् या गलकम्बलवान् गौ—इस सामान्य लक्षण के उपरान्त नीलवृष का विशेष लक्षण घटित होने पर उभयधर्मघटित जो लोमवल्लांगूलवान् पशु होगा, वह नीलवृष होगा। इस प्रकार **पशुत्वनिष्ठव्यापकतानिरूपितव्याप्यताकः गौः (वृषः), तन्निष्ठव्यापकतानिरूपितव्याप्यताकः नीलवृषः**-ऐसा समझना चाहिए।

नीलगाय का स्वरूप

प्रसंगतः नीलगाय शब्द भी विवेक्तव्य है। यह गोसदृश, परन्तु गोभिन्न आरण्य पशु है।[२]

नीलगाय एवं गवय

गवय भी गोसदृश एवं गोभिन्न जाति है। आचार्य तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य के शब्दों में "**गलकम्बलशून्ये गोसदृशे मृगभेदे**" इस प्रकार गोगत गलकम्बलवत्त्व रूप असाधारण धर्मरहित होते हुए अन्य आकृति से गोसदृश पशु विशेष ही गवय है। इस प्रकार गवय ही सम्प्रति प्रसिद्ध नीलगाय हो सकता है।

गवय एवं गोमृग

गवय के अर्थ में गोमृग शब्द भी कोश द्वारा स्वीकृत है।[३] गोमृग का विवरण इस प्रकार है—"**गवाकृतिर्मृगः गवय, तस्य गवाकृतित्वात् तथात्वम्**"[४]। शुक्लयजुर्वेद में गोमृग का उल्लेख प्राप्त है।[५]

---

१. द्र०, हिन्दूधर्मकोश, डॉ. राजबली पाण्डेय, ३७४।
२. द्र०, बृहत् हिन्दीकोश; ३. द्र०, वाच०।
४. द्र०, वाच०; ५. द्र०, वाच०।
५. "अश्वस्तु परो गोमृगस्ते प्राजापत्या" द्र०, शु०य०वे०२४।

पूर्वोक्त समस्त विवरणों से निम्नलिखित तात्पर्य निर्णीत होता है—

१. नीलवृष नीलवर्ण का वृषभ नहीं होता।
२. नीलवृष पारिभाषिक पद है।
३. अनेक लक्षणविशिष्ट वृष ही नीलवृष है।
४. उपर्युक्त रंग प्राकृतिक होना चाहिए, कृत्रिम नहीं।
५. नीलवृषोत्सर्ग विधि अश्वमेध के समान होती हुई भी एक पृथक् स्मार्त विधि है।

अत्र किञ्चित्—

पूर्वोक्त नीलवृष की परिभाषा के सन्दर्भ में आचार्य शंख ने कहा है—

''लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स वृषो नील उच्यते।।

यहाँ पर ''स वृष..... उच्यते'' इस आनुपूर्वी से नील शब्द ही पूर्वोक्त लक्षण विशिष्ट वृष अर्थ में पारिभाषिक है, तत् सामानाधिकरण्य द्योतन[1] के लिए वृष शब्द का प्रयोग है, अत एव महर्षि व्यास के शब्दों में ''नीलं वा वृषमुत्सृजेत्''[2] आदि संगत होता है[3]। (द्र०, चित्रसंख्या १-१९)

अश्वशास्त्रोक्त अङ्गलक्षण-प्रकरणाध्याय

लक्षणं श्रृणु वाहानां मुनिना यत्तु भाषितम्।
सर्वदोषहरं नित्यं नृपाणां जयवर्धनम्।।

---

१. यथा नैयायिकसमयानुसारं समासे एकमेव पदं शक्तम्, पदान्तरे तत्रैव तात्पर्यग्राहकमिति।

२. लोहितो यत्तु वर्णेन शंखवर्णखुरो वृषः।
लाङ्गूलशिरश्चैव स वै नीलवृषः स्मृतः।।
इति वाक्येऽपि न समुदाये पारिभाषिकत्वम्; किन्तु नीलशब्दस्यैव सामान्याधिकरण्यद्योतनाय वृषशब्दप्रयोगः, पूर्वोक्तहेतोः। एवं लोहितवृषशब्देऽपि लोहितशब्दस्य पारिभाषिकत्वम्, यथोक्तं विष्णुसंहितायाम्—''जीवितवत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रं सर्वलक्षणोपेतं नीलं लोहितं मुखपुच्छपादश्रृंगशुक्लं यूथस्याच्छादकम्''।
अत्रार्थे नीलशब्दोऽपि यथा नीलषण्डप्रमोक्षेण—अमावस्यां तिलोदकैः इति द्र० वाचस्पत्यम्। अत्र ''नीलषण्ड....इति'' अनुशासनपर्वणः पंचषष्ट्युत्तरशततमाध्याये अस्तीति तर्कवाचस्पति-पं० तारानाथभट्टाचार्यपादा वाचस्पत्य ऊचुः; तत्तु गीताप्रेसमुद्रित-तद्ग्रन्थे न दृष्टमिति। अत्र किञ्चित्—''एष्टव्या बहवः.......उत्सृजेत्'' इति वाक्ये गयाश्राद्धस्य, अश्वमेधस्य, नीलवृषोत्सर्गस्य विकल्पत्वम् उक्तम्। तत्रेदं चिन्त्यते यद् गयाश्राद्धम् आवश्यकं नास्ति? अश्वमेधयाजिनां नीलवृषोत्सर्गकृतां वा कृते; किञ्च अश्वमेधयाजी तु अभिषिक्तसम्राड् भवति, गयाश्राद्धाधिकारिणः सर्वे सन्ति, अत एव व्याप्यव्यापकयोः अनयोः कथं विकल्पत्वप्रसङ्गः?

३. द्र०, अश्वशास्त्रं नकुलकृतम्; सं०टी० चन्द्रशेखरन् मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज प्रकाशन, १९५१।

अशुभैर्लक्षणैर्युक्ता हया न वाहनोचिताः।
अतो लक्षणमेवादौ तेषां व्याख्यामि देहजम्।।
ओष्ठयोः सृक्विणोश्चैव जिह्वायां दशनेषु च।
वक्रे तालुनि नासायां गण्डयोर्नेत्रयोस्तथा।।
ललाटे मस्तके चैव केशकर्णपुटे तथा।
ग्रीवायां केसरे चापि स्कन्धे वक्षसि बाहुके।।
जङ्घायां जानुनोश्चाधः कूर्चे पादे तथैव च।
पार्श्वयोः पृष्ठभागे च कुक्षौ कट्यां च वालधौ।।
मेहने मुष्कयोश्चापि तथैवोरुद्वयेऽपि च।
आवर्ते च खुरे पुच्छे गतौ वर्णे स्वरे तथा।।
महादोषं त्यजेत्प्राज्ञश्छायायां गतिसत्त्वयोः।
प्रधानस्यैव वाहानां लक्षणं यत्प्रतिष्ठितम्।।
शुभाशुभविवेकाय तद्विद्याबुद्धिमान् भिषक्।
शालिहोत्रादिभिः सम्यक् त्रिकालज्ञानकोविदैः।।
आताम्रौ पूजितौ चोष्ठ बलहीनौ मृदुत्वचौ।
सुप्रोस्थस्तु नतः शस्तो विपरीतं विवर्जयेत्।।
सृक्विण्योर्मृदुता शस्ता जिह्वायां रक्तता तथा।
अतश्चान्यद्धि दोषाय तन्वी दीर्घा च सा शुभा।।
घनाः स्निग्धाः सुबद्धाश्च समा दन्ताः सुशोभनाः।
षट्संख्येष्वधनं वृत्तैस्तेषु व्यञ्जनबिन्दवः।।
आयतं तुरगाणाञ्च निर्माणं प्रियदर्शनम्।
सुगन्धं पूजितं वक्रं विपरीतं सुगर्हितम्।।
तालु रक्तं प्रशस्तं च सम्पुटे चैव नासिके।
नातितूणसमौ गण्डौ वाहानां कीर्तितौ शुभौ।।
अक्षते निर्गदे चैव मेघाभे कलतारके।
स्निग्धायते विशाले च श्रेष्ठे मधुनिभेक्षणे।।

कनकप्रतिसङ्काशे शस्ते वाहस्य लोचने।
सांवर्त च विशालं च अनिम्नं चैव वाजिनः।।
ललाटपूजितं प्राहुर्मुनयः शास्त्रकोविदाः।
शिरः समं तथा वृत्तं आवर्तद्वयभूषितम्।।
केशाश्च मृदवश्चैव वाहानां चैव पूजिताः।
ऋजुता कर्णयोश्चैव तीक्ष्णता तनुता तथा।।
अदीर्घरोमता चैव प्रशस्ता च प्रकीर्तिता।
सुवृत्तां कुञ्चितां चैव भिन्नां ग्रीवां विदुर्बुधाः।।
केसरं च जटाहीनं मृदुलं च प्रशस्यते।
सुबद्धौ च दृढौ चैव स्कन्धौ वाहस्य पूजितौ।।
वक्षः प्रशस्तं विपुलं निर्घातं विशिरं च तत्।
ऋजू वक्षः समौ बाहू गूढजानू प्रशस्यते।।
अवक्रा मांसहीना च वाजिजङ्घा प्रशस्यते।
शुभं स्मृतं सुवृत्तं च समं चैव नतोन्नतम्।।
कूर्चमेवंविधं विन्द्यात्कम्पव्रणविवर्जितम्।
दृढमण्डूकिकायुक्तो वर्तुलः श्लिष्टसन्धिकः।।
सुरः खुरखुराकारः प्रशस्तः समुदाहृतः।
पार्श्वे चैव समे वृत्ते ऊर्ध्वमांसोपशोभिते।।
अविलम्बि सुवृत्तं च उदरं चातिपूजितम्।
नातिदीर्घसमं पृष्ठं किञ्चिच्च विनतं शुभम्।।
सुवृत्ता चैव पीना च कटिर्धन्या प्रकीर्तिता।
मृदुस्निग्धायतैर्युक्तं वालैः पुच्छं प्रशस्यते।।
वृषणौ च समौ वृत्तौ अखर्वौ चाप्यरोमशौ।
कृष्णवर्णविहीनं तु ह्रस्वं मेढ्रमिहेष्यते।।
अनुपूर्वं परं चैव शोभनोरुद्वयं मतम्।
पूर्वजङ्घे च जङ्घे च खुरान्तं चापि पश्चिमम्।।
शालिहोत्रादिभिः प्रोक्तं मुनिभिः पूर्ववेदिभिः।।

अश्वशास्त्रोक्तोऽश्वलक्षणोपोद्घातः

इदानीं लक्षणं कृत्स्नं तुरङ्गाणां प्रवक्ष्यते।
आवर्तवर्णसत्त्वानि छायागन्धगतिस्वराः।।
शरीरं चैव वाहानां प्रोक्तं लक्षणमष्टधा।
शरीरनाम्नि तत्सर्वं लक्षणं शुभनिन्दितम्।।
श्रेष्ठं तस्मात्तुरङ्गाणां शरीरं त्वाद्यलक्षणम्।
सत्त्वं ततो द्वितीयं च तृतीयं वर्ण उच्यते।।
चतुर्थी तु गतिर्ज्ञेया पंचमस्तु स्वरस्तथा।
गन्धः षष्ठस्तु विज्ञेयश्छाया चैव तु सप्तमी।।
आवर्तमष्टमं ज्ञेयमेतल्लक्षणमष्टधा।।

अश्वशास्त्रोक्तो दशाक्षेत्रविचारः

दशास्तेषां दशाख्याताः क्षेत्राण्यपि दशैव हि।
दशाक्षेत्रविभागज्ञो लक्षणं लक्षयेद्बुधः।।
त्रीणि वर्षाणि मासौ द्वौ दिनानि द्वादशैव हि।
द्वात्रिंशदायुषो वाजी तस्यैषा कथिता दशा।।
आयुषो दशभागेन दशा प्रोक्ता मनीषिभिः।
आद्यं क्षेत्रं विन्द्यात्प्रपानपूर्वं तथा ललाटान्तम्।।
मूर्धादिं च निगालं क्षेत्रं प्रोक्तं द्वितीयं तु।
ग्रीवा केशस्कन्धौ क्षेत्रं विन्द्यात्तृतीयमश्वानाम्।।
जत्रुस्तथैव ककुदं काकसमंसश्चतुर्थं तु।
पूर्वगात्रविभागः प्रोक्तं क्षेत्रं तु पञ्चमं कथितम्।।
हृत्पार्श्वे त्वथ कक्षे दोत्रं षष्ठं विजानीयात्।
उदरं पृष्ठं वंशं नाभ्या सह सप्तमं क्षेत्रम्।।
रन्ध्रोपरन्ध्रे कुक्षिर्गुह्यं तथाष्टमं क्षेत्रम्।
ऊरू कटिजानू च सूक्ष्मपिण्डो पाण्डुरोहिणीस्थूरौ।।
क्षेत्रं नवमं विन्द्याज्जङ्घा सखुरा तु दशमित्युक्तम्।।

अश्वशास्त्रोक्त आवर्तलक्षणाध्यायः

अथ तावत्प्रवक्ष्यामि पूर्वमावर्तलक्षणम्।
यथा महीतले वायुश्चरन् वेगं तृणाङ्कुरान्।।
आवर्तरूपं कुरुते तथाऽऽवर्ता हयोद्भवाः।
आवर्तशुक्तिसङ्घातमुकुलान्यवलीढकम्।।
शतपादी पादुकार्थं पादुका चाष्टमी स्मृता।
आवर्तकृतश्चैता अष्टौ सम्परिकीर्तिताः।।
आसां रूपं विशेषेण पुनः कथितमुत्तरे।
तत्र प्रधाने ह्यावर्तः शुक्तिश्चापि शुभा मता।।
शतपादी पादुका च शुक्तिश्चापि षडङ्गुला।
पादुका ह्यङ्गुला चैव मुकुलं तद्वदुच्यते।
विभागाङ्गुलमावर्तमानमेषामिति स्मृतम्।।
प्रासादाम्बुजवक्रतोरणधनुर्निस्त्रिंशशाखोपमः।
निःश्रेणीयमचातुरन्तिकशशित्रेताऽग्निभिः सन्निभः।।
खर्जूराङ्कुशचामरध्वजरथाङ्गाश्वत्थपत्राकृतिः।
वेदीस्वस्तिकमत्स्यपूर्णकलशश्रीवृक्षस्त्रक्सन्निभः।।
सूर्पाष्टापदवज्रलाङ्गलगदाचन्द्रार्थयूपाकृतिः।
सृक्कूर्मातपवारणोत्पलमुखोऽनेकः प्रशस्ताकृतिः।।
आवर्तास्तु तुरङ्गाणां ध्रुवा निन्द्याः शुभास्त्रिधा।
तेषां ध्रुवा दश मताः स्थानानि च दशैव हि।।
उरसि द्वौ शिरसि द्वौ तथैव रन्ध्रोपरन्ध्रयोर्द्वौ द्वौ।
एकं ललाटमध्ये विद्यादेकं प्रपाने तत्।।
एते स्वस्थानस्थाः प्रदक्षिणाः सुप्रभाः शस्ताः।
एतैर्विना तुरङ्गः स्वल्पायुः पापलक्षणस्त्वशुभः।।
स्थानभ्रष्टावर्तो विच्छिन्नो न प्रशस्यते वाऽपि।
स्थानानि नवतिः षट् च तेष्वावर्तशतं स्मृतम्।।

त्रयोदश विजानीयादेते चामन्यवः स्मृताः।
द्विविधः सङ्ग्रहस्तेषां प्रशस्तो निन्दितस्तथा।।
स्थानानि तेषां पूज्यानि निर्दिष्टानि च विंशतिः।
षट्सप्ततिश्च निन्द्यानि इति षण्णवतिः स्मृताः।।
स्थाने द्वे सृक्विणी प्रोक्ते तयोर्द्वौ रोमजौ स्मृतौ।
ललाटे चैव चत्वारि स्थानानि पृथगेव हि।।
तेष्वपि द्वादशावर्ता यमौ त्रेताग्नयस्त्रयः।
त्रिभिर्निःश्रेणिका नाम चतुर्भिश्च तुरङ्गकः।।
आवर्तः पूजितो नित्यं शिरोमध्ये व्यवस्थितः।
स्थानमेकं तु विज्ञेयं स्थाने द्वे कर्णमूलयोः।।
स्थानं निगालस्त्वेकं स्यात्कण्ठे चैकं प्रकीर्तितम्।
केशान्तयोश्च स्थाने द्वे तयोः शुक्तिद्वयं विदुः।।
श्रीवृक्षो वक्षसि प्रोक्तो ह्यावर्तैः पञ्चभिर्भवेत्।
अन्ये द्वे वक्षसि स्थाने चतुर्भिस्त्रिभिरेव च।।
बाह्वोः स्थानद्वयं प्रोक्तं तत्रावर्तद्वयं विदुः।
द्वे चोपरन्ध्रयोः स्थाने द्वौ स्थितौ रोमजौ तयोः।।
एवं शुभानि स्थानानि यान्युक्तानीह विंशतिः।
भवन्ति रोमजास्तेषु सप्तविंशतिसंख्यया।।

अथ खलु कण्ठशंखमन्याश्रुपातेषु नासापुटस्कन्धजानुस्फिग्गुदे पिण्डाण्ड-गण्डेषु कर्णाग्रकुक्षिस्थुरामूत्रकोशेषु वै हनुवहविदुकक्षोरुपार्श्वेषु पुच्छस्य मूले भ्रुवोर्मध्यभागे हयानां प्रदेशेष्वथावर्तरूपद्वयं लक्षयेत्। त्रिकगलककुदुत्तरोष्ठासनप्रोथ-घोणासु नाभौ हृदि क्रोडसीवन्यपानेषु वै काकसे चैकमेकं विदुर्वाजीनां रोमजाता उपरि च कथिता प्रपानस्य चान्ये त्रयो रोमजा कुष्ठिकाकूर्चजंघाकलासु चैव चतुर्ष्वेव पादेषु वै षोडशावस्थिताः।

इति षट्सप्ततिरशुभावर्ता वाजिनां मुनिप्रोक्ताः।
सर्वेषां परिसंख्याताः शतं त्रयोविंशतिश्च।।
अधुना शुभाशुभफलं स्वल्पैरेवाक्षरैः प्रभृतम्।
लक्षणमावर्तानां पृथक्पृथक्सम्प्रवक्ष्यामि।।

आवर्तो सुक्विस्थौ शुक्ती वा यस्य वाजिनः स्याताम्।
प्राप्नोति चेष्टमन्नं भर्ता पुत्राश्च पौत्राश्च।।
यस्याश्वस्य भवेतां ललाटजौ द्वौ प्रदक्षिणावर्तौ।
तस्य स्वामी विजयी बहुप्रजो जयति रिपुसैन्यम्।।
यस्य त्रेताग्निनिभाः प्रदक्षिणा वै त्रयो ललाटस्थाः।
तस्य स्वामी विजयी स तु तिष्ठति मूर्ध्नि शत्रूणाम्।।
निःश्रेणी यस्य भवेत्त्रिभिरावर्तैर्ललाटमध्ये तु।
तेनाश्वेन तु राजा लभते विजयं धनं धान्यम्।।
सर्वैरावर्तैर्वाजी चतुरङ्गस्थितैर्ललाटे च।
कुरुते स्वामिनमचिरान्महीपतिं पुत्रवन्तं च।।
आवर्तो मुकुलाभः शिरःप्रदेशे प्रदक्षिणो यस्य।
तस्य हयस्य तु भर्ता संग्रामे जयति रिपुसैन्यम्।।
आवर्तौ वृषभाख्यौ ज्ञेयौ तुरगस्य कर्णमूलस्थौ।
ताभ्यां स्वामी विजयी लभतेऽलङ्कारनिकरांश्च।।
आवर्तस्तु निगाले देवमणिः सर्वकामदश्चासौ।
राष्ट्रसुतकोशसम्पत्सौख्यानि विविधानि विजयं च।।
आवर्तान्हन्त्यशुभानग्रिमकाये ककुद्भवं मुक्त्वा।
तत्रारूढो नृपतिर्जयति रणे शत्रुसैन्यानि।।
यस्योपरन्ध्रभागे रोमावर्तः प्रजायते श्रीमान्।
तस्य स्वामी विजयी रणमूर्ध्नि भवति शत्रूणाम्।।
आवर्तः कण्ठस्थः शुक्तिर्वा रोचमान इत्युक्तः।
राज्ञस्तेनाश्वेन कोशो मित्राणि वर्धन्ते पुत्राः।।
रोचमानस्तु पूर्वार्धे निःश्रेणी शिरसि स्थिता।
पश्चादर्थे मेषली सर्वानशुभान्हन्ति रोमजान्।।
केशान्तयोश्च शुक्ती यस्य द्वे तुरगस्य दृश्येते।
तस्य स्वामी विजयी संवर्धते पुत्रपौत्रैश्च।।

आवर्ता वक्षःस्थाश्चतुर्ष्वपि यस्य चत्वारः।
कण्ठे च रोचमानः सोऽश्वः श्रीवृक्षकीनामा।।
तेनाजौ रिपुसैन्यं विजित्य निवर्तते राजा।
प्राप्नोत्यर्थान् सकलान् राष्ट्रं सौख्यं यशश्चैव।।
वक्षसि यस्यावर्ताश्चत्वारस्तस्य वाजिनः स्वामी।
प्राप्नोति रणे विजयं वित्तं निष्कण्टकं राज्यम्।।
शुक्त्यो वक्षसि तिस्रो यस्य स्युः सर्वमानदः सोऽश्वः।
तेनासौ विजितारिः स्वस्थो विनिवर्तते राजा।।
बाह्वोर्यस्यावर्तो शुक्तिर्वा सोऽङ्गदी हयः प्रोक्तः।
प्राप्नोति यस्य भर्ता रत्नान्याभरणनिकरांश्च।।
आवर्तो रन्ध्रोपरि यस्यास्त्येष मेखलीनामा।
तेनैश्वर्यं भवति भवन्ति पुत्राश्च पौत्राश्च।
एते शुभाः प्रशस्ताः सप्तत्रिंशद्रोमजाः कथिताः।।

अशुभावर्तफलम्

स्थानान्येषां विंशतिरशुभानां फलमतो वक्ष्ये।
आवर्तौ कटजौ हयस्य शुभौ भर्तुः कुलस्यान्तकौ।।
भर्तुः सर्वकुलक्षयं प्रकुरुतः शङ्खोद्भवौ रोमजौ।
आवर्तौ वहजौ हयस्य भयदौ भ्रूमध्यजौ रोमजौ।
वित्तघ्नौ बिन्दुमध्यजौ च सुतरां चानर्थदौ स्वामिनाम्।।
आवर्ता हनुमन्युकूर्चगलजा स्कन्धोरुकुक्ष्युद्भवा
यस्याश्वस्य च भर्तुरध्वनि सदा बाणौघघातिर्भवेत्।
आवर्तौ हनुजौ धनक्षयकरौ मन्योद्भवौ मृत्युदौ
भर्तुर्जीवितनाशनौ तु सततं स्कन्धोद्भवौ रोमजौ।।
आवर्तौ दृढशोकदुःखभयदौ यौ चाश्रुपातोद्भवौ
स्यातां भर्तृकुलस्य नाशनकरौ स्फिक्पिण्डजौ रोमजौ।
आवर्तौ गलमध्यजौ गलगदं क्षुद्दुःखमृत्युप्रदौ
भर्तुर्बन्धनदुःखरोगभयदौ जङ्घोद्भवौ रोमजौ।।

आवर्तश्चोत्तरोष्ठे यदि भवति तदा भ्रातरं हन्ति भर्तुः
प्रोथावर्ती तुरङ्गः सकलकुलमसौ नाशयत्याशु भर्तुः।
कक्षावर्तः शरोघैः परिकरसहितं स्वामिनं हन्ति शीघ्रं
घोणावर्तश्च भर्तुर्जनयति तुरगः कश्मलं मृत्युमाशु।।
गण्डावर्तस्तुरङ्गो भयशतजननः स्वामिनो मृत्युदूतो
जान्वावर्तस्तुरङ्गः क्षपयति सकुलं स्वामिनं तीव्रशोकैः।
प्रायश्चौरादिशस्त्रानलविषभयदः स्यान्महादोषसंज्ञः
शालायां न प्रवेश्यो नरपतिमचिराच्चालयत्याशु राज्यात्।।
आवर्तमश्वस्य ककुद्भवं तं विद्यान्महादोषतमं सुरौद्रम्।
स यस्य वाजी सकुलस्य तस्य वित्तक्षयो राज्यविनाशनं च।।
तं न स्पृशेद्भर्तृहणं न पश्येद् देवद्विजेभ्यस्त्वचिरेण दद्यात्।
निष्कासयेद्वापि च जातमात्रं शीघ्रं त्यजेद्वापरराष्ट्रमध्ये।।
स्याद्रोमजो यस्य तु काकसोद्भवस्तस्यापि भर्ता सह तेन वाजिना।
आजौ हतः काकशतैश्च भक्ष्यते उत्क्रोशयद्भिर्गुरुवैरवस्वरैः।।
पार्श्वोद्भवे यस्य हि रोमजौ तु भर्ता स पक्षस्तुरगस्य तस्य।
आशु क्षयं याति यथा निदाघे स्पृष्टं जलं भास्कररश्मिजालैः।।
क्रोडोद्भवस्त्वासनमध्यजो वा स्याद्रोमजो यस्य तुरङ्गमस्य।
स स्वामिनं हन्त्यचिरादवश्यं मार्गे स्थितं राजकुले रणे वा।।
कर्णावर्तो भर्तुः कर्णच्छेदं च कर्णमूले वा।
मध्यस्थः स्वामिवधं त्रयं प्रमाणोपरि स्थिता ह्येते।।
नासापुटयोर्भर्तुर्वित्तविघातं ध्रुवं कुरुते।
कुर्याद् हृदयावर्तो हृदि शोकं बन्धनं मरणम्।।
उपरि स्थितः प्राणे प्रदक्षिणोऽश्वस्य रोमजो यस्य।
भर्तुः पितरं हन्यात्कुर्याद्वा भ्रातृवधं च शुचम्।।
आवर्ताः सीवन्यां येषां कुक्षौ वपनादेशेषु।
ते कुक्षिव्याधिकरा भर्तुर्न सुखावहाः कथिताः।।

दृष्टौ यस्यावर्तौ पुच्छस्य मूले तु सञ्जातौ।
भर्ता तस्य सशल्यो बाणहतः सन्त्यजेत्प्राणान्।।
भर्तुर्दशनाकर्षौ रोमजौ यस्य मूत्रकोशस्थौ।
मुष्कोद्भवौ च विन्द्याज्ज्येष्ठसुतघ्नं च रोमजौ नूनम्।।
नाभौ यस्यावर्तास्तस्य तु भर्ता चिरं ससन्तानः।
रोगैर्जलोदराद्यैः पीड्येत च नात्र सन्देहः।।
त्रिकजो यस्यावर्तः सह भर्त्राऽसौ रणे त्यजेत्प्राणान्।
खुरजो यस्यावर्तः स वध्यते स्वामिनैव सह।।
यस्याश्वस्यावर्ताः सम्भूता कुष्ठिकासु दृश्यन्ते।
भर्ता तस्य व्यसनैः सुदारुणैः पीड्यते सततम्।।

अश्वशास्त्रोक्तः पुण्ड्रलक्षणाध्यायः

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यानि पुण्ड्राया लक्षणं शुभम्।
प्रपानोर्ध्वं तु कर्णाधः श्वेतं श्वेततरं च यत्।।
तत्पुण्ड्रमिति विज्ञेयं तस्य संस्थानतः फलम्।
कमलदलकलशहलमुसलपताकाध्वजाङ्कुशादर्शैः।
श्रीवृक्षशङ्खछत्रस्वस्तिकभृङ्गारवज्रनिभैः।।
चामरकूर्माष्टपदवेदीखड्गोपमैर्हयाः।
पुण्ड्रैः कथयन्ति जयं भर्तुर्विभवं पुत्रांश्च पौत्रांश्च।।
चतुरस्त्रैर्हयाः पुण्ड्रैः सर्वश्वेतमुखाश्च ये।
पुण्ड्रं खड्गोपमं यस्य स तु धन्यतमः स्मृतः।।
अथ स्वस्थस्तु पुण्ड्रश्च सर्वकामफलप्रदः।
कामार्थसिद्धिदो भर्तुर्भूयाच्छ्रेष्ठस्तु कक्षया।।
अथ तिर्यगायतेन हि वित्तभ्रंशं विजानीयात्।
कल्माषेण क्लेशं शूलकबन्धोपमेन दुःखं च।।
अथ पाशशृङ्खलालाभेन पुण्ड्रेण बन्धनं भर्तुः।
एतानि तुरङ्गाणां पुण्ड्राणि शुभाशुभानि कथितानि।।

प्रोथे पुण्ड्रं प्रपाने च वामपार्श्वे च नेष्यते।
कण्ठघण्टाश्रिते पुण्ड्रे वर्जनीयस्तुरङ्गमः।।
जिह्वाकल्माषरुक्षाणि विचित्राणि तनूनि च।
पुण्ड्राणि न प्रशस्यन्ते पीतरक्तसितानि च।।
धन्याधन्यान्यन्यानि ललामरूपाणि वक्ष्यन्ते।
श्वेतं ललाटमध्ये तारारूपं हयस्य यद्भवति।।
यत्तु ललामं विद्यात्फलं तु संस्थानतस्तस्य।
चन्द्रार्थचन्द्रदिनकरतारावद्द्योतते ललामं तत्।।
यस्य तुरगस्य भवेत्तस्य स्वामी भवेद्राजी।
पटहाकृति च ललामं काकपादं भवति यच्च विचित्रम्।।
वामस्थं वाऽधस्ताद्वित्तविनाशाय निर्देश्यम्।।

उक्तं च शालिहोत्रेण—

एवं पुण्ड्रविकल्पांस्तु शृणु चिह्नैश्च चिह्नितान्।
शिरःकर्णाक्षिकेशेषु वामपादोदराननने।।
वर्णान्यत्वं भवेद्यस्य तैश्चिह्नैश्चिह्नितं विदुः।
तमारुह्य हयं राजा सपत्नान् जयते रणे।।
श्रुतौ ललाटे घोणायां मस्तके ककुदे त्रिके।
भ्रुवोः कर्णाग्रयोः प्रोथे मेहनाग्रे च वालधौ।।
वर्णः परो यस्य भवेद्भयदोऽश्वः प्रकीर्तितः।
ध्वजिनं तं समारुह्य भग्नो राजा निवर्तते।।

अश्वशास्त्रोक्तं ह्रेषितशुभलक्षणम्

दृष्ट्वा हि पूर्णपात्रं च ब्राह्मणं कुसुमानि च।
दधि चापि समालोच्य वाहानां ह्रेषितं शुभम्।।
वादित्रध्वनिमाकर्ण्य ह्रेषन्ते यदि वाजिनः।
ग्रासपूर्णमुखाश्चैव तदा भर्तुर्जयो भवेत्।।

बाले च निर्गते वृद्धे क्षुधिते च पिपासिते।
श्रान्ते पीते तथा वाहे न ग्राह्यं स्वरलक्षणम्।।
ध्वजाग्रं चैव सूर्यं च पश्यन्तो वाजिनो यदा।
ह्रेषन्ते चाहवे स्पष्टं तदा विन्द्याज्जयं प्रभो:।।
वक्ष्यामि ह्रेषितानां लक्षणमधुना समासेन।
नाभिदेशादूर्ध्ववायो: प्राणस्य धावतो हृदये।।
कण्ठे शिरसि च घाताच्छब्दस्तद्ध्रेषितं विन्द्यात्।।
गम्भीरस्तु महान्स्वर: सुमधुर: स्निग्धो घन: संहत:
सिंहव्याघ्रगजेन्द्रदुन्दुभिघन: क्रौञ्चस्वराभ: शुभ:।
येषां ते तुरगा: यतोऽर्थसुखदा: सौभाग्यराज्यप्रदा:
संग्रामे विजयं च तै: सह शुभं सैन्यं च संवर्धते।।
विच्छिन्नस्तनुरुक्षजर्जरखरक्षमास्तथा गद्गद:।
तुल्यो ध्वांक्षवराहजम्बुकखरोष्ट्राणां न शस्त: स्वर:।।

अश्वशास्त्रोक्तं गन्धलक्षणम्

एतद्ध्रेषितलक्षणं निगदितं गन्धोद्भवं वक्ष्यते।
स्रोत: स्वेदपुरीषमूत्रमुखजान् गन्धान्विदुर्वाजिनाम्।।
कमलकुसुमसर्पिश्चन्दनक्षीरगन्धा
दधिमधुकुटजानां चम्पकस्यन्दनानाम्।
अगरुगजमदानां तद्वदेवार्जुनानां
मधुसमयवनानां पुष्पितानां च गन्धा:।।
पुन्नागाशोकजातीसरसकुवलयोशीरपत्राम्रगन्धा:
पानीयप्रोक्षितोर्वी कुसुमितबकुलामोदिनो ये च वाहा:।
धन्या: पुण्या मनोज्ञा: सुतसुखधनदा भर्तुरानन्ददास्ते
माङ्गल्या: पूजनीया: प्रमुदितमनसो राजवाहास्तुरङ्गा:।।
श्वपचकमठगन्धा मत्कुणा: सृक्सगन्धा:
खरकरभवारोहोलूकविण्मूत्रगन्धा:।
मललशुनसगन्धा मत्स्यपित्ताण्डगन्धा
अशुभफलकरास्ते वर्जनीया हयानाम्।।

अश्वशास्त्रोक्तं छायालक्षणम्

मेघावली यथार्कं गगनस्थं छादयेत्तथा छाया।
छादयति सकललक्षणमश्वशरीरे समुद्भूता।।
सा छाया पञ्चविधा पृथ्वीजा वारुणी तथा सौरी।
वायव्या चैव भवेत्तुरगाणां नाभसी त्वपरा।।
स्निग्धा स्थिरा च महती वर्णैर्नानाविधैः सुगम्भीरा।
नयनमनोह्लादकरी प्रशस्यते पार्थिवी छाया।।
ससलिलजलधरतुल्या सरोरुहाभा प्रसन्नसलिलाभा।
स्निग्धा स्थिरा प्रशस्ता विज्ञेया वारुणी छाया।।
बालार्कविद्रुमाभा लाक्षारसपद्मरागकमलाभा।
आग्नेयी दीप्तिमती छाया शस्ता तुरङ्गाणाम्।।
परुषा भिन्ना दीना वायव्या निन्दिता छाया।
रुक्षा चपला तन्वी वायव्योक्ता नाभसी चेष्टा।।
तिस्रः श्रेष्ठाः पूर्वा अन्ये द्वे निन्दिते महामतिभिः।
तासां लक्षणमेतच्छुभाशुभं सम्प्रवक्ष्यामि।।

स्नातस्य पीतस्य तथाऽपराह्णे
सुप्तोत्थितस्यापि तुरङ्गमस्य।
भुक्तस्य नित्यं हयलक्षणज्ञैः
छायापरीक्षा तु शुभाशुभा वै।।

जयदत्तप्रोक्तं छायालक्षणम्

छाया वाजिशरीरेषु शुभाशुभनिवेदिनी।
वाजिनश्च प्रभोश्चैव तां ब्रवीम्यनुपूर्वशः।।
सुस्निग्धा पृथिवी छाया नानाद्युतिसमन्विता।
पद्मरागारुणा चैव आग्नेयी परिकीर्तिता।।
शुद्धस्फटिकसङ्काशा सुस्निग्धा चैव वारुणी।
रुक्षा दीना च वायव्या परुषा चैव निन्दिता।।

अश्वशास्त्रोक्तं गतिलक्षणम्

विभक्तैः पदविन्यासैर्नात्युच्चैर्ललितैः समैः।
चक्षुर्मनोह्लादकारी या गतिः सा शुभा मता।।

वक्रा स्खलिता विषमा बाह्यशफा भ्रष्टसौष्ठवा विकृता।
अतिविकटा सङ्कीर्णा गतिरत्यूर्ध्वा च न शस्ता।।

शिखिनकुलवृषोष्ट्रव्याघ्रसिंहनेभतुल्या
शरभगतिसमाना वानराणां च तुल्या।
मृगवरगतितुल्या सद्गतिर्यस्य सोऽश्वो
जयसुखविभवानां वर्धनः पार्थिवस्य।।

अश्वशास्त्रोक्तं सत्त्वलक्षणम्

त्रिविधं सत्त्वं शुद्धं राजसमथ तामसं ततस्तेषाम् ।
भेदास्तु सप्त षट् त्रय एवं हया अनेकशोऽभिहिताः।।

बाह्यं तथार्षमाहेन्द्रं याम्यकौबेरवारुणान्येव ।
शुद्धान्येतानि षट् तु गान्धर्वं सप्तमं चैव।।

आसुरराक्षसपैशाचसार्पपैत्राणि शाकुनं चैव।
षड्राजसानि नूनं त्रीण्येवात्र तामसानीति।।

पाशवमात्स्यवैरुधमेवं सत्त्वानि षोडशैवैतानि।
कथितान्युत्तममध्यमाधमानीति त्रिधा क्रमेणैव।।

कामापदेशतः स्मृतिमानकोपी स ब्रह्मसत्त्वः शुचिनिर्जितात्मा।
द्वेषो न रागो न मदो न मोहः स्याद्यस्य वै तं मुनिसत्त्वमाहुः।।

तेजस्विनः सर्वविभूतियुक्तमेवंविधव्यञ्जनमैन्द्रसत्त्वम्।
मायाविमुक्तं गतरागमोहं तं याम्यसत्त्वं मुनयो वदन्ति।।

प्रवक्तप्रसादकोपः कामी स्मृतिमान् कुबेरसत्त्वोऽश्वः।
ऐश्वर्यसौख्यस्मृतिशौर्यकेलिशीलो हरिर्वारुणसत्त्वसंस्थः।।

सङ्गीतवाद्यपूजाप्रियस्तु गन्धर्वसत्त्वोऽश्वः।
रौद्रः शूरश्चण्डो वाजी स्यादसुरसत्त्वस्तु।।

मेढ्रप्रहारी च महाशनश्च स्वापप्रियो राक्षससत्त्व एषः।
भीरुस्त्वशोच्यश्च महाशनश्च पैशाचसत्त्वश्च भवेत्तुरङ्गः।।
क्षिप्रप्रकुपितभीरुः शुचिर्हयो नागसत्त्वश्च।
दुःशीलः पितृसत्त्वः प्रियासनो दुरुपचर्यस्तु।।
सतताहारैर्मैथुनभूचापल्यैश्च शाकुनं सत्त्वम्।
क्षुज्जाड्यभयालस्यैः पाशवसत्त्वं विजानीयात्।।
आहारार्तो भीरुर्जलप्रियो मत्स्यसत्त्व इत्येषः।
निद्राध्यानालस्यैर्वीरुधसत्त्वं विजानीयात्।।

अश्वशास्त्रोक्तस्तालुरङ्गाध्यायः

महादोषाः समाख्यातास्तालुरङ्गमतः शृणु।
गर्भस्थस्य यदा पित्तं कुप्यते तालुके भृशम्।।
कृष्णतालुस्तदा वाहो जायते पापलक्षणः।
तालुरागोऽपि वाहानां शुभाशुभफलप्रदः।।
श्वेतं पीतं रक्तं श्यामं कृष्णं च चित्रमूर्धासितम्।
सप्तविधं जानीयात्तालुनि रागं तुरङ्गाणाम्।।
रक्तनिभः श्रेष्ठतमः शेषा रागाश्च नैव शस्यन्ते।
किञ्चिद्विशेषमेषां श्वेतादीनां प्रवक्ष्यामि।।
निर्वाणाङ्गारनिभं यस्य भवेत्तालु वाजिनस्तस्य।
भर्तुरचिरेण राज्यं राष्ट्रं विनाशमुपयाति।।
भर्तुर्वधोऽर्थकृष्णे तालुनि जाते सुतस्य जानीयात्।
ऊर्म्यन्तरिते कृष्णे पराजयं स्वामिनो विन्द्यात्।।
कृष्णोनातः क्षिप्तं मध्ये शुद्धं तु तालु यस्य स्यात्।
परिणद्धतालुरश्वो भर्तुः क्लेशवहो ह्येषः।।
कृष्णस्तु तालुवंशे पर्यन्तः पद्मपत्रसङ्काशः।
यस्याश्वस्य स नित्यं पराजयं स्वामिनः कुर्यात्।।

कृष्णैर्बिन्दुभिरथवा कल्माषैस्तालु चित्रितं यस्य।
कल्माषतालुरेष स्वामिनमशुभे नियोजयति।।
दीपाग्निबालएष स्वामिनमशुभे नियोजयति।।
दीपाग्निबालदिनकरपद्मदलाभं भवेद्वापि।
स्निग्धं तनुं गम्भीरं तालु शुभं वाजिनो ज्ञेयम्।।

उक्तं च शालिहोत्रेण—

समानवर्णं वर्णेन तालुकं यस्य दृश्यते।
न स तालुकदोषः स्यात् फलमल्पं च वक्ष्यते।।
सवर्णस्त्वथ दोषाय सकलः कृष्णतालुकः।।

अश्वशास्त्रोक्तः कुललक्षणाध्यायः

तालुरागाः समाख्याताः कुलानां लक्षणं श्रृणु।
हयाः काम्बोज-वाह्लीक-वनायुजकुलोद्भवाः।।
गान्धारकुलसम्भूतास्तथाऽरट्टकुलोद्भवाः।
वाहेयाः सैन्धवाश्चैव तैत्तिकाश्चैव वाजिनः।।
कुलजाश्चोपकुलजा मेचका ह्युपमेचकाः।
कैवर्ताश्चार्जुनीयाश्च पार्वतीयास्तथैव च।।
यौधेया यावनाश्चैव ये चान्ये ह्रस्वयावनाः।
तुषाराः काद्रवेयाश्च पार्वतीयास्तथैव च।।
आवन्त्याश्चापि काश्मीरा हया ये च सकाननाः।
पार्वत्योत्तरमाद्रेयाः दाक्षिणेयाः प्रकीर्तिताः।।
अन्तर्द्वीपोद्भवा वाहा कैकेयाम्बष्ठसंज्ञकाः।
वासन्तिकाश्च सौवीरा दारदा सैरिकास्तथा।।
कैराता क्षुद्रकैराता मालवा विन्ध्यकास्तथा।
कालिङ्गा माधुराश्चैव मानवाश्वास्तथैव च।।
कौशल्याश्चार्जुनेयाश्च तथोपावृत्तिका हयाः।
सौराष्ट्राश्चैव सौवीराः कौरवेयास्तथैव च।।

पाञ्चालाः पौण्ड्रकाश्चैव कुक्कुटा ह्रस्वकुक्कुटाः।
तथा हैमवता ये च ये चोक्ता मगधोद्भवाः।।
चतुःपञ्चाशदश्वानां कुलान्येतानि लक्षयेत्।
कुलानि नव चान्यानि घोटकानां विभावयेत्।।
अतस्ते संज्ञया योज्या न तु घोटगुणान्विताः।।
मत्ताविकाश्याश्मकेया मालिकाः श्वेतवाहनाः।
मेचका श्वेतगिरिजा वैदर्भा घोटकाः स्मृताः।।
पूर्वदक्षिणभागेन हिमवन्तं समाश्रिताः।
घोटकास्तेऽपि विज्ञेयाः श्यामा वा घोटकाः स्मृताः।।
अतः परं व्यञ्जनैस्तु प्रत्येकं सम्प्रवक्ष्यते।
यथोद्दिष्टाः कुलगणाः शृणु तांश्च पृथक्पृथक्।।

१. *काम्बोजाः*

काम्बोजाः सुमहाललाटजघनस्कन्धा महावक्षसो
दीर्घग्रीवमुखा महाजवयुता ह्रस्वाण्डमेढ्रासनाः।
श्रीमन्तः सुमहासमुद्रचरणा दीर्घैस्तु जातैर्भुजैः
सर्वव्यञ्जनपूजिता दृढशफा मण्डूकनेत्राश्च ये।।
श्वेताश्च शोणाश्च भवन्त्यदीना न कृष्णवर्णा न विवर्णितास्ते।
ह्रस्वैश्च कूर्चैर्मृदुरोमकेशाः ह्रस्वेन पृष्ठेन सुवर्णवन्तः।।
सुसंहिताङ्गाः प्रियदर्शनास्ते नित्यञ्च भर्तुर्वशगा मनोज्ञाः।
तेजस्विनः सारयुताः सुशीलाः श्रेयःस्वरूपेण कुलेन दृप्ताः।।
समवृत्तजानुजङ्घा वृत्ताङ्गा ह्रस्वकुष्ठिकरखुराश्च।
पीनास्तनुलाङ्गूलाः स्थूलाक्षाः शङ्कुकर्णाश्च।।
सुमहासृक्वप्रोथा महोदरास्ते महातनुश्वासाः।
प्रत्यक्षं वडवामपि दृष्ट्वा न ये प्रह्रेषन्ते।।
ऊर्ध्वमुखाः स्थिरपादाः शुभरोमाणः सुपार्श्वाश्च।
शूराः सुखसञ्चाराः काम्बोजास्ते समाख्याताः।।

२. *वाह्लीकाः*

वाह्लीकाः काम्बोजैः समानसंस्थानवर्णरूपाश्च।
तेषामयं विशेषो दीर्घोदरपृष्ठवंशास्ते।।
परिणाहायामाभ्यामधिकाः किञ्चिन्महेक्षणाः शूराः ।
हृत्पृष्ठमूर्तिदीर्घा दीर्घग्रीवा दशनकेशाश्च।।
मधुपिङ्गलाभनयना क्रुद्धास्ते दन्तखादिनः कथिताः।
भर्तुश्च वत्सलाः स्युर्महाजवा रूपसौन्दर्यसम्पन्नाः।।

३. *वनायुजाः*

वनायुजाश्च लघवः प्रचण्डमध्यप्रमाणाश्चपला न दीनाः।
वृत्तायताः कायसमाः सुनेत्राः ह्रस्वाण्डमेढ्रास्त्वथ शङ्कुकर्णाः।।
पूर्वार्धकायेषु समुच्छ्रितास्ते ह्रस्वास्त्रिके भारसहाः सुसत्त्वाः।
स्थूलैश्च पादैर्दृढकुष्ठिकाश्च कालानुवर्णा बहुशो भवन्ति।।
अपाङ्गदेशे विकटाः सुदीर्घा मेघेभनादेषु न शङ्किनस्ते।
क्षान्ता मृगेन्द्रा इव ते विभान्ति दर्पोज्ज्वला वह्निसमानरूपाः।।
रथे योक्तुं न शक्यन्ते न सहन्ते च यन्त्रणाम्।
स्नायुसंयुतगात्राश्च सर्वेभ्योऽप्यधिका जवात्।।
वन्यपर्वतदुर्गाणां मध्ये नेच्छन्ति धावितुम्।
मयूरसदृशग्रीवाः सुवर्णसदृशाश्च ये।।

४. *गान्धाराः*

गान्धारा बहुवर्णाः शरीरवन्तः सुसंस्थिता बलिनः।
दृप्तोदयाश्च पुरतः पश्चाद्विषमाश्च दीर्घाश्च।।

५. *आरट्टजाः*

आरट्टजाः सुजघना अदीर्घपृष्ठाः सुकुष्ठिका बलिनः।
स्थूलाक्षिकूटशङ्खास्तेजोजवसारयुक्ताः स्युः।।

६. *सैन्धवाः*

सैन्धवकुलजा बलिनो दृढजत्रुमहोरसो महाप्रोथाः।
तनुसृक्वत्वग्गोला विलम्बमुष्काः समेढ्राश्च।।

७. तैत्तिजाः

दीर्घग्रीवामुखाः स्युः स्थूलाक्षास्ते महाकायाः।
तैत्तिजकुलजा जविनः स्थूलहनुग्रीवमेढ्रमुष्काः स्युः।।

८. *कुलजाः*

पृथुवक्षोजघनाक्षा भाराध्वसहाः सुगात्राश्च।
कुलजा वृत्तग्रीवा आयतवक्राश्च दीर्घवालाश्च।।

९. *उपकुलजाः*

तनुरोमत्वक्केशाः सुवृत्तमध्योरुकुष्ठिकाख्याताः।
उपकुलजाः कुलजानां समलिङ्गा किञ्चिदायतशरीराः।।

१०. *मेचकाः*

अल्पगतयोऽल्पसत्त्वा भारसहाः कर्बुराश्चैते।
मेचककुलजा वाहा दीर्घग्रीवा महोरसस्तुङ्गाः।।
स्पष्टमुखवल्गुवर्णा मध्यबलाः शङ्कुकर्णाश्च।
तनुभिर्गात्रैर्ह्रस्वैः कूर्चैश्च खुरैश्च विपुलजघनाः स्युः।।

११. *उपमेचकाः*

विस्तीर्णकाकसाः स्युर्न कर्कशा मध्यमेढ्रास्ते।
उपमेचकाः स्युरुच्चैर्बद्धशिरोग्रीवदुर्धरैः केशैः।।

१२. *त्रैगर्ताः*

मृद्वङ्गा वल्गुसटाः सुकुष्ठिका दुर्मुखास्तुरगाः।
त्रैगर्ताः शशिवदनाः शशिवालाधिकेसराः शशिप्रोथाः।।

१३. *यौधेयाः*

दृढपादा अक्रूराः शशिवर्णाः प्रायशस्तेऽश्वाः।
यौधेया भारसहा सुखुरा वृत्तायतघनग्रीवाः।।

१४. *सावित्रेयाः*

स्पष्टायतवदनाः स्युश्चण्डास्तनुसूक्ष्मरोमाणः।
सावित्रेयास्तुरगा घासग्रासान्विताः शूराः।।

मृद्वङ्गाः पृथुपादा महोदराः सुप्रसन्नाश्च।
शस्तोरुपृष्ठदीर्घाः स्थिरमांसा दीर्घकेशवालाश्च।।

१५. *यवनाः*

चारुनयनकपोलास्तु हनुवक्रास्तुरङ्गमाः शस्ताः।
यवनास्तुरगा विपुलाः पृथुघनवक्षोललाटनयनाः स्युः।।
दीर्घाः सुकुष्ठिकाः सुखुरा लघुक्रमाः शस्ताः।
प्रियदर्शनाः सुवर्णाः स्पष्टायततनुमहाकायाः।
तेजःसत्त्वोपेतास्तनुत्वचश्चापि सूक्ष्मरोमाणः।।

१६. *तर्जिता*

द्वीपे समुद्रस्य चरन्ति वाहाः सन्तर्जिता ये मधुना तु पूर्वम्।
तीर्त्वा समुद्रं यवने तु देशे तुरङ्गमाणां जनयन्ति पुत्रान्।।
तेजस्विनस्तर्जितसंज्ञिकाश्च तत्तुल्यरूपाः सुमहाजवाः स्युः।
ज्ञेयाः प्रकृत्या निजया सपित्तास्तेभ्योऽपि जातास्तुरगाः सुरूपाः।।

१७. *अर्जुनाश्वाः*

ते स्युश्चार्जुनजा वाहाः पृथूदराः प्रलम्बमुष्काश्च।
शुचिसमवक्रस्कन्धग्रीवाश्च ह्रस्वपृष्ठाः स्युः।।

१८. *ह्रस्वयवनाः*

त एव ह्रस्वा यवनसंज्ञास्त्वन्ये हयाः प्रोक्ताः।
ह्रस्वाङ्गाः शुभगात्राः शुभसाराः शुभजवाश्चापि।
शुभरोमवालकेशाः सुभगाः सुमेढ्रकाः सुरूपाश्च।।

१९. *काद्रवेयाः*

पृथुजघनदृढपादा सुकुष्ठिकाः शुभखुरास्तुरङ्गाः।
अश्वास्तु काद्रवेया दृढपादाः सूक्ष्मवालरोमाणः।।

२०. *तुषाराः*

प्रियदर्शना मनोज्ञास्तेजोजवसत्त्वसंयुक्ताः।
एवं तुषारकाश्वा जवसत्त्वबलान्विता महाकायाः।।

भाराध्वक्लेशसहाः स्वेच्छाचाराः पृथूदरोरस्काः।
दृढमेधसः सुशीला बलवन्तस्ते मनस्विनश्चित्राः।।

२१. *पार्वतीयाः*

स्थूलत्वचः सुशीलाः सुकुष्ठिकाः कायवर्तुलाश्चैव।
अश्वास्तु पार्वतीयाः पूर्वशरीरेषु संस्थितास्ते स्युः।।

२२. *आवन्त्याः*

पश्चार्थेषु च विषमास्तनूदरा ह्रस्वपृष्ठाश्च।
आवन्त्याः स्थूलाङ्गाः पृथुवक्षोजघनसूक्ष्मरोमाणः।।

२३. *काश्मीराः*

औरस्याः पृथुजङ्घा दृढपादा महोदरोरस्काः।
काश्मीराः शुद्धाक्षा विपुलसटाः सुसंहताः सुखुराः।।

२४. *काननाः*

स्पष्टायततनुवक्रास्तुरगास्तु शङ्कुकर्णास्ते ।
अश्वास्तु कानना वै शुभाननास्ते पुनः समुद्दिष्टाः ।।
पूर्वार्धे स्युरुदग्राः पश्चार्थे चोद्यता जविनः ।
ह्रेषन्ते प्रत्यक्षं दृष्ट्वा वडवां च शङ्कुकर्णास्ते ।।

२५. *उष्ट्राः*

मृदुदीर्घा उद्ग्रीवा उष्ट्राख्या उष्ट्रगात्रवक्राः स्युः ।

२६. *पार्वतीयाः*

वाहास्तु पार्वतीया बलान्विताः स्निग्धकेशाश्च।
वृत्तास्ते दृढपादा महाजवाश्चेति विख्याताः।।
आजानेयास्त्वेवं कथितानि कुलानि वै पृथक्त्वेन।
षड्विंशतिरश्वानां च विशेषं वक्ष्यते त्वधुना।।
आजानेयास्तुरङ्गा दृढचरणयुता वर्ष्मवन्तः सुनेत्रा
भूयिष्ठं वर्णयुक्ताः प्रकृतिगतिगुणैरर्चिता ह्रस्वमुष्काः।
संग्रामे भर्तृवश्याः प्रबलजवयुताः शुद्धसत्त्वाः सुशीला
आयुष्मन्तोऽल्परोगा मृदुतनुसुमहादीर्घनिर्मांसवक्राः।।

सुविभक्तोपचिताङ्गाः सुसंहता ह्रस्वपृष्ठखुरकर्णाः।
बलतेजःसारयुता जितेन्द्रियाः क्षुत्पिपासभारसहाः।।
शुभकायाः शुभरूपाः शुभगन्धाः शुभस्वराः शुभस्थास्ते।
शुभलक्षणाश्च सुभगा न कर्कशास्ते जितक्रोधाः।।
निशितास्त्रभिन्नकायाः संज्ञां न जानन्ति विह्वलास्तस्मात्।
आजानेयवाहास्तस्मादेते समुद्दिष्टाः।।
एते विभिन्नदेहा विनिर्गतान्त्रा गताश्च मृत्युवशम्।
यावत्पृष्ठे भर्ता तावत्प्राणान्न मुञ्चन्ति।।
विस्तरभयान्न चोक्तं कुलजानां लक्षणं हि शेषाणाम्।

उक्तं च शालिहोत्रेण—

तत्र काम्भोजानामुपकुलं वनायुजमारट्टजं वाह्लीकाश्च।
वनायुजानामुपकुलं गान्धारा आरट्टजानां वाहेयाः सैन्धवानां तैत्तिराः।।

अश्वशास्त्रोक्तं वयोज्ञानम्

कुलानां लक्षणं प्रोक्तं वयसो ज्ञानमुच्यते।
वयो ज्ञानविदो लोके यस्मात् सर्वजनप्रियाः।।
वयसो ज्ञानं द्विविधं बाह्यं चाभ्यन्तरं समुद्दिष्टम्।
बाह्यं बहिःशरीरजमाभ्यन्तरमपि देहदशनस्थम्।।

प्रथमवयोनिःश्रेणी

प्रथमे च मासि सन्दंशः किञ्चिदुद्गतैर्ज्ञेयः।
व्यक्तैश्च तैर्द्विमासः षट्पक्षो मध्यमैर्जातैः।।
पूर्णैर्मध्यमदशनैः सन्दंशैश्चैव पञ्चमे मासि।
लक्ष्यालक्ष्या सुसूक्ष्मा राजीधूम्रारुणा तु सन्दंशैः।।
स्यात्पूर्णाग्रैर्दन्तैः स तु चाल्पषाण्मासिको वाजी।
प्रोद्भिन्नैरनुभूतैर्विज्ञेयः साप्तमासिको विज्ञैः।।
सन्दंशाभ्यां तुरगः शुक्लाभ्यामष्टमासिको ज्ञेयः।
ज्ञेयश्च शिशुर्नवमे सम्पूर्णैः पारिभक्षैश्च।।

द्वितीयादिपञ्चमान्तवयोनि:श्रेणी

सितदशनः प्रथमेऽब्दे कषायदशनश्च भवेद्द्वितीये तु।
पतितोत्थितैश्च दशनैस्त्रिहायनः कीर्तितस्तुरगः।।
मध्यमदशनैः पतितैरुद्भूतैः स्याच्चतुःसमो वाजी।
पञ्चाधिकस्तु कथितश्च्युतोत्थितैः पारिभक्षैश्च।।
तस्मिन्काले वाजी पतितोत्थितदन्तचक्रो बलवान्।
स्निग्धाज्यवर्णदशनैर्वश्यः सर्वाङ्गसम्पूर्णः।।
पूर्णफलो दंष्ट्रवान् प्रसन्नमुदितेन्द्रियः सुरोमा च।
पञ्चसमो भवति हयस्तेजस्वी सर्वकर्मसहः।।
ह्रस्वास्तनवश्च समाः पृथ्वग्रा क्षीरसन्निभाश्चैव।
सरलाः सुसंज्ञिता वै दन्ताः कैशोरका ज्ञेयाः।
श्वेताश्च दीर्घाश्च सुसंहताश्च तीक्ष्णाग्रसंस्था विपुला दृढाश्च।
मध्ये विभक्तास्त्वथ मूर्ध्नि निम्नाश्च्युतोत्थितास्ते दशनाः प्रदिष्टाः।।

व्यञ्जनलक्षणम्

प्रथमेऽब्दे सन्दंशे द्वित्रिसमे मध्यमान्तेषु।
व्यञ्जनमश्वेषु भवेत् षष्ठादारभ्य दशनेषु।।
कृष्णा हरिणी शुक्ला पीता काचा च मक्षिका चैव।
शङ्खच्छिद्रं चलनं व्यञ्जनमेतत्क्रमेण विज्ञेयम्।।
अवृद्धा वृद्धरूपाश्च वृद्धास्तरुणसंस्थिताः।
दृश्यन्ते वाजिनः केचित्सम्मोहनकरा भृशम्।।
वयः परीक्षेत्खुररोमदन्तचेष्टाबलौजोवचनादियोगैः।
संस्थानविण्मूत्रसमर्थनाभिरश्वस्य तज्ज्ञैरपरैश्च लिङ्गैः।।
रेखाऽऽयता तिर्यगरिष्टवर्णा कृष्णा भवेत्षट्पदसन्निभा वा।
तन्त्री सवर्णा हरिणी प्रदिष्टा शुक्ला दधिक्षीरसमानवर्णा।।
सितासिद्धार्थकवर्णा काचा किञ्चित्तु कोद्रवसवर्णा।
या मक्षिकासवर्णा ज्ञेया सा मक्षिका निपुणैः।।

शङ्खं शङ्खदलोपमामुलूखलं दन्तमध्यजच्छिद्रम्।
विन्द्याच्चलितैश्चलनं दन्तैः पतनं तु पतितैश्च।।
एवं कृष्णा हरिणी शुक्ला काचा च मक्षिका चैव।
शङ्खोलूखलचलनं भ्रंशश्चैषां क्रमः कथितः।।

षष्ठादिद्वात्रिंशान्तवयोनिःश्रेणी

षष्ठेऽब्दे सन्दंशे मध्यमदशनेषु षड्गवे वर्षे।
कृष्णाष्टमे तु वर्षे विज्ञेया पारिभक्षेषु।।
हरिणी नवमे दशमे वर्षे चैकादशे तु दशनेषु।
सन्दंशमध्यमान्त्ये वाजिनमालक्षयेन्मतिमान्।।
एवं सिता द्वादशके तु वर्षे त्रयोदशे चैव चतुर्दशे च।
सन्दंशमध्यान्त्यमुखोद्भवेषु समुत्थितां विद्धि तुरङ्गमस्य।।
काचा पञ्चदशे वै षोडशके तदुत्तरे च वाहानाम्।
अग्रिममध्यमदशनेष्वथ पारिभक्षेषु चादेश्या।।
अष्टादशके चैकोनविंशतिसंज्ञिके च विंशतिभे।
सन्दंशमध्यान्त्येष्वथ वाजिनां मक्षिका कथिता।।
एवं क्रमेण शङ्खं छिद्रं चलनं पतनं तदेषु।
त्रीणि त्रीण्यब्दानि तु वाहानां निर्दिशेत्प्राज्ञः।।

व्यञ्जनक्रमेण संस्थानलक्षणम्

दृष्टः सम्पूर्णमांसः समुदितगजवन्मेघनादः क्षमावां-
स्तेजस्वी सत्त्वयुक्तः परमबलजवः सर्वसम्पूर्णकायः।
क्षुत्तृड्भाराध्वशीतातपपवनसहः सुप्रसन्नेन्द्रियात्मा
चैभिर्लिङ्गैरुपेतो भवति गतवयाः कालिकाव्यञ्जनोऽश्वः।।
स्थिरमांसस्तेजस्वी बलवान् क्षुत्तृट्सहः सततम्।
रूपयुतो घननादः स तु हरिणीव्यञ्जनो वाजी।।
बलजवतेजोरूपैः प्रहीयमानोऽनुमस्तके वलिभिः।
वाहं ललाटपलितं शुक्लाख्ये व्यञ्जने विन्द्यात्।।

परितवलीकर्णाङ्गो विशीर्णदन्तश्च गतबलोत्साहः।
दु:खी कुञ्चितनेत्रो भवति च मक्षिकाव्यञ्जनो वाजी।।
गम्भीराक्षो दीनः स्याच्छङ्ख्वव्यञ्जनो विगतमांसः।
हर्षक्रोधविमुक्तः समुद्गतोलूखलो वाहः।।
मन्दं यवसं खादन् स्याच्चलितवक्त्रजो वाजी।
दन्तैः पतितैर्वाजी आयुर्द्वात्रिंशकः कथितः।।
गर्गेणोक्तं तु गजे यथा शतं विंशतिश्च पुंसि शतम्।
परमायुः कथितमिदं तद्वद्द्वात्रिंशदश्वेषु।।
चरतो मन्दुराश्वस्य लवसारसमाश्रयात्।
क्षयवृद्धिगतीर्ज्ञात्वा ततो व्यञ्जनमादिशेत्।।

प्लवादिविशेषलक्षणम्

च्युतोत्थिता द्विजा ये तु भान्ति कैशोरका इव।
ते प्लवाः येष्वथोद्भूतं व्यञ्जनं लघु दृश्यते।।
सारदन्ताः स्थिताः श्वेताः घनास्तीक्ष्णास्तु संस्थिताः।
क्रमात्तेषु क्षयं याति व्यञ्जनं परिसंस्थितम्।।
यान्येव सारदन्तस्य चरतो मन्दुराश्रये।
त्रीणि वर्षाणि चाप्येवं दंशेष्वेषु विनिर्दिशेत्।।
एवमेव तु ''चारक्याः'' सारदन्ताः प्रकीर्तिताः।
चारक्यदन्तो विज्ञेयश्चतुर्थे कालिकोद्भवः।।
सप्तमे हरिणी तस्य सन्दंशाश्रयणी भवेत्।।

आयुःसिद्धान्तः

उक्तं च शालिहोत्रेण—

यथा नरे वर्षशतं विंशतिश्च शतं गजे।
गवां चतुर्विंशतिश्च खरोष्ट्रौ पञ्चविंशतिः।।
शुनि षोडशवर्षाणि श्रृगाले पञ्चविंशतिः।
कृमयः सप्त चाहानि मक्षिका च चतुर्दश।।
तथा हयेषु द्वात्रिंशत्समा आयुर्विधीयते।।

अश्वशास्त्रोक्तं वर्णलक्षणम्

कथितं तु वयोज्ञानं वर्णानां लक्षणं श्रृणु।
श्वेतः शोणः कृष्णः हरितो वर्णा भवन्ति चत्वारः।
त्रिस्तथा पञ्चमकस्त्वेते वर्णप्रकाराः पञ्चैव।।

वर्णपरिज्ञानम्

ज्ञेयः समानवर्णस्त्वेककेसररोमवालैश्च।
हीरक्षीरशशाङ्कशङ्खरजतप्रालेयवर्णाः सिताः।।
आर्द्रालक्तकदाडिमीकुसुमवद्रक्ताश्च शोणाः स्मृताः।
कृष्णास्त्वञ्जनकोकिलाम्बुदनिभा भङ्गाङ्गनागोपमा
हेमाभा हरयः प्रदीप्तहुतभुग्गोरोचनासन्निभाः।।
एते शुद्धा वर्णा अनुवर्णाश्चैव वर्णभेदाश्च।
चित्रा ताराश्चैषां संयोगेनोपजायन्ते।।

अनुवर्णपरिज्ञानम्

तत्र त्वेको वर्णः पूर्वं पश्चाद्भवेत्परो यस्य।
अनुवर्णं तं विन्द्याद्भेदं सर्वैर्विमिश्रितं वर्णैः।।

सारोऽश्वः

एकद्वित्रिसवर्णैर्विचित्रितो बिन्दुभिः सचित्रस्तु।
श्वेतोऽन्यवर्णमण्डलयुक्तः 'सारः' स तु समाख्यातः।।

कर्कोऽश्वः

त्वग्नेत्रवर्ष्ममेहनमेढ्राश्रयमुष्कखुरगुदप्रोथैः।
पद्मोपमैस्तु कर्कः सितकेसरतनुजवालैश्च।।
ताम्रस्य तालुमुष्कौ मधूककुसुमप्रभौ तथा कर्कः।
ताम्रत्वक्शुद्धाक्षस्त्वन्ये केचिद्वदन्त्येवम्।।

कुक्कुटोऽश्वः

कर्कस्य यस्य जठरासननासाक्षिवक्त्रदशनाश्च।
निचिताः कृष्णैर्बिन्दुभिरथवा रक्तैस्स कुक्कुटः प्रोक्तः।।

क्रौञ्चपत्रोऽश्व:

सितारोमवालकेश: कृष्णात्वग्गुह्यलोचनौष्ठखुर: ।
एष तु मुनिभिर्वाहो निर्दिष्ट: क्रौञ्चपत्रश्च ।।

सिन्धुवारकोऽश्व:

त्वग्रोमवालकेसरगुह्याक्षिखुरैश्च सिन्धुवारनिभै: ।
योऽश्व: स सिन्धुवारकनामा मुनिभि: समुद्दिष्ट: ।।

सिंहनोऽश्व:

ताम्रा त्वक् संरक्तौ मुष्कौ वदनं च सिह्यरोमा य: ।
वालै: केशैश्च सितै: सिंहन: स हय: समाख्यात: ।।

वृषगौरोऽश्व:

रक्तोत्पलपीतयुक्तस्ताम्रत्वक्चैव संस्थितो गौर: ।
शुक्लोऽपि कृष्णयुक्त: स तु वृषगौर: समुद्दिष्ट: ।।

मुञ्जकेशोऽश्व:

यस्यान्यवर्णस्य हि शुक्लवर्णा: केशो भवन्तीह स मुञ्जकेश: ।

अञ्जनकेशोऽश्व:

यस्यान्यवर्णस्य तु कृष्णवर्णा: केशा: स वै अञ्जनकेशकोऽश्व: ।

मिश्रकेशोऽश्व:

यो बहुवर्णै: केशैर्युक्त: स मिश्रकेशक: कथित: ।
बहुविधवर्णैर्वालै: स प्रोक्तो मिश्रवालकश्चैव ।।

शोणोऽश्व:

कृष्णाक्षिगुह्यकेसरत्वग्वालखुरास्तुरङ्गमा: शोणा: ।।

शोणानुवर्ण्यश्व:

शोणानुवर्णिनो वा विज्ञेया: कालवालैस्तु ।

शुक्लरोमकोऽश्व:

रक्तोऽल्पकृष्णरोमा रक्तखुरो रक्तवालस्तु ।
कृष्णनयनस्तु वाजी सोऽप्युक्त: शुक्लरोमक: प्राज्ञै: ।।

कालरोमकोऽश्वः

कृष्णाधिकस्त्वगादौ स संज्ञितः कालरोमको निपुणैः ।।

कालाक्षिकोऽश्वः

ते चापि बहुलकृष्णाः कालाक्षिकसंज्ञिताः स्मृता वाहाः ।

मृदुरोमकोऽश्वः

सिक्तरक्तासितचर्मा सोऽश्वो मृदुरोमकः कथितः ।

श्वेताक्षिकोऽश्वः

बहुशुक्लाः श्वेताक्षिकनामानो वाजिनः कथिताः ।।

पाटलोऽश्वः

सितरक्तासिततनुजैर्यः कृष्णो बालकेशखुरनयनैः ।

कृष्णत्वक्चैव भवेत् स ऋष्यकः पाटलो नाम ।।

कृष्णत्वक्सितरक्तैस्तनूरुहैः पाटलो हयः प्रोक्तः ।।

सुमनपटलोऽश्वः

शुक्लैः स एव बहुभिः स्यात्सुमनः पाटलो वाजी ।

रक्तपाटलोऽश्वः

बहुभिः शोणैस्तनुजैरल्पसितै रक्तपाटलो वाजी ।

चक्रवाकोऽश्वः

पीतैर्वालैर्वाजी सोऽप्युक्तश्चक्रवाकसंज्ञकश्च ।

सिद्धार्थकोऽश्वः

तनुजैर्गौरैः पीतैर्वाहः सिद्धार्थकः प्रोक्तः ।

कपिलोऽश्वः

रक्तैः पीतैरेतैर्युक्तः कपिलो भवेद्यस्तु ।।

धूम्रवर्णोऽश्वः

असिताल्पयुतः शोणस्तु धूम्रवर्ण इति कथ्यते वाजी ।

खञ्जरीट्यश्वः

श्वेतैः पीतैरसितैर्वालत्वङ्मिश्रकेसरो यस्तु ।

ज्ञेयः स खञ्जरीटी पीतश्वेतोत्तरो वाहः ।।

करण्टकोऽश्वः

सितरक्तपीतरोमा रक्तत्वग्यः करण्टकः सोऽश्वः ।

कर्बुरोऽश्वः

हंसग्रीवसवर्णो रक्तत्वक् कर्बुरो ज्ञेयः ।

श्वेताश्वस्य वैशिष्ट्यम्

सर्वैर्वर्णैः शस्तास्तुरगाः सप्रभाः स्थिराः स्निग्धाः ।
तेषां श्वेतः श्रेष्ठो यतो ध्रुवश्चाव्ययश्चासौ ।।
सर्वेषां वर्णानां संयोगः श्वेतसंयुक्तः शस्तः ।
यस्मात्कृतेऽपि शुक्लस्तस्माच्छ्वेतः प्रधानतरः ।।
किं बहुना येनोक्तास्तत्र हयास्तु वर्णनामभिः केचित् ।
द्रव्यस्य यस्य सदृशास्तन्नामानस्तुरङ्गमा ज्ञेयाः ।।

देववाहानां वर्णविशेषाः

सर्वश्वेताः शशिनो हरयः कनकप्रभाः सुरेन्द्रस्य ।
कृष्णा यमस्य वाहाः कर्काः शुभलक्षणा विष्णोः ।।
कनकपत्रनिभा भानोः किंशुकवर्णा हया हुताशस्य ।
असिताभ्रनिभा वरुणस्य कुबेरस्य तु कुमुदनिभास्तुरङ्गमाः ।।
एभिर्वर्णैरश्वाः शुभस्वरावर्तकायरूपाश्च ।।

अश्वशास्त्रोक्त आयुर्लक्षणाध्यायः

आयुर्लक्षणमश्वानामत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते ।
शालिहोत्रादिभिः प्रोक्ते यथापूर्वं तपोधनैः ।।
सुमहान्तश्च ये वाहा ह्रस्वकर्णास्तथैव च ।
स्वरनेत्रस्वभावेषु न दीनाश्चिरजीविनः ।।
महाघोणा महाकाया ये चाश्वाः पृथुवक्षसः ।
तेषां दीर्घं भवेच्चायुः स्निग्धाङ्गाश्चैव ये सदा ।।
कर्णाग्रे पीडिते येषां सिन्दूराभं यस्य दर्शनम् ।
शोणितस्य भवेत्क्षिप्रं ते मताश्चिरजीविनः ।।
नभो जिघ्रन्ति ये चापि तेऽपि दीर्घायुषो मताः।
विनिष्किरन्ति ये ग्रासं स्वग्रासाय तुरङ्गमाः ।।

कुष्ठिकायां किणा येषां दृश्यन्ते वाजिनां स्फुटाः ।
प्रशस्तं च भवेद्वक्षो येषां ते दीर्घजीविनः ।।
पद्मपत्रदलाकारं जिह्वाग्रे यदि वाजिनः ।
दन्ताश्च मौक्तिकाकाराः लिङ्गं येषां च निर्मलम् ।।
सीत्काश्च भवेद्येषां लाङ्गूले चलनं पुनः ।
प्रस्वेदः शुभगन्धस्तु नखा वै दर्पणोपमाः ।।
येषां च दीर्घमानं ह वै ते सर्वे चिरजीविनः ।
स्निग्धगम्भीरदीर्घाश्च प्रोथजा यस्य वाजिनः ।।
भवन्ति विपुला रेखास्तं विन्द्याद् दीर्घजीविनम् ।
छत्रचामरभृङ्गारखड्गाङ्कुशनिभास्तथा ।।
शक्तिवज्रगदाकारा ध्वजादिसदृशास्तथा ।
उर्ध्वप्रोथस्थिता रेखा यस्य वामेन चानताः ।।
ह्रस्वा वा यस्य वाहस्य न चिरं तस्य जीवितम् ।
श्रीवृक्षस्वस्तिकाम्नाताः प्रोथै रेखाश्चिरायुषम् ।।
ऊर्ध्वप्रोथे समा रेखा दृश्यन्ते यस्य वाजिनः ।
तस्य मृत्युः समुद्दिष्टो दशमं प्राप्य वत्सरम् ।।
अङ्गुलाभं दश द्वे च वर्षाणां तस्य जीवितम् ।
त्रयोदश स जीवेत्तु यस्य स्युश्चतुरङ्गुलाः ।।
तिर्यगेवोर्ध्वगे चैव द्वे रेखे यस्य वाजिनः ।
प्रोथजे यस्य वाहं तं विन्द्यादेवं चतुर्दश ।।
दक्षिणेन च पार्श्वेण यः शेते सर्वदा हयः ।
बहुमूत्रा अल्पमूत्राश्च ते चिरजीविनो हयाः ।।
विनतः पूर्वकायेन स्थले जान्वोश्च यो हयः ।
सूनाक्षकूटस्तन्द्राक्षः स्वल्पायुः स प्रकीर्तितः ।।

।। इस प्रकार 'नकुलकृत अश्वशास्त्रोक्त' अश्वमेधीय एवं सामान्य अश्व का अंग-विभाग-लक्षण-विमर्श समाप्त हुआ।।

अष्टम परिच्छेद

काल एवं दक्षिणा-निरूपणाध्याय

कलियुग में अश्वमेध-निषेध-कारण-विचार

पुराण वाङ्मय एवं स्मृतिग्रन्थों में ऐसे अनेक विहित कर्मों का संग्रह प्राप्त है, जिनका कलियुग में निषेध किया गया है।[1] आचार्य कमलाकरभट्ट ने अपने कलिवर्ज्य संग्रह में अश्वमेध का भी उल्लेख किया है—

दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ ।

इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ।।

यहाँ यह प्रश्न है कि इस निषेध का कारण क्या है?

सर्वप्रथम यह मननीय है कि किसी भी अल्पकालिक या दीर्घकालिक योजना अथवा महायोजना की सफलता या असफलता का रहस्य क्या है? जैसा कि निरूपित है कि मीमांसा के अनुसार "कर्ता" "कार्य" या "उपकरण" इन तीनों में अन्यतम किसी के भी साद्‌गुण्य अथवा वैगुण्य से फलगत साद्‌गुण्य या वैगुण्य होगा। आचार्य जैमिनि ने स्पष्ट कहा है—**'न कर्मकर्तृकारणवैगुण्यात्'**[2] इस तथ्य को अल्प शब्दान्तर से इस प्रकार कहा जा सकता है—**"कारणगुणात्मकत्वं कार्यस्य"**। पूर्वतथ्य के उदाहरण में यह कहा जा सकता है कि यदि कपाल संयोग ठीक नहीं होगा, तो घटोत्पत्ति बाधित होगी अथवा सच्छिद्र कपाल से निश्छिद्र घटोत्पत्ति बाधित है। द्वितीय तथ्य के उदाहरण में

---

१. (क) बृहन्नारदीयोक्तकलिवर्ज्यानि—"दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ।"
द्र०, निर्णयसिन्धोः तृतीयपरिच्छेदः, "कलिवर्ज्यप्रकरणम्"।

(ख) हेमाद्रौ ब्राह्मे गरुडपुराणे च—"नराश्वमेधो मखं च कलौ वर्ज्यं द्विजातिभिः।"
द्र०, निर्णयसिन्धोः तृतीयपरिच्छेदः, कलिवर्ज्यप्रकरणम्।

(ग) "दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः"।।
द्र० निर्णयसिन्धोस्तृतीयपरिच्छेदः, कलिवर्ज्यप्रकरणम्।

(घ) द्र०, ना०पु० २४.१३-१६।

२. द्र०, जै०सू०।

यह स्पष्ट है कि रक्ततन्तु से रक्तवस्त्र ही उत्पन्न होगा। दुर्बल तन्तुओं के संयोग से पुष्पपटोत्पत्ति बाधित है। प्रकृत में भी उपर्युक्त कार्य-कारणभाव मन्तव्य है। अश्वमेधनिष्ठकार्यतानिरूपित कारणता, कर्तृनिष्ठा, कर्मनिष्ठा, उपकरणनिष्ठा भी है। अर्थात् एतत्त्रितयसमुदायनिष्ठा है। चक्रचीवरन्यायानुसार "**करणसमावायात् कार्योत्पत्तिः**" इस सिद्धान्त के अनुसार अश्वमेधकर्ता, अश्वमेधयागीय उपकरण एवं अश्वमेधयागकर्म—इन तीनों की वैधता पर ही अश्वमेध महायज्ञरूपी महायोजना की सफलता निर्भर है। अन्यथा यह अफल-विफल हो सकता है।

अश्वमेधकर्ता की वैधता

अभिषिक्त क्षत्रिय राजवंशोत्पन्न सम्राट् अश्वमेध का सर्वप्रथम अधिकारी है, जिनके द्वारा जन्म प्रकृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण विश्वस्तरीय मानव सेवाव्रत का पालन अपेक्षित है। इस प्रकार के गुणविशिष्ट–लक्षणविशिष्ट उत्तम अधिकारी प्राय: प्रसिद्ध सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश में होते आए हैं। इन दोनों प्रसिद्ध अभिषिक्त क्षत्रियराजवंशों को ऐसे अनेक सम्राट् उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है, जिनके द्वारा न केवल आनुवंशिक जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वपूर्ण मानवता की रक्षा हुई है; अपितु ऐतिहासिक अद्भुत कीर्तिमान् भी स्थापित हुए हैं। सम्प्रति यह वंश लुप्त है। महाभारत काल में सूर्यवंशी राजा बृहद्बल[१] थे, जिन्होंने महाभारत युद्ध में दुर्योधन का पक्ष लेकर युद्ध किया एवं अभिमन्यु के हाथों वीरगति को प्राप्त किया था।[२] महर्षि व्यास के अनुसार—

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ[३]।।

चन्द्रवंश में सम्राट् युधिष्ठिर ने सांगोपांग अश्वमेध का अनुष्ठान किया था। तत्पश्चात् उनके पौत्र परीक्षित ने इस परम्परा का निर्वाह किया; परन्तु परीक्षित के बाद जनमेजय के समय इस परम्परा की रक्षा नहीं हो पायी। इस प्रकार योग्य कर्ता का अभाव "कलियुग में अश्वमेध निषेध" का एक प्रधान कारण अवश्य माना जा सकता है।

अश्वमेधोपकरणों की उपलब्धता

अश्वमेधयाग भी सोमयाग है। सम्प्रति यह सोमलता[४] दुर्लभ क्या, अलभ्य

---

१. द्र०, भा०पु०, ९.१२.९-१२।

२. (क) महाभा०, नामानुक्रमणिका, (ख) काशी की सारस्वत साधना, म०म० गोपीनाथ कविराज।

३. द्र०, भा०पु०, १९.१२.१६।

४. "अत्र च द्रव्यं सोमरसः । सोमो नाम लताविशेषः। तं कस्माच्चित्पुरुषात् क्रीत्वा ततो रसं निष्काश्य तेन च होमः क्रियते, अत एवास्य सोमयाग इति व्यवहारः। इयं तुलना नेदानीं भारते देशे समुपलभ्यते, पूर्वमपि न सर्वत्रोपलब्धाऽभूत्। द्र०,का०श्रौ०भू०, पृ०४२।

है। सोमयाग होने पर भी इसका प्रधान संज्ञपनीय पशु ''ययु'' नामक जातिविशिष्ट अश्व होता है। ''**ययुरश्वोऽश्वमेधीयः**'' अमरकोश में उक्त लक्षणविशिष्ट, अतिदुर्लभ अश्व का अथवा अश्व से मेघ (हिंसन या संगम) होने के कारण ही इसका अश्वमेध अभिधान है। यद्यपि अश्वमेधमहायाग में अनेक आरण्य एवं ग्राम्य पशुओं का यूपबन्धन होता है[१]; परन्तु पूर्ववर्णित लक्षणविशिष्ट उपर्युक्त ''ययु'' प्रजाति के अश्व में मेध की प्रधानता के कारण इसका अभिधान अश्वमेध है। ययुनामक अश्वमेधोपयुक्त अश्व भी सम्प्रति अनुपलब्ध है। संक्षेप में इन दो प्रधान उपकरणों—सोम एवं ययु की अनुपलब्धता, प्रायः अलभ्यता कलियुग में अश्वमेध निषेध का द्वितीय कारण है।

अश्वमेधयागकर्म की सम्पन्नता की दुर्लभता

कर्म अर्थात् विधि पूर्वनिरूपित है कि अश्वमेधयज्ञ की अनुष्ठान पद्धति असिधाराव्रत के समान है। सम्प्रति ऐसा कर्म भी सर्वथा दुर्लभ है। अत एव अश्वमेध जैसे सुदीर्घ याग कर्म सम्पादन के समस्त भोग उपलब्धि की अनुकूलता रहने पर भी इन्द्रिय संयम रूप चरित्र-रक्षा की दुर्लभता भी कलियुग में अश्वमेधनिषेध का अन्यतम प्रधान कारण है। अश्वमेध महायज्ञ दृष्टादृष्टोभय साधक है। इसके दृष्ट प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

१. आर्थिक विकेन्द्रीकरण, २. सामाजिक सद्भाव, ३. स्त्री-पुरुष का सहाधिकार, ४. गतानुगतिकता का निरास, ५. जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण स्थायी शान्ति के लिए सुदृढ़ शासनपद्धति, विशिष्ट आर्य साम्राज्य की स्थापनार्थ उत्तम-सन्तति-परम्परा की प्राप्ति।

ये सभी विषय अत्यन्त उपादेय हैं, जिनमें प्रथम चार की सिद्धि सम्प्रति भी दृष्ट है। वर्तमान समय में विश्व में अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

शासन-प्रणालियों के भेद

राजतन्त्र | प्रजातन्त्र | साम्यवाद | समाजवाद | सैनिकशासन

राजतन्त्र: राजायत्त | सचिवायत्त | उभयायत्त

इनमें शासन पद्धतियाँ अश्वमेधोपलब्धिविषयीभूत पूर्वचर्चित पाँच में से चार की प्राप्ति में अवश्य ही अनेक अंश तक सफल हुई हैं; परन्तु

१. द्र०, का०श्रौ०भू०, पृ० ६५।

अश्वमेधयागोपलब्धि में अन्तिम और सर्वप्रधान उपलब्धि को प्राप्त करने में ये सभी शासन-प्रणालियाँ अद्यावधि सर्वथा असफल हैं। स्पष्ट है कि आज विश्व में ऐसी कोई शासन पद्धति प्रचलित नहीं है, जिसके द्वारा अश्वमेध की प्रधान एवं अन्तिम उपलब्धि को गतार्थ किया जा सके। कतिपय विद्वान् शासन पद्धतियों का निम्नलिखित रीति से वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं[१]—

१. एकतन्त्र, २. अधिनायकवादी, ३. सामन्तशाही, ४. कुलतन्त्र-पद्धति, ५. प्रजातन्त्र।

चतुर्युग-प्रमाण

''कालगणना'' भारतीय मनीषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का एक प्रत्यक्ष व्यावहारिक अद्भुत निदर्शन है। वस्तुतः सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि कालगणना मात्र आर्षमेधा का ही आविष्कार है। अन्य सभी मान्यतायें स्वयं कुछ सहस्रवर्ष मात्र पूर्व प्रचलित होने के कारण सूक्ष्मदर्शी बुद्धिजीवी वर्ग के लिए, ''स्थूलारुन्धतीन्याय'' के अनुसार हास्यास्पद न होने पर भी उपेक्षास्पद अवश्य हैं। कालगणना का एक अत्यन्त स्थूल मानदण्ड ''युगव्यवस्था'' है। चतुर्युग प्रमाण के सन्दर्भ में यह मन्तव्य है कि यह सम्पूर्ण सृष्ट जगत् अहोरात्र के अधीन है[२]। कतिपय विद्वान् अहोरात्र शब्द में आदि, अन्त का लोप करके ''होरा'' शब्द की स्थिति मानते हैं, जो एक खण्ड कालविशेष का वाचक है। आंग्लभाषा में प्रसिद्ध ''Hour'' का भी वर्णगत उच्चारण करने पर ''होरा'' शब्द ही पर्यवसित होता है। आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति ने अहोरात्र के विषय में दस विभिन्न पक्षों का उपस्थापन किया है[३]। इनके अनुसार ''अहः'' और ''रात्रि'' के विभिन्न रूप इस प्रकार होंगे—

अहः = ज्योतिः, ज्ञानम्, शुक्लः, प्रकाशः, भावः, उदयः, द्यौः, सत्यम्, सूर्य्यरसाः।

---

१. ''क्यों'' उत्तरार्ध, धर्मदिग्दर्शन, माधवाचार्य, पृ० ११२।

२. ''द्वाभ्यां बभूवाखिलवेशमेतद् विद्यादहोरात्रिपदेन ते द्वे।''

(पं०मधुसूदन ओझा, ''अहोरात्रवादः'', पृ० १)

३. ज्ञानाज्ञाने शुक्लकृष्णौ च वर्णौ ज्योतिस्तद्वान्ते विश्वभावोऽप्यभावः सृष्टिध्वंसौ रोदसी चर्तसत्ये सप्ताहो वा यज्ञसामान्यभेदाः, इत्थं चाहोरात्रभेदा दशैते सृष्टे रूपं सैव सर्वास्ति सृष्टिः।

(पं०मधुसूदन ओझा, ''अहोरात्रवादः'', पृ० १)

रात्रिः = तमः, अज्ञानम्, कृष्णः, अन्धकारः, अभावः, प्रलयः, पृथ्वी, ॠतम्, पृथ्वीरसाः।

यहाँ यह मन्तव्य है कि सात प्रधान वर्णों[१] में मूल दो ही हैं, जो कि शुक्ल और कृष्ण भेद से स्पष्ट हैं। **शुक्रं ते अन्यवज्जातं ते अन्यद् विषुवरूपे अहनी द्यौः इव वासि।।**[२]

आचार्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति के शब्दों में—

सर्वेऽपि वर्णा यदि चेत् प्रसुप्ता एकत्र लीनाः स्युरयं स कृष्णः ।
सर्वेऽपि वर्णा यदि चेत् प्रबुद्धा एकत्र दुष्टाः स्युरयं स शुक्लः ।।[३]

इन विभिन्न प्रमाणों से अहःरात्रि, शुक्ल-कृष्ण, अन्धकार, स्वर्ग-प्रलयादि शब्दों का वेद में प्रतिपदी अर्थ में प्रयोग हुआ है, ऐसा सिद्ध होता है।

कालविमर्श

चतुर्युगप्रमाण के सन्दर्भ में ''अहोरात्र'' के विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है; परन्तु यह सभी खण्ड काल का प्रकाशमात्र है। अतः कालसामान्य का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है। प्रश्न है कि काल क्या है? आचार्य अन्नम्भट्ट की भाषा में—**''अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः''**।[४] वेदविज्ञानोद्धारक पं० विद्यावाचस्पति के शब्दों में काल के दो भेद हैं। यथा[५]—

काल

अमूर्त — मूर्त

१. (क) ''चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्, तच्च शुक्ल-नील-पीत-कपिश-चित्र-हरित-रक्तभेदात् सप्तविधम्''(तर्कसंग्रहः)।
(ख) पं० मधुसूदनओझामहोदयैस्तु ''सप्तवर्णास्तु योगजाः'' इति प्रत्यपादि। तथा हि— ''धूम्रोऽतिनीलनीलौ हरितः पीतः सुवर्णशोणौ च'' इति सप्त सन्ति योगजवर्णाः, अन्येऽपि योगतोऽनन्ताः''। द्र०, मधुसूदनविद्यावाचस्पतिः ''अहोरात्रवादः''।

२. तत्रत्यवेदार्थप्रकाशसंक्षेपः—''हे पूषन्, ते शुक्लवर्णम् अन्यद् एकम् अहर्भवति वासरात्मकं तथा ते... कृष्णवर्णम् अन्यद् एकम् अहर्भवति रात्र्याख्यम् इत्यादि। (ॠ०वे०,६.५८.१ मोक्षमूलरभट्टसंस्करणम्)।

३. पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पतिः, अहोरात्रवादः, शुक्लकृष्णाधिकारप्रकरणम्, पृ०३।

४. द्र० अन्नम्भट्टकृतस्तर्कसंग्रहः।

५. स एष कालो द्विविधोऽस्त्यमूर्तो मूर्तश्च मुख्यस्तु तयोरमूर्तः।
अमूर्तकालक्रमतस्त्वनन्तब्रह्माण्डरूपाः प्रलयोदयाः स्युः।।
(मधुसूदनविद्यावाचस्पति, अहोरात्रवादः, पृ०५)

उक्त विवणानुसार अमूर्त काल में अनेकानेक ब्रह्माण्ड (COSOMOS) आकाशगंगा (MILKWAY) आदि का प्रलय, उदय होता रहता है, एवं प्रलय, उदय आदि के बाद व्यावहारिक जगत् में मूर्त काल का प्रयोग होता है। इसी अमूर्त काल में अनेक सूर्य पुनः पुनः उत्पत्ति एवं विनाश को प्राप्त होते हैं। इस सन्दर्भ में सूर्यस्थितिकाल को शुक्ल एवं सूर्यनाशकाल को कृष्ण कहते हैं। यथा—

सम्भूय सम्भूय विनाशमेवं कालेऽत्र सूर्य्या अपि यान्त्यनन्ताः ।
सूर्यस्थितिस्तत्र च शुक्लकालः सूर्य्यस्य नाशेन स एष कृष्णः ।।[1]

काल
मूर्त — अमूर्त
सूर्यस्थिति (शुक्ल) — सूर्यनाश (कृष्ण)
सूर्यस्थिति (शुक्ल) — सूर्यनाश (कृष्ण)

मूर्त काल के विषय में मन्तव्य है कि यह दृश्यमान सूर्य ही मूर्त काल है। इस सूर्यरूपी मूर्त काल से निमेष-कला-काष्ठादि खण्ड काल का व्यवहार होता है और मूर्त काल रूप सूर्य ही ''अहः'' एवं ''रात्रि'' का विभाग करके सृष्टि-संहार का कार्य संचालित होता है। यथा—

यस्त्वेष मूर्तः प्रथितः स सूर्यः सूर्य्याद्विकालावयवाः प्रथन्ते ।
सूर्यो विभज्यैतदहश्च रात्रिं सृष्ट्वा मुहुः संहरतीह विश्वम् ।।[2]

इनमें भी अहः = दिन को शुक्ल एवं रात्रि को कृष्ण कहा गया है, जिसमें शुक्लकाल चेष्टात्मक एवं कृष्णकाल निश्चेष्टात्मक होता है। दूसरे शब्दों में ''अहः'' एवं ''रात्रि'' को क्रमशः ''सृष्टि'' एवं ''प्रलय'' शब्दों से कहे जाने पर उस सूर्यरूपी मूर्त काल से अहोरात्ररूपी सृष्टि-प्रलय-क्रम चलता रहता है। यथा—

शुक्लस्तु कालः प्रतिपद्यतेह कृष्णोः परः काल इहास्ति रात्रिः ।
अहर्भवेत्कर्म विचेष्टनायै निःशेषभूतस्वपनाय रात्रिः ।।[3]

---

१. द्र०, मधुसूदनविद्यावाचस्पति ''अहोरात्रवादः'', पृ०५।
२. द्र०, तत्रैव, ''सर्गप्रलयकल्पाधिकारः''।
३. (क) अहोरात्रवादः ''सर्गप्रलयकल्पाधिकारः'' पृ०५।
(ख) मनुनाऽप्युक्तम्—
''पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी।। (म०स्मृ०, १.६६)

अह्नस्तु सृष्टिः प्रलयस्तु रात्र्या अहः पुनः स्यात्पुनरेव रात्रिः ।
इत्थं न सृष्टिप्रलयावनन्तौ स्यातामहोरात्रविपर्य्ययेण ।।[१]

चतुर्युगप्रमाण के सन्दर्भ में इस कालगणना की उपयोगिता इस रूप में मान्य है कि पूर्वोक्त अहोरात्र के अनेकानेक भेद हो सकते हैं, जिनमें चार प्रधान भेद आर्ष ग्रन्थों में स्पष्ट हैं। ये सभी सूर्य के कारण होते हैं। यथा—

अहोरात्र

मानुष **पित्र्य** **दैव** **ब्राह्म**[२]

काल के सूक्ष्म परिणाम

निमेष—क्षणद्वयं त्वयः प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम्[३]

१८	निमेष	=	१ काष्ठा	=	अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठा
३०	काष्ठा	=	१ कला	=	त्रिंशत्तु ताः कला
३०	कला	=	१ क्षण	=	तास्तु त्रिंशत्क्षणः (भिन्नोऽयं शब्दः)
१२	क्षण	=	१ मुहूर्त्त	=	ते तु मुहूर्त्ते द्वादशाः
३०	मुहूर्त्त	=	१ अहोरात्र	=	ते तु त्रिंशदहोरात्रः
१५	दिन	=	१ पक्ष	=	पक्षस्ते दशपञ्च च
२	पक्ष	=	१ मास	=	मासस्तु तावुभौ
२	मास	=	१ ऋतु	=	द्वौ मासौ स्याद् ऋतुः
३	ऋतु	=	१ अयन	=	तैरयनं त्रिभिः
२	अयन	=	१ वर्ष	=	द्वे अयने तु वत्सरः[४]
१	मानुषमास	=	१ पित्र्य अहोरात्र		
१	मानुषवर्ष	=	१ दैव अहोरात्र		

१. द्र०, अहोरात्रवादः, ''सर्गप्रलयकल्पाधिकारः'' पृ०५।

२. ''प्रधानतो मानुषपित्र्यदैवब्राह्माणि यान्यर्कवशाद्भवन्ति।''
(अहोरात्रवादः ''सर्गप्रलयकल्पाधिकारः'', पृ०५)

३. द्र०, अमर० १.४.११।

४. द्र०, अमर० १.४.११-१३।

दैवैः षष्ट्यधिकैस्त्रिभिरहोरात्रशतैर्दिव्यं वर्षम्।

तैर्द्वादशभिः सहस्रैः मानुषं चतुर्युगम्।

तच्च देवानाम् एकं युगम्।

तत्सहस्त्रं ब्रह्मणो दिनम्	=	भूतानां स्थितिकालः, तावत्येव रात्रिः प्रलयकालः
१ ब्राह्म अहोरात्र	=	१ मानुष कल्प
७१ दैव युगृ	=	१ मन्वन्तर = मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः।

अमरकोशानुसार कालमानबोधक विवरण[१]

१ निमेष	= अक्षिपक्ष्मविक्षेपो निमेषः।	
१८ निमेष	= १ काष्ठा	
३० काष्ठा	= १कला	
३० कला	= १ मुहूर्त	
३० मुहूर्त	= १ अहोरात्र	
१५ अहोरात्र	= १ पक्ष	
२ पक्ष	= १ मास	
१२ मास	= १ वर्ष	= १ दिव्यहारात्र
३६० दिव्याहोरात्र	= ३६० मानुषवर्ष	= १ दिव्यवर्ष
४००० दिव्यवर्ष	= १४,४०,००० मानुषवर्ष	= सत्ययुग का मुख्यमान
३००० दिव्यवर्ष	= १०,८०,००० मानुषवर्ष	= त्रेतायुग का मुख्यमान
२००० दिव्यवर्ष	= ७,२०,००० मानुषवर्ष	= द्वापरयुग का मुख्यमान
१००० दिव्यवर्ष	= ३,६०,००० मानुषवर्ष	= कलियुग का मुख्यमान

१२,००० दिव्यवर्ष = ४३,२०,००० सन्ध्यासन्ध्यांश-सहित चतुर्युग पूर्णमान

१,२०० × ७१ दिव्यवर्ष= ४३,२०,००० × ७१ = मन्वन्तर

८,५२,००० दिव्यवर्ष = ३०,६७,२०,०००

१. द्र०, अमर०, १.४.२१ पं० हरगोविन्दशास्त्री, टिप्पणी, पृ०६६।

चतुर्युग प्रमाण—इस ज्ञान सुविधा के लिए युगक्रम निम्नलिखित है—

(क) सत्य, (ख) त्रेता, (ग) द्वापर, (घ) कलि।

कलियुग का जितना कालमान है, तद्द्विगुण द्वापर, तत्त्रिगुण त्रेता, तच्चतुर्गुण सत्य।

(क) कलिकालमान = तद्द्विगुण द्वापर
(ख) कलिकालमान = तत्त्रिगुण त्रेता
(ग) कलिकालमान = तच्चतुर्गुण सत्य

युगविचार

उपर्युक्त समस्त कालमानदण्डों में मानुष-पित्र्य-दैववर्ष तीनों प्रमाणों को स्पष्ट कर दिया गया है। सम्प्रति प्रतियुग कालपरिणाम को स्पष्ट किया जा रहा है।

कलियुग का पृथक् प्रमाण

दिव्य एक सहस्रवर्ष = कलियुग
दिव्य दो सहस्रवर्ष = द्वापरयुग
दिव्य तीन सहस्रवर्ष = त्रेतायुग।
दिव्य चार सहस्रवर्ष = सत्ययुग।

यथा[१]—

दिव्यं कलिर्वर्षसहस्रमेकं द्वे द्वापरस्त्रीणि तु तानि तत्र ।
त्रेताथ चत्वारि कृतं शतानि पूर्वत्र परत्र सन्धिः ।।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक पूर्वयुग की समाप्ति एवं परयुग के प्रारम्भ में सन्धि-सन्ध्यांश काल भी स्वीकृत है। इनमें युग के पूर्व को सन्धि एवं युग के उत्तर को सन्ध्यांश कहते हैं, यथा[२]—

तत् प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः ।।

सन्ध्या एवं सन्ध्यांश के मध्यकाल को युग कहते हैं। यथा[३]—

---

१. द्र०, अमर०, पृ० ५-६ श्लोकसंख्या २५।
२. द्र०, वि०पु०, मन्वर्थमुक्तावल्यां प्रथमाध्याये उद्धृतम्। अन्यत्रापि यथा—
सन्ध्यांशयोरन्तरेण य कालः शतसंख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते।। (भा०पु०, ३.११.२०)
३. द्र०, वि०पु० मन्वर्थमुक्तावल्यां प्रथमाध्याये उद्धृतम्।

सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तरं यः कालो मुनिसत्तम ।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः ।।

चतुर्युग का मानुष प्रमाण

प्रतियुग की मानुष गणनानुसार कालमान इस प्रकार है—

युगक्रम (मानुषवर्षमान)

सत्य	त्रेता	द्वापर	कलि
(१७,२८,०००) मानुषवर्ष	(१२,९६,०००) मानुषवर्ष	(८,६४,०००) मानुषवर्ष	(४,३२,०००) मानुषवर्ष

उपर्युक्त प्रमाण से भी पूर्वोक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है कि द्वापर-त्रेता-सत्य युग कलियुग के क्रमशः द्विगुण-त्रिगुण-चतुर्गुण हैं। पूर्वोल्लिखित समस्त तथ्यों का एकत्र संकलन— **''बिन्दुत्रयं चेति कलेः प्रमाणं द्विस्त्रिश्चतुश्चेति युगान्तराणि''**[1]।

चतुर्युग का मानुष एवं दिव्य प्रमाण

चतुर्युग

मानुषमान	दिव्यमान
४३,२०,००० मानुषवर्षों की एक चतुर्युगी	दश-सहस्र दिव्यवर्षों की एक चतुर्युगी[2]

चतुर्युग के विषय में कतिपय विशेष तथ्य

१. **सत्ययुगारम्भ**—गणना-चान्द्र, मास-वैशाख, पक्ष-शुक्ल, तिथि-तृतीया (अक्षय), वार-रवि। यह सत्ययुगादि है, अर्थात् चान्द्रगणनानुसार वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया रविवार में सत्य युग आरम्भ हुआ। इसका कालपरिमाण, १७,२८,००० मानुषवर्षात्मक है। सत्ययुग में चार अवतार हुए थे—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह। सत्य एवं त्रेता के संधिकाल में परशुराम एवं कार्तवीर्यार्जुन का युद्ध प्रसिद्ध है।

२. **त्रेतायुग**—गणना-चान्द्र, मास-कार्तिक, पक्ष-शुक्ल, तिथि-नवमी, वार-सोम। यह त्रेतायुगादि है, अर्थात् चान्द्रगणनानुसार कार्तिक शुक्ल नवमी सोमवार

---

१. द्र०, पं०मधुसूदनविद्यावाचस्पति ''अहोरात्रवाद'', पृ०६।

२. ''सत्यत्रेताद्वापरकलयश्चेति चत्वारो युगाः चतुर्युगी। स एव महायुग इत्यपि कथ्यति।''

में त्रेतायुगारम्भ हुआ। इसका कालपरिमाण, १२,९६,००० मानुषवर्षात्मक है। त्रेतायुग में तीन अवतार हुए थे—वामन, परशुराम, श्रीराम, त्रेता-द्वापर के सन्धिकाल में श्रीराम-रावण का युद्ध प्रसिद्ध है।

३. **द्वापरयुगारम्भ**—गणना-चान्द्र, मास-भाद्रपद, पक्ष-कृष्ण, तिथि-त्रयोदशी, वार-बृहस्पति। यह द्वापरयुगादि है, अर्थात् चान्द्र गणनानुसार भाद्रपद कृष्णपक्ष त्रयोदशी तिथि बृहस्पतिवार को द्वापरयुगारम्भ हुआ। इसका काल-परिमाण ८,६४,००० मानुषवर्षात्मक है। इसमें श्रीकृष्ण अवतार प्रसिद्ध है। द्वापर एवं कलि के सन्धिकाल में महाभारत युद्ध प्रसिद्ध है।

४. **कलियुगारम्भ**—गणना-चान्द्र, मास-माघ, पक्ष-शुक्ल, तिथि-पूर्णिमा, वार-शुक्र। यह कलियुगादि है, अर्थात् चान्द्र गणनानुसार माघ मास की पूर्णिमा तिथि शुक्रवार को कलियुगारम्भ हुआ। इसका काल-परिमाण ४,३२,००० मानुषवर्षात्मक है। इसमें बुद्ध एवं कल्कि दो प्रसिद्ध अवतार हैं।

कलियुगारम्भ एवं अतीतकलिवर्ष

८,६४,००० वर्षात्मक द्वापरयुग शेष होने में मात्र २५ वर्ष जब अवशिष्ट था, अर्थात् द्वापरयुग का ८,६३,९७५ वर्ष व्यतीत हो चुका था, तब श्रीकृष्ण भगवान् अवतरित हुए थे एवं इस शरीर में १२५ वर्ष तक वे अपना अवतार कार्य सम्पन्न किये।[१] अर्थात् गणनानुसार सौ वर्ष तक कलियुग में श्रीकृष्ण विद्यमान थे। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है—

(क) त्रिंशत्कल्परूप, त्रिंशद्दिनात्मक ब्राह्ममास में[२] प्रथम ब्राह्मदिन अर्थात् प्रथमकल्प को श्वेतवाराह कहते हैं। सम्प्रति श्वेतवाराहकल्प ही वर्तमान है।

(ख) इस कल्प के चतुर्दश मन्वन्तरों में सम्प्रति वैवस्वतमन्वन्तर[३] चल रहा है।

---

१. द्र०, श्रीमद्भागवतस्य वल्लभाचार्यकृतसुबोधिन्याः श्रीप्रभुचरणकृतटिप्पण्याश्च पुरुषोत्तम-चरणकृतप्रकाशः १०.३.५-८, बुभुत्सुबोधिका च। तत् समयनिर्णयश्च इत्थमस्ति—
उच्चस्थाः शशिभौमचान्द्रिशनयो लग्नं वृषो।
लाभगो जीवसिंहतुलादिषु क्रमवशात् पूषोशनोराहतः।
नैशीथः समयोऽष्टमी बुधदिनं ब्रह्मार्क्षमत्र क्षणः।
श्रीकृष्णाभिधमम्बुजेक्षणमभूदाविः परं ब्रह्म तत्।। इति। (श्रीवंशीधरकृत-भावार्थदीपिका-प्रकाशः, भा०पु०, पृ०४४६)

२. द्र०पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पति 'अहोरात्रवाद', पृ० १०-११।

३. द्र०, हेमाद्रिमहासंकल्प ''चतुर्वर्गचिन्तामणि''।

(ग) प्रतिकल्प में एक सप्तति दिव्य युग आते हैं, जिनके अन्तर्गत अनेक महायुग अर्थात् चतुर्युगी की स्थिति है। इस क्रम में सम्प्रति अष्टाविंश कलियुग व्यतीत हो रहा है।[१]

(घ) आर्षकालगणनानुसार इस सृष्टि के ब्राह्ममास के शुक्लपक्ष के[२] श्वेत-वाराह नामक (मानुषमानानुसार श्वेतवाराहकल्प) प्रथम दिन के वैवस्वत नामक सप्त मन्वन्तर में २७ चतुर्युगी अर्थात् इसके पूर्व सत्ताइस बार सत्य-त्रेता-द्वापर-कलिचक्र-परिक्रमणोपरान्त सम्प्रति २८ वीं चतुर्युगी का सत्य-त्रेता-द्वापर समाप्त होकर कलियुग चल रहा है।

सर्वप्रथम अश्वमेधसम्पादक सम्राट् मनु का वंशवृक्ष

भगवान् मनु ब्रह्मा के पुत्र और मनुष्यों के मूल पुरुष थे। वेदों के अनुसार मनु को यज्ञों का आदि प्रवर्तक माना जाता है। मनु प्रथम संविधान निर्माता थे।[३] इन्होंने मित्र और वरुण के प्रीत्यर्थ सर्वप्रथम अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था। संसार की वृद्धि के लिए वेदों के चार विभाग किये थे।[४] इन्होंने शब्द-ब्रह्म की व्याख्या भी की थी।[५]

सत्ययुग में सूर्यवंशी राजाओं का प्राधान्य था और इस वंश में अनेक प्रसिद्ध एवं ऐतिहासिक कीर्तिमान स्थापक राजाओं ने जन्म ग्रहण किया। सर्वप्रथम अश्वमेध-यज्ञ का सम्पादन करने वाले महाराज मनु का वंशवृक्ष इस प्रकार है—

सत्ययुग के प्रमुख यज्ञकर्ता सम्राट्

१. मनु, २. इक्ष्वाकु, ३. विकुक्षि, ४. रिपुञ्जय, ५. ककुत्स्थ, ६. अनेनांश, ७. पृथु, ८. विष्वगश्व, ९. आर्द्र, १०. भद्राश्व, ११. युवनाश्व, १२. श्रवस्थ। सत्ययुग का प्रथम चरण समाप्त। १३. बृहदश्व, १४. कुवलयाश्व, १५. वृद्धाश्व, १६. निकुम्भ, १७. संकटाश्व, १८. प्रसेनजित्, १९. रवणाश्व, २०. मान्धाता, २१. पुरुकुत्स, २२. त्रिशदश्व, २३. अनरण्य, २४. पृषदश्व, २५. हरयश्व, २६. वतुमान, २७. त्रिधन्वा। सत्ययुग का द्वितीय चरण समाप्त। २८. त्रपारण्य, २९. त्रिशंकु, ३०. हरिश्चन्द्र, ३१. रोहिताश्व. ३२. हारीत, ३३. चंचुभूप, ३४. विजय, ३५. रुरुक, ३६. सगर,

---

१. द्र०, हेमाद्रिमहासंकल्प 'चतुर्वर्गचिन्तामणि'।

२. द्र०, पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पति ''अहोरात्र'' पृ०१०-११।

३. द्र, पौराणिककोश:।

४. द्र०, वा०पु०, ७०.१८।

५. द्र०, वि०पु०, ६.५.६४।

३७. असमंजस, ३८. अंशुमान्, ३९. दिलीप, ४०. भगीरथ, ४१. श्रुतसेन, ४२. नाभाग, ४३. अम्बरीष। सत्ययुग का तृतीय चरण समाप्त। ४४. सिन्धुद्वीप, ४५. अयुताश्व, ४६. ऋतुपर्ण, ४७. सर्वकाम, ४८. कल्माषपाद, ४९. सुदास, ५० अश्मक, ५१,. हरिवर्मा, ५२. दशरथ, ५३. दिल्लीवय, ५४. विश्वासह, ५५. खट्वांग, ५६. दीर्घबाहु, ५७. सुदर्शन।[१]

त्रेतायुग के प्रमुख सम्राट्

सत्ययुग के चतुर्थ चरण के अन्तिम शासक महाराज सुदर्शन थे। ये सूर्यवंशी थे एवं शाक्तप्रवृत्ति के थे। इनकी सम्पूर्ण शासनावधि १५ हजार वर्ष थी। इनमें ५ हजार वर्ष तो सत्ययुग में था। तत्पश्चात् युगान्त समय आने पर अत्यधिक प्राकृतिक विप्लव उपस्थित होने से महाराज सुदर्शन अपनी पत्नी काशीराज-कन्या एवं कुलगुरु वशिष्ठ आदि प्रधान महर्षियों, उद्योगपतियों, राजाओं के साथ हिमालय में प्रवास किये और यह प्राकृतिक विप्लव ५ हजार वर्ष तक क्रमशः चलता रहा, जिसमें सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो गयी। धीरे-धीरे स्थिति सामान्य होने पर सम्पूर्ण पृथ्वी का जनजीवन सामान्य होने में ५ वर्ष का समय और लगा। इस प्रकार १० वर्ष बाद पृथ्वी प्राकृतिक विप्लव से रहित होकर निवासयोग्य बन गयी। ऐसी स्थिति में महाराज सुदर्शन ने दलबलसहित १० वर्षों पश्चात् वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय) बृहस्पतिवार को अयोध्या में पुनः पदार्पण किया और शासनसूत्र सम्भाला। पूर्वकथित है कि उक्त तिथि को ही त्रेतायुग का आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् महाराज सुदर्शन ने १० हजार वर्ष तक त्रेतायुग में राज्य किया।[२] त्रेतायुग के प्रमुख क्षत्रिय सम्राटों की वंशपरम्परा निम्नलिखित है—

१. सुदर्शन, २. दिलीप, ३. रघु, ४. अज, ५. दशरथ, ६. श्रीराम, ७. कुश, ८. अतिथि, ९. निबन्ध, १०. नल, ११. नाभ, १२. पुण्डरीक, १३. क्षेमधन्वा, १४. द्वारक, १५. अहीनज, १६. कुरु। त्रेतायुग का प्रथमपाद समाप्त। १७. पार्यात्र, १८. दलपाल, १९. छद्मकारी, २०. उक्थ्य, २१. वज्रनाभ, २२. संगनाभ, २३. व्युत्थनाभ, २४. विश्वपाल, २५. स्वर्णनाभ, २६, पुष्पसेन, २७. ध्रुवसन्धि, २८. अपवर्मा, २९. शीघ्रगन्ता, ३०. मरुपाल, ३१. प्रसूवश्रुत, ३२. सुसन्धि। त्रेतायुग का द्वितीयपाद समाप्त। ३३. मामर्व,

---

१. द्र०, (क) भविष्यपु०, प्रतिसर्गपर्व, प्रथम खण्ड, प्रथमाध्याय।
(ख) द्र०, पौराणिककोशपरिशिष्टम्।

२. द्र०, भविष्यपु०, प्रतिसर्गपर्व, प्रथमखण्डस्य प्रथमाध्यायः ५१-६१; द्वितीयाध्यायः १-३।

३४. माहाश्व, ३५. बृहद्बल, ३६. बृहदैशान, ३७. उरुक्षेप, ३८. वत्सपाल, ३९. वत्सव्यूह, ४०. प्रतिव्योम, ४१. देवकर, ४२. सहदेव, ४३. बृहदश्व, ४४. भानुरत्न, ४५. सुप्रतीक, ४६. मरुदेव, ४७. सुनक्षत्र, ४८. केशीनर, ४९. अन्तरिक्ष, ५०. सुवर्णाङ्ग, ५१. अमित्रजित्, ५२. बृहद्राज, ५३. धर्मराज, ५४. कृतजन्य, ५५. रणञ्जय, ५६. संजय, ५७, शाक्यवर्धन, ५८. क्रोध्वदान, ५९. अतुलविक्रम, ६०. प्रसेनजित्, ६१. शूद्रक, ६२. सुरथ।

त्रेतायुग का चतुर्थ चरण प्रारम्भ

त्रेतायुग समाप्त होते-होते सूर्यवंश का केन्द्रीय सत्ता पर अधिकार एवं प्रभाव शिथिल हो गया था एवं चन्द्रवंश की प्रतिष्ठा, मान्यता और अधिकार में वृद्धि हो गई थी। इस प्रकार चन्द्रवंशीय राज-परम्परा का प्राधान्य मिलता है। चन्द्रवंश की भी अनेक शाखाएँ हैं। यथा—पौरव-कौरव-यादव आदि। चन्द्रवंश का मूल इस प्रकार है—

चन्द्रवंश का मूल

ब्रह्मा अत्रि सोम बुध

प्राचीनकाल में हिमालय के बाद सुमेरु प्रदेश में एक विशाल संस्कृति विकसित हुई थी। इसको पंचजन संस्कृति भी कहते हैं। जैसा कि नाम से ही प्रसिद्ध है—इसमें पाँच प्रमुख इकाइयों का समावेश था।

पंचजन संस्कृति

ऋषि पितृ देव तिर्यक् मनुष्य

ये पाँचों नरजातिविशेष नहीं हैं। इनके मूल पुरुष ब्रह्मा ही थे। ये उक्त पाँचों में देवकोटि के थे। उनके मानस पुत्र का नाम अत्रि था। वे ब्राह्मण पितृजातीय थे। अत्रि के पुत्र देवकोटि के सोम थे। अपरवर्ण से क्षत्रिय एवं ब्राह्मणों के राजा थे।[1] सोम के पुत्र देवकोटि के बुध थे। उनकी पत्नी का नाम इला था। सोम और इला से पुरूरवा की उत्पत्ति हुई थी।[2] इला वैवस्वतमनु की ज्येष्ठ कन्या थी। अत: वह मानवी थी। इस प्रकार इला में उत्पन्न बुध का पुत्र पुरूरवा चन्द्रवंशीय क्षत्रियों का प्रथम मनुष्य था। इसके चारों पूर्वज—

१. "सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुन: प्रायच्छदहृणीयमान:"। (ऋ०वे०, १०.१०९.२)

२. द्र०, मधुसूदनविद्यावाचस्पति, माधवख्याति, पृ०९।

'बुध, सोम, अत्रि, ब्रह्मा' देवकोटिक या पितृकोटिक थे। पुरूरवा से मनुष्य परम्परा प्रारम्भ होकर ययाति तक चलती है। इसके बाद यदु और पुरु में विभाजित हो जाती है। इसके बाद युगान्तकारी प्राकृतिक विप्लव हुआ, जिसमें जलप्लावनादि दैवदुर्विपाक होने से धरती जलमग्न हो गयी और ५ वर्ष बाद पुनः निवासयोग्य हुई तथा भाद्रकृष्णपक्ष त्रयोदशी को द्वापरयुगारम्भ हुआ।

द्वापरयुग के प्रमुख सम्राट्

यद्यपि चन्द्रवंश के मूलपुरुष चन्द्रपुत्र बुध ने प्रतिष्ठानपुर में सर्वप्रथम अपनी स्थिति सुदृढ़ की थी। सिन्धु नदी के पश्चिम में प्रतिष्ठानपुर—यह सिद्धान्त मत है।[१]

चन्द्रवंश की तीन राजधानियाँ

(क) इसमें यह मन्तव्य है कि चन्द्रवंश में पुरूरवा से लेकर महाराज संवरणपर्यन्त प्रयाग में राज्य किये।

(ख) एवं कुरु से लेकर अधिसीमकृष्णपर्यन्त हस्तिनापुर में राज्य किये।

(ग) पश्चात् विवक्षु से लेकर क्षेमकपर्यन्त राजागण कौशाम्बी में राज्य किये।

द्वापरयुग का प्रथम चरण प्रारम्भ

१. संवरण, २. अर्चाज्ञ, ३. सूरिजापि, ४. सूर्ययज्ञ, ५. आतिथ्यवर्धन, ६. द्वादशात्मा, ७. दिवाकर, ८. प्रभाकर, ९. भास्वदात्मा, १०. विवश्वयज्ञ, ११. हरिदश्वार्चन, १२. वकर्तन, १३. अर्केष्टिमान, १४. मार्तण्डवत्सल, १५. मिहिरार्थ, १६. अरुणपोषण, १७. द्रिमणिवत्सल, १८. तरणियज्ञक, १९. मैत्रेष्टिवर्धन, २०. चित्राभानूर्जक, २१. वैरोचन, २२. हंसन्यायी, २३. वेदप्रवर्धन, २४. सावित्र, २५. धनपाल, २६. म्लेच्छहन्ता, २७. आनन्दवर्धन, २८. धर्मपालसुत, २९. ब्रह्मभक्तसुत, ३०. ब्रह्मेष्टिवर्धन, ३१. आत्मप्रपूजक, ३२. परमेष्टि, ३३. हैरण्यवर्धन, ३४. धातृयाजी, ३५. विधातृपूजक, ३६. दुहृण, ३७. वैरञ्च, ३८. कमलासन, ३९. समवर्ति, ४०. श्राद्धदेव ४१. सोमदत्त, ४२. सौमदत्ति, ४३. सोमवर्धन, ४४. अवतंस, ४५. प्रतंस, ४६. परातंस, ४७. मयतंस, ४८. समातंस, ४९. अनुतंस, ५०. अधितंस, ५१. अभितंस, ५२. समुत्तंस, ५३. तंस, ५४. दुष्यन्त, ५५. भरत, ५६. महाबल, ५७. भरद्वाज, ५८, अमन्युमान्, ५९. बृहत्क्षेत्र,

---

१. द्र०, अत्रिख्याति, पं० मधुसूदन ओझा।

६०. सुहोत्र, ६१. वीतिहोत्र, ६२. यज्ञहोत्र, ६३. शुक्रहोत्र, ६४. मण्डलीक, ६५. विजयेन्द्र, ६६. धनुर्दीप्त, ६७. अजमीढ़, ६८. रक्षपाल, ६९. सुशम्यर्ण, ७०. कुरु, ७१, वृष्णि, ७२. निरावृत्ति, ७३. दशारी, ७४. वियामुन, ७५. जीमूत, ७६. विकृति, ७७, भीमरथ, ७८. नवरथ, ७९. दशरथ, ८०. शकुनि, ८१. कुशुंभ, ८२. देवरथ, ८३. देवक्षेत्र, ८४. मधु, ८५. नवरथ, ८६. कुरुवत्त, ८७. अनुरथ, ८८. पुरुहोत्र, ८९. विचित्राङ्ग, ९०. सात्वतवान्, ९१. भजमान, ९२. विद्वरथ, ९३. सुरभक्त, ९४. सुमना, ९५. क्षेत्रस्त, ९६. स्वायम्भुव, ९७. हरिदीपक, ९८. देवमेधा, ९९. सुरपाल (द्वापरयुग का तृतीय चरण समाप्त), १००. जह्नु, १०१. सुरथ, १०२. विद्वरथ, १०३. सार्वभौम, १०४. जयसेन, १०५. अर्णव, १०६. अयुतायु, १०७. अक्रोधन, १०८. दक्ष, १०९. भीमसेन, ११०. दिलीप, १११. प्रतीप, ११२. शान्तनु १३. विचित्रवीर्य, ११४. पाण्डु, ११५, युधिष्ठिर[१] (द्वापरयुग का चतुर्थ चरण समाप्त)।

कलियुग के प्रमुख सम्राट्

द्वापरयुग में चन्द्रवंशी क्षत्रियसम्राटों का ही सर्वाधिक शासन था; परन्तु इस वंश में उत्पन्न शान्तनु के एकमात्र यशस्वी पुत्र देवव्रत वर्मा के समय एक समस्या उत्पन्न हो गयी। उन्होंने उपरिचरवसु की कन्या जो कि जयपुर (पौराणिक मत्स्य देश) के मल्लाहों के प्रधान के द्वारा पालित थी, योजनगन्धा से अपने पिता के द्वितीय विवाह करने पर, विमाता के पिता (मातामह) की इच्छानुसार उन्हीं के दौहित्रों को, राज्यप्राप्ति में बाधा न हो, इसलिए स्वयं आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करके 'भीष्म' नाम से प्रसिद्ध हुए; परन्तु बाद में घटनाचक्र परिवर्तित हो गया। सत्यवती के पुत्र चित्रांगद एवं विचित्रवीर्य की अकालमृत्यु के कारण वंशलोप का प्रसंग आया। तब भगवान् व्यास द्वारा नियोग नामक अमैथुनी पद्धति से पाण्डु, धृतराष्ट्र एवं विदुर की उत्पत्ति हुई, जिसमें पाण्डु ज्येष्ठ होने के कारण अभिषिक्त होने पर भी परिस्थितिवश अपनी पत्नियों के साथ वानप्रस्थ स्वीकार कर लिये। कार्यवाहक के रूप में धृतराष्ट्र राज्य संचालन करते थे। जन्मान्ध होने के कारण विश्व के किसी संविधान के अनुसार वे सम्राट् नहीं बन सकते थे। कालान्तर में पाण्डुपुत्रों एवं धृतराष्ट्रपुत्रों में इसी बात पर संघर्ष हुआ। यहीं द्वापरयुग के चतुर्थ चरण का अन्त है। इसी समय श्रीकृष्ण का अवतार हुआ– "**चतुर्थचरणान्ते च हरेर्जन्म स्मृतं बुधैः**।"[२]

---

१. द्र०, भविष्यपु०, प्रतिसर्गपर्व, प्रथमखण्डे द्वापरयुगीयभूपवृत्तान्तवर्णनप्रसङ्गः।

२. द्र०, तत्रैव, प्रथमखण्डस्य तृतीयाध्यायः, श्लोकसंख्या ८२।

पाण्डु के बाद युधिष्ठिर और दुर्योधन का दीर्घकाल तक विवाद हुआ। इस काल में धृतराष्ट्र ही कार्यवाहक शासक थे। सभी शासकीय कार्य दुर्योधन के अनुसार होता था। बाद में विश्वप्रसिद्ध महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें विजयी होकर युधिष्ठिर सम्राट् बने।[१] यहीं से कलियुगीय राजपरम्परा प्रारम्भ होती है।

१. युधिष्ठिर, २. परीक्षित, ३. जनमेजय, ४. शतानीक, ५. यज्ञदत्त, ६. निश्चक्र, ७. अष्टपाल, ८. चित्ररथ, ९. धृतिमान्, १०. सुषेण, ११. सनीथ, १२. मखपाल, १३. नृचक्षु, १४. सुखवन्त, १५. पारिप्लव, १६. सुनय, १७. मेधावी, १८. कृपञ्जय, १९. मृदु, २०. तिग्मज्योति, २१. बृहद्रथ, २२. वसुदान, २३. शतानीक, २४. उद्यान, २५. अहीनर, २६. निर्मित्र, २७. क्षेमक।[२]

सर्वप्रथम अश्वमेध सम्पादक महाराज मनु के वंशजों की चतुर्युगव्यापी सुदीर्घ वंशपरम्पराओं का अध्ययन प्रस्तुत है। इनमें कुछ राजाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता एवं अनेक स्थलों पर पुराणनिर्दिष्ट शासनकाल गणना का अभिप्राय अज्ञेय एवं दुर्ज्ञेय है। सूर्यवंश एवं चन्द्रवंशातिरिक्त अश्वमेधयज्ञकर्तृत्व की परम्परा अन्य राजवंशों में प्रायः दुर्लभ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भुवनाधिपत्य अथवा जम्बुद्वीपाधिपत्य अथवा सम्पूर्ण भारत की एकता एवं अखण्डता निर्वाह करने के जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्व का सामर्थ्य अन्य राजपरम्पराओं में दुर्लभ था। पक्षान्तर में उक्त दोनों राजवंश अपने व्यक्तित्व, सामर्थ्य, शौर्य-वैभव से शासन योग्यता प्राप्त करने में सफल हुए। फलतः पुराणों में अश्वमेधयाजी सम्राटों की परम्पराओं से राजाओं की वंशावली प्राप्त होती है।

कलियुग में शारदीय दुर्गा महापूजा की अश्वमेधरूपता

जिस प्रकार सप्तम अध्याय में नीलवृषोत्सर्ग विधि की अश्वमेध विकल्पता सिद्ध की गई है, उसी प्रकार अश्वमेध के समान एक अन्य अनुष्ठान भी प्रसंगतः उल्लेख्य है। यह अनुष्ठान ''शारदीय दुर्गा महापूजा' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक विशिष्ट एवं विशाल पूजा-पद्धति है, जो कि एक ''मिश्र

---

१. अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपंचके युद्धं कुरु-पाण्डवसेनयोः।। (द्र०, महा०भा०,आदिपर्व २.१३)

२. ''पुराणों से ज्ञात होता है कि इनका अन्त सम्राट् नन्द द्वारा हुआ, सत्यार्थप्रकाश के अनुसार क्षेमक का अन्त उसके प्रधान विश्रवा द्वारा हुआ।'' द्र०, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग-२, अध्याय-४१, पृ० २५२, लेखक पं० भगवद्दत्त।

प्रणाली'' है।[१] यह शारदीय महापूजा मिश्र पद्धति होने पर भी पौराणिक बहुल है। अत एव पुराण-भेद के अनुसार इसके अनेक भेद हैं, यथा—

१. मत्स्यपुराणोक्त शारदीय दुर्गा महापूजा पद्धति।[२]

२. कालिकापुराणोक्त शारदीय दुर्गा महापूजा पद्धति।

३. देवीपुराणोक्त शारदीय दुर्गा महापूजा पद्धति।

४. बृहन्नन्दिकेश्वरपुराणोक्त शारदीय दुर्गा महापूजा पद्धति।

५. बलिनारायणीय दुर्गापूजा पद्धति।

इसका उल्लेख यहाँ इसलिए प्रसंगप्राप्त है कि अनुष्ठानों में जिस प्रकार नीलवृषोत्सर्ग विधि[३] को अश्वमेध के विकल्प रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार शारदीय दुर्गामहापूजा भी अश्वमेधसमफलदायी रूप में कीर्तित है। यथा—

(क) अश्वमेधमवाप्नोति भक्त्या च सुरसत्तम ।
महानवम्यां पूजेयं सर्वकामप्रदायिका ।।[४]

(ख) कृत्वाऽऽप्नोति यशोराज्यं पुत्रायुर्धनसम्पदः ।[५]

यह महापूजा ''शारदीया'' ही है। यथा—

''कन्यासंस्थे रवौ वत्स शुक्लामारभ्य नन्दिकाम्।
पुत्रपौत्रसमृद्धस्तु धनधान्यसमृद्धिभिः।।
दीर्घायुः सर्वसुभगो लोकेऽस्मिन् स च जायते।।[६]

इस शारदीय दुर्गा महापूजा के प्रारम्भ को कल्पारम्भ कहा जाता है, जो छः प्रकार का है—

१. चान्द्र आश्विन कृष्ण नवम्यादि कल्पारम्भ।

२. चान्द्र आश्विन शुक्ल प्रतिपदादि कल्पारम्भ।

३. चान्द्र आश्विन शुक्ल महाषष्ठ्यादि कल्पारम्भ।

---

१. ''वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः'' —उद्धवोपदेश, भा०पु०, २७.७।

२. मत्स्यपु०, जीवानन्द-विद्यासागरसंस्करणे नैतद् विषयोपलब्धिः।

३. द्र०, इतिहासोपनिषद्।

४. द्र०, देवी०पु० २२.३३ पंचाननतर्करत्नसंस्करणम्।

५. द्र०, देवी०पु०, पंचाननतर्करत्नसंस्करणम्।

६. द्र०, कालिकापु०, ६९.२९।

४. चान्द्र आश्विन शुक्ल महासप्तम्यादि कल्पारम्भ।
५. चान्द्र आश्विन शुक्ल महाष्टम्यादि कल्पारम्भ।
६. चान्द्र आश्विन शुक्ल महानवम्यादि कल्पारम्भ।

शारदीय महापूजा घटित चान्द्र शुक्ल पक्ष ''देवीपक्ष'' तथा तदन्तर्गत षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी क्रमश: महाषष्ठी, महासप्तमी, महाष्टमी, महानवमी एवं विजयादशमी कही जाती है।[१] अश्वमेध महायज्ञ के समान ही यह भी शत्रुविजयकारी एवं साम्राज्यस्थैर्य सम्पादक है। यथा—मार्कण्डेयपुराणानुसार महाराज सुरथ ने दुर्गापूजा के द्वारा ही अपना राज्य प्राप्त किया था।[२] अन्यत्र भी रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रीरामचन्द्र ने दुर्गापूजा का अनुष्ठान किया था। **'यथैव रामेण हतो दशास्यस्तथैव शत्रून् विनिपातयामि। रामस्यानुग्रहार्थाय रावणस्य वधाय च।।**[३] हिन्दू राजपरिवारों में इसी प्रसंग में विजयादशमी के दिन विजययात्रा प्रारम्भ होती थी, जो शत्रुविजय के लिए दुर्गापूजा के अनुष्ठान के बाद विहित थी। आज भी हिन्दू राजवंशों में शारदीय दुर्गामहापूजा के बाद विजयादशमी के दिन शस्त्रास्त्रपूजा, अश्व, गो, शकट, वृषभ, धेनुपूजा इत्यादि करके विजयाभियान की औपचारिकता सीमोल्लंघन के रूप में अनुष्ठित होती है। इन विभिन्न कृत्यों से इस महापूजा के शत्रुविजय-रूप साम्य से अश्वमेध समता अनेकत्र उल्लिखित है।

अश्वमेध महायाग एवं शारदीय महापूजा का साम्यासाम्य विचार

जिस प्रकार विश्वदिग्विजय महाभियान अश्वमेध महायज्ञ का एक सार्वभौम रूप है, उसी प्रकार शारदीय दुर्गा महापूजा का भी यदि समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय, तो अन्त:साक्ष्य के आधार पर इसका भी सार्वभौम रूप सिद्ध होता है।

जैसा कि पूर्वकथित है कि यह एक मिश्र अनुष्ठान है, अधिकन्तु पुराणबहुलता भी है। वैदिक मन्त्रों का अत्यल्प सन्निवेश है। सम्पूर्ण पद्धति तन्त्रानुगत है एवं पुराणसम्मत तथा पुराणश्लोकभूयिष्ठ भी है।

दुर्गापूजा सामान्य-विशेष-विधि (देखें, पृष्ठ संख्या ३४०, तालिका संख्या-१८)—

---

१. द्र०, कालिकापु०, ६०.२-३ आदि।
२. द्र०, मार्क०पु० दुर्गासप्तशती, त्रयोदशाध्याय।
३. द्र० (क) दुर्गापूजापद्धति।
(ख) कालिकापु० ६०.२५।

तालिका संख्या-१८

पूजा सामान्य विधि

पंचोपचार दशोपचार षोडशोपचार

पूजा विशेष विधि

पंचोपचार दशोपचार षोडशोपचार अष्टादशोपचार षट्त्रिंशतोपचार चतुःषष्ट्युपचार

१. ***पंचोपचार***[1]

१. गन्ध, २. पुष्प, ३. धूप, ४. दीप, ५. नैवेद्य।

२. ***दशोपचार***[2]

१. पाद्य, २. अर्घ्य, ३. आचमनीय, ४. मधुपर्क, ५. आचमनीय, ६. गन्ध, ७. पुष्प, ८. धूप, ९. दीप, १०. नैवेद्य।

३. ***षोडशोपचार***[3]

१. पाद्य, २. अर्घ्य, ३. आचमनीय, ४. स्नान, ५. वस्त्र, ६. भूषण, ७. गन्ध, ८. पुष्प, ९. धूप, १०. दीप, ११. नैवेद्य, १२. आचमन, १३. ताम्बूल, १४. अर्चनास्तोत्र, १५. तर्पण, १६. नमस्कार।

३. ***अष्टादशोपचार***

१. आसन, २. स्वागत, ३. पाद्य, ४. अर्घ्य, ५. आचमनीय, ६. स्नान, ७. वस्त्रोपवस्त्र, ८. भूषण, ९. गन्ध, १०. पुष्प, ११. धूप, १२. दीप, १३. अन्न, १४. दर्पण, १५. माल्य, १६. अनुलेपन, १७. नमस्कार, १८. विसर्जन।

४. *षट्त्रिंशदुपचार*[4]

१. आसन, २. अभ्यञ्जन, ३. उद्वर्तन, ४. निरीक्षण, ५. सम्मार्जन, ६. सर्पिरादिश्रपण, ७. आवाहन, ८. पाद्य, ९. अर्घ्य, १०. आचमनीय,

---

१. द्र०, प्राणतोषिणीतन्त्रम्।

२. द्र०, प्रपंचसारतन्त्रम्, ६.४३-४४; ३. द्र०, प्राणतोषिणीतन्त्रम्।

४. (क) शब्दकल्पद्रुमः, १८३८ शकाब्दमुद्रितसंस्करणम्।

(ख) कृत्यचिन्तामणिः १६ अध्यायः— "आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमनस्नानवसनाभरणानि च।।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यवन्दनं तथा।।" इत्यादि।

११. स्नानीय, १२. मधुपर्क, १३. पुनराचमनीय, १४. वस्त्र, १५. यज्ञोपवीत, १६. अलंकार, १७. गन्ध, १८. पुष्प, १९. धूप, २०. दीप, २१. ताम्बूलादिकनैवेद्य, २२. पुष्पमाला, २३. अनुलेपन, २४. शय्या, २५. चामरव्यजन, २६. आदर्शदर्शन, २७. नमस्कार, २८. नर्तन, २९. गीत, ३०. वाद्य, ३१. गान, ३२. स्तुति, ३३. होम, ३४. प्रदक्षिण, ३५. दन्तकाष्ठप्रदान, ३६. देवविसर्जन।

६. ***चतुष्षष्ट्युपचार***

१. आसनारोपण, २. सुगन्धितैलाभ्यंग, ३. मज्जनशालाप्रवेश, ४. मज्जनमणिपीठोपवेशन, ५. दिव्यस्नानीय, ६. उद्वर्तन, ७. उष्णोदक-स्नान, ८. कनककलशस्थितसकलतीर्थाभिषेक, ९. धौतवस्त्रपरिमार्जन, १०. अरुणदुकूलपरिधान, ११. अरुणदुकूलोत्तरीय, १२. आलोक-मण्डपप्रवेश, १३. आलेपमणिपीठोपवेशन, १४. चन्दनागुरुकुंकुमकर्पूरकस्तूरीरोचना-दिव्यगन्धसर्वाङ्गानुलेपन, १५. केशभारका कालागुरुधूपमल्लिका-मालतीजातिचम्पकाशोकशतपत्रपूगकुहरीपुन्नागकल्लारयूथिसर्वर्तुकुसुममालाभूषण, १६. भूषणमण्डपप्रवेश, १७. भूषणमणिपीठोपवेशन, १८. नवमणिमुकुट, १९. चन्द्रशकल, २०. सीमन्तसिन्दूर, २१. तिलकरत्न, २२. कालांजन, २३. कर्णपालीयुगल, २४. नासाभरण, २५. अधरयावक, २६. ग्रथन-भूषण, २७. कनकचित्रपदक, २८. महापदक, २९. मुक्तावली, ३० एकावली, ३१. देवच्छन्दक, ३२. केयूरयुगलचतुष्टय, ३३. वलयावली, ३४. ऊर्मिकावली, ३५. कांचीदाम, ३६. कटिसूत्र, ३७. शोभाख्याभरण, ३८. पादकटक, ३९. रत्ननूपुर, ४०. पादांगुरीयक, ४१. एककरस्थ पाश, ४२. अन्यकरस्थ अंकुश, ४३. इतरकरस्थ पुण्ड्रेक्षुचाप, ४४. अपरकरस्थ पुष्पबाण, ४५. श्रीमन्माणिक्यपादुका, ४६. स्वसमानवेशास्त्रावरण देवताओं के साथ सिंहासनारोहण, ४७. कामेश्वरपर्यङ्कोपवेशन, ४८. अमृतासनचषक, ४९. आचमनीय, ५०. कर्पूरवटिका, ५१. आनन्दोल्लासविलासहास, ५२. मंगलारार्तिक, ५३. श्वेतच्छत्र, ५४. चामरयुगल, ५५. दर्पण, ५६. तालवृन्त, ५७. गन्ध, ५८. पुष्प, ५९. धूप, ६०. दीप, ६१. नैवेद्य, ६२. पुनराचमनीय, ६३. ताम्बूल, ६४. वन्दन।

उक्त उपचारात्मक पद्धतियों से सामर्थ्यानुसार यजमान एवं पुरोहित कहीं भी किन्हीं दिव्य शक्तियों का पूजन, अर्चन कर सकता है। इन सभी उपचारों से अन्य पूजा के समान दुर्गापूजा अनुष्ठान भी सम्भव है; परन्तु ''शारदीय दुर्गा

महापूजा'' एक पृथक् पद्धति है। इसका प्रचलन प्राधान्येन बंगलादेश, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा, आसाम, उड़ीसा आदि स्थानों में है। प्रसिद्धि के अनुसार बंगदेश के राजा कंसनारायण सिंह ने इस पद्धति का प्रक्रियात्मक रूप से प्रचार किया। तत्पश्चात् बंगाल के नवद्वीप के गुणग्राही राजा कृष्णचन्द्र एवं प्राय: अन्य समस्त राजागण भूस्वामियों ने शारदीय महापूजा का अपने-अपने परिवारों में कुलक्रमानुसार अनुष्ठान करके अत्यधिक प्रचार किया।

महापूजारम्भ काल

दुर्गा महापूजारम्भ काल के सम्बन्ध में दो मत हैं—

१. चान्द्र चैत्रशुक्ल षष्ठी से दशमी तक।

२. चान्द्र आश्विनशुक्ल षष्ठी से दशमी तक।

उपर्युक्त दोनों स्थलों में भी शरद्कालीन पद्धति का विशेष उल्लेख आर्ष ग्रन्थों में मिलता है।

''**शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी**।''[१]

महाषष्ठी, महासप्तमी, महाष्टमी आदि तिथियाँ भी शरद्कालीन देवी पक्ष में ही कही जाती हैं।

अश्वमेधमहायाग एवं दुर्गा महापूजा का मुख्य अनुष्ठेय साम्यविचार

१. अश्वमेध महायाग का वर्षव्यापी विस्तृत रूप होने पर भी मुख्य यागकर्म दिनत्रय=प्रथम, द्वितीय, तृतीय सुत्याह में ही अनुष्ठित होता है, उसी प्रकार दुर्गा महापूजा का प्रथम कल्पारम्भ आश्विन कृष्णपक्ष नवमी से प्रारम्भ होने पर भी मुख्य अनुष्ठेय महापूजा महासप्तमी, महाष्टमी, महानवमी रूप दिनत्रयात्मक ही है।

२. अश्वमेधयज्ञ के पूर्व में दिग्विजय के समान शारदीय दुर्गा महापूजा के बाद विजयादशमी से दिग्विजयारम्भ विहित है।

३. शत्रुविजय, निरवच्छिन्न वंशपरम्परा, सन्तति आदि की उपलब्धि भी दोनों में समान है।

४. शिष्टाचारपरम्परावशात् इसी प्रसंग में अपराजितापूजन का भी विधान है, यह प्रवृत्ति भी अश्वमेध के अनुकूल ही है।

---

१. द्र०, मार्क०पु०, दुर्गासप्तशती, द्वादशाध्याय:।

५. अश्वमेधयज्ञारम्भ काल में अन्यतम वसन्त ऋतु है। दुर्गामहापूजा भी शरत्काल के अतिरिक्त शुद्ध चैत्रशुक्ल में विहित होने के कारण वासन्ती कहलाती है।

६. जिस प्रकार अश्वमेध महायज्ञ में वीणाग्रन्थियों द्वारा सांस्कृतिक, सांगीतिक कार्यक्रम विहित है, उसी प्रकार दुर्गामहापूजा के महास्नान अर्थात् विभिन्न जलपूर्ण अनेक कलशाभिषेक प्रसंग में आठ विभिन्न रागों एवं वाद्यों का प्रयोग भी विहित है।

७. अश्वमेध में पशुसंज्ञपन का विधान है एवं दुर्गामहापूजा में बलि का विधान है।

८. दोनों अनुष्ठानों का प्रधान लक्ष्य है– शत्रुजय एवं अजेय सन्तति परम्परा की स्थापना।

शारदीय दुर्गामहापूजा में अनुष्ठेय विधियाँ

१. कल्पारम्भः, २. गन्धाद्यर्चनम्, ३. प्रोक्षणम्, ४.स्वस्तिवाचनम्, ५. स्वस्तिसूक्तपाठः, ६. साक्ष्यपाठः, ७. सङ्कल्पः, ८. सङ्कल्पसूक्तपाठः, ९. वरणम्, १०. पञ्चगव्यशोधनम्, ११. भूतशुद्धिः, १२. मातृकान्यासः, १३. अन्तरमातृकान्यासः, १४. बाह्यमातृकान्यासः, १५. प्राणायामः, १६. संहारमातका-न्यासः, १७. ध्यानम्, मानसपूजा, १८. सामान्यार्घ्यस्थापनम्, १९. प्रोक्षणी-पात्रप्रक्षालनम्, २०. जलपूरणम्, २१. सूर्यमण्डलादितीर्थावाहनम्, २२. धेनुमुद्रा, २३. मत्स्यमुद्रा, २४. द्वारपूजा, २५. विघ्नापसारणम्, २६. मासभक्तबलिः, २७. आसनशुद्धिः, २८. गुरुपंक्तिनमस्कारः, २९. दिग्बन्धनम्, ३०. पुष्पशुद्धिः, ३१. विशेषार्घ्यम्, ३२. पीठपूजा, ३३. पीठन्यासः, ३४. करन्याः, ३५. अंगन्यासः, ३६. व्यापकन्यासः, ३७. ऋष्यादिन्यासः, ३८. घटस्थापनम्, काण्डारोपणम्, ४०. सूत्रवेष्टनम्, ४१. वितानशोधनम्, ४२. आवाहनम्, ४३. पुनर्ध्यानम्, ४४. आमन्त्रणम्, ४५. अधिवासः, ४६.महासप्तमीपूजा, ४७. महाष्टमीपूजा, ४८. सन्धिपूजा, ४९. महानवमीपूजा, ५०. छागबलिः, ५१. मेषोत्सर्गः, ५२. कूष्माण्डादिबलिः, ५३.महिषोत्सर्गः, ५४. होमः, ५५. कुमारीपूजा, ५६. दक्षिणा, ५७. विजयादशमीकृत्यम् ।

उपर्युक्त क्रम में मुख्य अनुष्ठेय विधियों के साथ-साथ उपविधियों का भी संग्रह है।

दुर्गापूजा का सार्वभौम रूप : महास्नान

महास्नान एक ऐसा सार्वभौम विधान है, जो वस्तुत: अश्वमेधयज्ञ के भौगोलिक एवं लौकिक रूप को प्रत्यक्ष उपस्थापित करता है। इस महास्नान विधि में इतने अधिक द्रव्यों का सम्मेलन अपेक्षित है, जिनका संग्रह एक सार्वभौम राजा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसमें भारतवर्ष के (साम्प्रतिक भारतसंघ मात्र नहीं) समस्त नद-नदी, वनस्पति, पर्वत, स्नेह-द्रव्यादि स्नानोऽपयोगी पदार्थों की अपेक्षा है; यथा—

१. आत्रेयी जल, २. भारती जल, ३. गंगा जल, ४. यमुना जल, ५. सरस्वती जल, ६. सरयू जल, ७. गण्डकी जल, ८. श्वेत गंगाजल ९. कौशिकी जल, १०. भोगवती जल, ११. मन्दाकिनी जल, १२. सिन्धु जल, १३. भैरव जल, १४. शोण जल, १५. शुद्ध जल, १६. शंख जल, १७. उष्ण जल, १८. गन्ध जल, १९. गोमूत्र, २०. गोमय २१.गोदुग्ध, २२. गोदधि, २३. गोधृत, २४. मधु, २५. पुष्पोदक, २६. कुशोदक, २७. स्वर्णोदक, २८. रजतोदक, २९. सामान्य जल, ३०. फलोदक, ३१. इक्षुरस, ३२. सागरोदक, ३३.नारिकेलोदक, ३४. तिलतैल, ३५. विष्णुतेल, ३६. निर्झरोदक, ३७. शिशिरोदक, ३८. जम्बूफलोदक, ३९. शाल्मलिरस, ४०. व्याटालरस, ४१. बदरीरस, ४२. बकुलरस[१], ४३. सर्वौषधिजल, ४४. महौषधिजल, ४५. सहस्त्रधाराजल, ४६. गंगाजलपूरित घट (मालव राग एवं विजय वाद्य के साथ), ४७. वृष्टिजलपूरित घट (ललित राग एवं दुन्दुभि वाद्य के साथ), ४८. सरस्वतीजलपूरित घट (विभास राग एवं दुन्दुभि वाद्य के साथ), ४९. सारोदकपूर्ण घट (भैरव राग भीम वाद्य के साथ), ५०. पद्मरेणुमिश्रित जलपूर्ण घट (क्रीडा राग एवं इन्द्राभिषेक वाद्य), ५१. निर्झरोदकपूरित घट (वराडी राग एवं शंख वाद्य), ५२. सर्वतीर्थाम्बुपूर्ण घट (वसंत राग एवं पंचमशब्द वाद्य), ५३. शुद्ध जलपूरित घट (धानसी राग एवं विजय वाद्य), ५४. राजद्वारमृत्तिका, ५५. गजदन्तमृत्तिका, ५६. गोशृंगमृत्तिका, ५७. नद्युभयकुलमृत्तिका, ५८. वराहदन्तमृत्तिका, ५९. वल्मीकमृत्तिका, ६०. शर्करास्नान, ६१. गोष्ठमृत्तिका, ६२. अश्वशालामृत्तिका, ६३. पर्वतमृत्तिका, ६४. कर्पूरजल, ६५. केसरोदक।[२]

---

१. बकुलरस—"जम्बूशाल्मलिव्याटालबदरीबकुलास्त्विह।
एतेषां वल्करसा: कषाया: पञ्च कीर्तिता:।।" (द्र०, कालिकापु० "दुर्गापूजापद्धति:")

२. बृहन्नन्दिकेश्वरपुराणोक्त दुर्गापूजापद्धति।

उपर्युक्त विवरणों में पौराणिक भारतवर्ष के मानचित्र की एकता एवं अखण्डता का मूर्त रूप चित्रित है। अतएव अश्वमेध यज्ञ के दिग्विजय रूप के समान इसमें भी पर्याप्त भौगोलिक आधिपत्य एवं प्रभाव की आवश्यकता है।

महास्नानविधि

एक प्रश्न है कि पूर्वोक्त अनेकानेक द्रव्यों से मृण्मयी मूर्तिमती दुर्गा की महास्नानविधि कैसे सम्पन्न होगी? इस स्थिति में मूर्ति में ही विकार सम्भव है। दुर्गापूजा के प्रसंग में शिष्टाचार परम्परानुरूप तथ्य यह है कि महास्नान विधान में मृण्मयी मूर्ति का साक्षात् अवगाहन नहीं किया जाता, अपितु मूर्ति के सम्मुख एक विशाल पात्र को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया जाता है, जिससे वह स्पन्दित न हो। पात्र के मुख में एक त्रिकोण यन्त्र के समान बद्धकाष्ठ को स्थापित कर उसके ऊपर एक स्वच्छ दर्पण को इस विधि से स्थापित किया जाता है, जिसमें जगदम्बा की मृण्मयी मूर्ति का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब स्पष्टतया भासित होता है। ऐसी स्थिति में कमण्डलु में पूर्वोक्त विभिन्न तीर्थजल, गन्धद्रव्य, सुवासित तैल-मृत्तिका, दुग्ध-दधि-चन्दनादि अनेक पदार्थों को दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्ति को समर्पित करके तद्द्वारा महास्नान अनुष्ठित होता है।[१]

महास्नानोदक की वैज्ञानिकता

प्रसंगतः यह भी उल्लेख्य है कि उपर्युक्त समस्त द्रव्यों के मिश्रण से जगदम्बा का महास्नानोदक तैयार होता है। आज के वर्तमान वैज्ञानिक युग के परिप्रेक्ष्य में यह सर्वथा आवश्यक एवं अपरिहार्य है कि उक्त अनेकानेक द्रव्यों की सम्मिश्रणात्मक उत्पत्ति शारदीय दुर्गामहापूजा महास्नानोदक की रासायनिक एवं चिकित्सकीय परीक्षा (Chemical Medical Test) हो, जिसकी सम्पूर्णता के लिए उक्त द्रव्यगत गवेषणामूलक पदार्थशास्त्रीय (PHYSICAL) गम्भीर निदान के आविष्कार की भी आवश्यकता है।

अश्वमेधमहायाग एवं शारदीय महापूजा में वैधर्म्य

अश्वमेधमहायाग	शारदीय महापूजा
१. सम्पूर्ण वैदिक विधि है।	सम्पूर्ण मिश्रविधि है।
२. अभिषिक्त सार्वभौम सम्राट् यजमान होता हैं।	गृहस्थमात्र यजमान हो सकते हैं।

२. (क) क्रियाकाण्डवारिधिः, (ख) देवीपूजापद्धतिः (कालिकापुराणोक्ता), (ग) पुरोहितदर्पणः।

३. यजमान को चार पत्नियों की आवश्यकता है।	पत्नी सम्बन्धित संख्या का नियम नहीं है।
४. दक्षिणा निश्चित है।	दक्षिणा सामर्थ्यानुसार है।
५. यजमान के अतिरिक्त षोडश ऋत्विजों की आवश्यकता है।	इसमें गुरु, आचार्य, तन्त्रधारक पुरोहित, होता, ब्रह्मा की ही आवश्यकता है।

प्रकृत विषय का उपसंहार

पुराणप्रामाण्यानुसार देश-काल-पात्र के अभाव से कलियुग में अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल परियोजना अवश्य ही व्यावहारिक दृष्टि से इतिहास का विषय हो गयी है। अतएव आनुवंशिक जन्मप्रभृति उत्तरदायित्वपूर्ण, वंशपरम्परागत राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के स्थायी एवं सुदृढ़ रक्षकों के अभाव में भारतीय संस्कृति पर अनेक आपत्तियाँ आयी हैं। मध्यकाल में बंगनरेश कंसनारायण के प्रयास एवं प्रभाव से दुर्गामहापूजा का पर्याप्त प्रसार हुआ। फलत: सामाजिक, सांस्कृतिक एकता का एकरूप दीर्घकाल तक बना रहा। लोकमान्य श्री तिलक जी ने भी श्रीगणेशपूजा के माध्यम से इस कार्य को सम्पन्न कराने में बहुत सफलता पायी थी। दोनों ही परम्परा अद्यावधि सुरक्षित है। इस प्रकार वैदिक, पौराणिक, मिश्र, विभिन्न अनुष्ठानों के माध्यम से भारतीय एकता की सुदृढ़ भित्ति, जो स्थापित हुई है, उसी पर सामाजिक चेतना का स्वर्णप्रासाद सुशोभित है, जिसके शिखर में स्थित दोधूयमान पताका को देखकर अतीत के गौरव को सँजोते हुए भारतीयों को भविष्य को सजाने के लिए सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिए।

दक्षिणा-विचार[१]

ऋग्वेद[२] और बाद[३] में यज्ञ के समय पुरोहितों को दिये गये उपहार के वाचक के रूप में यह शब्द बहुधा प्रत्यक्षत: इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि एक

१. दक्षिणाऽऽम्नानाद् ऋत्विजां गुणकर्मत्वम्—दर्शपूर्णमासादिकर्मणां फलार्थिनो विधानात् तानि कर्माणि साङ्गानि स्वयं जायमानेनैवानुष्ठेयानि इति आप्ते आह—कर्मणि पुरुषाणाम्। दर्शपूर्णमासादौ होत्रध्वर्य्वादीनां कर्तृत्वं संभवति। कुत:? दक्षिणाऽऽम्नानाद् इति शेष:। दर्शपूर्णमासादिषु हि—
''अन्वाहार्यो दक्षिणा'' (श०ब्रा० ११.१.३.४) ''गोर्दक्षिणा'' (श०ब्रा० २.४.३.१३) इत्यादिना दक्षिणा विधीयते। सा च कर्मकरेभ्य एव दीयते भृतित्वेन। यदि यजमान एवं सर्वकार्यं कुर्यात् तर्हि स्वस्य स्वयं भृतिदानासम्भवात् तदाम्नानमनर्थकमेव स्यादिति भाव:। (द्र०, का०श्रौ०सू० १.७.१८)।

२. ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त १०.१०.७ ''दक्षिणा'' की प्रशस्ति में समर्पित है। (द्र०, ऋ०वे०, १.१६८.७, ६.२७.८, ८.२४.२९, १०.६२.१)

३. द्र०, अ०वे० ४.११.४, ५.७.११, ११.७.९, ११.८.२२, १३.१.५२, १८.४.८; तै०सं० १.७.३.१, ८.१.१; वाज०सं०, ४.१९.२३, ४.१९.३०; तै०ब्रा०, १.७.३.३;

प्रचुर दुग्ध प्रदान करने वाली (दक्षिणा) गाय ही ऐसे अवसरों[1] पर पुरोहितों का सामान्य पारिश्रमिक[2] होता था।

ऋग्वेद में परवर्ती दान-स्तुतियों ने इस प्रकार के दान को अत्यधिक अतिरंजित कर दिया है तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका वर्णन और भी अतिरंजित हो गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपहारों की गणना के अन्तर्गत प्रमुखतः केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति की वस्तुएँ जैसे—गो, अश्व, वृषभ, उष्ट्र अथवा अलंकार आदि ही आते थे; किन्तु भूमि नहीं।[3] फिर भी शतपथ ब्राह्मण[4] में दक्षिणा के रूप में भूमि का उल्लेख तो है; किन्तु इसे सम्भवतः मान्यता नहीं दी गई थी, जो कदाचित् इसलिए कि गोत्र के मुखिया की आज्ञा के बिना भूमि का विक्रय[5] सम्भव नहीं माना जाता था।[6]

वैकल्पिक दक्षिणा विषयक निर्णय

अनेक वैदिक अनुष्ठानों में दक्षिणा का विकल्प विहित है, यथा अग्न्याधान कर्म में—"**षड् द्वादश चतुर्विंशतिं वा ददाति**"[7]। यहाँ पर स्वयं वेद में ही दक्षिणा में तीन विकल्प विहित हैं। ऐसे स्थलों पर तीनों विकल्प वेदविहित होने पर भी विशेष अनुष्ठान में विशेष फल होता है, अर्थात् न्यूनसंख्याक दक्षिणा

शoब्राo १.९.३.१.। इन दक्षिणाओं को प्राप्त करने के लिए व्यवहृत मन्त्र (गाथा नाराशंसी) या तो एक व्याहृति के रूप में अथवा दो अलग-अलग शब्दों के रूप में थे। (द्रo, काoसंo, १४.५ तैoब्राo, १.३.२.६-७, निरुक्त, १.७,११.२)

१. इस नियम के लिए कुछ निर्दिष्ट न होने पर गाय ही दक्षिणा होती है। (काoश्रौoसूo,१५.२.१४, लाoश्रौoसूo, ८.१.२)

२. अर्थ का संक्रमण अंग्रेजी शब्द "Fee" के प्रयोग के समान है। द्रo, अंग्रेजी डिक्शनरी "Fee" शब्द।

३. (क) ऋoवेo, १.१२६.१-४, ५.३०.१२-१५, ८.१.३२-३३, ८.३.२१, ४.१९.२१, ५.३७.३९, ६.४६.४८, ५५.५६, ७.१८.२१-२४।
(ख) लुडविग—ऋग्वेद का अनुवाद ३.२७३-२७७ में दी गई सम्पूर्ण तालिका।
(ग) वेवर-इण्डिशे स्टूडियन, १०.४९।
(घ) दक्षिणा के रूप में वस्त्रों और स्वर्ण का अoवेo ९.५.१४ में उल्लेख है।
(ङ) शoब्राo ४.३.३.७ के अनुसार चार दक्षिणाएँ स्वर्ण, गाय, वस्त्र, अश्व हैं। इस तालिका में अश्व सज्जा और अलंकार भी सम्मिलित कर देने पर यह व्यवहारतः पर्याप्त है। (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)

४. द्रo, शoब्राo १३.७.१३ जिसके साथ १३.६.२.१८ की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण की भूमि को अपवाद मान लिया गया है।

५. द्रo, शoब्राo ७.१.१.४।

६. द्रo वैदिक इण्डेक्स, पृo३७५;

७. द्रo, शoब्राo २.२.२.३।

दान में न्यून फल और अधिकसंख्याक दक्षिणा दान में अधिक फल होता है।[१] वैदिक विधान में कहीं पर यदि दक्षिणा विधान में देय वस्तु का स्पष्ट उल्लेख न हो, तो वहाँ पर गौ का ग्रहण करना चाहिए।[२]

दक्षिणा माहात्म्य—दक्षिणा के विषय में यह मान्यता है कि वह यज्ञ की पत्नी है एवं श्रीकृष्ण के दक्षिण अंश से उत्पन्न है, इसलिए वह दक्षिणा कहलाती है। यथा—

कार्तिकीपूर्णिमायां तु रासे राधा महोत्सवे ।
आविर्भूता दक्षिणांशात् कृष्णस्य तेन दक्षिणा[३] ।।

वैदिक-तान्त्रिक-स्मार्त-पौराणिक-मिश्र किसी भी अनुष्ठान में दक्षिणा देने पर ही सफलता प्राप्त होती है। यथा[४] —

यज्ञो दक्षिणया सार्धं पुत्रेण च फलेन च ।
कर्मिणां फलदाता चेद् एवं वेदविदो विदुः ।।

यह दक्षिणा भी प्रत्येक वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रादि अनुष्ठानों के अन्त में सद्यः अवश्य देय होती है, जिससे अनुष्ठित कर्म का सम्पूर्ण फल अनुष्ठाता को प्राप्त होता है, अन्यथा फलवैगुण्य अवश्यम्भावी है, यथा—

कृत्वा कर्म च तस्यैव तूर्णं दद्याच्च दक्षिणाम् ।
तत्कर्मफलमाप्नोति वेदैरुक्तमिदं मुने ।।[५]

यदि अनुष्ठानान्त में साक्षात् दक्षिणा की व्यवस्था दुर्भाग्यवश न भी हो सके, तदानीं यजमानहितचिन्तक पुरोहित को चाहिए कि हरीतकी आदि द्रव्य से दक्षिणा वाक्य[६] सम्पन्न करा दे, जिससे कि अनुष्ठेय कर्म की पूर्णता

---

१. द्र०, का०श्रौ०सू०, १.१०.११।
२. ''अलिङ्गग्रहणे गौः सर्वत्र'' द्र०, का०श्रौ०सू०, १५.२.१३।
३. द्र०, ब्रह्म-वै०पु०, प्रकृतिखण्डम्।
४. द्र०, ब्रह्म-वै०पु०, प्रकृतिखण्डम्।
५. ब्रह्म-वै०पु०, प्रकृतिखण्डम्।
६. दक्षिणावाक्यप्रयोगो यथा—
एते गन्धपुष्पे, एतस्मै पूर्णपात्राय नमः, एतदधिपतये ॐ विष्णवे नमः, एते गन्धपुष्पे, एतत्सम्प्रदानाय ॐ ब्राह्मणाय नम इत्यर्चयित्वा, विष्णुः ॐ तत्सत्, अद्य अमुके मासि, अमुके पक्षे, अमुकतिथौ, अमुकदेवताप्रीतिकामनया कृतैतत् होमकर्मणः सांगतार्थं दक्षिणाम् इदं पूर्णपात्रं श्रीविष्णुदैवतम् अहम् अमुकगोत्राय, अमुकदेवशर्मणे, स्ववेदान्तर्गतस्वशाखाध्यायिने ब्राह्मणाय तुभ्यं सम्प्रददे। (पुरोहितदर्पणः)

असन्दिग्ध हो, पश्चात् अनुष्ठित कर्मानुरूप औपचारिक दक्षिणा का सम्पादन करे। यदि अनुष्ठानकर्ता अनुष्ठान के पूर्ण होने पर अज्ञान या किसी कारणवश, दक्षिणा सम्पादन नहीं करता है, तो यजमान, पुरोहित के पास ऋणग्रस्त हो जाता है एवं कालान्तर में अर्थशास्त्रीय नियमानुसार बैंकिंग प्रणाली के आधार पर, दक्षिणारूपी मूलधन के साथ चक्रवृद्धि क्रम से ब्याज भुगतान के समान अधिक धन देना पड़ता है, जिसका संभावित स्वरूप इस प्रकार है[1]—

अनुष्ठान (वैदिक/तान्त्रिक कर्म)	**देय दक्षिणा**	**संभावित उदाहरण**
यदि किसी अनुष्ठान की देय दक्षिणा	**शतमान हो तो**	**उसका विवरण**
१. एक मुहूर्त पश्चात्	द्विगुण	२००/-
२. एकरात्रि पश्चात्	शतगुण	२००००/-
३. त्रिरात्रि पश्चात्	दशगुण	२०००००/-
४. एक सप्ताह पश्चात्	द्विगुण	४०००००/-
५. एक माह पश्चात्	लक्षगुण	४०००००००००/-
६. एक वर्ष पश्चात्	तीनकोटिगुण	

विभिन्न ऋत्विजों का निश्चित दक्षिणा निरूपण

वैदिक अनुष्ठानों में कुल षोडश ऋत्विजों की आवश्यकता रहती है, जिनमें चार प्रधान होते हैं, एवं प्रत्येक के तीन-तीन सहायक होते हैं—

प्रधान ऋत्विज

उद्गाता (सामवेदी)	अध्वर्यु (यजुर्वेदी)	होता (ऋग्वेदी)	ब्रह्मा (अथर्ववेदी)
औद्गात्रकर्म	आध्वर्यवकर्म[2]	होत्रकर्म	ब्राह्मकर्म

उपर्युक्त चार ही प्रधान ऋत्विक् होते हैं एवं प्रत्येक के तीन-तीन सहायक हैं। यथा—

१. "कर्ता कर्मणि पूर्णे च सपदि यदि दक्षिणां न दद्यात्, ब्राह्मणेभ्यश्च देवेनाज्ञासनतोऽथवा। मुहूर्ते समतीते तु द्विगुणा सा भवेद् ध्रुवम्।। एकरात्रिव्यतीते तु भवेत् शतगुणा च सा। त्रिरात्रे तद्दशगुणा सप्ताहे द्विगुणा ततः। मासे लक्षगुणा प्रोक्ता ब्राह्मणानां च वर्धते।। संवत्सरे व्यतीते तु सा त्रिकोटिगुणा भवेत्।।" (ब्रह्म-वै०पु०, प्रकृतिखण्डम्)।

२. **आध्वर्यव इति**–यज्ञेषु खलु आध्वर्यवस्य प्राधान्यं शिष्टसम्मतम्।
तथा च सायणाचार्याः—आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थं ऋग्वेदो व्याकरिष्यते।। (द्र०, ऋग्वेदभाष्यभूमिका)

	उद्गाता	अध्वर्यु	होता	ब्रह्मा
	|	|	|	|
१.	प्रस्तोता	प्रतिप्रस्थाता	मैत्रावरुण	ब्राह्मणाच्छंसी
२.	प्रतिहर्ता	नेष्टा	अच्छावाक्	आग्नीध्र
३.	सुब्रह्मण्य	उन्नेता	ग्रावस्तुत	पोता

इसमें चारों ऋत्विक् समुदायों का अपने गण के प्रधान के नाम से व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार इन चारों समुदायों का व्यावहारिक नाम पृथक्-पृथक् है—

१. उद्गातृगण, २. अध्वर्युगण, ३. होतृगण, ४. ब्रह्मगण।

यदि किसी सोमयाग में शत गौ दक्षिणा हो, तो सर्वप्रथम ऋत्विक्गण उद्गाता– अध्वर्यु- होता- ब्रह्मा में समान-समान वितरित होगी।[1] इस प्रकार प्रत्येक गण में २५ गाय का विभाजन होगा। इसके बाद प्रतिगण में प्राप्त २५ गौ का इस तरह से विभाजन किया जाएगा, जिससे प्रधान चारों ऋत्विजों– अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, उद्गाता—को कुल जितनी गायें प्राप्त होंगी, उसका १/२ भाग द्वितीय सहायकों—प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी—को मिलेगा। इस प्रकार उपर्युक्त प्रधान पुरोहितों को प्राप्त दक्षिणा द्रव्य का १/३ भाग प्रति तृतीय सहायकों—प्रतिहर्ता, नेष्टा, अच्छावाक्, आग्नीध्र—को मिलेगा। इस क्रम में प्रधान पुरोहितों को प्राप्त दक्षिणा द्रव्य का १/४ भाग प्रति चतुर्थ सहायकों—सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत, उन्नेता, पोता—को मिलेगा।

उदाहरणों का स्पष्टीकरण

यथा किसी सोमयाग में यजमान, ऋत्विजों के लिए १०० गाय दक्षिणा द्रव्य उत्सृष्ट करे, तो उद्गातृगण, होतृगण, अध्वर्युगण, ब्रह्मगण में समान अर्थात् २५ गाय का भाग होगा एवं पूर्वोक्त क्रमानुसार दक्षिणा द्रव्य का विभाग करने पर—

१. प्रथम चार प्रधान ऋत्विजों में प्रत्येक को १२ गाय।

---

१. लेखनक्रमानुसारेण संख्यानमप्यस्ति—प्रथमः द्वितीयः तृतीयः चतुर्थ इति। यथा अध्वर्युगणे अध्वर्युः प्रथमः, प्रतिस्थाता द्वितीयः, नेष्टा तृतीयः, उन्नेता चतुर्थ इत्यादि। तदनुसारेण दक्षिणायाम् अप्यस्ति क्रमः। यावत्यो गोरूपा दक्षिणा देयत्वेनोक्ताः, ताः समशश्चतुर्धा विभज्य एकैकस्मै गणाय एकैकं भागं दद्यात्, तत्र एकैकभागार्थं दीयमाना दक्षिणाऽपि विषमशो विभज्य देया। यथा—अध्वर्युर्यावतीर्गाः प्राप्नुयात्, ततोऽर्द्धं प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्युभागतस्तृतीयं नेष्टा, चतुर्थमुन्नेता। अत एवैषामर्धिनस्तृतीयिनः पादिन इत्यपि संज्ञा। एवमेव गणान्तरेऽपि द्रष्टव्यम्। (का०श्रौ०भू०, पृ०४२)

२. द्वितीय सहायकों में प्रत्येक को, प्रथम ऋत्विक् को प्राप्त दक्षिणा का १/२=६ गाय मिलेगी।

३. इसी क्रम में तृतीय सहायकों में प्रत्येक को, प्रधान ऋत्विक् द्वारा प्राप्त दक्षिणा का १/३=४ गाय।

४. चतुर्थ सहायकों में प्रत्येक को प्रधान ऋत्विक् द्वारा प्राप्त दक्षिणा का १/४ = ३ गाय मिलेगी।

ऋत्विक् पद का सामान्य परिचय

ऋत्विक् पद ''यज्ञपुरोहित'' के लिए नियमित रूप से प्रयुक्त शब्द है, जिसके अन्तर्गत यज्ञ करने के लिए नियुक्त विभिन्न प्रकार के सभी पुरोहित आते हैं। यह निश्चित प्रतीत होता है कि सभी पुरोहित तप, स्वाध्याय से भी ''ब्राह्मण'' होते थे।[१] विभिन्न प्रयोजनों के यज्ञ के समय कार्य करने वाले पुरोहितों की संख्या प्रायः निश्चित रूप से सात होती थी। ऋग्वेद[२] के एक स्थल पर सबसे प्राचीन तालिका में यज्ञ का आयोजन करने वालों के अतिरिक्त पुरोहितों के नामों की गणना इस प्रकार है—होतृ, पोतृ, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्तृ, अध्वर्यु, ब्रह्मन् । इस सात की संख्या द्वारा ऋग्वेद में बहुप्रयुक्त वाक्पद 'सप्त-होतृ' की व्याख्या हो जाती है, जिसका पौराणिक सप्त ऋषियों से सम्बद्ध होना अत्यधिक सम्भव है। इसकी तुलना ईरान के आठ पुरोहितों से भी की जा सकती है।[३] इन सात पुरोहितों में होता प्रधान होता था जो कि सूक्त का गायक और आरम्भिक काल में उनका प्रणेता भी होता था। अध्वर्यु यज्ञ का व्यावहारिक कार्य करता था और अपने कार्य के साथ-साथ स्तुति तथा पाप को बहिष्कृत करने के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण भी करता था। इसका प्रमुख सहायक आग्नीध्र होता था और यही दोनों मिलकर व्यावहारिक कार्यों में बिना किसी सहायक के ही अपेक्षाकृत छोटे यज्ञ स्वयं सम्पन्न करवा देते थे।

प्रशास्तृ, जो कि उपवक्तृ अथवा मैत्रावरुण आदि नामों से जाना जाता था, केवल बृहद् यज्ञों के समय होतृ को निर्देशन देने तथा कुछ स्तुति करने के लिए आता था। पोतृ, नेष्टा और ब्रह्मन्, सोमयज्ञों के संस्कारों से सम्बद्ध

---

१. समस्त वैदिक मूलपाठों में यही माना गया है और इसके साथ यह नियम है कि कोई भी क्षत्रिय यज्ञोपहारों को नहीं रख सकता था। (द्र०,ऐ०ब्रा०, ७.२६)

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा इसलिए था; क्योंकि केवल ब्राह्मण ही इतने पवित्र माने जाते थे कि वे यज्ञ के दिव्य तत्त्वों को देख सकें, जिसमें भाग लेने के लिए देवता का अंश आ जाता है।

२. ऋ०वे०, २.१.२; ओल्डेनवर्ग, रिलीजन डेस वेद ३८३ (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)।

३. डर्मेस्टेटर, लेजेण्ड अवेस्ता, १.७० (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)।

होते थे, जिनमें से अन्तिम को ब्राह्मणाच्छंसी कहा जाता था। इससे उसका, उस पुरोहित से विभेद हो जाता था, जो बाद के संस्कारों में पर्यवेक्षक का काम करता था। ऋग्वेद[१] में उल्लिखित अन्य पुरोहित साम्नों के गायक, उद्‌गातृ और उसके सहायक प्रस्तोतृ होते थे, जबकि एक अन्य प्रतिहर्तृ भी हो सकता था, जिसका उल्लेख नहीं है। इसका कार्य निस्सन्देह संस्कार सम्बन्धी बाद के कृत्यों से सम्बद्ध होता था, जिसके अन्तर्गत एक ओर यज्ञ सम्बन्धी प्रकारों का विस्तृत विवरण कृत्यों से सम्बद्ध होता था, और दूसरी ओर सोम पौधों को सम्बोधित बड़े-बड़े सूक्तों का प्रयोग अच्छावाक्,[२] ग्रावस्तुत, उन्नेतृ और सुब्रह्मण्य जैसे अन्य पुरोहितों का बाद में ब्राह्मण-ग्रन्थों में विकसित अधिक विस्तृत संस्कारों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इस प्रकार यहाँ सोलह पुरोहित हो जाते हैं, जिन्हें कृत्रिम और केवल औपचारिक रूप से चार समूहों[3] में वर्गीकृत किया गया है, यथा—

होतृ	उद्‌गातृ	अध्वर्यु	ब्रह्मन्
मैत्रावरुण	प्रस्तोतृ	प्रतिष्ठातृ	ब्राह्मणाच्छंसी
अच्छावाक्	प्रतिहर्तृ	नेष्टृ	आग्नीध्र
ग्रावस्तुत	सुब्रह्मण्य	उन्नेतृ	पोतृ

इन सभी पुरोहितों के अतिरिक्त एक ऐसा पुरोहित भी होता था, जो सभी धार्मिक कर्तव्यों में राजा का आध्यात्मिक परामर्शदाता होता था। गेल्डनर[४] का विचार है कि नियमित रूप से जब पुरोहित वास्तव में बड़े-बड़े यज्ञों में भाग लेता था, तो वह ब्राह्मण का कार्य करता था। इससे ऐसे पुरोहितों का

---

१. ऋ०वे०, ८.८१.५।

२. द्र०, (क) कौ०ब्रा०, २८.४।

(ख) ऐ०ब्रा०, ६.१४.४।

(ग) बर्गेन Researches sur I histoire dela liturgie Vedique 47.

(घ) ओल्डेनवर्ग– रिलीजन डेसवेद ३९७, नोट२।

(ङ) ग्रावस्तुत, उन्नेतृ, सुब्रह्मण्य—ऐतरेय तथा अन्य ब्राह्मण में आते हैं। द्र०सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश।

३. आश्व०श्रौ०सू०, १३.१४.१।

ऋग्वेदसूत्र में इन चार समूहों का क्रम होतृ, ब्रह्मन्, उद्‌गातृ और अध्वर्यु है। कभी सत्रहवें पुरोहित का भी उल्लेख है, किन्तु इसे साधारणतया मान्यता नहीं दी गई है, यद्यपि कौषीतकि लोग इसे सदस्य मानते रहे। (श०ब्रा०, १०.४.१.१)

४. वेदिशे स्टूडियन २.१४३ (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)।

आशय है, जो समस्त सांसारिक कृत्यों के अधीक्षक के रूप में कार्य करता था। गेल्डनर के इस विचार से ऋग्वेद[१] और परवर्ती साहित्य[२] में भी अनेक स्थलों पर प्रमाण हैं, जहाँ पुरोहित और ब्रह्मन् एक साथ सम्मिलित कर दिये गये हैं, अथवा समान बताये गये हैं। फिर भी ओल्डेनवर्ग[३] अपेक्षाकृत अधिक उचित रूप से इस बात का संकेत करते हैं कि आरम्भिक काल में ऐसी स्थिति नहीं थी। उस समय पुरोहित सामान्यतया 'होता' पद पर प्रतिष्ठित होता था, जो कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गीतों का गायक भी होता था, और ब्रह्मन्, जो कि पर्यवेक्षक के रूप में ऋग्वेद में नहीं है– बाद में प्रधान अधीक्षक का कार्य ग्रहण किया, जिसे उसके पहले पुरोहित करते थे, जो राजा को सुरक्षित रखने के लिए, स्वपदेन अभिचारों के प्रयोग में पटु होते थे, जिनका दुष्ट राक्षसों द्वारा यज्ञ की रक्षा करने के लिए भी प्रयोग हो सकता था।

इसी सिद्धान्त से यह तथ्य भी सहमत है कि प्रमुखतः[४] मनुष्यों का पुरोहित अग्नि, स्वयं होतृ भी है, और 'आप्ती सूक्त' के दो दिव्य होतृयों को दिव्य पुरोहित कहा गया है।[५]

इसके विपरीत ऐतरेय-ब्राह्मण[६] में यह नियम स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि क्षत्रिय को एक ब्रह्मन् पुरोहित ही रखना चाहिए। तैत्तिरीयसंहिता[७] में वशिष्ठ परिवार को ब्रह्मन् पुरोहित होने का विशेष अधिकार प्राप्त है। यह कदाचित् इस बात का द्योतक है कि ये वही लोग थे, जिन्होंने पहले पुरोहित होते हुए, याज्ञिक संस्कारों में अपने होतृयों जैसे कार्य को ब्रह्मनों से बदल लिया था।

---

१. ऋ०वे०, १.४४.१०, १.९४.६, ८.२७.१।

२. ''बृहस्पति देवों के पुरोहित हैं। द्र०, ऋ०वे०, २.२४.९, तै०ब्रा०, २.७.१.२, ऐ०ब्रा०, ३.१७.२, श०ब्रा०, ५.३.१.२. किन्तु ऋ०वे०, १०.१४.१.३, कौ.ब्रा. ६.१३, श.ब्रा. १.७.४.२१ में 'ब्रह्मन् तथा वशिष्ठ'। ऋग्वेद १०.१५०.५ में ''सुदासपैजवन शा०श्रौ०सू०, १६.११.४. में ''पुरोहित'' है, किन्तु शुनःशेप यज्ञ में ''ब्रह्मन्'' पुरोहित है। (शा०श्रौ०सू० १५.२१)

३. ओल्डेनवर्ग Religion des Vedas Page No.380.

४. होतृ और पुरोहित के रूप में अग्नि।
(क) ऋ०वे०, १.१.१, ३.३.२, ३.११.१, ५.११.२ में आता है। (ख) ऋ०वे०, ८.२७.१, १०.१.६, में इसके पुरोहितत्व का होतृ जैसे ही वर्णन है। (ग) ऋ०वे०, १०.९.८ में देवापि पुरोहित और होतृ है।

५. द्र०, ऋ०वे०,१०.६६.१३, १०.७०.३ ''पुरोहिता ऋत्विजाः''।

६. द्र०, ऐ०ब्रा०, ७.२६;

७. द्र०, तै०सं०, ३.५.२.१।

अधिकतर अवस्थाओं में यज्ञ केवल एक व्यक्ति के लिए किये जाते थे। सत्र[१] अथवा दीर्घकालीन अवधि के यज्ञों का आयोजन केवल उनमें भाग लेने वाले पुरोहितों के लाभार्थ ही किया जाता था। यद्यपि इसके परिणाम से सभी का लाभान्वित होना सम्भव था एवं इसमें लगे सभी व्यक्ति दीक्षित होते थे। यह सत्य है कि राजा के लिए किये गये यज्ञ का उद्देश्य उसकी प्रजा की समृद्धि लाना भी होता था; किन्तु ध्यातव्य विषय यह है कि सुख-समृद्धि की स्तुति[२] में केवल पुरोहित और राजा के नाम का ही प्रत्यक्ष प्रयोग होता था तथा प्रजाओं का उसकी कृषि की समृद्धि के सम्बन्ध में परोक्ष रूप से संकेत आता था।[३]

अश्वमेध की निश्चित दक्षिणा का निरूपण

अश्वमेध महायज्ञ नामक दीर्घकालीन, विश्वव्यापी, महापरियोजना के परिप्रेक्ष्य में दक्षिणा का विधान भी एक निश्चित मानदण्ड के अधीन सम्पन्न होता था।[४]

महाभारत के अनुसार सम्राट् युधिष्ठिर ने अश्वमेधानुष्ठान के बाद महर्षि वेदव्यास को समस्त पृथिवी का दान किया था, जिसको महर्षि ने सम्राट् को लौटा दिया और उसके निष्क्रय रूप से ऋत्विजों का सत्कार करने का आदेश दिया।[५]

इसी क्रम में सम्राट् युधिष्ठिर ने बटदाल्भ्य मुनि को रत्न पर्वत शिखर पर विचरणशील स्वर्ण वृषभ का दान किया था।[६] इसी प्रकार प्रत्येक प्रधान चार ऋत्विजों को एक रथ, एक हाथी, दस उत्तम अश्व, एक भार स्वर्ण, स्वर्णालंकृत सौ गाय, एक सेर श्रेष्ठ मुक्ता एवं कार्यकुशल ४-४ सेवक दान किया था। इसके बाद अन्य ऋत्विजों को पूर्वोक्त दक्षिणा का अर्धांश दान किया एवं द्वारपाल तथा अन्य राजाओं को भी दान से सन्तुष्ट किया।

इसी प्रकार अनेक आश्वमेधिक वर्णनों में चारों प्रधान ऋत्विजों को चार दिशाओं के दान का वर्णन मिलता है। इसी विषय में आर्ष ग्रन्थों में तीन दिनों में प्राधान्येन अनुष्ठेय दक्षिणा का वर्णन निम्नलिखित है।

---

१. ओल्डनवर्ग : रिलिजन डेस वेदाज, पृ० ३७१ (वैदिक इण्डेक्स समुद्धृत)।

२. द्र०, वाज० सं० २२.२२, तै०सं०, ७.५.१८, मै०सं०, ३.१२.६, का०सं०, ५.५.१४, वेवर, ''इण्डिशे स्टूडियन'' १०.१४१.३७६।

३. द्र०, वै०इ०मैक्डानल और कीथ, एतत् सर्व ''दक्षिणा''शब्दविमर्शे द्रष्टव्यम्।

४. द्र०, का०श्रौ०सू०, १५.७.३३।

५. द्र०, महाभा०आश्वमेधिकपर्व ८९.८-१८; जैमिनीयाश्वमेध ६४.४६।

६. द्र०, जैमिनीयाश्वमेध ६४.४६।

दिनत्रये दक्षिणादानम्

विजयमध्याद्धोतुः प्राची दिग् दक्षिणा, ब्राह्मणाध्वर्योः प्रतीच्युद्गातुरुदीची तृतीयं तृतीयमन्वहं ददाति। भूमिपुरुषं ब्राह्मणस्ववर्जम्। दिग्विजयकरणे प्राच्या दिशो यद् द्रव्यमानीतं तस्य तृतीयं तृतीयं भागं प्रत्यहं होत्रे दद्यात्। एवं दक्षिणस्या दिश आनीतं द्रव्यं ब्रह्मणे, प्रतीच्या आनीतमध्वर्यवे, उदीच्या आनीतम् उद्गात्रे दद्यात् ।[१]

इस प्रकार प्रधान चार ऋत्विजों को यजमान की पत्नियों की अनुचरियों का दान विहित है। पूर्व में कहा गया है कि अश्वमेधयाजी को इस यज्ञ में चार पत्नियों की आवश्यकता होती है। यथा—१. महिषी, २. वावाता, ३. परिवृक्ता, ४. पालागली।

इनकी अनुचरियों को क्रमशः ब्रह्मा, उद्गाता, होता एवं अध्वर्यु को दान किया जाता था। उपर्युक्त आर्ष प्रमाण से अश्वमेध महायज्ञ की निश्चित दक्षिणा का निरूपण स्पष्ट है।[२] अतएव इन धार्मिक अनुष्ठानों के ब्याज से कितना भी प्रभावशील व्यक्तित्व क्यों न हो, गुप्तरूप से मुद्राभण्डारण एवं पूँजीवाद जैसी दुःसाध्य प्रवृत्ति को किंचित् भी प्रश्रय नहीं दे सकता।

अश्वमेधयाग से वित्त का विकेन्द्रीकरण

समस्त संसार में अशान्ति का मूल कारण है "वैषम्य"। यह वैषम्य अनेक रूप में व्यक्ति, समाज, संघटन और राष्ट्र तक को प्रभावित करता है। वैषम्य के अनेक रूप हैं, यथा—१. आर्थिक, २. मानसिक, ३. व्यावहारिक, ४. यथार्थ। इनमें यथार्थ वैषम्य यदि कार्यकारणमूलक, युक्तियुक्त एवं प्रयोजन तथा उपलब्धि के अनुसार है, तो अवश्य ही स्वीकार्य है, अन्यथा यथार्थाभास का रूप धारण कर, समाज में अत्यन्त दुर्गुण उत्पन्न कर देता है। व्यावहारिक एवं मानसिक वैषम्य क्रमशः समाज और व्यक्ति की दुर्बलता है; परन्तु आर्थिक वैषम्य, गृह से प्रारम्भ करके विश्व स्तर की राजनीति को भी प्रभावित करता है। विश्व में प्रचलित साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, लोकतन्त्र आदि समस्त शासन पद्धतियाँ उपर्युक्त स्थितियों के अन्तर्गत ही हैं। वित्त का अवैधानिक विकेन्द्रीकरण अर्थात् अनुचित एकाधिकार, आर्थिक वैषम्य का प्रकट रूप है, जिसकी परिणति दूसरों

---

१. द्र०, का०श्रौ०सू०, २०.४.२७।

२. "उद्वसानीयान्ते भार्या ददाति यथासंवादं सानुचरीः महिष्यनुचरीणां ब्रह्मणे, वावाताया अनुचरीणाम् उद्गात्रे, परिवृक्ताया अनुचरीणां होत्रे दानम्। कुमारीं पालागलीं चाध्वर्यवे, अनुचरीर्वा फलाधिकारादितरासाम्। वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न भार्या दद्यात् किन्तु अनुचरीरेव। कुतः? इतरासां भार्याणां फलाधिकाराद्याजमानतुल्या एवैताः। (१. का०श्रौ०सू०२०.८. २४-२६, २. श०ब्रा०, १२.५.२.७-८)

के प्रति शोषण, अत्याचार, न्यून भुगतान आदि एवं अपने लिए अपव्यय, भोग-विलास के रूप में प्रकट होता है। इन समस्त दु:साध्य समस्याओं के निवारण का प्रधान रूप है—वित्त का वैधानिक विकेन्द्रीकरण। वित्त के वैधानिक विकेन्द्रीकरण से जहाँ व्यक्ति एवं कुल का अपना सत्त्व सुरक्षित रहेगा, वहीं पर सर्वसाधारण को अपना यथोचित भाग भी प्राप्त होगा।

अश्वमेधयाग की दक्षिणा प्रणाली भी वित्त के विकेन्द्रीकरण का एक मूर्त रूप है, जिसके द्वारा वित्त पर विश्वविजयी सम्राट् का भी अवैधानिक अक्षुण्ण एकाधिपत्य नहीं हो सकता। पूर्व प्रकरणों के विश्लेषणों से स्पष्ट है कि विश्वविजय के बाद अश्वमेध महायज्ञ का अनुष्ठान होता था एवं उसमें विपुल अर्थराशि का व्यय होता था। तदनुसार एक श्रमिक से लेकर ऋत्विक्‌पर्यन्त अर्थ का विकेन्द्रीकरण सम्पन्न होता था। दिग्विजय से प्राप्त धन का भी सन्निवेश राजा के व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय कोश में न होकर वितरण में होता था एवं जिन ऋत्विजों को यह द्रव्य दिया जाता था, उसमें भी प्रधान को प्राप्त द्रव्य राशि का १/२, १/३, १/४ भाग होता था। पशु-धनादि में भी आज द्रव्य के विनिमय से ही परिपालनादि की व्यवस्था है; परन्तु पशुधन के एक निश्चित भाग को यदि पशुपालक को दिया जाय, तो आर्थिक विकेन्द्रीकरण उत्तम रूप से हो सकता है।

उदाहरण के लिए जिस यज्ञ में १०० गाय दक्षिणा होगी, उसमें विधानानुसार प्रति ऋत्विक्‌गण में समानांश का आवण्टन होने से २५ गायें आयेंगी। पूर्व प्रकरण में निरूपित विभाग प्रणाली के अनुसार प्रधान ऋत्विक् को १२ गाय एवं उसके तीनों सहायकों को क्रमश: १/२, १/३, १/४ के अनुसार अन्तिम सहायक को तीन गाय मिलेंगी। ऐसी स्थिति में एक शिक्षित बुद्धिजीवी व्यक्ति अवश्य ही किसी गोपालक की व्यवस्था करेगा एवं यदि मुद्रास्फीति की दु:स्थिति रोकनी हो तो, वेतन के रूप में पशुधन का ही प्रयोग किया जाएगा। इस स्थिति में तीन गाय की रक्षा करने पर एक गाय का दूध गोपालक का होगा।

इसी प्रकार की व्यवस्थाओं से वित्त का विकेन्द्रीकरण, मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण, सामाजिक एकता, पारिवारिक बन्धन, उत्तरदायित्व के निर्वाहादि के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर पर अशान्ति का मूल कारण आर्थिक वैषम्य का निवारण होने से, जन्म प्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण, योग्य सन्ततियों की उत्पत्ति के माध्यम से राष्ट्र की एकता, अखण्डता की रक्षापूर्वक स्थिर शासन और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। अश्वमेध महायज्ञ की यह एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लौकिक उपलब्धि है।

●

नवम परिच्छेद

अश्वमेधाध्याय

सम्पूर्ण अश्वमेधयाग-विधि का संक्षिप्त निरूपण

इसके पूर्व अध्यायों में अश्वलक्षण, दिग्विजय, भारतवर्ष का स्वरूप, जम्बूद्वीपनिरूपण इत्यादि विभिन्न अश्वमेध महायज्ञ के आनुषंगिक विषयों का विवेचन करते हुए, सम्प्रति अश्वमेध महायाग पर संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकार अद्यावधि अश्वमेध का बहिरंग पक्ष प्रस्तुत कर, सम्प्रति अन्तरंग पक्ष को उपस्थित किया जा रहा है।

अश्वमेध महायज्ञ का अन्तरंग-पक्ष

पूर्व में कहा गया है कि अश्वमेध महायाग का अनुष्ठेय रूप त्रिदिवसात्मक है, अवश्य ही इसका राजनीतिक रूप वर्षाधिक कालव्यापी है। वर्षाधिक कालव्यापी राजनीतिक रूप ही अश्वमेधयज्ञ का आनुषंगिक या बहिरंग पक्ष है, जिसका विश्लेषण प्रस्तुत करने के बाद सम्प्रति मात्र दिनत्रयात्मक अश्वमेध महायज्ञ नामक वैदिक सोमयाग विशेष की अनुष्ठान विधि का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। अवश्य ही दिनत्रयव्यापी अश्वमेध महायज्ञ के एक वर्ष के लिए दिग्विजयार्थ छोड़ा जाने वाला अश्व एवं उसके आनुषंगिक रक्षा-विधानादि भी यहाँ पर प्रसंगतः उल्लेखरूप में प्रस्तुत होंगे। तदनुसार सम्पूर्ण ''अश्वमेध महायज्ञ'' नामक सोमयाग विशेष में आर्ष ग्रन्थानुसार अधोलिख्यमान प्रमुख विधियाँ क्रमशः अनुष्ठेय हैं—

१. ब्रह्मौदनपाकविधि, २. ब्रह्मौदनपाकविधि की दक्षिणा, ३. अश्व की रशना= रज्जु का आज्यशेष से लेपन, ४. उक्त विधि का विकल्प, ५. अध्वर्युकर्तृक यजमान के कण्ठ में निष्क का पहनाना, ६. यजमान का वाक्संयम, ७. यजमान की चारों पत्नियों का अनुचरी सहित आगमन, ८. वावाता नामक द्वितीय पत्नी के जानुमध्य में यजमान का शयन, ९. अन्य पत्नियों का सुविधानुसार शयन, १०. पूर्व दिन में धारण किये हुए निष्क का दान, ११. पथिकृत इष्टि, १२. पथिकृत इष्टि की दक्षिणा, १३. पौष्णी इष्टि, १४. पौष्णी इष्टि की दक्षिणा, १५. अश्व का बन्धन, १६. अश्व का स्नान, १७. मूसल से चतुर कुक्कुर का मारण, १८. मृत कुक्कुर का, अश्वस्नान

समय में अश्व के नीचे बाँधना, १९. अग्नि के समीप अश्व को लेकर शत अथवा सहस्र आहुति, २०. उक्त विधि का विकल्प, २१. सावित्री इष्टि, २२. ब्राह्मण द्वारा यजमान की स्तुति, २३. क्षत्रिय द्वारा यजमान की स्तुति, २४. अश्व के कर्ण में जप, २५. अश्व का उत्सर्ग, २६. अश्वरक्षकों की नियुक्ति, २७. अश्वरक्षकों का कर्तव्य, २८. अध्वर्यु आदि का सुवर्णासन, कूर्च, फलक, कशिपु में उपवेशन, २९. होता का पारिप्लवशस्त्र-शंसन, ३०. पारिप्लवशस्त्र का प्रतिगर, ३१. गायनाचार्यों द्वारा यजमान का कीर्तिख्यापन, ३२. प्रक्रम होम, ३३. धृति होम, ३४. प्रतिदिन अनुष्ठेय कर्म विवरण, ३५. उक्त विधि का विशेष पक्ष, ३६. संवत्सर पूर्ण होने पर गायनाचार्यों का सम्मान, ३७. राजर्षियों द्वारा यजमान की स्तुति, ३८. यजमान की देवतुल्यता, ३९. यजमान की प्रजापतितुल्यता, ४०. अश्व के सिंघाणक होने पर पौष्णचरु का विधान, ४१. अश्व के चक्षु रोग में सौर्यचरु, ४२. जल में नष्ट होने पर वारुण चरु, ४३. अरिष्ट्यामय में वैश्वानर, ४४. आचार्यान्तर का मत, ४५. अश्व के नष्ट होने पर त्रिहविष्का इष्टि, ४६. अश्व के स्खलन होने पर प्रायश्चित्त, ४७. परिस्थिति विशेष में अश्वान्तर का विधान, ४८. औदग्रभण होम, ४९. कृष्णाजिन दीक्षा, ५०. द्वादशदीक्षा और उपसद, ५१. देवयजन, ५२. चयनक क्षेत्र निर्माण, ५३. यूपविधान, ५४. प्रतियूप में पशुनिरूपण, ५५. सवनीय दिन की विशेषता, ५६. अवशिष्ट दिनद्वय की विशेषता, ५७. तीनों दिन की दक्षिणा, ५८. उक्थ्य ग्रहण, ५९. रात्रि के प्रत्येक प्रहर में क्रमानुसार होम, ६०. महिमग्रह-ग्रहण, ६१. अश्वस्तुति, ६२. रथसंयोजन, ६३. तडागादि में प्रवेश, ६४. तीनों पत्नियों द्वारा घृत से अश्व का लेपन, ६५. अश्वशरीर में मणिबन्धन, ६६. अश्व को हुतशेष समर्पण, ६७. विभिन्न पशुओं का अग्निष्ठ में बन्धन, ६८. विभिन्न यूपों में अनेक पशुओं का बन्धन, ६९. कपिंजलादियों का उत्सर्ग, ७०. अश्व का संज्ञपन, ७१. अश्व का परिक्रमण, ७२. मृत अश्व के समीप महिषी का चयन, ७३. अध्वर्यु आदि का कुमारी आदि के साथ संवाद, ७४. अश्वशरीर में सूचिकाभेदन, ७५. अश्वच्छेदनोपयोगी खड्ग का स्वरूप, ७६. अन्य पशुओं के विशंसनोपयोगी खड्ग निरूपण, ७७. अश्व का अंगविभाग, ७८. महिमग्रह का प्रचार, ७९. वपाप्रचार के विभिन्न पक्ष, ८०. रजतमहिमग्रह का प्रचार, ८१. अश्वश्रपण विधि, ८२. अश्वाङ्गो से होमादि सम्पादन, ८३. तृतीय दिन का विशेषकृत्य, ८४. अवभृथेष्टि, ८५. ऋत्विजों को अनुचरियों का दान, ८६. अश्वमेधसमाप्ति के बाद अनुष्ठेय कर्म, ८७. उक्त विधि का विकल्प, ८८. अश्वमेध समाप्ति के आगामी वर्ष में अनुष्ठेय विधि।

अश्वमेध-यज्ञ-विधि का संक्षिप्त निरूपण

विहितकर्मारम्भ के पूर्व अनुष्ठाता द्वारा प्रायश्चित्त

शिष्टाचार परम्परानुसार किसी भी विहित कर्म के आरम्भ के पूर्व दो मुख्य तथ्य अपेक्षित हैं। यथा—? शरीरशुद्धि, २. द्रव्यशुद्धि। शास्त्रीय मान्यतानुसार प्रकृत जन्म एवं जन्मान्तर्गत, ज्ञात-अज्ञात समस्त पापनिवारणार्थ तत्तत् पापोच्चारणपूर्वक प्रायश्चित्त का संकल्प[१] विहित है। तत्पश्चात् गोदान-उपवासादि व्रतों का भी धर्मशास्त्रों में विधान है।

स्नान-विधान

पूर्वोक्त प्रायश्चित्त अनुष्ठान के पश्चात् क्षौरकर्मपूर्वक दशविध स्नान विहित है। दशविध स्नान का नामसंकीर्तन यथा— १. गोमय स्नान, २. गोमूत्र स्नान, ३. गोघृत स्नान, ४. गोदधि स्नान, ५. गोदुग्ध स्नान, ६. भस्म स्नान, ८. कुशोदक स्नान, ९. चन्दनोदक स्नान, १०. शुद्धोदक स्नान।

स्नानानन्तर विघ्नापसारण

यह तथ्य अवश्य ध्यातव्य है कि अश्वमेधयाजी की पारिवारिक एकता सर्वथा अपेक्षित है। याग का मुख्य संकल्प दैवज्ञ द्वारा निर्धारित श्रेष्ठ मुहूर्त में होना चाहिए, ततः ऋत्विजों एवं आप्तपुरुषों का आमन्त्रण अपेक्षित है। अश्वमेधयाग जैसे अतिविशिष्ट अनुष्ठान के संकल्प से पूर्व अश्वमेधयाजी को यह निश्चित होना चाहिए कि अपना अथवा पूर्वजों का कहीं ऋण न हो। उसको दूर करके ही व्यक्ति अश्वमेधाधिकारी होता है। संकल्प के पूर्व यह भी करणीय है कि अपने कुल में परस्पर वैमनस्य न हो। यज्ञ सम्बन्धित सभी आवश्यक वस्तुएँ यथा—उपकरण, यज्ञपात्र, समिधा, कुश, काष्ठ, तण्डुल, हविर्द्रव्य आदि का संग्रह भी पूर्व में ही होना चाहिए। समिधासंग्रह के बाद, शत्रु निवारणार्थ समस्त तैयारी करके शुभमुहूर्त में संकल्प करना चाहिए।

यज्ञ का फल-प्रयोजन एवं पूर्वाङ्गकर्म

अश्वमेधयज्ञ सर्वकामनारूप लौकिक अर्थ का प्रयोजक है। ''सर्वकाम'' शब्द में लौकिक ऐश्वर्य के साथ मोक्ष भी सन्निहित है। अश्वमेधयज्ञ अश्वपशुद्रव्य-

---

१. संकल्प इति। अयं च प्रकारो महासंकल्पपदेन प्रसिद्धः। तद्विधिर्यथा—''स्वस्ति-श्रीमुकुन्दसच्चिदानन्दस्य—अमुकतीर्थे वा प्रवाहाभिमुखं स्नानमहं करिष्ये''। इति संकल्प्य स्नायात्, यदि जायमानो वेदाधिकारी न स्यात् तर्हि तेनायं संकल्पः पुराणोक्तविधिना कार्यः, उपाध्यायेन तत्करतः कारयितव्यश्च इति हेमाद्रिकृतः संकल्पप्रयोगः। द्र०, शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन-वाजसनेयिनाम् आह्निकसूत्रावलिः, पृ० २७९-२८५।

परकमात्र ही नहीं, अपितु यह विशाल याग समुदाय, प्रतीक, प्रतिनिधित्व सम्पन्न महायोजना है। पूर्वाङ्गकर्म के पश्चात् कतिपय स्मार्त विधियाँ भी अनुष्ठेय हैं, यथा—१. गणेशपूजन, २. पुण्याहवाचन, ३. मातृकापूजन, ४. नान्दीश्राद्ध, ५. ऋत्विग्वरण, ६. मधुपर्कादि द्वारा ऋत्विजों का वरण, ७. सत्कृत ऋत्विजों का गजारोहण, ८. अध्वर्यु का अश्वारोहण, ९. ब्रह्मौदनपाक, जिसमें अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, उद्गाता, आग्नीध्र, ये पाँचों ऋत्विक् सहभागी होते हैं।

अश्वमेधयाग की पूर्ण अवधि

अश्वमेधयाग का अनुष्ठान चार मास से लेकर २वर्ष तक किया जा सकता है। ब्रह्मौदनपाक के साथ ही अध्वर्यु "आग्नेयी इष्टि" का संकल्प करता है। यह अश्वमेधयाग की सर्वप्रथम इष्टि है। ब्रह्मौदनपाक विधि भी इसी इष्टि के अन्तर्गत है। "आग्नेयी इष्टि" के अन्तर्गत "गार्हपत्य अग्नि" में पकाये गये ब्रह्मौदन चरु का घृत से मिश्रण करने के बाद, अवशिष्ट घृत से अश्वरसना का लेपन किया जाता है। अत: इस अवशिष्ट घृत की सुरक्षा पर विशेष ध्यान अपेक्षित है। ब्रह्मौदन भक्षण से पूर्व, अश्वमेधाधिकारी यजमान पूर्वोक्त पाँच ऋत्विजों का पदप्रक्षालनादि सत्कार करता है।

ब्रह्मौदन की दक्षिणा

पूर्वोक्त क्रम में ऋत्विजों के पूजन सत्कार के बाद भोजन पात्र में ब्रह्मौदन का परिवेषण होता है। ब्राह्मण भोजनार्थ ब्रह्मौदन का विधान वेद पुरुष की तृप्ति के लिए किया जाता है। ब्रह्मौदन की दक्षिणा शतमान है। **शतमान**[१] **शब्दार्थ**—दो गुंजा तुल्य स्वर्ण को एक मान कहते हैं, इस प्रकार २००गुंजा बराबर सुवर्ण शतमान। पूर्वोक्त अवशिष्ट घृत से द्वादशरत्निपरिमित द्विगुण रज्जु का लेपन विहित है।

अध्वर्यु द्वारा यजमान का अलङ्करण

पूर्वोक्त कृत्य के बाद अध्वर्यु, यजमान के कण्ठ में प्रादेशप्रमाण[२] सुवर्ण का वृत्त-पत्र (LOCKET) पहनाता है। इसी प्रकार महिषी, वावाता, परिवृक्ता,

---

१. शतमान इति = रूप्यपले आढके तत्परिमिते च इति वाच०। अन्यत्राऽपि यथा—"द्वे कृष्णले रूप्यमास:, धरणं षोडशैव ते। शतमानं तु दशभिर्भरणै: पलमेव च"।। एवञ्च—

२ कृष्णल = १ रूप्यमास

१६ रूप्यमास = १ धरण

१० धरण = १ शतमान

२. प्रादेश इति = "प्रादेशतालगोकर्णस्तर्जन्यादियुते तते"। द्र०, अमर०, २.६.८३ इति कोश:। विस्तृताङ्गुष्ठमारभ्य विस्तृततर्जन्यग्रपर्यन्त: प्रादेश इत्युच्यते। (श्रौतपदार्थ)

पालागली का भी अलंकारों से विभूषित होकर यज्ञभूमि में प्रवेश अपेक्षित है। दक्षिणा प्रदान के बाद ''आग्नेयी इष्टि'' का समापन होता है। तत्पश्चात् अग्निहोत्रशाला में क्रमशः दो इष्टियों का विधान किया जाता है। यथा— १. **पथिकृद् इष्टि**[1], २. **पौष्णी इष्टि**।[2] इन इष्टियों के सम्पादन के बाद ''अश्वरशना'' (अश्वबन्धनी) का ग्रहण किया जाता है। इस क्रम में अध्वर्यु, ब्रह्मा से आदेश प्राप्त करके अश्व के कण्ठ में रज्जु बाँधता है और उसी अवस्था में अश्व को किसी निकटवर्ती जलाशय में ले जाया जाता है।

चतुरक्ष श्वा का मारण

उसके साथ एक चतुरक्ष कुक्कुर भी रहता है, जिसको अच्छी तरह से बाँध कर पिता की अनुजा का पुत्र आगे ले जाता है एवं माता की अनुजा का पुत्र अनुसरण करता हुआ ''सैध्रक मूसल'' को धारण कर, पुंश्चलीपुत्र सुवर्णवेष्टित होकर अनुगमन करेगा और अश्व को जल में स्नान करायेगा।[3] वरुण देवता की प्रार्थना करते हुए घोड़े के साथ जा रहे, कुक्कुर को मूसल प्रहार मारकर अश्व के उदर में बाँधकर डबोयेंगे।

सावित्री इष्टि

इस प्रसंग में तीन अन्य इष्टियों का विधान है। इनमें प्रधान सावित्री इष्टि है। इसके तीन भेद हैं। सावित्री इष्टि में अश्वमेधयागाधिकारी अग्निहोत्र यजमान का, वीणा गायकों द्वारा यशोगान प्रस्तुत करता है।

सावित्री इष्टि

प्रसविता | असविता | सत्यप्रसविता

---

१. पथिकृद् इति। वेदेषु शब्दोऽयमुपलभ्यते, यथा—
   १. ऋ०वे०, २.२३.६, ६.२.१, ९.१०६.५, १०.१४.१५, ११.१.३।
   २. अ०वे०, १८.२.५३, ३.२५।
   ३. तै०सं०, २.२.१.१।
   ४. श०ब्रा०, ११.१.५.५, १२.४.४.१।
   ५. कौ०ब्रा०, ४.३।
   ६. शां०श्रौ०सू०, ३.४.९, १६.१.१७।

२. पौष्णी इष्टिः = पूषाख्यदेवताक इष्टिः।

३. ''अक्ष्णोरुपरि यः श्वेतबिन्दुद्वितयलाञ्छितः।
   तं समाचक्षते श्वानं चतुरक्षं विचक्षणाः।। (शां०श्रौ०सू० १४.१.४८)

अश्वसंस्काराङ्ग होम

पूर्ववर्णित चतुरक्ष कुक्कुर के मारणोत्तर अश्वमेधीय ययु अश्व को सरोवर से बाहर निकाल कर यज्ञशाला में ले जाया जाता है। इस समय उक्त यज्ञीयाश्वशरीर से जब तक स्नान जलबिन्दु भूमि पर गिरता रहेगा, तब तक ''आहवनीय'' नामक अग्नि में, हवनी नामक अग्निहोत्रपात्रविशेष से ''अग्नये स्वाहा'' इत्यादि देवतोद्देश्यक मन्त्रों द्वारा आज्य होम किया जाएगा।[१] उपर्युक्त कार्यक्रम में आहवनीय अग्नि में आज्य आहुति सम्पादन का कार्य, अध्वर्यु के द्वारा तब तक सम्पादित किया जाएगा, जब तक यज्ञीय अश्व शरीर का जल सम्पूर्ण सूख न जाय।[२] इस प्रकार तृतीय सावित्री इष्टि की समाप्ति के बाद यजमान एवं अध्वर्यु यज्ञीय अश्व के दक्षिण कर्ण में ''**विभूर्मात्रा**'' इत्यादि मन्त्र का जप करेंगे। जपोपरान्त ही यज्ञीय अश्व को छोड़ा जाता है।

दिग्विजयार्थ अश्वप्रेषण-विधि

दिग्विजयार्थ छोड़े गये अश्व के साथ उसके रक्षणार्थ अनेक राजपुत्रों एवं सैनिकों की अपेक्षा है। उक्त अश्व स्वेच्छया सर्वत्र विचरण कर सकता है एवं उस अवधि में उक्त अश्व को सरोवर में स्नान करवाने से, वडवा के साथ सहवास करने से रक्षकगण बचाते हैं। जिस दिन दिग्विजयार्थ अश्व छोड़ा जाएगा, उस दिन से राजा का समस्त अधिकार अध्वर्यु को प्राप्त होगा। उक्त अश्व स्वेच्छया समस्त देशों का भ्रमण करके जब तक पुनः यागस्थान में नहीं आता, तब तक प्रतिदिन पूर्ववर्णित तीन सावित्री इष्टियाँ अर्थात् सविता, प्रसविता, सत्यप्रसविता इष्टियों का प्रातः, मध्याह्न एवं अपराह्ण काल में अनुष्ठान होगा।

पारिप्लवाख्यान की प्रस्तुति

पूर्वोक्त अवधि अर्थात् विश्वविजयार्थ अश्वप्रेषण एवं राजा के समस्त अधिकारों का अध्वर्यु के प्रति हस्तान्तरण के पश्चात् प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न एवं अपराह्ण में अनुष्ठेय क्रमशः सविता, प्रसविता एवं सत्यप्रसविता नामक सावित्री इष्टियों के अनुष्ठान के बाद सायंकाल में यज्ञमण्डप के समीप एक संगोष्ठी का आयोजन किया जाता है। इसमें यजमान एवं समस्त ऋत्विक्

१. ''आनयन्ति ततः श्वानं यजमानस्य पूरुषाः।
विष्वग्बन्धेन बद्धाङ्गं चतुरक्षं विवक्षितम्।। (शु०य०वे०, २२.१९)

२. शु०य०वे०, २२.६।

स्वर्णासन में यथास्थान बैठते हैं। उसी ''संगोष्ठी'' के आयोजन स्थल को ''पारिप्लवदेश'' कहा जाता है। उक्त 'पारिप्लव' नामक सभाभवन में प्रवेश करते समय अध्वर्यु समस्त सदस्यों को प्रणाम करेगा एवं सत्यभाषण करने की घोषणा करेगा, ततः होता को पारिप्लवकथन के लिए प्रेरित करेगा। उक्त पारिप्लवाख्यान की समाप्ति में प्रतिदिन वीणा गायकों द्वारा यजमान एवं उनके पूर्वजों का वीरगाथागान प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रक्रम[१]-होमविधान

यज्ञशाला में अग्निहोत्र होम के पूर्व प्रतिदिन दक्षिणाग्नि में ''प्रक्रम'' होम विहित है। इसका सम्पादन आज्य से होता है। प्रक्रम होम दक्षिणाग्नि के विकल्प में आहवनीयाग्नि में भी हो सकता है।

धृति-होम-विधान

समस्त इष्टियों के पूर्ण होने पर धृति होम सम्पन्न होगा, जिसमें चार आज्याहुति दी जाएगी। इसके बाद पूर्वोक्त गाथागान एवं पारिप्लवाख्यानानन्तर सायंकाल अग्निहोत्र समाप्ति के बाद कार्य का विश्राम होगा। पूर्वोक्त सम्पूर्ण विधि, अश्व के लौटने तक नित्य अनुष्ठेय है। इस क्रम में यदि चान्द्र फाल्गुनशुक्लाष्टमी को अश्व छोड़ा गया, तो आगामी चान्द्र फाल्गुनशुक्ल सप्तमी में इस कार्य का समापन होगा।

अश्वमेधयाग का प्रारम्भ-कालविचार

अश्वमेधयाग के आरम्भ से समाप्तिपर्यन्त की गणना के दो पक्ष हैं, यथा—

१. संकल्प दिन ही याग का प्रथम दिन (अथवा)

२. अश्वमोचन दिवस ही याग का प्रथम दिन।

संवत्सरमान के विभिन्न पक्ष

संवत्सरमान के विषय में चार पक्ष प्रस्तुत हैं। यथा—

१. सार्धैकमास, २. मासत्रय, ३. षण्मास, ४. सम्पूर्ण वर्ष।

अश्व की सुरक्षा

१. पूर्वोक्त उत्सृष्ट अश्व यदि किसी कारण से रोगग्रस्त हो जाय, तो प्रायश्चित्त होम विहित है।

२. यदि दुर्भाग्य से अश्व मृत हो जाय, तो अन्य का मोक्षण विहित है।

---

१. प्रक्रमहोम इति। ''प्रथमारम्भः प्रक्रमः'' इति वाच०। ''प्रमाणविशेषः'' (श०ब्रा०, १०.२.३.१)।

३. अश्वमेधयाग के संकल्प के पश्चात् यजमान अथवा ऋत्विजों का यदि स्वर्ग नष्ट हो जाय, तो त्रिहविष्क इष्टि का विधान है।
४. उत्सृष्ट यज्ञीय अश्व यदि दैवात् वडवा से सहवास करे, तब वायवीय इष्टि का विधान है।
५. उत्सृष्ट अश्व अपने निश्चित समय पर यागस्थल पर स्वेच्छया आने का विधान है। अतः अश्वरक्षकगण अश्व को निश्चित समय और स्थान पर ले आने के लिए अनेक आकर्षक उपायों का अवलम्बन कर सकते हैं; क्योंकि इस कार्य में बल प्रयोग अभीष्ट नहीं है।

अश्वमेधयाग का प्रधान संकल्प

जिस दिन दीक्षणीय इष्टि का आरम्भ होगा, उसके पूर्व प्रधान संकल्प होगा। इसमें पहले गुरु, इष्टदेवता, कुलदेवता एवं ग्रामदेवताओं को प्रणामपूर्वक स्मरण करके, देशकालवर्षतिथिवारात्मक पञ्चाङ्गस्मरणपूर्वक, स्वनामगोत्रोच्चारण करते हुए, प्रधानतया ईश्वरप्रीत्यर्थ, आत्मसंस्कारपूर्वक सर्वकामप्राप्त्यर्थ अथवा शाश्वत ब्रह्मपदप्राप्त्यर्थ अथवा इसी प्रकार वेदस्मृतिपुराणोक्त कामनाओं को उच्चारण करके, पूर्ववर्ती याज्ञिकपरम्परानुसार संकल्प वाक्य का उच्चारण करना चाहिए।[१]

यागसंकल्प में कतिपय उल्लेखनीय तथ्य

संकल्पवाक्य में पूर्वोक्त नामगोत्रोच्चारणादि सामान्य उल्लेख के साथ अश्वमेधयाग के लिए कुछ विशिष्ट तत्त्वों का भी उल्लेख विहित है, यथा— मम विजयोपार्जितप्राच्यादिदिक्स्थद्रव्यदक्षिणेन, चतुरादिचतुर्विंशत्यन्तेन चतुरुत्तरस्तोमेन, गौतमस्तोमसंज्ञकेन, अग्निष्टोमसंस्थेन, रथन्तरपृष्ठेन, प्रथमेनाह्ना, एकविंशस्तोमेन, शाक्वरपृष्ठेन, उक्थ्यसंस्थेन, मध्यमेनाह्ना, सर्वस्तोमेन, बृहत्पृष्ठेन, अतिरात्रसंस्थेन, उत्तरेणाह्ना अश्वमेधेनाहं यक्ष्ये[२]।

ऋत्विकों का क्रम-सन्निवेश

यज्ञ के सन्दर्भ में यह मन्तव्य है कि योग्यत्व एवं ज्येष्ठत्व (Qualification, Seniority) के आधार पर याजकों का क्रम निर्धारित होता है। तदनुसार अश्वमेध महायज्ञ मे ऋत्विजों का क्रम इस प्रकार है—

१. ब्रह्मा, २. उद्गाता, ३. होता, ४. अध्वर्यु, ५. ब्राह्मणाच्छंसी, ६. प्रस्तोता, ७. प्रशास्ता, ८. प्रतिप्रस्थाता, ९. पोता, १०. प्रतिहर्ता,

१. द्र०, आह्निकसूत्रावलिः, पृ० २७९-२८५।
२. का०श्रौ०सू०।

११. अच्छावाक्, १२. नेष्टा, १३. आग्नीध्र, १४. सुब्रह्मण्य, १५. ग्रावस्तोता, १६. स्तोता, १७. उन्नेता, १८. सदस्य, १९. उपाध्वर्यु, २०. चमसाध्वर्यु।

पूर्वोक्त महासंकल्प के पश्चात् अश्वमेध महायज्ञ का मुख्य प्रयोग अनुष्ठित होता है, जिसका क्रम है—

१. देवयजनभूमि की प्रार्थना

२. यज्ञप्रयुक्त विभिन्न वनस्पति-शाखाओं का छेदन

३. शालानिर्माण

४. ऋक्सुत्या

५. आहवनीय में आज्य होम सम्पादन

६. आहवनीय अग्नि का उपस्थापन।

दीक्षा-विधान—उक्त कर्मानन्तर अनेक दीक्षाओं का विधान है, जिनमें द्वादश दीक्षायें प्रमुख हैं। कतिपय मुख्य दीक्षाएँ इस प्रकार हैं—

१. अप्सु दीक्षा, २. दीक्षणीय इष्टि, ३. औद्ग्रभण होम, ४. नवनीत दीक्षा, ५. कृष्णाजिन दीक्षा, ६. व्रताचरणनियमोपदेश, ७. अन्य सात दीक्षायें। उपर्युक्त दीक्षाओं के सातत्य में क्रमशः ६ दिन पर्यन्त अन्य दीक्षाओं का भी अनुष्ठान होता है। यथा—१. प्रातःधर्म, २. प्रातरुपषद्, ३. सायंधर्म, ४. सायमुपषद्।

अश्वमेधमहायज्ञार्थ यूप—अश्वमेधयाग में २१ यूपों की अपेक्षा होती है। दीक्षा समय में ही यूपोच्छेदन, चषाल, चरु आदि यज्ञसाधनों का निर्माण होता है। यूपोच्छेदनात्मक होम की आहुति भी होती है, जिसमें प्रयुक्त यूपकाष्ठ, विभिन्न काष्ठ जाति विशेष के होते हैं।

यूपार्थ मुख्य काष्ठ—यूपनिर्माणार्थ मुख्य रूप से अपेक्षित काष्ठ इस प्रकार हैं—

१. इंगुदी, २. देवदारु, ३. बिल्व, ४. खदिर, ५. पलाश।

यूप परिमाण—अश्वमेध महायाग में अपेक्षित २१ यूपों में प्रधान अष्टकोणात्मक 'अग्निष्ठ' नामक मध्यस्थ यूप की लम्बाई २१ हाथ होती है।

वेदि-प्रमाण—दीक्षा एवं उपषद् कार्यों की समाप्ति के बाद यजमान मौन त्याग करता है। दीक्षा ग्रहण के अन्तिम दिनों में अश्वमेधवेदि का निर्माण होता है। वेदि-मान-निर्धारण, यूप की उच्चता के अनुपात में होता है। वेदी का दैर्घ्य २०७ अंगुल, ६ यव, ६लिक्षा होता है। पूर्व दिशा की वेदी २६ प्रक्रमों की होती है। इस प्रकार २१ अंगुल परिमित उपस्थ होता है। प्रातःकाल प्रायणीयेष्टि का अनुष्ठान होता है।

सोमक्रय—प्रायणीयेष्टि के पश्चात् सोमक्रय का विधान है। सम्प्रति परिस्थितिवशात् वेदोक्त सोमलता के स्थान पर पूतिका का व्यवहार होता है, जो कि एक क्षीरणी अर्थात् दूधिया वनस्पति है। अश्वमेधयाजी न्यग्रोध वनस्पति का भी क्रय करता है। इस सन्दर्भ में वैश्वानर इष्टि के पश्चात् प्रातःकाल अग्निषोमीय इष्टि का विधान है। इष्टि के अग्निशमन के पश्चात् हविर्धानमण्डप में सोमप्रणयन होता है। इस इष्टि में २१ यूपों में एक-एक पशु का बन्धन होता है। ये सभी पशु अग्निषोमीयदेवताक होते हैं।

अग्निषोमीय इष्टि का विधान—वैदिक याग में जहाँ-जहाँ पशु द्रव्य विहित है, वहाँ-वहाँ पशु के संज्ञपन के पश्चात् वेदोक्त विधि से शासन करके, वपादि अंगों को विधानानुसार निकाला जाएगा। समस्त अंगों के निष्कासन के बाद अवशिष्ट पशु शरीर के मांस- चर्म- अस्थि आदि को "उपवध्यग्रोह" नामक गर्त में डाल दिया जाएगा।

पश्वङ्गों का अवदान—हविप्रदानार्थ गृह्यमाण पशुओं का अंग विवरण इस प्रकार है—

१. वपा, २. बंक्रि (दक्षिण पार्श्व), ३. बंक्रि (वाम पार्श्व), ४. हृदय, ५. शोणी (दक्षिण), ६. शोणी (वाम), ७. यकृत (प्लीहा), ८. वक्ष, ९. जिह्वा, १०. शिश्न, ११. श्वासनली (शतप्रदेशपरिमिता), १२. जाघनी, १३. दक्षिणपाद, १४. वामपाद, १५. गुह्य।

यूप-विवरण

यूपप्रोथनार्थ गर्तखनन में यह ध्यान रखना चाहिए कि यूपप्रोथनार्थ गर्त, 'रथाक्ष' परिमित स्थान व्यवहित होना चाहिए।[१] इस प्रकार प्रतियूप १०४ अंगुल

१. "चतुरधिकशतमङ्गुलयः रथाक्षशब्देन उच्यन्ते, तावन्मात्रोऽन्तरालः यूपानां भवतीति भावः"। (का०श्रौ०सू०, ८.८.६)

के व्यवधान में रहेगा और यूपप्रोथन के लिए प्रति गर्त १२ अंगुल का होगा। इस प्रकार कुल मिलाकर ४८ अरत्नि एवं २० अंगुल स्थान की अपेक्षा होगी।

यदि यूपैकादशिनी क्रियते तदा यूपानामन्तरालानि रथाक्षमात्राणि कर्तव्यानि। चतुरधिकशतमङ्गुलयो रथाक्षशब्देनोच्यन्ते। तावन्मात्रोऽन्तरालो यूपानां परस्परं भवतीति भावः। एवञ्च एकैकस्याप्यन्तरालस्य चतुरधिकश-ताङ्गुलपरिमितत्वाद् एकैकस्य यूपवटस्य च द्वादशाङ्गुलपरिमितत्वाद् मिलित्वा विंशत्यङ्गुलैरधिका अष्टाचत्वारिंशदरत्नयः सम्पन्नाः। अत्र पूर्व-विमिता वेदिः अंसयोः (यूपस्थाने) चतुर्विंशतिप्रक्रमात्मिकैवेति एतावत्परिमाणे न तावतां सन्निवेशो भवतीति वेदिर्वर्धनीयैव। एतत्सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति— "यूथायूपं वेदिवर्द्धनम्" (८.८.२१)[१]।

पक्षान्तर में वेदी के पूर्वार्ध को ही समभाग करके यूप खनन करे अथवा श्येन पक्षी के प्रसारित पक्षमुच्छ के समान स्थण्डिल बनाकर यूप स्थापित करे। इस प्रकार—१. रथाक्षमात्रान्तराल, २. समविभाग, ३. पक्षसम्मिताग्नि में से अन्यतम के अनुसार— व्यवधान रखकर यूपस्थिति विहित है।[२] यूपप्रोथन के लिए गर्तखनन सन्दर्भ में गर्त के विषय में आचार्य कात्यायन का स्पष्ट निर्देश है—"**मध्यमं परिलिख्योत्तरं, दक्षिणं वा, व्यत्यासमितरान्**"।[३] "**यूपैकादशिनी चेद्रथाक्षमात्राण्यन्तराणि**।।" यद्यपि यहाँ यह विशेषत: ध्यातव्य है कि एकविंशति यूपप्रोथन अश्वमेधीययाग का विषय है और पूर्वोद्धृत विचार सामान्य सोमयागीय है। अश्वमेधयाग भी सोमयाग ही है; परन्तु यहाँ पर अश्वप्राधान्य निश्चित है। सोमप्राधान्य रूप "ज्योतिष्टोम" यज्ञ में एकादश पशु विहित हैं, जिनमें एक ही यूप में एकादश पशु अथवा एक यूप में एक पशु का विकल्प दृग्गोचर होता है। ऐसी स्थिति में यूपैकादशिनी पक्ष में पूर्वोक्त समस्त विवरण ज्योतिष्टोम रूप सोमयाग में विहित है।[४] यत: अश्वमेध प्रसंग में भी "**एकादशिनीवद् एकविंशतिर्यूपाः**"[५] ऐसा महर्षि कात्यायन का निर्देश है। अत: पूर्वोक्त विचार प्रकृत में अवसरोपयोगी है। पूर्वोक्त समस्त कार्य मन्त्रोच्चारणपूर्वक सम्पन्न करके उदक् स्पर्श करना चाहिए। अश्वमेधयाग में

---

१. "यूपैकादशिनी चेद्रथाक्षमात्राण्यन्तराणि"। (का०श्रौ०सू०, ८.८.६ भाष्य)

२. का०श्रौ०सू०, ८.७.२४ (टिप्पणी)। "यूपलक्षणमिति"।

३. का०श्रौ०सू०, ८.८.१३।

४. का०श्रौ०सू०, ८.८.५-११।

५. का०श्रौ०सू०, २०.४.१६।

स्वीकृत एकविंशति यूपों को, ज्योतिष्टोम सोमयाग स्वीकृत यूपैकादशिनीवत् परिलेखन क्रम से सभी यूपों का उपरसम्मित[१] खनन कर, गर्त में होम सम्पन्न करे[२]। यह कार्य पदार्थानुसमयानुसार सम्पन्न होना चाहिए। इसके बाद खनन् के कारण निकली हुई धूलियों को गर्त की पूर्व दिशा में फेंकना चाहिए। इसी क्रम में गर्त के सम्मुख प्राङ्मुख यूप का स्थापन, ततः यूपोपरि कुशमुष्टिस्थापन, ततः यूप के अग्रभाग में उत्तर दिशा के समीप ही चषाल का स्थापन करना चाहिए।[३] **''यवोऽसि सोमदेवत्यः''** इस मन्त्र से एक ही बार यव लेकर यूप के अग्र-मध्य-मूल का प्रोक्षण करे।[४] यही क्रम द्वितीय, तृतीय यूपों में भी विहित है। इस कार्य की समाप्ति के बाद समस्त गर्तों में प्रोक्षणावशिष्ट का प्रक्षेप करे।[५] तत्पश्चात् प्राङ्मुख एवं उदङ्मुख समस्त कुशों को, जो कि पूर्व में यूप के ऊपर स्थापित किये गये थे, गर्त में प्रक्षिप्त करे। यह प्रक्षेप ''**पितृसदनमसि**'' इत्यादि मन्त्र से होगा।[६] यहाँ पर असंस्कृत कुश का ही ग्रहण होगा। कुशप्रक्षेपण के बाद, यूपोपरि पूर्वतः स्थापित प्रथमखण्ड का ''**अग्रनीरसि**'' इत्यादि मन्त्र से प्रक्षेपण होगा। ततः यूपगर्त में स्रुव के द्वारा मौन होकर होम का सम्पादन होगा।[७] इसके बाद प्रत्येक यूप का लेपन से लेकर ''सर्वगूहन'' तक काण्डानुसमय के अनुसार किया जायगा।

यूपों की स्थिति एवं परिव्ययण

पूर्व में कहा गया है कि मध्यम यूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है एवं उसे ''अग्निष्ठ'' कहते हैं। अग्निष्ठ यूप में चार पशुओं का बन्धन होता है। इस अग्निष्ठ यूप को ही 'राज्जुदाल' कहा जाता है। अग्निष्ठ के दोनों ओर के यूपों की स्थिति इस प्रकार होती है—

---

१. उपरसम्मितम् इति। उपरो नाम यूपस्य निखननीयः पंचमो भागः। तत् प्रमाणं निम्नम् उवटं खनेत्। (का०श्रौ०सू० ६.२.९)। साम्प्रतमपि एकतलमितभित्तिस्थापने पंचतलभवनं निर्मातुं शक्यत इति वास्तुविदां समयः।

२. का०श्रौ०सू०, ६.३.२०, ८.८१२।

३. ''अग्रमुत्तरेण चषालम्......''। (का०श्रौ०सू०, ६.२.१४)।

४. का०श्रौ०सू०, ६.२.१५।

५. का०श्रौ०सू०, ६.२.१७।

६. का०श्रौ०सू०, ६.२.१८।

७. अत्रेदं बोध्यम्—स्वाहाकारराहित्यमेव मौनम्, अत इदं प्रजापतये इत्येव, अत्र हविषस्त्यागविधिः। (का०श्रौ०सू० ६.२.२०)

१. पूर्वोक्त अग्निष्ठ नामक मध्यम यूप के दोनों ओर ''देवदारु'' निर्मित यूप रहते हैं।
२. बिल्व-खदिर-पलाश के छः-छः यूप रहेंगे।[1]
३. जो कि (बिल्व, खदिर, पलाश यूप) अग्निष्ठ नामक प्रधान यूप के क्रमशः ३ उत्तर तथा ३ दक्षिण की ओर होंगे।
४. द्वितीय यूप के परिव्ययण[2] (यूप का रशना बन्धन स्थान) के पूर्व सभी रज्जुओं को त्रिगुणित किया जाएगा। अग्निष्ठ यूपों में परिव्ययण करके द्वितीय से लेकर समस्त यूपों में परिव्ययण सम्पन्न होगा।

प्रति यूप में पशुबन्धन

यहाँ पर प्रति यूप में एक-एक अग्निषोमदेवताक पशु का नियोजन होगा।

परिमाणानुसार यूप-प्रोथन

उन्मान = ऊर्ध्व अर्थात् ऊँचाई के अनुसार दक्षिण से उत्तर दिशा में यूपों का प्रोथन किया जाएगा।[3]

अन्य अनुष्ठेय कृत्य

पूर्वोक्त कृत्य के पश्चात् प्रत्येक यूप में द्विगुण रशनादान से लेकर नियोजन तक किया जाएगा एवं एकविंशति यूपों के प्रत्येक यूप में ''**ॐ अग्निषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि**'' इस मन्त्र से पशु-बन्धन होगा।

प्रोक्षणादि

यहीं पर एक ही अग्निहोत्र हवनी से शुद्ध की गयी मृत्तिका द्वारा सभी का प्रोक्षण होगा। प्रोक्षण मन्त्र इस प्रकार है—**अग्निसोमाभ्यां त्वां जुष्टं निर्वपामि**।[5] उपर्युक्त कृत्य के पश्चात् यज्ञस्थल में होतृसदन[6] एवं

---

१. का०श्रौ०सू०, २०.४.१७।
२. ''परिव्ययणं देशो नाम यूपस्य रशनाबन्धनस्थानम्''। (का०श्रौ०सू०, ६.३.५ वृत्तिः, श०ब्रा०, ३.७.१९ भाष्यम्)
३. श०ब्रा०, ३.७.२.७।
४. य०वे०, ६.९।
५. य०वे०, ६.९।
६. होतृसदनमिति। ''ततो होतृसदनं होता अभिमन्त्र्यते, तत्र होतृसदनं नाम वेद्युत्तरश्रोण्युत्तरदेशः, होतुरुपवेशनस्थानम्। (श्रौ० पदार्थ)

आमन्त्रण[1] का विधान होगा। तत्पश्चात् इध्मप्रैष से लेकर उत्तराधार पर्यन्त समस्त विधि विहित होंगे।[2] पूर्वोक्त कृत्य के पश्चात् बन्धनक्रम से ललाट से लेकर[3] उत्तर श्रेणी पर्यन्त घृत द्वारा अंजन के बाद, प्रत्येक का प्रैष[4] सम्पन्न होने पर जुहू[5] के अग्रभाग के समस्त स्वरूपों[6] का अंजन होगा।[7] संज्ञपनार्थ प्रतिप्रस्थाता द्वारा, उत्तर की ओर प्रथम पशु को ले जाने में एवं वपा तथा श्रवणी के द्वारा अन्वारब्ध[8] को आगे ले जाने में शमिता कार्य करेगा। यहाँ पर अध्वर्यु वेदी में स्थापित ४२ कुशतृणों का ग्रहण करेगा। इस प्रकार आलब्धव्य प्रत्येक पशु के लिए २-२ तृण का संग्रह होगा। ततः पशु-संज्ञपन होगा।

पशुसंज्ञपनार्थ अपेक्षित सामग्री

१. प्रोक्षणी, २. उल्मुख, ३. असि, ४. शमिता, ५. अन्तर्धान, ६. प्रच्छेद, ७. स्तोक, ८. सम्प्रेष, ९. समित्रानुशासन, १०. संवाद, ११. वनस्पति, १२. स्विष्टकृत्, १३. ईडा, १४. दिग्व्याधारण, १५. उखा, १६. शूल, १७. वपा, १८. श्रपणी।[9] शामित्र के पश्चात् उत्तर में स्थापित पूर्वाभिमुखी २२ तृणों का प्रक्षेप किया जाएगा। इसके अनन्तर कतिपय और कृत्य भी सम्पन्न होंगे, जिनका संक्षिप्त उल्लेख यथा—१. प्रैष, २. सर्वपशु-बन्धन, ३. पशु-निषेक, ४. उत्तानकरण, ५. मूलांजन, ६. समस्त मूलों का उत्तर में प्रवेश, ७. अधिष्ठान, ८. वपोत्खेदन[10] ९. परिवासन, १०. स्रुवद्वय का आदान,

---

१. **आमन्त्रणमिति**। "आमन्त्रणं नाम संबोधनप्रथमान्तपदोच्चारणानन्तरम् एहीत्यस्नायुषङ्गेणाकारणम्" (श्रौ०पदार्थ०)।

२. श०ब्रा०, ३.७.४.३।

३. "सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्"। (य०वे०, ६.१०)

४. **प्रैषः**–"प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठापुरुषप्रवर्तना इति सर्वतन्त्र०। यजेत्यादि लोट्-मध्यमपुरुषान्तपदघटितेन येन वाक्येन अध्वर्य्वादिना होत्रादिः प्रेर्यते तद्वाक्यं प्रैष इत्युच्यते। मध्यमपुरुषान्तपदघटितेन येन वाक्येन आध्वर्य्वादिना होत्रादिः प्रेर्यते, तद्वाक्यं प्रैष इत्युच्यते। लोके तु प्रैषः = प्रेषणम्, प्रेरणम्, मर्दनमित्यादिरर्थः (मे० १६६.१९) (शाश्वत० १३२) (नानार्थरत्नमाला, पृ. ११०१) (विश्व० १७१.१०)।

५. **जुहू इति**। "पलाशकाष्ठनिर्मितार्द्धचन्द्राकृतियज्ञपात्रमिति" (सर्वतन्त्र०)। पलाशकाष्ठनिर्मिता अग्निहोत्रश्रपणीसदृशी मुख्यहोमकरणत्वाद् हूयतेऽनयेति व्युत्पत्त्या जुहूपदवाच्या इति श्रौतपदार्थनिर्वचनम्। "ध्रुवोपभृद् जुहूर्ना तु स्रुवो भेदाः स्रुचस्त्रियः" (अमर० २.७.२५)।

६. **स्वरूप इति**। वज्रम्, काष्ठशकलम् इति सर्वतन्त्र०। यूपतक्षणकाले पतितं शकलं प्रकृते गुह्यमानं स्वरूपपदवाच्यम् इति श्रौ० पदार्थ०।

७. श०ब्रा०, ३.७.४.८-९।

८. **अन्वारब्ध इति**। कृतस्पर्श इति वाच०। अन्वारब्धम् = पृष्ठवन्तमिति वेददीपः। "पश्चाद्-भागे पृष्ठं पश्चात् लग्ने च" द्र० वाच०।

९. का०श्रौ०सू०, ८.८.२९-३२; १०. श०ब्रा०, ३.८.२.१८।

११. स्वाहाकृत् याग[८], १२. वपाओं का अभिदार[१], १३. पृषदाज्य[२]।

इन समस्त कृत्यों के अनुष्ठान के पश्चात् जुहू को उन्मुख कर, उसमें स्वर्ण स्थापित करके, समस्त वपाओं का असि द्वारा अथवा स्रुव द्वारा ऐसा अवघात करे कि एक ही प्रयास में सम्पन्न हो जाय।[३]

अवघात की विधि

''**ॐ अग्निषोमाभ्यां छागानां वपाभ्यो मेदसो अनुब्रूहि**''। इस सन्दर्भ में प्रैष वाक्य इस प्रकार होगा—''**अग्निषोमाभ्यां छागानां वपामेदः प्रैष्य**''। यदि सहायतार्थ अनेक वपाश्रमणी[४] हो, तब भी स्वाहाकृत् याग में उक्त विधान ही मन्तव्य है; क्योंकि सहायतार्थ ही अनेक वपाश्रपणियों की स्थिति है, अतः एक ही पशुपुरोडाश होगा, प्रति पशुदेवताक पुरोडाश नहीं होगा, प्रति पशुपुरोडाश में व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी होंगी। पशुपुरोडाश में ''**अग्निषोमाभ्यां पुरोडाशम् अनुब्रूहि**'' एवं प्रैषवाक्य यथा– ''**अग्निषोमाभ्यां पुरोडाशम्य प्रैष्य**''। इसी प्रकार हविष्-प्रचार में—''**अग्निषोमाभ्यां छागाभ्यां हविषोऽनुब्रूहि**''। यहाँ पर अग्निषोमीय में विशेष प्रैषवाक्य यथा—''**अग्निषोमाभ्यां छागानां हविः प्रैष्य**।'' अग्निषोमीय दिन में प्रैषवाक्य यथा—''**वीणागुणगाथिनो दैवोरिव यजमानं संगायते**''। इसके बाद वीणागुणगायी वैसा ही गान करेंगे।

यूपबन्धन में पशुओं की स्थिति

अश्वमेध महायाग में अपेक्षित एकविंशति यूपों में एकादशिनी क्रम से विधानानुसार बन्धन प्रसंग में मध्य में स्थित अग्निष्ठ नामक रज्जुदाल (रज्जुदाल अर्थात् श्लेष्मातक, तन्निर्मित रज्जुदाल) यूप में अश्वतूपर-गोमृग का बन्धन करे। इसके पश्चात् अश्व के ललाटादि विभिन्न अंगों में विभिन्न पशुओं का बन्धन करे। इन पशुओं को 'पर्यङ्ग' कहते हैं। इन समस्त पर्यङ्ग पशुओं के बन्धन के लिए, अश्व के समस्त शरीर को रज्जुओं से लपेटकर विभिन्न अंगों में स्थित रज्जु में उपायपूर्वक विभिन्न पशुओं का बन्धन करे। (देखें पृ० ३७२, तालिका संख्या-१९)

---

१. श०ब्रा०, ३.८.२.२१-२३।

२. श०ब्रा०, ३.८.२.२५।

३. श०ब्रा०, ३.८.२.२७।

४. वपाश्रपणी—वपा श्रप्यते यस्यां सा वपाश्रपणी।

तालिका संख्या-१९

देवता	पशुनाम	संख्या	अंग
१. अग्नि	कृष्णग्रीव अज	१	ललाट
२. सरस्वती	मेषी	१	हनु का उत्तरार्ध
३. अश्विन्	अज	१	बाहु
४. सोम	श्याम	२	नाभि
५. सूर्य	श्वेत	१	पार्श्वद्वय
६. यम	कृष्ण	१	पार्श्वद्वय
७. त्वष्टाद्वय	लोमशावकद्वय	२	पृष्ठपार्श्वद्वय
८. वायु	श्वेत	१	
९. इन्द्र	बृहद्	१	पुच्छ
१०. विष्णु	वामन	१	

कुल — १२
अश्वस्तूपर गोमृग — ०३
कुल पर्यङ्ग पशु — १५

(ग्राम्य पशुबन्ध) पूर्वोक्त अश्व, तूपर, गोमृग के साथ इनकी संख्या १५ होती है एवं पहले से बँधे हुए अग्निदेवताक दो पशु मिलकर १७ होंगे। बाकी २० यूपों में रोहितादि १५-१५ पशुओं का बन्धन होगा। पहले से एक-एक पशु प्रति यूप में बद्ध रहता है। इस प्रकार प्रति यूप में मिलकर १६-१६ पशु होंगे। इनकी समष्टि संख्या ३३७ होगी। ये सभी ग्राम्यपशु हैं।[३]

आरण्य-पशुबन्धन

इसके बाद अरण्यस्थ पशुओं का नियोजन किया जाएगा। इनकी स्थिति यूपों के मध्यभाग में होती है एवं इनको रखने के लिए उपयुक्त पंजरनीड जलादि की व्यवस्था की जाएगी। इन आरण्य पशुओं का यूप में नियोजन असम्भव है। यूप में बद्ध पशुओं के संज्ञपन के बाद, उनके वपादि अंगों का होम होता है; परन्तु यूप के मध्य में पंजरनीड जलादि विभिन्न उपकरणों में स्थापित, विभिन्न पशुओं का बन्धन क्रम से, विभिन्न देवताओं को उदिष्ट करके उत्सर्ग किया जाता है एवं बन्धनमुक्त किया जाता है।[१]

---

३. द्र०, वाज०सं०, २०.१-२०।

१. द्र०, का०श्रौ०भू० (अश्वमेधयज्ञप्रकरणम्)।

आश्वमेधिक प्रथम सुत्याह

अग्निषोमीय इष्टि अश्वमेध महायाग का पूर्व कृत्य है, तत्पश्चात् अग्निष्टोमप्रकृतिक अश्वमेध महायज्ञ का प्रथम सुत्याह आरम्भ होता है।

कालविचार

अग्निष्टोमसंस्थाक अश्वमेध महायज्ञ के प्रथम दिन के विषय में दो पक्ष हैं—(क) चान्द्र वैशाख पौर्णमासी, (ख) अन्यतर पौर्णमासी।

इस महायज्ञ में परिस्तरण[१] से पूर्व वीणा के माध्यम से यजमान की कीर्ति का गान किया जाएगा; परन्तु यजमान वाक्संयमपूर्वक ही रहेगा। परिस्तरणादि समस्त कृत्यों में दक्षिणाग्नि का प्रयोग नहीं होगा।

पात्रासादन[२]

यह बात ध्यातव्य है कि छाग या अश्वादि पशुओं के लिए अपेक्षित पात्रों में कोई भेद नहीं है। ये पात्र निम्नलिखित हैं—

१. वपा, २. श्रपणी, ३. शूल, ४. उखा, ५. त्रिगुण रसना= २१, ६. द्विगुण रसना= २३। इन समस्त पात्रों को उपयोगानुसार एकत्र करके शूल, उखा एवं पश्वादि में अंकलिखित पट्टचिह्न यथासम्भव संलग्न करें, जिससे उनमें कोई विपर्यास न हो। पात्रों के आयोजन में वैकंकत निर्मित तीन अधिक पात्रों का भी संग्रह किया जाएगा।

कतिपय विशिष्ट विधियाँ

इसके अन्तर्गत एक कुश तृण से ही सभी का उपाकरण होगा, जिसमें दो एकादशिनी एवं यथाविहित सवनीय पशु होंगे। सवनीय पशु में मध्य में दो आग्नेय एवं सम्प्रदायानुसार दोनों एकादशिनी प्रकृति होंगे। पद्मनाभि आचार्य के मत में एकविंशति अग्निदेवताक पशु होते हैं। शतपथब्राह्मण में प्रथम सुत्याह प्रसंग में—"**एकविंशतिसवनीयाः पशवः सर्व आग्नेयाः**" ऐसा स्पष्ट है, एतावता उपयुक्त पक्ष वैकल्पिक रूप में मान्य है। सर्वानुक्रमणी में "**समिद्धः**

---

१. **परिस्तरणमिति**। ततः आहवनीयदक्षिणाग्निगार्हपत्यान् क्रमेण दर्भैः परिस्तृणाति, अग्नेः षोडशभिर्दर्भैः प्राच्यादिषु परिस्तृतिरिति वचनात् प्राच्यां प्रथममेखलोपरि चतुर्भिर्दर्भैस्तथैव दक्षिणस्यां प्रतीच्यामुदीच्यां च क्रमेण स्तरणं परिस्तरणपदार्थः। (द्र०, श्रौ०पदार्थ०)

२. **पात्रासादनमिति**। ततो गार्हपत्यस्य पुरस्ताद् वेद्यां परिभोजनीयदर्भानास्तीर्य तेषु द्वन्द्वं न्यञ्चि प्रक्षालितानि यज्ञपात्राणि प्राक्संस्थान्युदगपवर्गाणि स्थापयति तदेतत् कर्म पात्रासादनपदार्थः। (श्रौ० पदार्थ०)

अञ्जन''[१] इत्यादि समस्त अध्याय को आश्वमेधिक कहा गया है। इसमें उक्त सम्पूर्ण अध्याय ही अश्वमेध प्रतिपादक है, यह सिद्ध होता है। इसी के आगे ''**आग्नेयः कृष्णग्रीवः रराटः**'' इत्यादि मन्त्रों में दोनों एकादशिनियों के पशुदेवताओं का स्पष्ट निरूपण है। प्रतिसवन[२] में अग्निष्टोमवत् ही अनुष्ठान होता है। इस प्रकार १२स्तोत्र[३] एवं १२ शास्त्रों[४] का विधान है।

प्रथम सुत्याह दिवस

त्रिदिवसात्मक अश्वमेध यज्ञ के प्रथम दिन को 'प्रथमसुत्याह' दिवस कहा जाता है। इस प्रथमसुत्याह को अन्तिम अनुष्ठेय विधि 'तृतीय सवन' कहा जाता है।

प्रथम सुत्याह दिवस कृत्य

पूर्वोक्त प्रथमसुत्याह दिन में शतपथब्राह्मणकथित विकल्पभूत अग्निदेवताक एकविंशति सवनीय पशु स्वीकार पक्ष ही युक्त है; क्योंकि पूर्वोक्त ''**समिद्धः अञ्जन**'' इत्यादि सम्पूर्ण आश्वमेधिक अध्याय का द्वितीय दिन में विनियोग है।

द्वितीय सुत्याह का उत्कर्ष

अश्वमेध महायज्ञ में कर्मकाण्डात्मक दिनत्रय के अन्तर्गत मध्यम अर्थात् द्वितीय दिन सर्वाधिक उत्कर्षपूर्ण है एवं इस दिन में अनेक विधियों, उपविधियों का अनुष्ठान होता है।

महाष्टमी एवं द्वितीय सुत्याह

पूर्व में कहा गया है कि शारदीय महापूजा कलियुग में अश्वमेध स्थानीय है। यह इस दृष्टि से भी मन्तव्य है कि दिनत्रय में प्रधान अनुष्ठेय शारदीय महापूजा में मध्यम दिन या द्वितीय दिन अर्थात् चान्द्र आश्विन शुक्लपक्ष महाष्टमी

१. द्र०, शु०य०वे०, २९.१।

२. **सवनमिति**। ''सुत्याभिषवः सवनं च सा'' – अमर०, २.७.४७; ''भवेदभिषवः स्नाने संधानयज्ञयोः'' मे० १६१.५६; ''सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि च'' मे०, ९३.४५; यज्ञाङ्गे स्नाने अमरः; सोमनिष्पीडने अभिषवे अमरः, सोमपाने भरतः; यज्ञियसवनानि च त्रीणि प्रातर्मध्यतृतीयभेदात्। ''हवींषि निर्वपत्याग्नेयमैन्द्रं वैश्वदेवं चरुं सवनकालेष्वेकैकम्''– कात्यायनश्रौतसूत्रम्-२४.७.५.; ''कुतपत्रयम् आग्नेयं प्रातःसवनम् ऐन्द्रं माध्यन्दिनसवनम्, वैश्वदेवं तृतीयसवनमित्यर्थवादः'': ''प्रातर्मध्यन्दिनापराह्णेषु एकैकं हविर्निर्वपति।'' कर्कः द्र०, वाच०।

३. **स्तोत्रमिति**। ''प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः, सामगानविशिष्टमन्त्रकरणम्'', द्र०, सर्वतन्त्र०।

४. **शस्त्रमिति**। अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः। द्र०, सर्वतन्त्र०।

को सर्वाधिक विधियों का अनुष्ठान विहित है।

द्वितीय दिन की विशेषता

अश्वमेध महायाग के कर्मकाण्डात्मक द्वितीय अर्थात् मध्यम दिन में दो एकादशिनी विकृतियों का विधान है; परन्तु तृतीय अर्थात् अन्तिम दिन में दो प्रकृति एकादशिनियों का विधान है। इस प्रकार प्रत्येक दिन में प्रयोगवैलक्षण्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

पशुबन्धप्रकार[१] (द्र० पृ० ३७६, तालिका संख्या–२०)

यूप में पशुओं का नियोजन निम्न प्रकार से सम्पन्न होगा, यथा—

१. अग्निष्ठ नामक प्रधान मध्यम यूप में दो अग्निदेवताक पशु।
२. मध्यम यूप के दक्षिण एवं उत्तर में दो सरस्वतीदेवताक पशु।
३. सरस्वतीदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् चतुर्थ, पञ्चम यूपों में दो सौम्यदेवताक पशु।
४. सौम्यदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् षष्ठ, सप्तम यूपों में पूषादेवताक दो पशुओं का बन्धन।
५. पूषादेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् अष्टम, नवम यूपों में बृहस्पतिदेवताक दो पशुओं का बन्धन।
६. बृहस्पतिदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् दशम, एकादश यूपों में विश्वेदेवदेवताक दो पशुओं का बन्धन।
७. विश्वेदेवदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् द्वादश, त्रयोदश यूपों में इन्द्रदेवताक दो पशुओं का बन्धन।
८. इन्द्रदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् चतुर्दश, पंचदश यूपों में मरुतदेवताक दो पशुओं का बन्धन।
९. मरुतदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् षोडश, सप्तदश यूपों में इन्द्राग्निदेवताक दो पशुओं का बन्धन।
१०. इन्द्राग्निदेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् अष्टादश, ऊनविंशति यूपों में सवितादेवताक दो पशुओं का बन्धन।
११. सवितादेवताक पशुयूपों के दक्षिण एवं उत्तर अर्थात् विंशति, एकविंशति यूपों में वरुणदेवताक दो पशुओं का बन्धन।

---

१. द्र०, का०श्रौ०सू०, ८.८.२५।

तालिका संख्या–२०

एकविंशतिः पशवः

प्रतियूप पशु-व्यवस्था

२१	वरुणदेवताक
१९	सावित्रीदेवताक
१७	इन्द्राग्निदेवताक
१५	मरुतदेवताक
१३	इन्द्रदेवताक
११	विश्वेदेवदेवताक
९	बृहस्पतिदेवताक
७	पौष्णदेवताक
५	सौम्यदेवताक
३	सरस्वतीदेवताक
१	अग्निदेवताक
२	सरस्वतीदेवताक
४	सौम्यदेवताक
६	पूषादेवताक
८	बृहस्पतिदेवताक
१०	विश्वेदेवदेवताक
१२	इन्द्रदेवताक
१४	मरुतदेवताक
१६	इन्द्राग्निदेवताक
१८	सावित्रीदेवताक
२०	वरुणदेवताक

मध्यम यूप में आग्नेय पशुओं का बन्धन कहा गया है—"**आग्नेय अनीकवते**"। यहाँ पर "आग्नेय" मुख्य है एवं "अनीकवान्" गौण है। अतः एक साथ ही बन्धन किया जाएगा। याग काल में जहाँ देवताओं का ऐक्य सम्भव है, वहाँ एकतन्त्रेण याग होगा, एवं जहाँ देवताओं का ऐक्य सम्भव नहीं है, वहाँ पृथक्-पृथक् याग होगा।

प्रात:कालिक अनुवाक विधि

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत एक रात्रि के समाप्ति काल में एवं चिड़ियों के उड़ने से पूर्व प्रातरनुवाक हेतु बुलाए जाने पर, यजमान वाक्संयमपूर्वक आहुति प्रदान करेगा। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य अनुष्ठेय हैं—

१. आग्नीध्रीय[१] आहुति, २. द्वार स्पर्शनपूर्वक प्रवेश, ३. निरसनोपवेशनानन्तर[२] अध्वर्यु द्वारा प्रैष प्रदान, ४. होता द्वारा "आपो रेवतीः" इत्यादि सूत्रोक्त विधान के अनुसार प्रातरनुवाक मन्त्रपाठ, ५. आपोनप्त्रीयसंज्ञक मन्त्रपाठ, ६. उपांशु[३] ग्रहानुमन्त्रण, ७. बहिष्पवमानीय मन्त्रों का अनुमन्त्रण, ८. पूर्वद्वार से हविर्धान[४], ९. यूपपरिधीयमान मन्त्रपाठ।

पुनः अग्निमन्थन

"**अहित्वा देवः सवितः**" इत्यादि मन्त्रों से "**यत्र साध्याः सन्ति देवाः**" इस सूत्रोक्त समस्त मन्त्रों का अग्निमन्थन समय में होता पाठ करेगा।

---

१. **आग्नीध्रीय इति**। "अग्निम् इन्धे इति अग्नीत, तस्य सरणम् इति अग्नीध्रः। "अग्नीध्रसरणे रण भञ्च" इति वार्तिकेन रणप्रत्ययः। अजादियकाराद्यन्यतमाभावेन 'यचि भम्' इति भत्वात् प्राप्तौ अनेन भत्वविधानम्, ततो "न जस् साग्निको द्विज" इति (द्र०, सिद्धान्तकौमुदी) अग्निम् धारयति स्वार्थेऽण् आग्नीध्र इत्यस्माद् गहादित्वात् स्वार्थे इदमर्थे वृद्धत्वाद् वा छः, आग्नीध्रसंबंधी अग्निस्थानम् इत्यादि। द्र०, वाच०।

२. **निरसनोपवेशनमिति**। करणव्युत्पत्त्या मन्त्रेऽपि निरसन इत्युच्यते। ततो मन्त्रेण होता स्वस्थाने उपविशति दक्षिणोत्तरस्थेन उपविश्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या स मन्त्र उपवेशन इत्युच्यते। द्र०, श्रौ० पदार्थ०।

३. **उपांशुरिति**। शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयन्। अपरैरश्रुतः किञ्चित् स उपांशुजपः स्मृतः।। द्र०, सर्वतन्त्र०; "उपांशुर्जपभेदे स्यादुपांशुर्विजनेऽव्ययम्"। विश्व १६९.३०; हैम० ३.७५५; मे० १६३.१७; अमर०, २.८.२३।

४. **हविर्धानमिति**। "हविषः स्थापनस्थानम्" द्र०, सर्वतन्त्र०। "अध्वर्युः" "वैष्णवे त्वा" इति हविर्धानमभिमृशति। इदं निर्मितं हविर्धानयोः स्थापनार्थं गृहं प्राक् प्रत्यग् द्वारं यत्तदपि हविर्धानमित्युच्यते।" द्र०, श्रौ० पदार्थ०।

सवनीयेष्टि

इसमें वक्ष्यमाण कार्य सम्पादित होंगे—१. एकादश सामिधेनी[1], २. प्रवृत्त्याहुति, ३. मैत्रावरुण नामक उपऋत्विक् दो दण्ड प्रदान, ४. एकादश-प्रयाज।[2] ५. बहुवचनान्त अधिगुप्रैष, ६. पशुसंज्ञपन, ७. तदनन्तर मण्डप से निर्गमन, ८. पुनः स्वस्थान में आगमन (यहाँ होता निरसनोपवेशपूर्वक स्वस्थान में बैठेगा), ९. स्रुगादापन निगदमन्त्रपाठ, १०. दो वार्त्रघ्नमन्त्रपाठ।

वपायाग

वपायाग के अन्तर्गत आग्नेयादि २२ सवनीय पशुओं का देवता-क्रमानुसार वपायाग होगा। वपायाग के मन्त्र इस कार्यक्रम के अन्तर्गत देवतानुसार प्रयोक्तव्य हैं।[3]

उपस्थानादिविधि

होता आदि सभी ऋत्विक्‌गण, आदित्यसूक्तादि का पाठ करके उपस्थान[4] करेंगे। तत्पश्चात् यज्ञसभा में गमन एवं सवनीय पुरोडाशयाग का सवन होगा। सवनीय पुरोडाशयाग देवतानुसार सम्पन्न होगा एवं स्विष्टकृत्[5] याग भी होगा। इसके पश्चात् "**द्विदैवत्यग्रहयाग**" सम्पन्न होगा, जिसमें दो ऋचाओं का याज्य एवं इन्द्र-वायुदेवताक पात्रग्रहण है।

---

१. **सामिधेनीति**। "सामिधेनीरन्वाहेत्यादौ अध्वर्युप्रेषितो होता उत्तरया वेदिश्रोण्या समां पार्ष्णी निधाय प्रपदेन बर्हिराक्रम्य संहतौ करौ हृदयदेशे अंकदेशे वा धारयन् प्राङ्मुखस्तिष्ठन् प्रकृतीष्टौ पंचदशविकृतौ पाशुकादौ च ताभ्यो न्यूना अधिका वा या ऋचो मन्द्रस्वरेण पठति, ता ऋचः समिधः आधीयन्ते। याभिरिति करणव्युत्पत्त्या सामिधेनीपदेनोच्यन्ते।" द्र०, श्रौ०पदार्थ०।

२. **प्रयाज इति**। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे इति निपातनात्कुत्वाभावः। इदमेव आश्रायिकर्म इत्युच्यते। द्र०, वाच०। प्रधानयागात्पूर्वम् इज्यते यैरिति व्युत्पत्त्या एते सर्वे प्रयाजा इत्युच्यन्ते। द्र०, श्रौ०पदार्थ०। पंचप्रयाजास्तु प्रसिद्धा एव। द्र०, का०श्रौ०सू०, ३.२.१.१७ प्रयाजादयश्च आराद् उपकारका इति लौगाक्षिमतम्।

३. द्र०, आश्व०श्रौ०सू०, ३.७.८।

४. **उपस्थानमिति**। उप उपरिष्टात् तिष्ठते भावे करणे अधिकरणे वा ल्युट्, तत्र समीपस्थितिः उपस्थानमित्यादिरर्थः। द्र०का०श्रौ०सू०, ४.१२.२०।

५. **स्विष्टकृद्होम इति**। अत्र पुरोडाशः.देरुपस्थानाभिमर्शने न भवतः, अवदानदेशानां प्रत्यञ्जनं च न भवति। एवमादाय अत्याक्रम्य वषट्कृते अग्नौ ऐशानदेशे जुहोति सोऽयं स्विष्टकृद्होम इत्युच्यते। द्र०श्रौ०पदार्थ०।

सोमभक्षण

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अध्वर्यु इन्द्र-वायुदेवताक पात्र को ग्रहण कर विधिपूर्वक होता को ग्रहण करेगा, ततः मैत्रावरुण उस पात्र को लेकर प्रतिप्रस्थाता को देगा। यहाँ पर आश्विन पात्र का ग्रहण कर अध्वर्यु को दिया जायेगा एवं विधिपूर्वक ग्रहोपाह्वान के पश्चात् पात्र स्थित अवशिष्ट सोम को होता के चमस में लाकर स्पर्श करेगा।

इहोपाह्वान

वनस्पतिना[1] इत्यादि मन्त्रों को पढ़कर उपह्वान क्रमानुसार होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और आग्नीध्र सकृत् चमस[2] भक्षण करेंगे। ततः सभी चमसकर्ता अध्वर्यु का उपाह्वान करके अपने-अपने चमस के अवशिष्ट का भक्षण करेंगे, ततः आप्यायन करके, अच्छावाक् के लिए पात्र को लेकर उपाह्वान करेंगे। उपाह्वान के पश्चात् अच्छावाक् निष्क्रमण करके, आग्नीध्रीय के पास जाकर, अवशिष्ट हवि का प्राशन करेंगे, फिर निश्चित मार्गों से अपने-अपने स्थान लौटकर निरसन एवं उपवेशन करके बैठेंगे।

ऋतुयाग

ऋतुयाग में चार याज्याएँ होती हैं। याग के पश्चात् याज्या क्रम से ही होता आदि चारों ऋत्विक् अवशिष्ट भक्षण करेंगे।

आज्यस्तोत्रशंसन

उद्गाता आज्यस्तोत्र का शंसन करता है एवं आज्य स्तोत्र शंसन के पश्चात् आज्य शस्त्र का पाठ होता है।

---

१. द्र०, शु०य०वे०, १७,२३।

२. **चमस इति**। ''पलाशादिकाष्ठजाते यज्ञीयपात्रभेदे'', द्र० वाच०। ''चतुरस्राकारस्समुष्टिकः प्रादेशमात्रो दारवः पात्रविशेषः''। द्र०, सर्वतन्त्र०।

अत्राऽयं विवेकः—चमसा न्यग्रोधा यथा—१. चतुरस्रोऽल्पदण्डो ब्रह्मचमस इत्युच्यते। २. मण्डलाकारः स दण्डो होतृचमस उच्यते। ३. विस्तीर्णाग्रः स दण्डो यजमानचमसो भवति। ४. त्रिकोणः स दण्ड उद्गातृचमसपदवाच्यः। ५. अधोभोगे वक्रः स दण्डः प्रशास्तृचमस उच्यते। ६. उपरि वक्रः सः दण्डो ब्राह्मणाच्छंसिचमसो भवति। ७. तथैव रास्नायुक्तः स दण्डोऽच्छावाकचमसो भवति। ८. तीक्ष्णाग्रः स दण्ड आग्नीध्रचमसो भवति। द्र०, श्रौ० पदार्थ०।

आज्यशस्त्रपाठ

आज्य शस्त्र का पाठ होता द्वारा विहित है।[1] आज्यशस्त्रपाठ के समय अध्वर्यु वज्रहस्त होकर होता के सम्मुख विनीत खड़ा रहेगा और ऋचाओं के अन्त में, प्रणव के पश्चात् "ओथामोदेव" यह प्रतिगर[2] मन्त्र बोलेगा।

प्रउग स्तोत्र एवं प्रउग शस्त्र का पाठ

आज्यशस्त्रपाठानन्तर अध्वर्यु से प्रेरित होकर पहले उद्‌गाता प्रउग[3] स्तोत्र का पाठ करेगा। ततः होता प्रउग शस्त्र का पाठ करेगा।[4] आज्यशस्त्र पाठ के समान ही प्रउग शस्त्र पाठ के समय भी अध्वर्यु प्रतिप्रणवान्त में होता के सम्मुख खड़ा होकर प्रतिगर मन्त्र का वाचन करेगा।

प्रउग शस्त्र पाठ के पश्चात् अनुष्ठेय विधियाँ

प्रउगशस्त्रपाठ में अध्वर्यु द्वारा प्रतिगर मन्त्र पाठन के पश्चात् निम्नलिखित कार्य विहित होंगे—१. प्रउगशस्त्र-याज्याहुति, २. अनुवषट्कार आहुति, ३. पूर्ववत् चमसभक्षण[5] (यहाँ पर सम्पूर्ण चमस भक्षण विहित है), ४. प्रातःसवन

---

१. **आज्यशस्त्रपाठो द्रष्टव्यः**। "अत्र समुत्पतत् अग्ने....." इत्यतः समारभ्य "उक्थ्यं वाचिघोषायाथवा" एतावत् पर्यन्तं निगदसमन्वितः आज्यशस्त्रपाठविधिः। द्र०, अध्याय ५, खण्ड-९।

२. **प्रतिगरमिति**। "प्रतिगीर्यते प्रत्युच्चार्यते प्रति + गृ + भावे अच्। वैदिकमन्त्रभेदस्य उच्चारणभेदे यथा "शस्त्रस्वरः प्रतिगरः ओथामो दैवेति। शस्त्रस्य स्वर इव स्वरो यस्य स शस्त्रस्वरः। उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। शस्त्रतुल्यस्वर इत्यर्थः। द्र० वाच०।

३. **प्रउग इति**। "अनयोराहवनीयपूतभृतेरिव एवोदञ्चनो भवति। शकटे यदुपवेशनस्थानं तन्नीडपदवाच्यम्। नीडस्य बहिर्भागः प्रउगपदवाच्यः।" द्र०, श्रौ०पदार्थ०।
अथ तावद् विषयान्तरेऽपि प्रउगशब्दो यथा—"प्राग्वर्त्तिनि युगे ईशान्तरे। का०श्रौ०सू०, ७.९.५ कर्कः; "तत्र चीयमानस्याग्नेः प्रउग चित् संज्ञा। का०श्रौ०सू०, १६.५.९। "शस्त्र-विशेषे प्रउगमुक्थ्यमव्यथायै"। य०वे०, १५.११। "प्रउगं शंसति निष्कैवल्यं शंसति" सा०स०भाष्यधृता श्रुतिः। "प्रउगनिष्कैवल्यशब्दौ शस्त्रविशेषनामनी" इत्युक्त्वा अप्रगीतयन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रमिति भाष्ये शस्त्रशब्दार्थमाह भाष्यकृत् वाच०।

४. **प्रउगशस्त्रपाठो यथा**। "वायुरग्रे गायत्र इत्येतत् प्रभृति उक्थ्यं वाचिरलोकायथवा इत्यन्तः प्रउगशस्त्रपाठविधिः।" द्र०, आश्व०श्रौ०सू०, ५.१०।

५. **चमसभक्षणमिति**। "तत्र सवनीयवद्वाजिनस्यासादनम्। सदसि इडोपहूतांश्चमसान् भक्षयन्ति तद्यथा। होता अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारं चोपहूय स्वचमसं भक्षयति। अध्वर्युस्तं प्रतिप्रस्थातारं चोपहूय भक्षयति।" "भक्षेहि माऽयामि" इति। एवं प्रतिप्रस्थाता तौ उपहूय, होता ब्रह्माणमुपहूय तच्चमसम्। तथैव यजमानचमसम्। प्रशास्त्रादिचमसांस्तु चमसिनमध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारं चोपहूय प्रतिप्रस्थाता प्रशास्तृहोत्रध्वर्यूनुपहूय एवमन्येषां होत्रकाणां चमसान् भक्षयित्वा होतृचमसं पूर्ववद् भक्षयन्ति। ब्रह्मा होतारम् उपहूय स्वचमसम्। यजमानो भक्षेहि इत्यादिमन्त्रेण तथैव स्वचमसम्। पूर्ववत् त्रयो होत्रकचमसान्। इदं चमसभक्षणम्। (श्रौ०पदार्थ०)

में प्रस्तोता द्वारा आज्यस्तोत्रपाठ, ५. पश्चात् मैत्रावरुण का आज्य शस्त्रपाठ ६. अनुवषट्कार सहित शस्त्र-याज्या, ७. उपाह्वान, ८. ततः ब्राह्मणाच्छंसी का स्तोत्रपाठ, ९. आज्यशस्त्रशंसन, १०. शस्त्रयाज्या-अनुवषट्कार, ११. उपाह्वान, १२. पूर्ववत् अच्छावाक् का स्तोत्रपाठ, १३. ततः आज्यशस्त्र, १४. अनुवषट्कारसहित शस्त्रयाज्या, १५. उपाह्वान।

प्रातःसवन का अन्तिम कृत्य (अर्थात् प्रथम दिन का प्रथम सत्र)

यहाँ तक समस्त पूर्ववर्णित कृत्य "प्रथमसवन के" ही हैं, जिसके उपसंहार में निम्नलिखित कृत्य होंगे—

१. प्रउगचमस भक्षण के पश्चात् सभी ऋत्विक् यज्ञमण्डप से नियमानुसार बाहर निकलकर कतिपय निमेषानन्तर मण्डप में पुनः प्रवेश करेंगे।
२. मण्डपप्रवेश समय में समस्त धिष्ण्यों का उपस्थान कर मण्डप द्वार में अभिमर्षण[1] पूर्वक मौन धारणपूर्वक मण्डप प्रवेश करके अपने-अपने धिष्ण्य के पश्चात् निरसनोपवेशन करेंगे।
३. यथाविहित मन्त्र जपपूर्वक उपवेशन करेंगे। प्रातःसवन सम्बन्धी समस्त होतृ-कर्म स्वर से सम्पन्न होगा।

(इस प्रकार अश्वमेध महायज्ञ के प्रथम दिन का प्रातःसवन अनुष्ठान समाप्त होगा)

प्रथम सुत्साह का माध्यन्दिन = द्वितीय सवन

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य होते हैं— इसमें मध्यम स्वर मुख्य है। सभी होता अपने-अपने धिष्ण्य के पश्चात् निरसनोपवेशन करके बैठने पर अध्वर्यु द्वारा "होतर्वदस्व" ऐसा कहे जाने पर दधियाग के लिए "**उत्तिष्ठतावपश्यत**" इत्यादि दो ऋचाओं का पाठ करता है।

याज्या[2]

होम समय की ऋचा को याज्या कहते हैं। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य होंगे—

---

१. **अभिमर्षणमिति**।अभिमर्षणम् अर्थात् स्पर्शः "सदोऽभिमर्शनम्" (का०श्रौ०सू०,९.८.१९) 'तूष्णीं पिन्वनादीनां करणाभिमर्शनश्लक्ष्णधूपनप्रदहनोद्धरणावसेचनानि'। (का०श्रौ०सू०,२६.१.२७)

२. **याज्या इति**।"आगूःपूर्विका वषट्कारान्ता प्रायशोऽर्धर्चावसाना। बहुस्थानेषु एकैव ऋक् क्वचिदनृगपि याज्यापदेनोच्यते।" द्र०, श्रौ० पदार्थ०। "बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में यज्ञ के समय उच्चारित शब्दों का द्योतक है। द्र०, (क) तै०सं०, १.५.२.१, ६.१०.५, (ख) वाज०सं०, १९.२०, २०.१२, (ग) ऐ०ब्रा०१.४.८, ११.१०, २.१३.२; (घ) श०ब्रा०, १.४.२.१९, ३.४.४.२, ७.२.७.११, (ङ) वैदिक इण्डेक्स।

"श्रातं मन्य ऊधनि" इस याज्या का पाठ कर दधिघर्म का "अग्ने व्रीहि" इत्यादि से अनुवषट्कार होगा। अध्वर्यु द्वारा होता के सामने दधिघर्म[१] पात्र को लेकर उपाह्वान। ३. ततः दधिघर्म का घ्राण भक्षण, ४. ततः भक्ष्य निमित्तक याग।

पुरोडाशयाग

इस कृत्य के अन्तर्गत निम्नलिखित अनुष्ठान विहित हैं—

१. "विप्रस्य मनुषो ...." पुरोडाश की स्विष्टकृत् याज्या, "स्वदस्वहव्या ...." इस प्रकार याज्या होगी। **२.** सवनीय याग की याज्या "यथा हरिं वा इन्द्रो धाना...." इत्यादि। **३.** सवनीय स्विष्टकृत् याज्या यथा "हविरग्ने व्रीहिः" इति। **४.** माध्यन्दिन सवन में प्रस्थितयाज्या[२] यथा "पिवा सोममभियमुग्र" इत्यादि। **५.** अनुवषट्कार यथा "सोमस्य अग्ने व्रीहि" इति। **६.** दो बार वागोजः **७.** ततः उपाह्वान करके प्रातःसवनवत् समाख्याभक्षण, इसी को इडोपाह्वान कहते हैं। **८.** आग्नीध्रीय अग्नि में हवन, इसी को दक्षिण होम कहते हैं। यज्ञ में एकादश अग्नि होती है। प्रथम तीन प्रधान अग्नि है— गार्हपत्य, आहवनीय, धिष्ण्य। इनमें गार्हपत्य अग्नि के दो भेद हैं। इष्टि में जो गार्हपत्य था, वह सोमयाग में पुराण गार्हपत्य कहलाता है। इष्टि के आहवनीय को सोमयाग में गार्हपत्य बना लेते हैं। यह नूतन गार्हपत्य कहलाता है। धिष्ण्याग्नि के आठ भेद हैं, यथा—आग्नीध्रीय, अच्छावाकीय, नेष्ट्रीय, पोष्ट्रीय, ब्राह्मणांच्छसीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय और भार्जालीय। आहवनीय एक ही प्रकार का है। इस प्रकार एकादश संख्या निष्पन्न होती है। (द्र० पृ० ३८३ तालिका संख्या-२१) होम का मन्त्र यथा—(क) यदग्नीत्य अग्निर्वदति, (ख) प्राचिह्वयेधिप्राचि। **९.** ततः क इदं कस्मा अदात् इत्यादि मन्त्र से दक्षिणा ग्रहण। **१०.** आग्नीध्रीय के पास जाकर उच्छिष्ट हवि का भक्षणपूर्वक मण्डप आगमन।

---

१. **दधिघर्मकर्म इति**। चमसम् आदाय उपोत्तिष्ठन् आह-"श्रातं हविः" इति प्रत्याक्रम्याश्राव्याह "दधिघर्मस्य यज" इति "वषट्कृते जुहोति" यम् इन्द्रमादाय उपोत्तिष्ठन् आह—"तेभ्यः स्वाहा" इति। अयं दधिघर्मप्रचारः। "दधिसंस्कारके वैदिके कर्मभेदे। "दधिघर्म्मेण चरन्ति प्रवर्ग्यवांश्चेत्" आश्व०श्रौ०सू०, ५.१३.१। "दधिघर्मो नाम कर्मविशेषः"। स च कात्यायनश्रौ० उक्तो यथा—१०.१.१९ "सप्रवर्ग्ये दधिघर्म्मः" द्र०, वाच०।

२. **प्रस्थितयाज्या इति**। "अध्वर्युः मैत्रावरुणचमसमादाय आश्राव्य आह—"ब्रह्मन् यज" इति पोतृचमसमादाय आश्राव्य आह– "पोतः यज" इति। नेष्टचमसमादाय आश्राव्य आह– "नेष्टः यज" इति। आग्नीध्रचमसमादाय आश्राव्य आह– "अग्नीद्यज" इति। अयं प्रस्थितयाज्याप्रचारः। (श्रौ०पदार्थ०)।

तालिका संख्या-२१

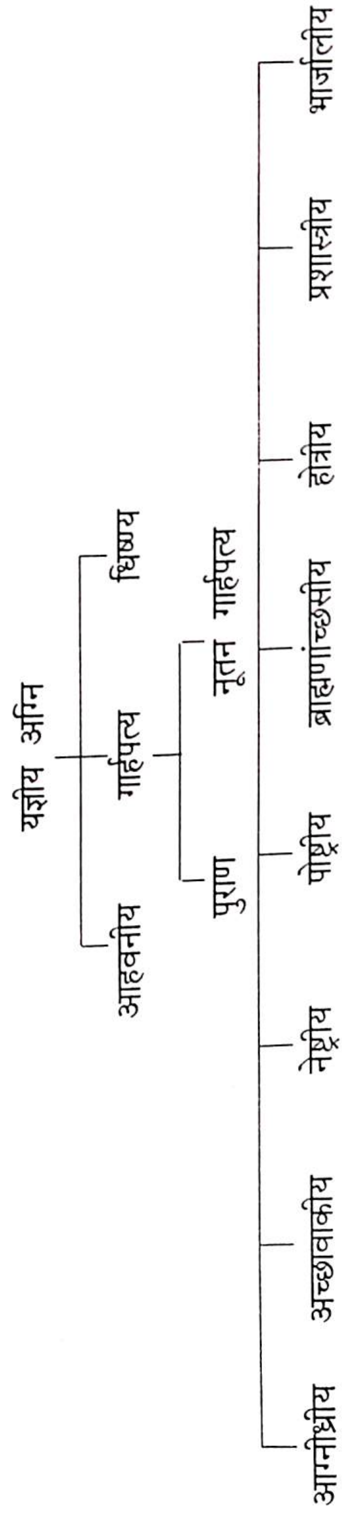
यज्ञीय अग्नि
आहवनीय
गार्हपत्य
धिष्ण्य
पुराण
नूतन गार्हपत्य
आग्नीध्रीय
अच्छावाकीय
नेष्ट्रीय
पोत्रीय
ब्राह्मणांच्छसीय
होत्रीय
प्रशास्त्रीय
मार्जालीय

मरुत्वतीय विधि

इस विधि के अन्तर्गत दो अनुष्ठान हैं। यथा—१. ग्रहप्रचार, २. शस्त्र-पाठ।

ग्रहप्रचार

इसके अन्तर्गत ग्रहयाज्या है, जिसमें ''सयोषा इन्द्रः सगणो'' इत्यादि का पाठ। ततः अनुवषट्कार। दो बार वागोज। पूर्ववत् चमसभक्षण।

शस्त्रपाठ

होता द्वारा मरुत्वतीय स्तोत्रपाठ के पश्चात् मरुत्वतीय शस्त्रपाठ होगा। इसके अन्तर्गत ''**आ त्वा रथं यथोतये**'' मन्त्र से यथोक्त निगद मन्त्र सहित आँख मूँदकर परिधान[१] होगा। ''**वयः सुपर्णाः**'' इत्यादि परिधानीय पर्यन्त शस्त्रशंसन होगा। पूर्वापर अन्य विधियों की सम्पन्नता; यथा—''ये त्वा हि हत्ये'' इत्यादि शस्त्रयाज्या अनुवषट्कार सहित। २. आज्यशस्त्रवत् चमस-भक्ष्य। ३. निष्कैवल्य[३] स्तोत्र के पश्चात् होता द्वारा निष्कैवल्य शस्त्रपाठ। यहाँ पर ''**अभि त्वा सूरनोनुभः**'' यहाँ से लेकर यथोक्त निगद सहित ''**सेदु राजा क्षयति**'' इत्यादि परिधानीयपर्यन्त शंसन होगा। ४. अनुवषट्कार सहित ''**पिबा सोममिन्द्र**'' इत्यादि शस्त्रयाज्या। ५. प्रउगवत् भक्षणविधि। ६. सभी का मण्डप प्रवेश।

होत्रकों की शस्त्र-विधि

यह कार्यक्रम अश्वमेध महायाग के प्रथम सुत्याह नामक प्रथम दिन में अनुष्ठेय समूह के अन्तर्गत द्वितीय अर्थात् माध्यन्दिन सवन का अन्तिम अनुष्ठान है। इसमें जिन कृत्यों की अपेक्षा है, वे तीन पृथक्-पृथक् उप-ऋत्विजों द्वारा अनुष्ठेय समान कृत्य हैं। (द्र०, पृ० ३८५, तालिका संख्या २२)

---

१. द्र०, पं०गिरिधरशर्माचतुर्वेदी, ''वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति''।

२. **परिधानमिति**। ''अन्तरीयोपसंख्यानपरिधानान्यधोंऽशुके'' (अमर०, २.६.११७); ''परिधीयते परि + धा कर्मणि ल्युट्; परिहितवस्त्रे नाभेरधोधृतवस्त्रे, वस्त्रादेर्देहादौ धारणे च'' द्र०, वाच०।

३. **निष्कैवल्यमिति**। यज्ञिये स्तोमकारितशंसनात्मके शस्त्रभेदे ''माध्यन्दिने तु होतुर्निष्कैवल्ये स्तोमकारितं शस्यम्'' इति आश्व०श्रौ०सू०। प्रउगं शंसति निष्कैवल्यं शंसतीति श्रुतिः तच्छस्त्रेण आद्ये, यज्ञपात्ररूपे यज्ञभेदे ''मरूत्वतीयाश्च मे निष्कैवल्यस्य च मे'' य०वे० १८.२०द्र०, वाच०।

तालिका संख्या-२२

होत्रक शस्त्र-विधि

	मैत्रावरुणकृत्य	ब्राह्मणाच्छंसी कृत्य	अच्छावाक् कृत्य
१.	शस्त्रशंसन	शस्त्रशंसन	शस्त्रशंसन
२.	अनुवषट्कार सहित शस्त्र-याज्या	अनुवषट्कार सहित शस्त्र-याज्या	अनुवषट्कारसहित शस्त्र-याज्या
३.	उपाह्वान	उपाह्वान	उपाह्वान
४.	भक्षण	भक्षण	भक्षण
५.	मण्डपप्रवेश	मण्डपप्रवेश	मण्डपप्रवेश

प्रथम सुत्याह का तृतीय सवन

पूर्व में निरूपित है कि कर्मकाण्डात्मक अश्वमेध महायाग के दिनत्रयात्मक अनुष्ठान में प्रतिदिन तीन सवन विहित हैं—

१. प्रात:सवन (FIRST SESSION)
२. माध्यन्दिन सवन (SECOND SESSION)
३. तृतीय सवन (THIRD SESSION)

तृतीय सवन की विधि

प्रथम दिन के तृतीय सवन की विधियाँ

तृतीय सवन में समस्त पाठ उत्तम स्वर से किया जाएगा, जिसमें सर्वप्रथम अनुष्ठेय निम्नांकित विधियाँ हैं—

१. आदित्य ग्रह-प्रचार। २. अग्नि आदि विभिन्न देवताक पशुओं का अंग-हविर्याग। ३. वपा होम। ४. वनस्पति याग[1]। ५. स्विष्टकृत् याग, ६. ईडोपाह्वान। ७. ईडाभक्षण। ८. आचमन[2]। ९. मार्जन[3]। १०. सवनीय इष्टि[4]।

१. **वनस्पतियाग**। दिग्होमानन्तरम् अध्वर्यु: प्रदक्षिणमावृत्य जुह्वामुपस्तीर्य स्रुवेण पृषदाज्यं सकृद् ग्रहीत्वा आहवनस्पतयेऽनुब्रूहीति। द्विरभिधार्य प्रसव्यमावृत्त्याश्राव्य प्रत्याश्रानित आह वनस्पतये प्रेष्येति। वषट्कृते पूर्वा आहुतीरतिहाय जुहोति। वनस्पतय इदमिति यजमानस्य त्याग:, आयुष्मानित्यनुमन्त्रणञ्च। अयं वनस्पतियागमित्युच्यते। (द्र०, श्रौ०पदार्थ०)।

२. **आचमनमिति**। ''उपस्पर्शस्त्वाचमनम्'' द्र०, अमर०, २.७.३६; ''उपस्पर्श: स्पर्शमात्रे स्नानाचमनयोरपि''। द्र०, मे०१६५-३२।

३. **मार्जनमिति**। श्लक्ष्णीकरणम्। द्र०, सर्वतन्त्र०। प्रोञ्छनादिना निर्मलीकरणे इति वाच०।

४. **सवनीयेष्टिरिति**। आग्नेयोऽष्टाकपालपुरोडाश:। ऐन्द्राग्न एकादशकपाल:। वैश्वदेवो द्वादशकपाल:। सर्वप्रकृतिवत्। अयं सवनेष्टिरित्युच्यते। द्र०, श्रौ० पदार्थ०।

११. प्रस्थितयाज्या। १२. अनुवषट्कार। १३. सवनमुखभक्षणपर्यन्त माध्यन्दिन-सवनवत् इडोपाह्वान। १४. पिण्डप्रदान। १५. हविशेषभक्षण। १६. आचमन। १७. सावित्रग्रहप्रचार (अध्वर्यु द्वारा प्रेषित होकर होता का पुरोऽनुवाक्याशंसन)। १८. ततः मैत्रावरुण का प्रैष। १९. सावित्रग्रहयाज्या (यहाँ अनुवषट्कार और भक्षण नहीं होता है)। २०. सावित्रग्रह प्रचार के बाद वैश्वदेव का शंसन।

वैश्वदेव कृत्यविधि

सबसे पहले होता वैश्वदेवस्तोत्रपाठ करेगा, ततः वैश्वदेव शस्त्र-शंसन होगा। यहाँ पर भी पूर्व की भाँति होता के सम्मुख अध्वर्यु विनम्रतापूर्वक प्रति अवसानान्त में "ओथामोदेव" ऐसा प्रतिगर प्रदान करेगा।

उपसंहार

दिनत्रय में अनुष्ठेय कर्मकाण्डात्मक अश्वमेधमहायज्ञान्तर्गत प्रथमसुत्याह नामक प्रथम दिन के अन्तर्गत अनुष्ठेय सवनत्रय के अन्तिम तृतीय सवन में उपरिलिखित समस्त विधियों के अनुष्ठान के पश्चात् तृतीय सवन का उपसंहार होगा। इसमें अतिसृष्ट[1] अथवा अनतिसृष्ट होकर दक्षिण दिशा से जाकर पूर्ववत् जपादि सम्पन्न करे। यहीं पर प्रथम दिन में अनुष्ठेय अन्तिम तृतीय सवन की समाप्ति होगी।

परिशिष्ट

कतिपय आचार्य हारियोजन अथवा पत्नीसंयाज[2] विधि के अन्त में प्रथम दिन के तृतीय सवन की समाप्ति मानते हैं; परन्तु मण्डप से बहिर्गमन के पश्चात् पुनः मण्डप प्रवेश पर्यन्त कार्य सम्पन्न होने पर, पश्चात् मण्डपप्रवेश निष्प्रयोजन है। इस प्रकार यहीं दिनत्रयात्मक कर्मकाण्डस्वरूप अश्वमेध महायाग में प्रतिदिन अनुष्ठेय सत्रशृंखला में, प्रथम दिन अनुष्ठेय सत्रत्रयों के अन्तर्गत, अन्तिम तृतीय सत्र की समाप्ति होने से, प्रथमसुत्याह नामक प्रथम दिन का कृत्य समाप्त हुआ।

अश्वमेधयाग के प्रथमदिन कृत्य की समाप्ति

अनुयाज याग

यह यज्ञ के पश्चात् अनुष्ठेय विधि है। प्रयोग की सुविधानुसार इसका निरूपण किया जाता है। एतदन्तर्गत विधियाँ यथा—१. पूर्ववत् एकादश

---

१. **अतिसृष्टमिति**। दत्ते प्रेरिते च द्र०, वाच०।

२. **पत्नीसंयाजमिति**। वैदिककर्मभेदः, स च कात्यायने ३.७.७। सूत्रादौ उक्तः। पत्नीसंयाजनमप्यत्र। "जाघन्या पत्नीसंयाजनम्" इति कात्यायनः ६.९.१४।

अनुयाजयाग। २. सूक्तवाक्। ३. शंसयुवाक्। ४. वाजिनयाग। ५. हारियोजनयाग। ६. अनुवषट्कार, ७. दो बार वागोज।

द्रोण कलश[1] का उन्नयन

लाए गए द्रोणकलश को मुख के समानान्तर धारण कर, ईडा के समान प्रतिग्रहण करके "उन्नेता उपभयस्व" ऐसा कहे जाने पर मौन होकर द्रोणकलश स्थित सोम को देखकर "हरिवतस्ते हारियोजनास्येत्यत: ....तस्मिन्तदेनो वसवोनिधंतन स्वाहा" पर्यन्त मन्त्र का पाठ करके घ्राणभक्षण एवं आप्यायन विहित है।

आश्वमेधिक द्वितीय सुत्याह

द्वितीय सुत्याह के आरम्भिक कृत्य

पूर्व में कहा गया है कि अश्वमेध महायाग में मुख्य वैदिकयाग दिनत्रयात्मक है। इस तारतम्य में प्रथम सुत्याह नामक प्रथम दिन के तृतीय सवन का अनुष्ठान पूर्ण होने पर प्रथम दिन का कार्य समाप्त होता है। द्वितीय दिन प्रात:काल से आश्वमेधिक द्वितीय सुत्याह के प्रति सुत्याह में विहित, सवनत्रय के अन्तर्गत यथाक्रम विधीयमान प्रातःसवन, मध्याह्नसवन एवं सायंसवन में प्रथम प्रातःसवनविधि प्रारम्भ होती है। आश्वमेधिक द्वितीय सुत्याह के प्रारम्भ प्रसंग में सपत्नीक यजमान अहत वस्त्रयुगल धारण कर, द्वितीय दिवस के सुत्याह में प्रयुक्त होने वाले सोमलता, तद् अभाव में तत् प्रतिनिधिभूत पूतिका को संगृहीत करेगा। इस प्रसंग में अनेक गायकगण स्तुतिगानादि प्रस्तुत कर अश्वमेधयाजी सम्राट् का उत्साहवर्द्धन करेंगे। प्रसंगानुसार अधोलिख्यमान प्रमुख कृत्य भी अनुष्ठेय है, यथा— १.समिधाहरण विधि। २. पूर्वदिन में अवशिष्ट सुत्याह सम्बन्धी मन्त्रों का स्वाध्याय। ३. सुब्रह्मण्याह्वान। ४. प्रैष। ५. गार्हपत्यादि कुण्डों में समिधादान। ६. पयस्वार्थ वत्सापकरण। ७. दोहनविधि। ८. शाकोपगूहन। ९. अध्वर्यु द्वारा आज्यहोमादि।

उक्त समस्त कृत्य के अवान्तर अनेक लघुकृत्य भी अनुष्ठेय हैं, जिनका विवेचन आगे क्रमश: स्पष्ट है। उक्त नव कृत्यों में भी प्रथम दो अर्थात् समिधा-हरण एवं पूर्वदिन अर्थात् प्रथमसुत्याह के अवशिष्ट मन्त्रों का पाठ सामान्यविधि ही है। तत्पश्चात् सुब्रह्मण्याह्वान सम्पन्न होगा।

---

१. **द्रोणकलशमिति**। "जुहूसदृशे महापुष्करे द्वे पत्रे ते द्रोणकलशपदवाच्ये।" द्र०, श्रौ० पदार्थ०।

प्रतिप्रस्थाता द्वारा अध्वर्यु का प्रतिनिधित्व

जिस प्रकार दिनत्रयात्मक शारदीय दुर्गामहापूजा में द्वितीय दिन अर्थात् चान्द्र आश्विन शुक्लाष्टमी अर्थात् महाष्टमी को सर्वाधिक[१] विधिविहित है, उसी प्रकार दिनत्रयात्मक अश्वमेध याग के द्वितीय दिन अर्थात् आश्वमेधिक द्वितीय सुत्याह में भी अत्यधिक विधिबाहुल्य के कारण, कार्याधिक्यवशात् ''सुब्रह्मण्याह्वान'' नामक अनुष्ठान के पश्चात् अनुज्ञा से अवशिष्ट आध्वर्यवकृत्य प्रतिप्रस्थाता[२] सम्पन्न करेगा।

सर्वरात्रिहोम द्वारा रात्रियापन

सम्पूर्ण रात्रि आज्य, सक्तु, धाना, लाजादि विभिन्न द्रव्यों से होम करते हुए व्यतीत होगी। इस होम को ही ''सर्वरात्रि[३] होम'' कहते हैं। उक्त होम सम्पन्न होने के पश्चात् पात्रासादनादि अनुष्ठान होगा।

सर्वरात्रि होम का स्वरूप

पूर्वदिन अर्थात् प्रथमसुत्याह की कार्य-समाप्ति के पश्चात् विभिन्न प्रहरों में विभिन्न उपकरणों से होम विहित है। यथा—१. प्रथम प्रहर में खदिर निर्मित स्रुक् से आज्य होम। २. द्वितीय प्रहर में धाना द्रव्य से चतुरवत् अर्थात् होम एवं जुह्वा नामक स्रुक् से सक्तु होम। ३. तृतीय प्रहर में धाना द्रव्य से चतुरवत् अर्थात् एक-एक मुष्टि मान वाला चार होम होगा। ४. चतुर्थ प्रहर में एकमुष्टि मान वाला लाजा होम होगा। रात्रि समाप्ति के बाद, आज्य को संस्कृत कर, एक आज्याहुति होगी। यदि तब तक सूर्योदय हो जाय, तो सूर्य के लिए एक आज्याहुति होगी।

सर्वरात्रि होम के पश्चात् कृत्य

पूर्वोक्त आज्य-सक्तु-धाना-लाजरूप चतुर्द्रव्यात्मक सम्पूर्ण रात्रिव्यापि ''सर्वरात्रि'' होम के पश्चात् अवशिष्ट कर्मापवर्गान्त इष्टि का विधान है। यह इष्टि दर्शपूर्णमासधर्म[४] के अनुसार सम्पन्न होता है।

---

१. महापूजायां प्रतिनिधिर्नेष्ट इति शिष्टाचारः (द्र०, कृत्यकल्पतरुः, क्रियाकाण्डवारिधिश्चेति दिक्)।

२. **प्रतिप्रस्थातेति**। अध्वर्युसदृशः ऋत्विक्पंचमः प्रतिप्रस्थातोच्यते। श्रौ०पदार्थ०।

३. **सर्वरात्री इति**। सर्वरात्रिहोमे आज्यसक्तुलाजाधानादयश्चत्वारः, श्रौतसूत्रान्तरे मसूर-यव-तिल-प्रियङ्गुधान्यादिरूपा अन्येऽपि पदार्थाः स्वीकृताः, तेषु आज्यस्यैव प्राधान्यमिति दिक्।

४. **दर्शपूर्णमास इति**। दर्शश्च पूर्णमासश्च यागौ पक्षान्तयोः पृथग् इति कोशाद् अमावास्याया-मन्वाधानं कृत्वा प्रतिपदि यागः क्रियते स यागो दर्श इत्युच्यते। पौर्णमास्यायामन्वाधाय प्रतिपदि क्रियमाणा यागाः पौर्णमासेनेष्टपशुसोमा उपदिष्टा इति सूत्रात् ''पूर्णमासे भव'' इति व्युत्पत्त्या पौर्णमासशब्दप्रतिपाद्यः दर्शशब्दवत् लक्षणया पूर्णमासशब्दप्रतिपाद्यश्च भवति। श्रौ० पदार्थ०।

सर्वरात्रि होम में अध्वर्यु के व्यस्त रहने के कारण आगामी द्वितीय दिन के प्रात:काल में सम्पन्न होने वाले सुत्याह के लिए अपेक्षित कर्तव्यों को, प्रतिप्रस्थाता नामक उपऋत्विक् रात्रि में ही पूर्ण कर लेता है। इस प्रसंग में रात्रि में ही प्रतिप्रस्थाता द्वारा अपेक्षित कार्य निम्नलिखित हैं, यथा—

परिस्तरण[१], पात्रासादन[२], उपांशुसवन[३], ग्रहसादनादि[४]।

द्वितीय सुत्याह की प्रवृत्ति

द्वितीय सुत्याह की पूर्व रात्रि के चतुर्थ प्रहर में पक्षियों के कूजन के पूर्व ही ऋत्विजों का जागरण अपेक्षित है एवं सभी ऋत्विक् शौच-दन्त-धावन-स्नान-नित्योपासन से निवृत्त होंगे। इसके पश्चात् सर्वप्रथम वीणागायन होगा। इस प्रसंग में प्रतिप्रस्थाता अग्न्यायतन-परिस्तरणादि परिधि-परिधानादिपाशुक इष्टि के विशेष पात्रों का आसादन सम्पन्न करेगा। होता मन्द्र में प्रातरनुवाक का पाठ करेगा। इसी प्रकार उद्गाता द्वारा मन्द्र स्वर में बहिष्पवमान स्तोत्र का पाठ किया जाएगा।

ऋत्विजों का मण्डप से बहिरागमन

पूर्वोक्त बहिष्पवमान स्तोत्र पाठ के पूर्व उद्गातादि सभी ऋत्विक् अश्वमेधीयाश्व का पुच्छस्पर्श करते हुए मण्डप से बाहर आयेंगे।

बहिष्पवमान नाम का कारण

पूर्वोल्लिखित वेदीमण्डप के बाहर आकर ऋत्विजों द्वारा उक्त स्तोत्र का पाठ करने के कारण ही इसे बहिष्पवमान कहा जाता है।

प्रासंगिक दक्षिणा

बहिष्पवमान स्तोत्र पाठ के पश्चात् यजमान, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता को दक्षिणा प्रदान करेगा। यहाँ दक्षिणा की द्रव्य राशि शतमान सुवर्ण होगी। इसके पश्चात् विप्रुट् होम एवं पशूपाकरणार्थ अग्नि का विहरण[५] भी होगा।

---

१. **परिस्तरणमिति**। ततः आहवनीयदक्षिणाग्निगार्हपत्यान् क्रमेण दर्भैः परिस्तृणाति अग्नेः षोडशभिर्दर्भैः प्राच्यादिषु परिस्तृतिरिति वचनात् प्रथममेखलोपरि चतुर्भिःदर्भैः, तथैव दक्षिणस्यां प्रतीच्यामुदीच्यां च क्रमेण स्तरणं परिस्तरणपदार्थः। (श्रौ०पदार्थ०)

२. **पात्रासादनमिति**। परिस्तरणानन्तरं गार्हपत्यस्य पुरस्ताद् वेद्यां परिभोजनीयदर्भानास्तीर्य तेषु द्वन्द्वं न्यञ्चि प्रक्षालितानि यज्ञपात्राणि प्राक्संस्थान्युदक्पर्वणि स्थापयति, तदेतत् कर्मपात्रासादनपदार्थः। (तत्रैव)

३. **उपांशुसवनमिति**। अध्वर्युः प्रदक्षिणमावृत्याऽऽग्रयणस्थाल्यां ग्रहस्य संस्रावमवनयति। एष ते योनिः इति, उपांशुपात्रे राज्ञोऽमुं प्रास्य यथास्थानं निदधाति। प्राणाय त्वा इति। इदम् उपांशु-सवनं प्रत्यभिमर्षनमुच्यते। (तत्रैव)

४. **ग्रहसादनम्**। अर्थात् पात्रासादनम्।

५. **अग्निविरहणमिति**। अग्नीदग्नीन् विहर बर्हिः स्तृणाहि पुरोडाशम् अलंकृत्य प्रतिप्रस्थातः पशुरन्तिकेऽस्तु इति। अयमग्निविहरणादिप्रैषः। द्र०, तत्रैव।

उपाकरण शब्दार्थ

उपाकरण अर्थात् यूप में श्रौतसूत्रोक्त विधानानुसार पशु का बन्धन।

उपाकरण विधि

अग्निविहरण विधि के पश्चात् एकादशिनीसंज्ञक पशुओं का उपाकरण होगा।

कतिपय पूर्व कृत्य

प्रासंगिक उपाकरण विधि के पूर्व कतिपय कृत्य अपेक्षित हैं, यथा— १. स्वरु काष्ठ का यूप में गूहन, २. चषालादि का यूपाग्र भाग में स्थापन, ३. यूपाञ्जन प्रैष,[1] ४. यूपोच्छ्रयण,[2] ५. यूपप्रोक्षण,[3] ६. वस्त्रपरिवेष्टन।

प्रधान ऋत्विक् को सहयोग

उपर्युक्त सभी कृत्य साधारणतया अध्वर्युकर्तृक होने चाहिए; परन्तु अश्वमेधमहायाग स्वयं ही एक अत्यधिक विशाल परियोजना है। इसमें यूपसंख्या एवं पशुसंख्या अनेक है, अतः यज्ञवेदी का क्षेत्रविस्तार अत्यधिक है। इस कारण ऐसे समस्त अनुष्ठानों में अध्वर्यु अपने सहयोग के लिए अनेक उपाध्वर्यु ऋत्विजों का वरण कर सकता है।

सहयोगी ऋत्विक् संख्या

ऐसे सहायक उपाध्वर्यु ऋत्विक्गणों की संख्या आवश्यकतानुसार दशाधिक भी हो सकती है।

अश्व की स्थिति

यहाँ एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान अपेक्षित है। द्वितीय दिन के पशु के उपाकरण काल में अश्व को लेकर वेदी के बाहर ही स्थापित करे। इस अवस्था में अश्व का स्थित होना यज्ञ की समृद्धि का द्योतक है।

यहाँ पर प्रथमसुत्याहवत् प्रातरनुवाकपाठ से लेकर अग्निमंथनपर्यन्त समस्त कृत्य सम्पादन कर सवनीय इष्टि का आरम्भ होता है।

---

१. **यूपाञ्जनमिति**। अग्रं यूपायेत्यादिप्रैषो यूपाञ्जनप्रैष इत्युच्यते। (द्र०, श्रौ० पदार्थ०)

२. **यूपोच्छ्रयणमिति**। अध्वर्युः यजमानेन सह यूपमुच्छ्रयति उद्दिवं स्तभानेत्यादिमन्त्रेण। यातेधामानीति द्वाभ्यामृग्भ्यां यूपमवटे प्रवेशयति। अग्निष्ठामस्त्रिमावनीयस्याभिमुखी करोति। एतद् यूपोच्छ्रयणमित्युच्यते। द्र०, तत्रैव।

३. **यूपप्रोक्षणमिति**। यूपप्रक्षालनानन्तरं चात्वालोत्करयोर्मध्यमार्गेण यूपमानीय यूपावटस्य पुरस्ताद् यूपं प्रागग्रं शाययित्वोत्तरवेद्या उत्तरतस्तिष्ठन् पृथिव्यै त्वेत्यादिमन्त्रेण यवमतीभिः प्रोक्षणीभिर्मूलादारभ्याग्रपर्यन्तं सकृदेव प्रोक्षति। एतद् यूपप्रोक्षणमिति। द्र०, तत्रैव।

उपाकरण प्रकार

इस कार्यक्रम में एकविंशति यूप होंगे, जिनके बीच में यथोचित व्यवधान होगा। इन यथोचित व्यवहृत स्थानों में रज्जु बाँधकर कपिंजलादि १३-१३ पशुओं का आलम्भन होगा। यहाँ पर यूपान्तराल में आरण्य पशुओं के बन्धनों का उपाय निम्नलिखित है। यथा—१. नाड़ियों में मशक, २. करण्य में सर्प, ३. पंजर में मृग, व्याघ्र, सिंह, ४. कुम्भ में मकर, मत्स्य, मण्डूक, ५. जाल में पक्षी, ६. कारा में हस्ति, ७. नौका में उदक।

पशुबन्धन का प्रकारान्तर

प्रकारान्तर में यह भी विहित है कि जिस उपाय से जो पशु यूपान्तराल में स्थित हों, उन्हें उसी उपाय से स्थापित करना चाहिए।

पशुयूपविभाग का समष्टि रूप

इस सम्पूर्ण सन्दर्भ में २६० आरण्य पशुओं का वर्णन किया गया है। इसका विवरण इस प्रकार है—

१. एकादशिन पशु=२२

२. अश्वादि-सौर्यान्त ग्राम्य पशु=३२७

३. कपिंजलादि पृषतान्त आरण्य पशु=२६०/६०९

इस प्रकार अश्वमेधयज्ञ के द्वितीय दिन में ६०९ पशुओं का आलम्भन होता है।[1]

अश्वस्तवन

अश्वमेधयज्ञ के द्वितीय दिन में उपाकरण के लिए अवस्थित अश्व की "यदक्रन्दः" इत्यादि मन्त्र से स्तुति की जायगी। तत्पश्चात् एकादशिन सवनीय पशुओं को प्रोक्षित कर, यजमान के द्वारा अश्वप्रोक्षण[2] प्रारम्भ होने पर अश्व को प्रजापतिदेवताक मानकर अश्व सम्बन्धी समस्त कृत्य को मौन सम्पन्न किया

---

१. द्र, आश्व०श्रौ०सू०, १०.८।

२. **प्रोक्षणमिति**। ततः सशूकायामेवाग्निहोत्रहवण्यां त्रिःपवित्रमाणमानीय त्रिरुत्पूय उन्म-हयन्नुपस्यायतेन जलेन सपवित्रेणोत्तानेन दक्षिणपाणिना सेवनं हविष्यादीनां यत् तत् प्रोक्षणमित्युच्यते। (द्र०, श्रौ०पदार्थ०)

जायगा। अश्वप्रोक्षण के पश्चात् उसको जल पिलाकर, पुनः जल से परिष्कृत कर, समस्त पशुओं का प्रोक्षण होगा।

अध्वर्यु द्वारा उपोक्षण

अश्व के नीचे अध्वर्यु उपोक्षण करेगा। अध्वर्यु के सहायक उपाध्वर्युगण अर्थात् प्रतिप्रस्थाता-नेष्टा-उन्नेता-ये सभी उपाकरण-नियोजन-प्रोक्षण आदि कर्मों को यथासम्भव करेंगे। इसके पश्चात् इध्म-प्रैष्यादि[1] उत्तराधार सम्पादनानन्तर पशुओं का अध्ययन किया जाएगा। सर्वप्रथम अश्व का अभ्यंजन प्रारम्भ होने पर अन्य पशुओं का बन्धन क्रम से अभ्यंजन होगा।

आप्रीसूक्तपाठ

इस सन्दर्भ में आप्रीसूक्त का पाठ होगा। प्रसिद्ध आप्रीसूक्त "अश्वमेधे समिध्यो अद्य"[3] इत्यादि स्थानापन्न शुक्लयजुर्वेद अन्तर्गत वाजसनेयिसंहितोक्त "समिधो अंजन"[4] इत्यादि मन्त्रों का आप्रीसूक्त पाठ होगा। आप्रीसूक्तपाठानन्तर एकादश प्रयाज का अनुष्ठान किया जाएगा।

विशंसन विधि

अश्वमेध महायाग में अनेक पशुओं का विशंसन होता है, तदर्थ प्रत्येक पशु के लिए पृथक्-पृथक् शस्त्रों का विधान है। यथा—१. अश्व के लिए सुवर्ण असि, २. तूपरादि के लिए ताम्र असि, ३. पर्यङ्ग पशुओं के लिए लौह असि। अध्वर्यु आदि शामित्रशाला में यथासम्भव संस्कारादि करके पर्यग्नि-करणार्थ प्रैष प्रदान करते हैं। ततः होता पर्यग्निकरण मन्त्रों का पाठ करता है।

स्वरु का अवगाहन

स्थापित किये गये यूपों में, समस्त यूपों में अवशिष्ट खण्डों को, जिन्हें "स्वरु" कहते हैं, स्थापित किया जाता है।

अध्रिगु प्रेष

इसी समय "अध्रिगोशमीध्वम्" इत्यादि शासनपूर्वक "षड्विंशति-

---

१. **प्रैषमिति**। यजेत्यादिलोट्मध्यमपुरुषान्तपदघटितेन येन वाक्येन अध्वर्य्वादिना होत्रादिः प्रेर्यते तद् वाक्यं प्रैष इत्युच्यते। श्रौ०पदार्थ०।

२. **अभ्यंजनमिति**। अभितः अङ्गं सर्वमज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या अभ्यङ्गसाधनमाज्यादि अभ्यंजनपदेनोच्यते। द्र०, श्रौ०पदार्थ०।

३. समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः।। (य०वे० २९.२५)
समिद्धो अंजन्कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत्पिन्वमानः।
वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमासधस्थम्।। (य०वे०, २९.१)

रश्वस्य विक्रय:''[१] के आगे ''मानो मित्र'' इत्यादि द्वाविंशति ऋगात्मक सूक्त का पाठ होगा।[२]

कपिंजलादिकों का उत्सर्ग

पर्यग्निकरण के पश्चात् कपिंजलादि सर्वाधिक पशुओं का उत्सर्जन होता है। इस विधि के अन्तर्गत उत्सर्ग समय में तत्तद् द्रव्य विशेषवाची एवं तत्तद् देवताविशेषवाचक शब्दोच्चारणपूर्वक तत्तत्पदार्थ का यजमान त्याग करेगा।

सहायकों की नियुक्ति

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि यत: अश्वमेध महायाग एक अतिविशाल, जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण अखण्डता एवं एकता से मण्डित आर्य साम्राज्य की महती परम्परा के सातत्य निर्वाह में सक्षम वंश परम्परा का स्थापक तकनीक है। राजनीतिक दृष्टि से वर्षव्यापी अश्वमेध महायाग का कर्मकाण्डात्मक अनुष्ठेय रूप दिनत्रयात्मक है। उनमें भी मध्यम दिन में अनुष्ठेय द्वितीय सुत्याह कर्म, शारदीय दुर्गा महापूजा के प्रधान अनुष्ठेय दिनत्रय अर्थात् चान्द्र आश्विन शुक्ल महासप्तमी-महाष्टमी-महानवमी के अन्तर्गत मध्यम दिन अर्थात् द्वितीय दिन महाष्टमीकृत्य के समान सर्वाधिक गुरुत्वपूर्ण एवं विशाल अनुष्ठान है। द्वितीय सुत्याह में यज्ञ में, आध्वर्यकृत्य की प्रधानता के कारण, अश्वमेध महायज्ञ के दीक्षा ग्रहण के पश्चात् अपने समस्त अधिकारों का अध्वर्यु में हस्तान्तरण के कारण भी अत्यधिक कार्याधिक्य पारवश्यवशात् अध्वर्यु अपने सुविधानुसार अथवा तदधिक सहायकों की नियुक्ति कर सकता है।[३]

प्रधान सहायक प्रतिप्रस्थाता

पूर्वोक्त दश, उससे अधिक सहायकों के साथ अध्वर्यु अश्वमेध महायज्ञ सम्बन्धी समस्त विहित अनुष्ठानों का समयानुसार शृंखलाबद्ध संचालन करता है। इस प्रसंग में पूर्ववर्णित यह तथ्य भी नहीं भूलना चाहिए कि सहायकों में प्रतिप्रस्थाता का विशिष्ट स्थान है, अर्थात् वह प्रधान सहायक होता है।

होता को प्रैष प्रदान

अध्वर्यु एकादशिनी संज्ञक पशुओं का निश्चित यूपों में उपाकरण के लिए और अश्व के उपाकरण के लिए होता को प्रैष प्रदान करता है और होता

---

१. द्र०, कौ०ब्रा० १०.४।

२. ऋ०वे० १.१६२.१ का०श्रौ०सू०, २०.८.७।

३. आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्यात् पुरा:।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थम् ऋग्वेदो व्याकरिष्यते।। द्र०, वेदार्थप्रकाश (ऋग्वेद) भूमिका, श्लोक ५।

हौत्रकर्मानुसार अश्वसूक्त का पाठ करता है। इस प्रसंग में १५ ऋचाओं से अश्व का अभिष्टवन[१] किया जाता है।

अश्व के साथ अन्य पशुओं का आलम्भन

इस कार्यक्रम में अश्व के साथ तूपर[२]–छाग-गवय का भी यूप में अध्वर्यु आलम्भन करेगा। पश्चात् पूर्वोक्त अश्व-तूपर-गवय इन तीनों मेध्य पशुओं को सुवर्णालंकार से विभूषित कर, उस स्थान में एक सुवर्णमण्डित भव्य रथ स्थापित किया जाएगा। इस भव्य रथ में अश्वमेधीयाश्व के साथ दो अन्य अश्व भी नियुक्त किये जायेंगे।

भव्य रथ का कार्यक्रम

अध्वर्यु अश्व को रथ में नियुक्त करते समय मन्त्रपाठ करता है। इस सन्दर्भ में ६० मन्त्रों का पाठ होता है एवं प्रतिमन्त्र में निहित अभिप्राय को भी प्रकट करता है।[३] उपर्युक्त ६० मन्त्रों में ३ मन्त्र पितृस्तुतिपरक होने से उनका पाठ प्राचीनावीति[४] एवं दक्षिणाभिमुख होकर विहित है। पुनः उपवीति अर्थात् वामस्कन्ध में यज्ञोपवीत रखकर रथ में आरोहण करता है। यह रथ सारथियुक्त होता है एवं रथ के पहियों एवं उपवेशन स्थान का अभिमर्षण करता है।

सम्राट् का जलाशय प्रस्थान

उपर्युक्त कृत्य के अनन्तर अध्वर्यु के साथ अश्वमेधमहायज्ञाधिकारी दिग्विजयी सम्राट् यजमान भी रथारोहण करता है एवं रथ को निकटस्थ सरोवर के पास ले जाता है। वहाँ पर रथसहित अश्व को कुछ भीतर तक उतार कर पुनः रथ को यूप के समीप यज्ञस्थान में ले आता है। वहाँ पर रथ से अश्वों को मुक्त किया जाता है।

पत्नियों द्वारा घृताभ्यञ्जनकर्म

यहाँ पर महिषी-वावाता परिवृक्ता-नामक राजपत्नियाँ मेध्य अश्व का घृत से लेपन करती हैं। इसका विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

(क) महिषी द्वारा अश्व के पूर्व भाग का घृतानुलेपन।

---

१. अभि + स्तु + वत; वर्णिते स्तुते च द्र० वाच०, ''गीर्णवर्णिताभिष्टुतेडितानि स्तुतार्थानि'' द्र०, अमर०, ३.१.११०।

२. तूपर इति। ''शृंगोद्गमनवयसि प्राप्तेऽपि अजाशृंगछागः'' तूपर इति उच्यते।

३. द्र०, शु०य०वे०, वाच०सं, आश्वमेधिकाध्याय २९।

४. दक्षिणस्कन्धे यज्ञोपवीतस्थापनम्।

(ख) वावाता द्वारा अश्व के मध्यभाग का घृतानुलेपन।

(ग) परिवृक्ता द्वारा अश्व के पश्चात् भाग का घृतानुलेपन।

अश्वघृताभ्यञ्जन-चक्र

पूर्वभाग	मध्यभाग	पृष्ठभाग
(महिषी)	(वावाता)	(परिवृक्ता)

सुवर्णमणियों से अश्व का श्रृंगार[1]

राजपत्नियों द्वारा मेध्य अश्व के पूर्वोक्त अंगों के घृताभ्यंजन के पश्चात् उसको सुसज्जित किया जाएगा, जिसका विवरण इस प्रकार है—

(क) राजमहिषी द्वारा अश्वशिरोभाग में शतसुवर्णमणिमाला का बन्धन।

(ख) वावाता द्वारा अश्वग्रीवा में शतसुवर्णमणिमाला का बन्धन।

(ग) परिवृक्ता द्वारा अश्वपुच्छ में शतसुवर्णमणिमाला का बन्धन।

(घ) इसके पश्चात् अनुचरी स्त्रियाँ एक-एक सुवर्ण निर्मित माला से अश्व का बन्धन करती हैं।

अश्वालंकरण-चक्र

अश्वशिरोभाग	अश्वग्रीवा	अश्वपुच्छ	अश्वशेषाङ्ग
(राजमहिषी)	(वावाता)	(परिवृक्ता)	(अन्य अनुचरी)

अश्व का भोजन

पूर्वोक्त भव्य श्रृंगार के पश्चात् अश्व को भोजन कराया जाएगा। भोजन के रूप में यहाँ पर अश्व को, पूर्व रात्रि में विहित सर्वरात्रि होम के हवन से अवशिष्ट आज्य-सक्तु-धाना-लाज आदि को दिया जाएगा। इस प्रसंग में अश्व की भोजन वेला में यह ध्यान देना चाहिए कि अध्वर्यु एक मन्त्रविशेष का पाठ करेगा।[2]

ब्रह्मोद्य-विधान

यहाँ पर ब्रह्मोद्य नामक एक अत्यधिक आकर्षक कार्यक्रम होता है, जिसे आज की शैली में Conference या Seminar कहते हैं। इसमें पूर्वनिश्चित विषय

---

१. अभ्रंश्यमानान्मणीन् सौवर्णानिकशतमेकशतं केसरपुच्छेष्वावयन्ति भूर्भव: स्वरिति प्रतिमहाव्याहृति। (द्र०, का०श्रौ०सू०, २०.५.१६)

२. "वसवस्ता वाजन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वांजन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा आदित्या..एतदन्नमद्धि प्रजापते"। (शु०य०वे०, २३.८)

पर प्रश्नोत्तर प्रस्तुत होता है एवं इस प्रश्नोत्तर में योग्यता तथा अधिकारमूलक वाक्स्वातन्त्र्य का संवैधानिक रूप स्पष्ट दृग्गोचर होता है। इस संगोष्ठी के प्रश्नोत्तर रूप बौद्धिक कार्यक्रम में अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों को प्रश्नोत्तर शैली में सरल रूप से समझाया गया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत यूप के दक्षिण दिशा में ब्रह्मा उत्तराभिमुख होकर एवं होता उत्तरदिशा में दक्षिणाभिमुख होकर परस्पर प्रश्नोत्तर करते हैं।

ब्रह्मोद्य-संवाद-चक्र[1]

१.	**होता अध्वर्युं पृच्छति**		**तं प्रत्याहाध्वर्य्युः**
१.	कः स्विदेकाकी चरति	—	सूर्य एकाकी चरति।
२.	कः स्विज्जायते पुनः	—	चन्द्रमा जायते पुनः।
३.	किं स्विद्धिमस्य भेषजम्	—	अग्निर्हिमस्य भेषजम्।
४.	किं वा वपनं महत्	—	भूमिरावपनं महत्।
२.	**अध्वर्युः होतारं पृच्छति**		**तत्प्रत्याह होता**
१.	किंस्वित् सूर्यसमं ज्योतिः	—	ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः।
२.	किंस्वित् समुद्रसमं सरः	—	द्यौः समुद्रसमं सरः।
३.	किंस्वित् पृथिव्यै वर्षीयः	—	इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्।
४.	कस्य मात्रा न विद्यते	—	गोस्तु मात्रा न विद्यते।
३.	**ब्रह्मा उद्गातारं पृच्छति**		**तं प्रत्याह उद्गाता**
१.	पृच्छामि त्वाचितये देवसख	—	अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि।
२.	यदि त्वामत्र मनसा जगन्ध	—	येषु विश्वं भुवनमाविवेश।
३.	येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्ट	—	सद्यः पर्येमि पृथिवीमुतद्याम्।
४.	तेषु विश्वं भुवनमाविवेश	—	एकेनाङ्गेन दिवो अस्पृष्टम्।
४.	**उद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति**		**तं प्रत्याह ब्रह्मा**
१.	केष्वन्तः पुरुष आविवेश	—	पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश।
२.	कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि	—	तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
३.	एतद् ब्रह्मन्नुपह्वयामसि त्वा	—	एतान्न प्रतिमन्वानो अस्मि।
४.	किंस्विन्नः प्रतिवोचस्यत्र	—	न मायया भुवस्युत्तरो मत्।

१. द्र०, पं०मधुसूदन विद्यावाचस्पति कृत छन्दोऽभ्यस्ता, पृ० ८५।

५. होता अध्वर्युं पृच्छति		तं प्रत्याह अध्वर्युः
१. का स्विदासीत्पूर्वचितिः	—	द्यौरासीत्पूर्वचितिश्च।
२. किं स्विदासीद्बृहद्वयः	—	अश्व आसीद्बृहद्वयः।
३. कास्विादासीत्पिलिप्पिला	—	अविरासीत् पिलिप्पिला।
४. कास्विदासीत् पिशङ्गिला	—	रात्रिरासीत् पिशङ्गिला।

६. अध्वर्युः होतारं पृच्छति		तं प्रत्याह होता
१. का ईभिरे पिशङ्गिला	—	अजारे पिशङ्गिला।
२. का इ कुरु पिशङ्गिला	—	श्वावित्कुरु पिशङ्गिला।
३. कं ईमास्कन्दमर्षति	—	शश आस्कन्दमर्षति।
४. क ईं पन्थां विसर्पति	—	अहिः पन्थां विसर्पति।

७. ब्रह्मा उद्गातारं पृच्छति		तं प्रत्याह उद्गाता
१. कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि	—	षडस्य विष्ठाः शतमक्षराणि।
२. कति होमासः कतिधा समिद्धः	—	अशीतिः होमाः समिधो ह तिस्रः।
३. यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छाभ्यत्र	—	यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि।
४. कति होतार ऋतुशो यजन्ति	—	सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति।

८. उद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति		तं प्रत्याह ब्रह्मा
१. को अस्य वेदभुवनस्य नाभिम्	—	वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्।
२. को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्	—	वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
३. कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रम्	—	वेदः सूर्यस्य बृहतो जनित्रम्।
४. को वेद चन्द्रमसं यतोजाः	—	अथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः।

९. अध्वर्युं यजमानः पृच्छति		तं प्रत्याह अध्वर्युः
१. पृच्छामि त्वा परमन्त पृथिव्याः	—	इयं वेदिः परोऽन्त पृथिव्याः।
२. पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिम्	—	अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
३. पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः	—	अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेता।
४. रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम	—	ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।

अग्निमन्थकर्म

ब्रह्मौद्य कर्म के पश्चात् अग्निमंथन किया जाता है, जिससे प्रादुर्भूत अग्नि को उत्तर वेदी में स्थित अग्नि में प्रक्षिप्त किया जाता है।

शामित्रशाला में पशुनयन

२१ यूपों में नियोजित २४ पशुओं को, जिन्हें पश्वेकादशिनीसंज्ञक पशुओं की पर्यग्निकरणान्त विधि सम्पन्न कर, शामित्रशाला में संज्ञपन के लिए प्रतिप्रस्थाता के साथ अध्वर्यु ले जाता है।

अग्निष्ठ में मेध्य अश्व का बन्धन

यहाँ पर २१ यूपों में मध्यस्थ अर्थात् अग्निष्ठ नामक यूप में अश्वमेधीय अश्व, तूपर एवं गवय— इन तीनों का सम्बन्ध होगा। साथ ही आश्वमेधिक समस्त पशुओं को अश्व के पास स्थापित किया जाएगा। पर्यंग पशुओं को अश्व के विभिन्न अंगों के साथ बाँधा जाएगा एवं इस कार्य की सफलता के लिए, जिस प्रकार जल में तैरने के लिए तुम्बी को जाल से बाँध दिया जाता है, उसी प्रकार मेध्य अश्व के सम्पूर्ण शरीर को रज्जु निर्मित जाल से बाँध दिया जाएगा। इसके पश्चात् कृष्णग्रीव कण्ठ अग्निदेवताक रराटादि तथा बारह रोहितादि पशुओं को मध्यम यूप में उपाकृत किया जाएगा। अश्वशरीरस्थ निश्चित अंगस्थान में रज्जु निर्मित दो जाल बाँधे जाते हैं। पश्चात् एकादशिनी-संज्ञक यूपों के प्रत्येक यूप में १५-१५ छाग पशु, पूर्वोक्त एकादशिनी पशुओं को मिलाकर प्रति यूप में १६-१६ पशुओं का नियोजन होगा। मध्य यूप में मेध्य अश्व-गोमृग-तूपर मिलाकर यह संख्या और भी अधिक होती है।

पश्वालम्भन पर विशेष विश्लेषण

पूर्व में कहा गया है कि अश्वमेध के मध्यम दिन में ६०९ पशुओं का आलम्भन होता है, जिसका विवेचन इस प्रकार है—

मेध्य पशुओं के वर्ग

द्वितीय सुत्याह में मेध्य पशुओं के दो प्रधान वर्ग हैं। यथा—(क) ग्राम्य वर्ग, (ख) आरण्य वर्ग।

ग्राम्य वर्ग

इस वर्ग के अन्तर्गत ग्राम्य पशु आते हैं। इसकी संख्या ३२७ है।

आरण्य वर्ग

इस वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न आरण्य पशुओं का सन्निवेश है। यथा— १. जलचर, २. स्थलचर, ३. नभचर, ४. सूक्ष्म, ५. अतिसूक्ष्म, ६. विशाल, ७. अतिविशाल। एकविंशति यूपों के मध्य में व्यवधान भी एकविंशति होते हैं। विविध पशुओं के स्थापनार्थ, तदनुकूल विशेष व्यवस्था रहती है।

विभिन्न पशुओं की विशेष व्यवस्था का दिग्दर्शन

विभिन्न पशुओं की स्थापना स्थिति इस प्रकार है—

१. कपिंजलादि आकाशीय पशुओं के लिए पिंजर

२. अजगरादि सर्पों के लिए मंजूषा

३. सिंह-व्याघ्रादि के लिए लौह पिंजर

४. मकर-मत्स्य-मण्डूकादि के लिए मृत्तिकाजलादिपूर्ण विशाल घट

५. मक्षिकामशकादि के लिए काँच की नली

६. मयूर-तित्तिर-कुक्कुटादि के लिए जाल।

दो यूपों के बीच में १३-१३ पशुओं का आलम्भन होता है। इस प्रकार २० यूपों के मध्य २६० कपिंजलादि विविध आरण्य पशुओं का आलम्भन होगा। एतदतिरिक्त २२ एकादशिनी पशुओं का भी आलम्भन होगा। इस प्रकार समस्त मेध्य पशुओं की संख्या ६०९ होगी। यह तथ्य पूर्व में भी स्पष्ट है।

आलम्भनानन्तर कृत्यों का विशद विवेचन

उपर्युक्त ३२७ ग्राम्य एवं २६० आरण्य तथा द्वाविंशति एकादशिन् पशु मिलाकर ६०९ होते हैं। इन ६०९ पशुओं के आलम्भन एवं प्रोक्षण सम्पन्नता के पश्चात् यजमान एवं अध्वर्यु का अन्वारम्भण होने पर अध्वर्यु अश्वमेधीय अश्व के ऊपर जल का प्रोक्षण करता है। तत्पश्चात् वेदोक्त मन्त्रोच्चारणपूर्वक अश्व के सम्मुख पेयजल रखा जाता है। पुनः अश्व-प्रोक्षण किया जाएगा, जिसमें अश्व के अधोभाग एवं ऊर्ध्वभाग का प्रोक्षण होगा।

अन्य पशुओं का आलम्भन

यहाँ पर अश्वप्रोक्षण कार्य की समाप्ति के पश्चात् अन्य समस्त उपाकृत पशुओं के अधोभाग का जल प्रोक्षण किया जाएगा। उपाकरण-नियोजन-प्रोक्षणादि समस्त कार्य अध्वर्युकर्तृक होते हैं।

अश्व-संज्ञपन का पूर्व कृत्य

अश्व-संज्ञपन के लिए कुछ कर्मकाण्ड विहित हैं। यथा—१. एकादश प्रयाजाहुति का सम्पादन, २. पूर्वस्थापित यूप में विनियुक्त स्वरु काष्ठ का ग्रहण, ३. जुहू के अग्रभाग एवं मेध्य कार्य के लिए पूर्वगृहीत असि से आलब्धव्य पशु का स्पर्श, ४. स्वरु काष्ठ द्वारा स्पर्शानन्तर पुनः स्वरु का यथास्थान अवगूहन, अर्थात् जिस यूप से स्वरु निकला है, उसी स्थान में पुनः स्थापन, ५. अध्वर्युकर्तृक शामित्र को प्रैष प्रदान। पूर्व में विवेचित है कि कार्यसौविध्य को देखते हुए अध्वर्यु, दशाधिक सहायक उपाध्वर्यु की नियुक्ति कर सकता है, उसी प्रकार अश्वमेध महायज्ञ की हविर्द्रव्य संख्या को देखते हुए, विशंसनकर्त्ताओं की संख्या भी उपाध्वर्युगणों के समान ही दशाधिक होती है। ६. अध्वर्यु द्वारा शामित्रशाला में संस्कारादि का विधान। ७. पश्चात् पर्यग्निकरणार्थ होता को प्रैष प्रदान। ८. अध्वर्यु एवं उपाध्वर्यु द्वारा यूपासादित मेध्य पशुओं का पर्यग्निकरण। ९. पर्यग्निकरण की समाप्ति के पश्चात् एवं पशु-संज्ञपन के पूर्व कपिंजलादि विविध पशुओं का विधानपूर्वक उत्सर्ग। १०. कपिंजलादि पशुओं का तत्तद् देवतोद्देश्यक यजमानकर्तृक त्याग। देवतोद्देश्यक त्याग की शब्दावली "इदं वसन्ताय न मम" इत्यादि होती है। यह शब्दावली सुत्याहवत् है। ११. तत्पश्चात् अध्वर्यु संज्ञपन कर्म के लिए अधिगु प्रैषार्थ होता को आदेश देता है।

अश्व-संज्ञपन

सर्वप्रथम अश्व-संज्ञपन विधि शामित्रशाला में सम्पन्न होती है। शामित्रशाला में क्या-क्या बिछाया जाएगा? अश्वसंज्ञपन के लिए उसके पूर्व शामित्रशाला में निम्नलिखित आस्तरणों को बिछाने का विधान है—

१. कम्बल, २. उसके ऊपर स्वर्णतारखचित वस्त्र, ३. उसके ऊपर कुश, ४. उसके ऊपर प्राकृत वेदी के तृण को भी बिछाया जाएगा।

अश्वशयन का विधान

पूर्वोक्त आस्तरणों के ऊपर अश्व को इस प्रकार सुलाया जाएगा, जिससे कि उसका मुख पूर्व की ओर, पैर उत्तर की तरफ हो।

अश्व-संज्ञपन प्रकार

चूँकि अश्व एक शक्तिशाली पशु है, अतएव उसके मुख को चर्मरज्जु से बाँधकर, उसके साँस को अवरोधित कर, उसका संज्ञपन करेंगे।

अश्व-संज्ञपन समय में आहुति

अश्व-संज्ञपन समय में अध्वर्यु परिपशव्यसंज्ञक आहुति प्रदान करेगा।

अन्य पशुओं का संज्ञपन

अश्व-संज्ञपन के पश्चात् ही अन्य पशुओं का भी संज्ञपन विधिपूर्वक किया जाएगा।

ऋविजों की स्थिति

अश्वमेधीय अश्व एवं अन्य पशुओं का संज्ञपन तथा परिपशव्य संज्ञक आहुति के पश्चात् सभी ऋत्विक् यज्ञमण्डप से बाहर आकर, हस्तपादादि प्रक्षालनपूर्वक, शास्त्रोक्त विधि से आचमन, प्राणायामादि सम्पन्न करके अपने-अपने स्थान पर उपवेशन करेंगे।

पत्नियों का आगमन

इस अवसर पर नेष्टा नामक उपऋत्विक्, अश्वमेधयज्ञसम्पादक विश्वविजयी यजमान सम्राट् की अश्वमेधयज्ञापेक्षित चार पत्नियों—महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली में से प्रथम तीन को लेकर शामित्रशाला में प्रवेश करेगा। इस अवसर पर "अम्बे अम्बालिके"[1] इत्यादि मन्त्रों से सम्बोधन करेगा। इस प्रसंग में सम्राट् की पूर्वोपस्थित प्रथम तीन पत्नियाँ अर्थात् महिषी, वावाता, परिवृक्ता अश्व की तीन बार परिक्रमा करेंगी। प्रदक्षिणा का मन्त्र यथा—१. "गणानां त्वा—"[2], २. "प्रियाणां त्वा—", ३. "निधीनां त्वा—"। पत्नीकर्तृक अश्वपरिक्रमानन्तर अध्वर्यु एवं यजमान समस्त संज्ञप्त पशुओं के शोधनार्थ प्रोक्षण करेंगे।

संज्ञप्त अश्व के पास महिषी का शयन

अध्वर्यु एवं यजमान के द्वारा पूर्वोल्लिखित प्रोक्षण के पश्चात् अश्वमेध अधिकारी सम्राट् की अश्वमेधोपयुक्त चार पत्नियों में प्रथम महिषी "आहमजानि" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए संज्ञप्त अश्व के पास शयन करेगी।

अध्वर्यु द्वारा आच्छादन

यहाँ पर अध्वर्यु अश्व के चारों पैरों को फैलाकर अश्व एवं महिषी के ऊपर वस्त्राच्छादन करेगा।

---

१. द्र०, तै०सं०, ७.४.१९।

२. द्र०, तै०सं०, २.३.१४.१४; शु०य०वे०, २३.१९।

महिषी कृत्य

अध्वर्यु के द्वारा वस्त्र से अश्वसहित अपने को आच्छादित किये जाने के अनन्तर सम्राट् की प्रथम पत्नी महिषी "वृषावाजिरेतोधारेतो दधातु"[१] इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अश्वाङ्ग का अपने अंग से स्पर्श करवायेगी। यजमान "उत्सकथ्या"[२] इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रण करेगा।

आवरणापसारण

अभिमन्त्रण[३] के पश्चात् वस्त्राच्छादन को हटाकर, प्रधान चार ऋत्विक् अध्वर्यु-ब्रह्मा-होता-उद्गाता-यजमान कुमारी कन्या एवं पत्नियों के साथ "यकौ सकौ" इत्यादि मन्त्र[४] से परस्पर संवाद करेंगे। प्रश्नोत्तर रूप इस संवाद को अभिमन्थन[५] कहा जाता है। इस संवाद की समाप्ति पर, पूर्व संज्ञप्त अश्व के पार्श्व से महिषी को उठाकर, "दधिक्राव्णो"[६] इत्यादि मन्त्र से स्वस्थान ले जाया जाता है।

सूचीवेध

अश्व के शरीर से मेद की प्राप्ति के लिए सूचीवेध का विधान है। सम्भवत: यह वर्तमान अन्तःक्षेपण (INJECTION) प्रणाली का एक रूप है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्राट् की विभिन्न पत्नियाँ संज्ञप्त अश्व के चर्म को जर्जर अथवा शिथिल करती हैं।

सूचीवेध का विशेष रूप

इस कार्यक्रम में सम्राट् की विभिन्न पत्नियों के लिए विभिन्न सूचियों का विधान है। पत्नियाँ जब सूचीवेधकार्यक्रम के लिए उपस्थित होंगी, तब "गायत्री त्रिष्टुप्"[१] इत्यादि यजुर्वेदोक्त मन्त्रों का पाठ करेंगे।

---

१. "ता उभौ चतुर: पदसंप्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजीरेतोधा रेतो दधातु"। (य०वे०, २३.२०)

२. "उत्सकथ्या अवगुदं धेहि समञ्चि चारया वृषन्। य: स्त्रीणां जीवभोजन:"। (य०वे०, २३.२१)

३. **अभिमंत्रणमिति**। गार्हपत्यमभिमन्त्रयत् इत्यादौ अभिमंत्रणं नाम गार्हपत्यादेरवेक्षणसमकालं मन्त्रजप:। (श्रौ०पदार्थ०)

४: (I) "यकोऽसकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वंचति। आहन्ति गभेपसो निगल्मलीति धारका"॥ (य०वे० २३.२२)

(II) यकोऽसकौ शकुन्तक आहलीगति वंचति।
विवक्षत इव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभिभाषथा:।। (य०वे० २३.२३)

५. **अभिमन्थनमिति**। सर्वप्राप्तिसाधने वाक्यभेदे। "सर्वाप्तिर्वा एषा वाच: यदभिमन्थका: सर्वे कामा: अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान् कामानाप्नवाम"। (शतपथ-ब्राह्मणम्, वाचस्पत्यम्-समुद्धृतम्)

६. द्र०, य०वे०, २३.३२।

विभिन्न पत्नियों हेतु पृथक् सूचीविधान

पूर्वकथित है कि संज्ञप्त अश्वमेधीय अश्व के शरीर में मेध निकालने के कारण सूचियों के द्वारा सम्भवत: उसी प्रक्रिया का अवलम्बन किया जाता है, जिस प्रकार आज साम्प्रतिक चिकित्सा प्रणाली में Injection देने के पूर्व आकर्षणपूर्वक सूई में औषधिप्रक्षेपण किया जाता है। इस प्रक्रिया में सूचियों का निर्धारण इस प्रकार किया जाता है—

१. महिषी सुवर्ण-सूची द्वारा। २. वावाता रजत-सूची द्वारा। ३. परिवृक्ता ताम्र-सूची द्वारा। अश्व चर्म को भेद कर, अन्तःप्रविष्ट होकर, वपा का बाह्य क्षेपण होता है। इस प्रसंग में वावाता एवं परिवृक्ता द्वारा विभिन्न मन्त्रों का पाठ भी किया जाता है।

अन्य पशुओं का वपोत्खेदन

सम्राट् की पत्नियों द्वारा संज्ञप्त अश्व में विभिन्न सूची-प्रवेशों के पश्चात् अध्वर्यु पर्यङ्ग पशुओं का "ओम् कस्त्वाक्ष्ये श्रुतिः कस्त्वां विशा"[२] इत्यादि मन्त्रों का पाठ करता हुआ वपोत्खेदन करेगा।

वपा[३] अथवा मेद

यद्यपि वैदिक यज्ञों में 'वपाहोम' क़ा ही विधान है; परन्तु अश्वमेध में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता। यत: अश्व शरीर में वपा होती ही नहीं है, अत: अश्वमेध में वपा के स्थान में अश्वशरीरस्थ मेद का प्रयोग होता है। सम्राट् की पूर्वोल्लिखित तीनों पत्नियाँ पूर्वोक्त प्रक्रिया से अश्व शरीर से मेद को ही निकालती हैं। यद्यपि पूर्व संज्ञप्त समस्त पशुओं का उत्तानकरण वपोत्खेदनार्थ ही किया जाता हैं; परन्तु अश्व शरीर में वपा न होने के कारण मेद ही निकाला जाता है।

मेद का स्वरूप

मेद का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसका परिचय इस प्रकार है—"मेद

---

१. द्र०, शु०य०वे, २३.३३।

२. "कस्त्वाऽऽच्छयति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति। क ते शामिता कविः"। (शु०य०वे०, २३.३९)

३. **वपामिति**। हृन्मेदस्तु वपा वसेतिकोशाद् मेदोविशेषः सर्वोदरव्यापि पोलिकाकारोऽतिश्वेतवर्णो वपेत्युच्यते। (श्रौं०पदार्थ०)
अन्यत्राऽपि यथा—"मेदस्तु वपा वसा" इति अमर० २.६.६४; वपा विवरमेदसो इति हैमः २.३०३।

एक घनीभूत, धृतसदृश, श्वेतवर्ण मांसखण्ड है। अश्व के रक्त को शामित्र-संज्ञक अग्नि में पका दिया जाता है।

प्राणदान

वपा निष्कासन के बाद जिस क्रम से पशु-बन्धन हुआ है, उसी क्रम से अध्वर्यु, अश्वादि समस्त पशुओं का प्राणदान करता है। इसके बाद निम्नलिखित अन्य कार्य भी सम्पादित होंगे। यथा—

१. आसादन[1], २. आलम्भन, ३. आदापन, ४. आकृतियाग।

प्राणदानानन्तर अनुष्ठेय कृत्य

आसादन — आलम्भन — आपादन — आकृतियाग

आसादन, आलम्भन एवं आपादन

अध्वर्युकर्तृक बन्धनक्रमानुसार अश्वादि समस्त पशुओं के प्राणदान के पश्चात्, वेदी में अश्वभिन्न समस्त पशुओं के शरीर से पूर्व संगृहीत समस्त वपाओं का स्थापन होगा। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत चार प्रधान ऋत्विजों में अन्यतम, ऋग्वेदोक्त हौत्र कर्म निष्णात होता, अपने स्थान पर उपविष्ट होकर ही स्रुगादापन मन्त्र का पाठ करता है।

आकृति याग

इस कार्यक्रम में अध्वर्यु स्वाहाकृत् याग का प्रैष प्रदान करता है। एवं स्वाहाकृत् याग पूर्ण होने पर वपाओं में पृषदाज्य द्रव्य का अभिधारण किया जाता है।

ब्रह्मोद्य कर्म

यहाँ पर पुनः ''ब्रह्मोद्य कर्म'' का विधान है। यह ब्रह्मोद्य कर्म द्विभागात्मक होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह साम्प्रतिक संगोष्ठी (द्विसत्रात्मक) के समान होता था। इसका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

ब्रह्मोद्य का प्रथम सत्र

इस सत्र में होता एवं अध्वर्यु यजुर्वेदोक्त चार मन्त्रों से परस्पर प्रश्नोत्तरात्मक संवाद करते थे।[2]

---

१. **आसादनमिति**। आसादनं नाम यज्ञपात्रादीनां सुशोभिततया रचनम्। स्रुवां दक्षिणतः पंचहोत्रावपामासादयति। इदं वपासादनमुच्यते।

२. द्र०, शु०य०वे०, २३.४५-४८।

ब्रह्मोद्य का द्वितीय सत्र

ब्रह्मोद्य के द्वितीय सत्र में ब्रह्मा एवं उद्गाता परस्पर दो मन्त्रों से प्रश्नोत्तरात्मक संवाद करते थे[1]।

द्विसत्रात्मक ब्रह्मोद्य कर्म

प्रथम सत्र	द्वितीय सत्र
(होता+अध्वर्यु का संवाद)	(ब्रह्मा+उद्गाता का संवाद)

उभय सत्र के मध्य में अनुष्ठेय कृत्य

ब्रह्मोद्य के अन्तर्गत प्रथम सत्रावसान एवं द्वितीय सत्रारम्भ के मध्य में, सभी ऋत्विक् द्वितीय सत्र की समाप्ति पर्यन्त उपविष्ट रहेंगे एवं तत्पश्चात् सभामण्डप से बाहर आकर, हविर्धान मण्डप जाकर, यजमान के सम्मुख स्थित होकर पुनः अपने स्थान पर बैठेंगे। इसके बाद पुनः पूर्ववत् मन्त्रात्मक प्रश्नोत्तररूप कथोपकथन को प्रारम्भ किया जाएगा। यह कार्यक्रम विभिन्न अंशों में सम्पन्न होगा, जिसमें विभिन्न ऋत्विक् भाग लेंगे। इस प्रकार का विभिन्न ऋत्विजों द्वारा मन्त्रमय प्रश्नोत्तरात्मक कथोपकथन का आयोजन तीन बार निम्नलिखित रीति से सम्पन्न होगा। यथा—

१. अध्वर्यु-होता का संवाद, २. ब्रह्मा-उद्गाता का संवाद, ३. यजमान-अध्वर्यु का संवाद।

उत्तरमहिमान ग्रह[2]-प्रचार

ग्रह अर्थात् पात्र के दो प्रकार हैं— १. पूर्वग्रह पात्र (सुवर्णनिर्मित), २. उत्तरग्रह पात्र (रजतनिर्मित)।

अध्वर्यु ''यः प्राणतो निमिषतो''[3] इत्यादि मन्त्रों द्वारा द्रोण कलश से उत्तर

---

१. द्र०, शु०य०वे०, २३.४९-५०।

२. ग्रहशब्दः पात्रपर्यायः तथाऽपि पात्रशब्दप्रयोगः कृष्णामावास्यावत्।

३. ऋ०वे०, १०.१२१.३; अ०वे०, ४.२.२; वाज०सं० २३.३, २५.११; तै०सं०, ४.१.८.४. ७.५.१६.१।

महिमान ग्रह को ग्रहण करेगा। यहाँ पर याज्या एवं अनुवाक्या[1] का विपर्यास होगा।

याज्या

'सुभूः स्वयम्भूः'[2] इत्यादि मन्त्र से ग्रह प्रचार के पश्चात् इडोपाह्वान होगा। यहाँ पर उपाह्वान क्रमानुसार ही होता, अध्वर्यु आदियों का अवशिष्ट चमस का भक्षण, पुनः आप्यायन, तत्पश्चात् सभामण्डप से बाहर पुनः अपने-अपने स्थान में निरसनोपवेशनपूर्वक बैठने का विधान है।

ऋतुयाग

जैसा कि प्रथम सुत्याह में स्पष्ट किया जा चुका है, तदनुसार यहाँ पर भी ऋतुयाग[3] का अनुष्ठान होगा एवं ऋतुयागानन्तर आज्यग्रहण एवं आज्यस्तोत्रपाठ होगा।

आज्य स्तोत्र के बाद आज्य शस्त्र

पूर्वोक्त आज्य स्तोत्र पाठानन्तर "अग्निं तं मन्ये यो वसुः"[4] का पाठ होगा। इस सूक्त में ऋचाएँ पंक्ति छन्द भी हैं। इसमें आज्य शस्त्र वर्णित है। अवशिष्ट सत्रभाग पूर्वानुसार ही होगा।

आज्यशास्त्रान्तर कृत्य

आज्यशास्त्र के पश्चात् अन्य कतिपय कर्म अनुष्ठेय हैं, यथा— १. आज्यशस्त्रयाज्या, २. अनुवषट्कारसंहिता, ३. उक्थ्यपात्र, ४. वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः,[5] ५. न्यायानुसार उपाह्वान, ६. सोमभक्षण, ७. आप्यायन।

---

१. **अनुवाक्या इति**। अध्वर्युः प्रेषितो होता एकश्रुत्या पुरोनुवाक्यां पठति। सा च प्रायः एकैव ऋक् भवति, तस्याः प्रथमार्धर्चे एकमवसानं चतुर्मात्रग्रहवान्तद्वितीयार्धर्चे द्वितीयमवसानं यस्मिन् यागे मैत्रावरुणो भवति तत्र स एव पुरोनुवाक्यां पठति, पुनः पूर्वयागाद् देवताम् अनुकूलयितुं या ऋगुच्यते इति व्युत्पत्त्या पुरोनुवाक्यापदम् अनुवाक्यापदं च ऋग्विशेषबोधकम् (श्रौ०पदार्थ०)।

२. द्र०, आश्व, श्रौ०सू०, ४.९।

३. **ऋतुयागमिति**। ऋतुना प्रेष्यति यजति। प्रशास्त्राऽध्वर्यु यजतमित्युक्ते आह। होतरेतद्यजेति। वषट्कारे जुहोति। हविर्धानं प्रविशति। ग्रहमादाय दक्षिणद्वारि बाहुं निःश्रयमाणो निष्क्रामति। ऋतुना प्रेष्य। गृहपते यजेति प्रशास्त्रोक्ते यजमानः तद्यजेति इत्याह सहोभौ जुहुतः। प्रशास्त्राऽध्वर्युपात्रे संस्रावमवनयति। अयमृतुयाजप्रचारः। (द्र०श्रौ०पदार्थ०)

४. द्र० ऋग्वेद, ५.६.१, सा०वे०, ४२५, १७३७, वाज०सं०, १५.४१।

५. **अत्र किंचित्**—वषट्कर्तृः प्रथमभक्षः इत्यत्र एकप्रसरताभंगभिया मीमांसकैः अखण्डार्थोपस्थितिपक्ष ऊरीक्रियते। स च पक्षः एकार्थीभावसिद्धान्तात्मक इति वैयाकरणसमयः। (द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणे समासशक्तिप्रकरणम्)

प्रउग स्तोत्र एवं शस्त्र

आज्य शस्त्र के पश्चात् एकदिवसात्मक प्रउग स्तोत्र का विधान है। ततः प्रउग शस्त्र का विधान है। इसके पश्चात् पूर्ववत् तीन कृत्यों का विधान होगा। यथा—याज्या, अनुवाक्या, पूर्ववत् चमस-भक्षण। होता के द्वारा आज्यशस्त्र समाप्ति के पश्चात् कतिपय अन्य ऋत्विजों का भी आज्यशस्त्र होगा। ये ऋत्विक् निम्नलिखित हैं — प्रस्तोता, ब्राह्मणाच्छंसी, अच्छावाक्।

माध्यन्दिन सवन

माध्यन्दिन सवन विधि के अन्तर्गत अध्वर्यु हविर्धान मण्डप में प्रवेश कर, प्रजापतिदेवताक रजतनिर्मित महिमाग्रहपात्र को द्रोण कलश में स्थित सोम रस से भरकर, याज्या एवं पुरोनुवाक्या से उसका हवन करता है। इसी प्रसंग में सींक में अश्वावशेष का श्रपण करके अश्वरक्त से अभिघार किया जाएगा।

अध्वर्युकृत्य

यहाँ पर सवनीय पुरोडाश का अध्वर्यु श्रपण करेगा। माध्यन्दिन सवन में प्रत्येक देवता के लिए सवनीय पुरोडाश विहित है, यथा[१]— १. अश्व-छाग-गवय, २. आग्नेय कृष्णग्रीव से लेकर सौर्यान्त समस्त पशुओं की समष्टि, ३. विश्वेदेव-छाग-मेष आदि। यहाँ पर अश्व-तूपर-छाग एवं गवय का वषट्कार से होम एवं आहवनीय में कटक प्रहार करके शस्त्र-शंसन किया जाएगा।

स्तोत्र-शस्त्र

माध्यन्दिन सवन में होता आदि का शस्त्र पूर्ववत् ही रहेगा एवं प्रतिशस्त्र के अन्त में निम्नलिखित कार्य सम्पन्न होंगे—

१. शस्त्रयाज्या, २. वषट्कर्ता द्वारा प्रथम भक्षण, ३. समाख्या-भक्षण।

तृतीय सवन

माध्यन्दिन में अनुष्ठेय "तृतीयसवन" अन्तिम अनुष्ठेय है।

तृतीय सवन का संक्षिप्त रूप

१. अंगहविर्याग, २. अश्वांगहोम, ३. शादन्ददिमः स्वाहा इत्यादि मन्त्रों से होम। ४. "मा नो मित्र"[२] इत्यादि अश्वोद्देश्यक मन्त्रों से होम। ५. स्विष्टकृत् होम[१], ६. स्तोत्र, ७. शस्त्र, ८. अश्वस्तुतिमन्त्रपाठ,

---

१. अत्रायं प्रकारः—अश्वस्य छागस्य गोमृगस्य हविषो अनुब्रूहि, एतच्च "प्रेष्यब्रुवोर्हविषोर्देवता-सम्प्रदाने" इति सूत्रे पाणिनिना स्पष्टीकृतम्।

२. ऋ०वे०, १.१६२.१; वाज०सं २५.२४; तै०सं०, ४.६.८.१; निरुक्त, ९.३।

९. चमसाध्वर्युद्वाराचमसोन्नयनपूर्वक ग्रहहोम। इसके बाद शंसन कार्य अनुष्ठित होगा, जिसमें निम्नलिखित ऋत्विक् भाग लेंगे—

१. मैत्रावरुण, २. ब्राह्मणाच्छंसी, ३. होता, ४. नेष्टा, ५. पोता। माध्यन्दिन के अन्तिम अनुष्ठेय तृतीय सवन में अवशिष्ट कार्य निम्नलिखित हैं—

१. स्तोत्रशस्त्र, २. होता द्वारा याज्यानुवाक्यापाठ, ३. सोम-चमस-भक्षण, ४. ईडोपाह्वान, ५. ईडाभक्षण, ६. मार्जन, ७. अनुयाजयाग, ८. सूक्तवाक्,[२] ९. शंयुवाक्, १०. व्यूहन, ११. सुब्रह्मण्याह्वान, १२. पत्नीसंयाज, १३. वीणागायन।

तृतीय सवन पर सिंहावलोकन

अश्वमेध महायज्ञ के माध्यन्दिन में द्वितीय सुत्याह के अन्तर्गत अन्तिम अनुष्ठेय तृतीय सवन में निम्नलिखित कृत्य विहित हैं—

१. अंगहविर्याग, २. वनस्पतियाग, ३. अंगयाग,[३] ४. अश्वशेषहोम, ५. शादन्ददिभिः होम, ६. अश्वोपस्थापन, ७. स्विष्टकृद्याग, ८. वैश्वदेवशस्त्र, ९. षडाहुति, १०. अग्निमारुतशस्त्र, ११. अतिरिक्तशस्त्र, १२. व्यूहन, १३. उपभृतव्यूहन[४], १४. द्वितीय सुत्याह की समाप्ति।

उपर्युक्त चतुर्दश विषयों में कतिपय विषयों पर स्वल्प दृष्टिपात निम्नलिखित है। इसमें एक ध्यातव्य विषय यह है कि इस तृतीय सवन में सभी ऋचाओं का शंसन उत्तम स्वर में किया जाएगा। इसके बाद ही अंगहविर्याग होता है।

वनस्पति याग[५] एवं अन्य कृत्य

वनस्पतियाग स्विष्टकृत् पर्यन्त अनुष्ठित होगा एवं वनस्पति याग के पश्चात् पुनः अंगहविर्याग का विधान है। शतपथब्राह्मणानुसार[६] अश्व प्रजापति-

---

१. ''पंचषष्ठसप्तमाष्टमविधयः अध्वर्युकर्तृकाः''।

२. **सूक्तवाकमिति**। अध्वर्युः प्रेषितो होता यं मन्त्रं पठति स सूक्तवाक् इत्युच्यते। (द्र०, श्रौ० पदार्थ०)।

३. **अङ्गयागमिति**। होतुर्वषट्कारे अध्वर्युः जुह्वा जुहोति। यजमान इन्द्राग्निभ्यामिदं न मम। इन्द्राग्न्योरहं देवयज्ययेन्द्रियावी भूयासमिति त्यागानन्तरमनुमन्त्रयते। अयम् अङ्गयागमिति उच्यते। (श्रौ०पदार्थ०)

४. **उपभृतमिति**। अश्वत्थकाष्ठनिर्मिता जुहूतुल्या उप समीपे भ्रियते भ्रियत इति व्युत्पत्त्या होमकाले अध्वर्युणा सव्यहस्तेन होमार्थधृतदक्षिणहस्तसम्बन्धिजुह्वाः समीपे धारणाद् उपभृदिति भण्यते। (द्र०, तत्रैव)

५. वनस्पतियागः। (द्र०, श्रौ०पदार्थ०, पृ० १३७)

६. द्र०, श०ब्रा०, १३.१.१.१।

देवताक है। अतः जुह्वा को उठाकर, पूर्वविहित सींक में ग्रथित अवस्था में पाकावशिष्ट समस्त वस्तु को रखकर "प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से होम किया जाएगा। उपर्युक्त अनुष्ठान ही अश्वमेध होम है। इसके अन्तर्गत शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहितोक्त शादन्दद्भि होम होता है। यह होम यजमान के द्वारा किया जायेगा एवं इस होम में आहुति त्याग में स्वाहाकार का प्रयोग नहीं होता। "इदं न मम" शब्दों से होम होगा। यद्यपि शादन्दद्भि होम में स्वाहाकाररहित ही आहुतित्याग विहित है; परन्तु "विश्वेभ्यो देवेभ्यो स्वाहा" इस मन्त्र के अन्त में और "मा नो मित्र"[१] आदि षोडश मन्त्र[२] में स्वाहाकार का प्रयोग होगा। यतः इस होम में अश्व की प्रधानता है, अतः यजमान प्रति मन्त्र के होम के अन्त में "इदम् अश्वाय न मम" उच्चारण करके द्रव्यत्याग करेगा।

एक प्रासंगिक विचार

"यत्ते सादे" इत्यादि छः ऋचाओं[३] से स्तुति होगी अथवा सभी से होम होगा? यहाँ पर शुक्लयजुर्वेद के महीधरकृत संहिताभाष्य में और देवयाज्ञिककृत सर्वानुक्रमणी पद्धति में "मा नो मित्र" इत्यादि २२ मन्त्रों का होम में ही विनियोग उक्त है; परन्तु "**षोडशाश्वस्तोमीया जुहोति नान्यम् उत्तमाहुतिं जुहुयात्**" ऐसा साक्षात् उक्त होने से और मन्त्रपाठ अनर्थक होने के कारण उपस्थापन ही युक्तिपूर्ण है, जिसका प्रमाण निम्नलिखित है—

अश्वोपस्थापन

"यत्ते सादे" इत्यादि छः मन्त्रों से अश्वोपस्थापन का विधान है। तत्पश्चात् "द्यावापृथिव्यां स्वाहा" इस मन्त्र से एक घृताहुति विहित है।

स्विष्टकृत् याग

पूर्वोक्त क्रम से स्विष्टकृत् याग होगा एवं तत्पश्चात् अवदानक्रमानुसार अश्वलोहित का हवन होगा।

वैश्वदेव-शस्त्र

इस क्रार्यक्रम के अन्तर्गत आश्वमेधिक वैश्वदेव स्तोत्र के पश्चात् 'होता' आश्वमेधिक वैश्वदेव-शस्त्र का पाठ करेगा। आश्वमेधिक वैश्वदेव शस्त्रान्त में दो कृत्यों का अनुष्ठान होगा— १. शस्त्रयाज्या। २. अनुवषट्कार।

---

१. ऋ०वे०, १.१६२.१ वाज०सं० २५.२४, तै०सं०, ४.६.८.१, निरुक्त, ९.३।

२. षोडशमन्त्राः द्र०, ऋ०वे०, १.१६२.१-१६।

३. यत्ते सादे इत्यादिमन्त्राः द्र० (क) ऋ०वे०, १.१६२.१७, (ख) वाज०सं०, २५.४०, (ग) तै०सं०, ४.६.९.२।

षडाहुति होम

षडाहुति होम कार्यक्रम इस प्रकार है— द्विपदासंज्ञक छः ऋचाओं से आज्य होम किया जाएगा।[1] १. **इमा नु कं भुवना**, २. **आदित्यैरिन्द्रः सगणो**, ३. **यजन् च नस्तन्वं च**, ४. **अग्ने त्वं नो अंतमः**, ५. **वसुरग्निर्वसुश्रवः**, ६. **तन्त्वा शोचिष्ठादीदिवः**। इन सभी ऋचाओं से यजुर्वेद-क्रमानुसार हवन सम्पन्न होगा।

अग्निमारुत-शस्त्र एवं अतिरिक्त शस्त्र

शतपथब्राह्मणोक्त विधि के अनुसार अग्निमारुत-शस्त्र का विधान होगा एवं इसके अनन्तर शस्त्रयाज्या, चमसभक्षणादि पूर्ववत् होगा। यज्ञीय पात्र-प्रक्षालनानन्तर तीन उक्थ्य विग्रह होंगे, जिनमें प्रथम ''प्रशास्ता का प्रसूहि'' ऐसा प्रैष होगा। उक्थ्य विग्रह आगे तीन-तीन युग्म देवताओं के लिए होगा, जो कि निम्नलिखित है। यथा—१. इन्द्रावरुण, २. इन्द्र बृहस्पति, ३. इन्द्रविष्णु। उक्थ्यपात्र को लेकर उक्थ्यस्थाली में, स्थालीस्थ सोमरस के १/३ भाग का ग्रहण होगा, जिसके लिए मन्त्र है—''**इन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्य यज्ञस्य युषे गृहणामि**।'' तत्पश्चात् निम्नलिखित कार्य भी होंगे—

१. परिमार्जन, २. प्रदक्षिणा, ३. इतरथावृत्ति, ४. मौन होकर पात्र ग्रहण, ५. प्रशास्ता द्वारा चमसोन्नयन, ६. प्रशास्ता द्वारा स्वस्थान में स्थापित चमस का उठाना, ७. दो कुश तृणों से पात्रस्पर्श, ८. ''उपावर्तध्वम्'' शब्द से स्तोत्रोपाकरण, ९. प्रशास्ता का शस्त्र, १०. अध्वर्यु का प्रतिगर, ११. शस्त्रान्त में प्रदक्षिणा एवं इतरथावृत्ति, १२. अध्वर्यु द्वारा पात्र का आदान, १३. चमसाध्वर्युओं द्वारा पात्र का आदान, १४. मैत्रावरुण शस्त्रशंसन, १५. ''उक्थशा यजुषोमानाम्'' ऐसा प्रैष होने पर याज्या का पठन, १६. प्रतिवषट्कार समस्त होम।

इसके पश्चात् ''**इदं मित्रवरुणाभ्याम् इदम् अग्नये**'' इस प्रकार स्विष्टकृत् गुणयुक्त आहुति त्याग किया जाएगा। अनन्तर अन्य कतिपय कृत्य किये जायेंगे, जिनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है—

१. अध्वर्यु की प्रदक्षिणा, इतरथावृत्ति, २. प्रातःसवन में विहित उक्थ्य विग्रह के समान यहाँ भी प्रशास्ता के चमस में पात्रशेष का आसेकादि मात्र प्रक्षालन, ३. प्रातःसवन के समान ही प्रतिप्रस्थाता के दो उक्थ्यविग्रह होंगे, जिनका ग्रहण मन्त्र भिन्न है। यथा—''**इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाय यज्ञस्य आयुषे गृहणामि**'', ४. ततः ब्राह्मणाच्छंसी शस्त्र, ५. उक्थ्य पात्रों का विग्रहण,

---

१. द्र०, ऋ०वे०, १०.१५७.१-३, ५.२४.१-४।

६. ''**इदम् इन्द्राबृहस्पतिभ्यां**'' शब्द से आहुतित्याग, ७. ततः अच्छावाक् का उक्थ्यशस्त्र, यथा— **''इन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि।''** यह अच्छावाक् के उक्थ्य विग्रह में ग्रहण मन्त्र है और त्याग मन्त्र इस प्रकार है— ''**इदमिन्द्राविष्णुभ्याम्**''। पूर्वोक्त अनुष्ठानों के अतिरिक्त पात्रप्रक्षालनादि अन्य सभी अवशिष्ट कार्य प्रातःसवनवत् ही सम्पन्न होंगे एवं पात्रप्रक्षालन के पश्चात् उन्मुख होकर अनुयाज विहित होगा। इसके पश्चात् धारानुयाज के अन्त में अश्वमेधीय अश्व के शफ अर्थात् खुर से होम होगा।

व्यूहन

''**प्रादेशकरणपर्याप्तवेदान्तर्गतभूमेः सकाशाद् वेद्यास्तृतबर्हिषः उदग्देशे वेद्यादेव नयनं व्यूहनमित्युच्यते**''।[1] व्यूहन के दो भेद हैं। यथा—

व्यूहन

जुहूव्यूहन उपभृतव्यूहन

इस प्रकार जुहूव्यूहन एवं उपभृतव्यूहन सम्पन्न होने से ही ग्राम्य पशु देवताओं का व्यूहन सम्पन्न होता है।

पश्वालम्भन

तृतीय सुत्याह में भी प्रथम सुत्याह के समान ही, पूर्वस्थापित एकविंशति यूपों में पश्वालम्भन होगा। तृतीय सुत्याह में पश्वालम्भन का एक निश्चित क्रम है।

''अग्निष्ठ'' में पशुबन्धन

पूर्ववर्णित, निश्चित व्यवधान में विधिपूर्वक स्थापित एवं ऊपर अर्थात् एकपंचमांश भूगर्भ में प्रोथित, शकलादिमण्डित, आज्यादि से सुशोभित एकविंशति यूपों में मध्यम यूप को ''अग्निष्ठ'' कहते हैं। इस ''अग्निष्ठ'' नामक मध्यम यूप में अग्निदेवताक दो पशु एवं प्रजापतिदेवताक दो अतिरिक्त पशु का आलम्भन होगा।[2] उसके पश्चात् अन्य पशुबन्धन निम्नलिखित क्रम से होगा—

एकविंशति यूपों में चतुर्विंशति पश्वालम्भन

१. सारस्वतदेवताक पशु — २ (यूप-संख्या १,२)

२. सौम्यदेवताक पशु — २ (यूप-संख्या ३,४)

१. द्र०, श्रौ०पदार्थ०, पृ० २५।

२. ''अग्निष्ठे प्राजापत्यौ च'' द्र०, का०श्रौ०सू०, २०.८.१५।

३.	उषादेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या ५,६)
४.	इन्द्राग्निदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या ७,८)
५.	बृहस्पतिदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या ९,१०)
६.	अग्निदेवताक पशु		२ (यूप-संख्या ११)
७.	प्रजापतिदेवताक पशु		अग्निष्ठ नामक मध्यम यूप में २ कुल चार पशु-आलभन
८.	विश्वेदेवदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या १२,१३)
९.	वरुणदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या १४,१५)
१०.	इन्द्राग्निदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या १६,१७)
११.	सावित्रीदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या १८,१९)
१२.	वरुणदेवताक पशु	—	२ (यूप-संख्या २०,२१)
	कुल पशु-संख्या	—	२४ (कुल यूप-संख्या २१)

इस प्रकार तृतीय सुत्याह में सर्वसंकलनया चतुर्विंशति छाग पशु का आलम्भन होता है।[१] प्रातरनुवाक-शंसनानन्तर, अध्वर्यु तृतीय सुत्याह का इष्टिका पूर्वाङ्ग करता है, एवं होता को सामिधेनी[२] प्रैष प्रदान करता है। उक्त कर्म की समाप्ति के बाद जुहू[३] के घृत से, पूर्ववर्णित यूपों में नियोजित चतुर्विंशति पशुओं के ललाट-शरीर एवं उत्तर श्रेणी में देवता क्रमानुसार पृष्ठभाग से अंजन किया जाता है और उस कार्य में असि प्रयुक्त होता है। स्वरुकाष्ठ[४] के लेपनानन्तर, स्वरु को पुनः यूप में निहित कर दिया जाता है।

शामित्रशाला में पशुसंज्ञपन

पूर्वोक्त कार्यसम्पादनानन्तर प्रतिप्रस्थाता[५] शामित्रशाला में अग्निदेवताक दो पशुओं को (संज्ञपनार्थ) वपाश्रपणी से लेकर शमिता के साथ संज्ञपन के लिए

१. (क) द्र०, श०ब्रा० १३.५.३.११।
(ख) ''चतुर्विंशतिं त्वेवैतान् गव्यानालभेत द्वादशेभ्यो देवताभ्यः''। (द्र०, पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृत छन्दोऽभ्यस्ता, पृ० ९६)

२. ''ऋक्सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसामिन्धने''। (अमर०,२.७.२२.)

३. **जुहू इति**। पलाशकाष्ठनिर्मिता अग्निहोत्रहवणीसदृशी मुख्यहोमकरणत्वाद् हूयतेऽनयेति व्युत्पत्त्या जुहूपदवाच्या। (द्र०, श्रौ० पदार्थ०)

४. (क) मखेषु यूपखण्डेऽपि स्वरुः''। (अमर०, ३.३.१६७)
(ख) स्वरुः पुमान् यूपखण्डे भिदुरेऽप्यध्वरे शरे'' इति। (मे०, १२९.९३)

५. अयम् अध्वर्युगणस्य द्वितीयः सदस्यः, अध्वर्युगणप्राप्यस्य सम्पूर्णदक्षिणाद्रव्यस्य अध्वर्य्वपेक्षया अर्धदक्षिणाभाक्।

४८ तृण के साथ ले जाता है। शामित्रशाला में अग्निप्रज्वलनार्थ उल्मुख अर्थात् उत्तर वेदी की अग्नि से स्फुलिंगों को निकाल कर पशु के साथ शामित्रशाला में ले जाता है। शामित्रशाला में पूर्वचर्चित ४८ कुश तृणों में से २४ को पूर्वाभिमुख पशुओं के क्रम से स्थापित किया जाता है।

अवशिष्ट तृणों का स्थापन

पूर्ववर्णित ४८ तृणों में से अवशिष्ट २४ तृणों क़ो, उपरिलिखित पूर्वाभिमुख तृणों के ऊपर उत्तराभिमुख रूप से स्थापित करें। इस अवसर पर अध्वर्यु होता को अधिगु प्रैष प्रदान करेगा।

अवशिष्ट तृणों का स्थापन

पूर्ववर्णित ४८ तृणों में से अवशिष्ट २४ तृणों को, उपरिलिखित पूर्वाभिमुख तृणों के ऊपर उत्तराभिमुख रूप से स्थापित करें। इस अवसर पर अध्वर्यु होता को अधिगु प्रैष प्रदान करेगा।

पशुसंज्ञपनानन्तर ऋत्विजों का कर्तव्य

पशुसंज्ञपन विधि के पश्चात् सभी ऋत्विज् अपने-अपने मण्डपों से बाहर जाकर आचमन, प्राणायामादि करेंगे एवं विहित स्थान में तृणनिरसनपूर्वक उपवेशन करेंगे।

यजमानपत्नी का कर्तव्य

इस सन्दर्भ में नेष्टा, यजमानपत्नी को शामित्रशाला में ले जाएगा एवं पत्नी ही संज्ञप्त पशु का प्रोक्षण करके अपने स्थान पर बैठ जाएगी। इसके बाद अध्वर्यु एवं यजमान प्रत्येक पशु के पश्चिम भाग में उपविष्ट होकर निषेकादि मूलांजनान्त कर्म करते हैं। ततः पशु के अधोभाग में बिछाए हुए कुशों एवं तृणों को उत्कर[१] में प्रक्षिप्त करते हैं। तत्पश्चात् वपोत्खेदन[२] से परिवासन[३] तक का कर्म सम्पादित करके, वपाश्रपणी[४] में वपा को लेकर यजमान और ऋत्विक्

---

१. "पुंजराशिस्तूत्करः कूटमस्त्रियाम्"। (द्र०, अमर०, २,५.४२)

२. **वपोत्खेदनमिति**। त्वक्छेदनानन्तरम् अप उपस्पृश्य छिन्नप्रदेशं पुनः विस्तीर्णं कृत्वा इषे त्वेति मन्त्रेण वपामुद्धरति। इदं वपोद्धरणं वपोत्खेदनमिति चोच्यते। (द्र०, श्रौ०पदार्थ०)।

३. **परिवासनमिति**। यज्ञीयवेदाच्छादनुकूलविशेषे "शुल्वात् प्रादेशे परिवास्य वेदपरिवासनानि निदधाति।" आपस्तम्बसूत्रम्। तानि च वेदाग्राणि कार्य्याणीति धूर्त्तस्वामी। (द्र० वाच०)

४. **वपाश्रपणी इति**। वपा श्रप्यते यस्यां सा वपाश्रपणीत्युच्यते। (श्रौ० पदार्थ०)

यज्ञस्थल में आते हैं। तदनन्तर वपायागार्थ होता को प्रैष प्रदान कर ''स्वाकृती''[1] नामक होम होता है। तदंगत्वेन वपाभिधारादि कर्म सम्पादित करके ''वपायाग'' होता है एवं वपायाग के पश्चात् वपाश्रपणी का उत्तरवेदी में स्थापन तथा चात्वाल देश में उसको माजा जाता है।

स्तोत्र-शंसन

इसके अनन्तर दो स्तोत्र का पाठ किया जाता है— १. आज्यस्तोत्र, २. प्रउगस्तोत्र। साथ ही शस्त्र[2] याज्यानुवाक्यादि कर्म भी यहीं पर सम्पादित होता है। इसके साथ ही ''प्रातःसवन कृत्य'' समाप्त होता है।

।। **तृतीय सुत्याह (अन्तिम दिन) का प्रातःसवन (प्रथम सत्र) सम्पूर्ण** ।।

तृतीय सुत्याह का माध्यन्दिन (द्वितीय) सवन प्रारम्भ

माध्यन्दिन सवन का प्रमुख कृत्य

प्रातःसवन कर्म की समाप्ति के पश्चात् एवं माध्यन्दिन सवन प्रारम्भ के पूर्व कतिपय पात्रासादन[3] प्रभृति पूर्वाङ्ग कृत्य विहित हैं। यथा पूर्वाङ्गकृत्य में १२९ कपाल और २२ पुरोडाश पात्रासादन में स्थापित किये जाते हैं एवं सवनीय पुरोडाश के पाक के लिए, देवतोद्देश्यक हविर्ग्रहण, निर्वाप, प्रोक्षणादि सम्पादित किये जाते हैं। सभी परोडाश यवपिष्ट से ही निर्मित होते हैं। वेदीकृत पुरोडाशालम्भन पुरोडाशपाक के लिए गार्हपत्याग्नि में स्थापित किया जाता है।

पशुओं का चिह्नांकन

शामित्रशाला में वेदविहित तत्तदङ्गों के होम के लिए, प्रत्येक पशु का पृथक्-पृथक् चिह्नांकन आवश्यक है, जिससे कि पाक भली प्रकार से सम्भव हो सके। इस तृतीय सुत्याह में एक ही काँटे पर पूर्वोक्त समस्त २४ पशुओं का, हृदयस्थित अंगों का गुन्थन किया जाता है। पशुपुरोडाश पाक के समय अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है, जिससे कि कोई भी अंग जलने या

---

१. स्वाकृतिप्रैष इति। अध्वर्युणा स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्येति प्रेषितो मैत्रावरुणो होतारं प्रेष्यति। होतायत्तदग्निं स्वाहाऽऽज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा हव्यसूक्तीनां स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु होतर्यजेति अयमेकादशस्य प्रयाजस्य प्रैषः स्वाहाकृती प्रैष इत्युच्यते। (द्र०, श्रौ० पदार्थ०)

२. **शस्त्र इति**। ''ऋचां निविदां च सङ्घः शस्त्रम्'' इति। (द्र०, बालमनोरमा)

३. **पात्रासादन इति**। पात्रासादनविधिस्तान्त्रिकेष्वपि विधिषु विहितः। तत्प्रसङ्गे च कलशस्थापन-सामान्यार्घ्य-विशेषार्घ्यादिविधयोऽन्तर्भवन्ति। (द्र०, श्रीश्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या, दत्तात्रेया-नन्दनाथ-श्रीविद्यासाधनापीठम्, वाराणसी, पृ० ३१.)

नष्ट न होने पावे। इस प्रकार पाक करके माध्यन्दिन-सवन के पुरोडाशपाकानन्तर अध्वर्यु आग्नीध्र[1] को प्रैष प्रदान करता है। वेदी में स्थापित तृण कुशों द्वारा अलातों[2] से पृथक् कर, आज्य से प्राणदान संस्कार सम्पन्न कर, पश्चात् एकादश प्रयाजमन्त्रों द्वारा प्रकृति श्रुति के अनुसार प्रयाज याग सम्पन्न कर, पुनः आधार होम विधान के पश्चात् अध्वर्यु अर्थात् प्रधान चार ऋत्विजों में अन्यतम एवं स्वगण के चारों ऋत्विजों में प्रधान यजुर्वेदी, पशुपुरोडाश के लिए याग-सम्पादनार्थ मैत्रावरुण को प्रैष प्रदान करेगा। यहाँ पर '**मनोतासंज्ञक**' सूक्त का शंसन होगा। प्रत्येक पुरोडाश का आज्यसंस्कार करके जुह्वा में अवदान लिया जायेगा; क्योंकि अवदान[3] के पश्चात् ही पुरोडाश में अभिघार होता है। इसके अनन्तर अध्वर्यु होता को पुरोवाक्या के आशंसन[4] के लिए प्रैष[5] देने के पश्चात्, होता द्वारा देवता को उद्दिष्ट कर वषट्कारपर्यन्त श्रुत्युक्त याज्यामन्त्र का पाठ करने पर, अध्वर्यु उत्तर वेदिस्थित आहवनीय अग्नि में वषट्कारोच्चारणपूर्वक आहुति-प्रक्षेप करता है।

पशुपुरोडाश-याग

इसी क्रम में द्वादश पशु पुरोडाशों की आहुतियों का तत्तद् देवतानामोच्चारणपूर्वक प्रक्षेप होता है, यथा—१. **अग्नये जुष्टं निर्वपामि**, २. **सरस्वत्यै जुष्टं निर्वपामि**, ३. **सोमाय जुष्टं निर्वपामि**, ४. **पूष्णे जुष्टं निर्वपामि**, ५. **बृहस्पतये जुष्टं निर्वपामि**, ६. **विश्वेदेवेभ्यो जुष्टं निर्वपामि**, ७. **इन्द्राय जुष्टं निर्वपामि**, ८. **मरुद्भ्यो जुष्टं निर्वपामि**, ९. **इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं निर्वपामि**, १०. **सवित्रे जुष्टं निर्वपामि**, ११. **वरुणाय जुष्टं निर्वपामि**, १२. **प्रजापतये जुष्टं निर्वपामि**। यहाँ पर पुरोडाशपात्र भी द्वादश होंगे।

पूर्वोक्त द्वादश हविर्निर्वाप के पश्चात् सवनीय ग्रहण होगा। यथा—१. इन्द्राय जुष्टं निर्वपामि, २. इन्द्राय हरिवते जुष्टं निर्वपामि, ३. इन्द्राय पूषणवते जुष्टं निर्वपामि।

---

१. अयं ब्रह्मगणस्य तृतीयः सदस्यः, अध्वर्युगणप्राप्यस्य सम्पूर्णदक्षिणाद्रव्यस्य एकतृतीयांश-भागभाक्।

२. **अलातमिति**। (क) अलातमुल्मुकम् इति अमरः-२.९.३०।
(ख) अंगारोऽलातभौमयोः इति विश्वः- १४०/१८२।

३. **अवदानमिति**। दो अवखण्डने इति पठितत्वात् स्थापितहविषो होमपरिमितस्य भागस्य ग्रहणर्थं खण्डनम् अवदानमित्युच्यते। (द्र०, श्रौ० पदार्थ०)

४. **आशंसनमिति**। "ईप्सितस्य दुर्लभस्याशंसनम्" (सर्वतन्त्र०)। अन्यत्राऽपि यथा — "अप्राप्तस्य प्राप्तीच्छायाम्, इष्टार्थशंसने च" (वाच०)।

५. "यज् इत्यादि लोड्मध्यमपुरुषान्तपदघटितेन येन वाक्येन अध्वर्य्वादिना होत्रादिः प्रेर्यते तद्वाक्यम् "प्रैषः" इत्युच्यते। (श्रौ० पदार्थ०)

कपालोपधान[१]

उपर्युक्त अनुष्ठान के पश्चात् जिन १२ देवताओं को नामोल्लेखपूर्वक आहुति प्रदान की जाती है, उन प्रत्येक के लिए कपालोपधान विहित है। यथा—

१. अग्नि के लिए	अष्टाकपाल
२. सरस्वती के लिए	अष्टाकपाल
३. सोम के लिए	अष्टाकपाल
४. पूषा के लिए	अष्टाकपाल
५. बृहस्पति के लिए	अष्टाकपाल
६. विश्वेदेवों के लिए	द्वादशकपाल
७ इन्द्र के लिए	अष्टाकपाल
८. मरुतों के लिए	द्वादशकपाल
९. इन्द्राग्निदेवों के लिए	अष्टाकपाल
१०. सविता के लिए	अष्टाकपाल
११. वरुण के लिए	अष्टाकपाल
१२. प्रजापति के लिए	अष्टाकपाल

१३. इसके अतिरिक्त सवनीय इन्द्र का द्वादशकपाल।

इसके बाद कतिपय अन्य कार्य भी सम्पन्न होते हैं, यथा— १. स्वस्तिकृत् याग, २. वैश्वदेवमरुत्वतीय ग्रहप्रचार, ३. स्तोत्रकों का स्तोत्र एवं होत्रकों का स्तोत्र, ४. निष्कैवल्य मरुत्वतीय स्तोत्र का स्तवन, ५.मैत्रावरुण को प्रैष, ६. होता का निष्कैवल्यादि शस्त्र तथा मरुत्वतीय शस्त्र-शंसन, ७. शस्त्र-याज्यानुवाक्या, ८. सवनीय-चमस-प्रकार, ९. चमस भक्षणादि। १०. दक्षिण दान।

।।**इस प्रकार तृतीय सुत्याह में माध्यन्दिन सवनीय कर्म सम्पन्न होगा**।।

तृतीय सवन प्रकरण

तृतीय सवन में सर्वप्रथम निम्नलिखित कार्य विशेषत: सम्पन्न होंगे—

---

१. **कपालोपधानमिति**। अध्वर्युप्रेषणानन्तरं गार्हपत्यस्य पश्चाद् धृष्ट्या पुरोडाशभर्जनार्थं गार्हपत्याङ्गारैः सन्तापयितुं यथाविहितानि प्रतिपुरोडाशं समुदितानि अश्वशफमान्नाण्यश्वशफाकारतामापन्नानि कपालानि मन्त्रैर्विहितक्रमेण स्थापयति तदेतत्कपालोपधानमित्युच्यते। (श्रौ०पदार्थ०)

१. सौम्यदेवताक चरुनिर्वाप

२. अश्विनदेवताक द्विकपालपुरोडाशनिर्वाप

३. अवभृथेष्टिहेतुक वरुणदेवताक एककपालपुरोडाशनिर्वाप।

प्रधान कर्म-सम्पादन

उक्त विशेषानुष्ठान के पश्चात् प्रधान कर्म होता है। इस प्रधान कर्म को 'हविर्याग' कहते हैं।

हविर्यागरूप प्रधान कर्म-विधि

तृतीय सवन में इदंप्रथमतया अनुष्ठेय पूर्वोक्त तीनों निर्वापरूप अनुष्ठानों के पश्चात् ''हविर्यागात्मक'' प्रधान कर्म-सम्पादन के लिए अध्वर्यु शामित्रशाला से समस्त पशु अवयवों को एकत्र करेगा। यह कार्य अवदानक्रमानुसार एवं देवताक्रमानुसार सम्पन्न होगा, तथा पश्वंगों का समाहरण, वेतस मंजूषा में किया जाएगा।

प्रथमसुत्याहवद् अनुष्ठेय विधि

पूर्ववर्णित पश्वंगों की वेतस मंजूषा में स्थापना के पश्चात् प्रथमसुत्याहवत् विधिपूर्वक मनोतासंज्ञक सूक्त का पाठ होगा।

अंगहविर्याग

१. मनोतासंज्ञक सूक्त-शंसनानन्तर अंगहविर्याग-सम्पन्नता के लिए अध्वर्यु मैत्रावरुण को प्रैष (आज्ञा) प्रदान करता है। मैत्रावरुण तदनुरूप प्रैष का होता को सम्बोधन कर पाठ करता है।

२. तत्पश्चात् अध्वर्यु होता को याज्यापाठ के लिए प्रैष (आज्ञा) देता है एवं होता के द्वारा याज्यापाठ सम्पन्न होने पर ही अध्वर्यु यथाक्रम अंगहविर्याग को सम्पन्न करता है। यहाँ पर वषट्कार द्वारा आहुति-प्रक्षेप के अतिरिक्त सम्पूर्ण विधियाँ प्रथम दिन के समान ही अनुष्ठित होंगी।

वनस्पति याग

पूर्वोक्त अंगहविर्याग-सम्पादनानन्तर वनस्पतियाग विहित है। इसमें समस्त पात्रसंस्थान पालिवत् होगा। पश्चात् अध्वर्यु सवनीय चमसप्रचारार्थ आदेश देता

है। इस तृतीय सुत्याह के षोडशी पात्र के ग्रहण में तीन कार्य अपेक्षित हैं। यथा[1]—आसादन, २. उपस्थान ३. उन्नयन।

तदनन्तर उद्गातृवर्ग के चारों ऋत्विक्गण क्रमश: तृतीय सवन के स्तोत्र एवं होतृक शस्त्र का पाठ करते हैं, जिसमें अध्वर्यु प्रत्येक ऋचा के अन्त में होता के सम्मुख नम्रतापूर्वक ''**ओथामो देव**'' प्रतिगर का पाठ करेंगे। यहाँ पर कई प्रतिगरों का विधान है। यहाँ पर वषट्कार[2] एवं अनुवषट्कार के होम में ''इदम् इन्द्राय षोडशिने'' के द्वारा प्रक्षेप होगा। तत: स्विष्टकृत् याग एवं पात्रशेष का होता एवं अध्वर्यु के द्वारा भक्षण। दोनों ऋत्विजों के भक्षण के लिए पृथक् पृथक् मन्त्र है। यथा—१. ''**इन्द्रश्च सम्राट्**'' यह अध्वर्यु का भक्षण मन्त्र है। २. होता का वषट्कारनिमित्तक भक्षण है। ३. चमसकर्ताओं का समाख्यानरूप भक्षण है।

इस प्रकार चमसों का भक्षण विहित है। चमसों के उपाह्वान[3] के पश्चात् मार्जालीय धृष्णि[4] के द्वारा पदप्रक्षालनार्थ चमसों का स्थापन करके, सभी ऋत्विक् विहित मार्ग से मण्डप के बाहर आकर पुन: अतिरात्र[5] संस्थाक रात्रि-पर्याय मण्डप में प्रवेश करके उपवेशन करेंगे।

अतिरात्रपर्याय

अतिरात्र में तीन रात्रि-पर्याय होते हैं, एवं प्रतिपर्याय में चार-चार स्तोत्र एवं शस्त्रों का स्तवन होता है। प्रत्येक स्तवनपाठ के बाद चमसाध्वर्यु दस-दस चमसों से

---

१. एषां विधीनां विस्तारस्तु इत्थम्—

१. यज्ञीयपात्रप्रक्षालनम्। २. तदन्ते सर्वेषां सर्पणम्। ३. तदनु उक्थवद् उक्थविग्रहा: कार्या:। ४. तत: पश्चाद् उपास्तमये समये सर्पणम्। ५. तत: पश्चात् प्रत्यागत्य षोडशीपात्रप्रचार:। ६. पात्राणाम् उपस्थापनम्। ७. चमसस्य उन्नयनम्।

तत: पश्चात् सदस: द्वारनिकटे पुरस्ताद् अध्वर्यु: प्रत्यङ्मुख: तिष्ठति उद्गाता च स्तोत्रोपकरणाय प्रैषरूपम् आज्ञापयति। तन्मन्त्रो यथा—''ओम् सोमोत्तरेत्युपावर्तध्वम्।''

२. **वषट्कार इति**। वकारोत्तरवर्तियकारस्य स्थाने प्लुतमौकारं कृत्वा वषट् इति शब्दं पठति स वषट्कार इत्युच्यते। (श्रौ० पदार्थ०)

३. **उपह्वानमिति**। उप+ह्वे+ल्युट्। आह्वाने; मन्त्रोच्चारणेनाह्वाने च। ''द्यावापृथिव्योरुपह्वाने षड्वत्तम्'' (का०श्रौ०सू०, ३.४.१९); ''आग्नीध्रे भक्षणं वषट्कारोपह्वानाभ्याम्। (का०श्रौ०सू०, १०.६.२२, वाचस्पत्यसमुद्धृतम्)

४. **मार्जालीयधृष्णिरिति**। आग्नीध्रीयवन्मार्जालीये खरं करोति। शुन्ध्यूरिति मार्जालीयो रौद्रेणासी:। इति अयं खरो मार्जाराय धिष्ण्यमित्युच्यते। (श्रौ०पदार्थ०)

५. **अतिरात्रमिति**। अतिशयिता रात्रि: तत: अस्त्यर्थे अच्। एकरात्र्यसाध्ये यागभेदे। स च गवामयने प्रथमसंस्थ:, यथोक्तं ताण्ड्यब्राह्मणे चतुर्थाध्यायप्रथमखण्डपर्यन्ते– ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति श्रुत्यन्तरम्। षोडशी पात्रभेद:। (वाच०)

उत्तरवेदी में आहुति देता है। सोमयाग की आहुति के पश्चात् चमसभक्षणार्थ आह्वान होता है। जैसा कि पूर्ववर्णित है, प्रत्येक स्तवन के पश्चात् चमसाध्वर्यु उत्तरवेदी में दस-दस आहुतियाँ देगा। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सर्वत्र स्तोत्रपाठक उद्गाता ही होंगे; परन्तु शस्त्रकर्ता भिन्न होंगे। यथा होता पहले उक्थ्यवत् कार्य करेगा। इस प्रसंग में सर्वप्रथम होता के चमस को ग्रहण कर आश्रवणादि भक्षण करेगा। द्वितीय स्थान में प्रशास्ता के चमस को ग्रहण कर आश्रवणादि भक्षण करेगा। इसी सातत्य में तृतीय स्थान में ब्राह्मणाच्छंसी के चमस को ग्रहण कर एवं चतुर्थ स्थान में अच्छावाक् के चमस को ग्रहण कर पूर्वचर्चित आश्रवणादि भक्षणान्त कर्म करेगा। सर्वत्र ही वषट्कर्त्ता के चमस में वषटकर्त्ता के साथ-साथ होमकर्त्ता भी भक्षण करेगा। इसमें भी वषट्कर्त्ता द्वारा सभी चमस का वषट्कारनिमित्तक भक्षण होगा। इसी क्रम में चमसकर्ताओं का स्वचमस में समाख्यानिमित्तक भक्षण होगा। इस प्रकार एक रात्रि की पर्याय पूर्ण होता है।

द्वितीय एवं तृतीय रात्रि-पर्याय

पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही द्वितीय रात्रि-पर्याय भी सम्पन्न होगा। यथा १. सर्पणपूर्वक ही चतुःस्तोत्र एवं शस्त्रशंसनरूप द्वितीय रात्रि-पर्याय। २. पुनरपि सर्पणपूर्वक तृतीय रात्रि-पर्याय। इस प्रकार अतिरात्र के तीनों रात्रि-पर्याय सम्पन्न होंगे। इसके पश्चात् सर्पण करके होता के चमसादिकों का विभाग कर सभी चमसों का उन्नयन करके रात्रि-पर्याय समाप्त होता है।

कतिपय अपेक्षित तथ्य

पूर्व में कथित है कि सोमयाग की आहुति के अनन्तर चमसभक्षणार्थ उपाह्वान होने के बाद वषट्कर्ता एवं ऋत्विक्गण सोमभक्षण करेंगे। यह सोमभक्षण वषट्कारनिमित्तक होने के कारण सभी ऋत्विक् चमसभक्षण में अनुमत हैं एवं इस भक्षण के पश्चात् ही चमसपान की सन्धि के अधिकारी होते हैं, जिसमें ब्रह्मा, होता, उद्गाता, आग्नीध्र, प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु, यजमानादि चमसभक्षण करते हैं।

चमस-प्रचार-देवता-विचार

अतिरात्रपर्याय में चमस प्रचार का देवता इन्द्र होता है एवं चारों पर्यायों के होम होने पर स्विष्टकृद्याग एवं प्रतिरात्रपर्याय के पश्चात् ऋत्विजों का सर्पण होता है।

आश्विन-शस्त्र

सन्धिस्तोत्र के उपाकरण के लिए दो कुश तृणों से होता के चमस को स्पर्श करने के पश्चात् प्रैष किया जाएगा। ''उपावर्तध्वम्'' इस शब्द से प्रैष होगा।

चमसाध्वर्यु चमसादियों को प्रक्षालित कर, पुन: सोमरस से भरकर चमस उठाएगा। इस अन्तिम अतिरात्रपर्याय में दो ऋत्विजों द्वारा दो विशेष कार्य विहित हैं—

१. प्रथमत: उद्गाता द्वारा आश्विनस्तोत्र-शंसन।

२. पश्चात् होता द्वारा आश्विन-शस्त्र का पाठ।[1] अध्वर्यु प्रत्येक प्रणव के अन्त में प्रतिगर करेगा। इस प्रकार यह आश्विनशस्त्र सूर्योदय के पश्चात् समाप्त होगा।

प्राणदान-संस्कार

आश्विन-शस्त्र के अन्त में चमस होम के पश्चात् अध्वर्यु पूर्व दिन के तृतीय सवन में सोमदेवताक चरु के साथ, आग्नीध्रशाला में स्थापित प्राणदानान्त संस्कार द्विकपालसंस्कृत आश्विनपुरोडाश को डालकर वेदी में स्थापित करेगा। तत: अध्वर्यु होता के चमस को और अन्य चमसाध्वर्युगण अवशिष्ट नौ चमसों को ग्रहण करेंगे। प्रतिप्रस्थाता नामक उपऋत्विक् जुहू और उद्भृत को लेकर उपसंस्कारपूर्वक, सम्पूर्ण आश्विन पुरोडाश को जुहू में स्थापित कर, दो बार अभिघारण कर, उठकर यागस्थान में जाकर यज्ञ करेगा।[2] प्रत्येक यजन समय में चमसाध्वर्यु चमसों से सोमद्रव्य का हवन करेगा।

आश्विन-पुरोडाश-याग

पूर्व में कहा गया है कि आश्विन शस्त्रपाठ के अन्त में चमस होम के पश्चात् अध्वर्यु पूर्व दिन के तृतीय सवन में सोमदेवताक चरु के साथ आग्नीध्र-शाला में स्थापित करेगा।

आश्विनपुरोडाश-याग के स्वरूप का स्पष्टीकरण

१. सर्वप्रथम अध्वर्यु द्वारा प्रैष प्रदान यथा—"**आश्विभ्यां तिरो अहन्यानां सोमानामनुब्रूहि**" इति।[3] २. इसके बाद अध्वर्यु आश्विन-पुरोडाश का यजन करेगा एवं प्रत्येक वषट्कारोच्चारण में समस्त चमसों का होम, इस रीति से किया जाएगा कि अवशिष्ट बचा रहे। ३. आश्विन पुरोडाशयाग के प्रथम वषट्कार में समस्त होम के पश्चात् होता के चमस में, होता एवं अध्वर्यु का भक्षण।

इस प्रसंग में होता का वषट्कारनिमित्तक भक्षण विहित है और चमसकर्त्ताओं को समाख्यानुरूप भक्षण विहित है। इस प्रकार अतिरात्रसंस्थाक

---

१. होता शंसत्याश्विनम्। (का०श्रौ०सू०, १२.६.१०)

२. शस्त्रान्त आश्विने सर्वहुतेन चरति। (का०श्रौ०सू०, १२.६.११)

३. का०श्रौ०सू०, १२.६.१३।

तृतीय आश्वमेधिक सुत्याह में होता द्वारा शंसन एवं अन्यों के द्वारा आश्विन-शस्त्रान्त विहित है।[१]

आश्विन-ग्रहप्रचार

इसके पश्चात् आश्विन-ग्रहप्रचार होता है। इसके अन्तर्गत होता आश्विन चमस का भक्षण करता है तथा समस्त चमसकर्तृगण, अपने-अपने चमसों से उपाह्वानपूर्वक चमस भक्षण करेंगे। इस प्रकार अतिरात्र-पर्याय के आश्विनशस्त्र का पाठ करते-करते द्वितीय दिन का मध्याह्नकाल आ जाता है। अर्थात् यह तृतीय सुत्याह ३६ होरा (HOUR) पर्यन्त पूर्ण होता है। इस अतिरात्र-पर्याय की समाप्ति के पश्चात् अनेक कृत्य अनुष्ठेय हैं, यथा १. उल्मुख समारोह। २. अनुयाज याग। ३. व्यूहन कर्म।[२] ४. वाजिन याग। ५. स्विष्टकृद्याग[३]। इनमें से कतिपय का संक्षिप्त स्पष्टीकरण प्रस्तुत है—

वाजिन-याग[४]

वाजिनयाग के अनुष्ठान कर्म में ''वाजिनो यज'' इस प्रकार कहे जाने पर, होता वषट्कार एवं अनुवषट्कारपूर्वक याज्यापाठ करेगा। ततः अवशिष्ट वाजिन से दिक् अवधारण करके, अध्वर्यु दिग्होम करेगा एवं दिग्होम के पश्चात् वाजिन का उपाह्वान एवं भक्षण सम्पन्न होगा, जिसमें भक्षणाधिकारी स्ववेदान्तर्गत स्वशाखीय मन्त्रोच्चारणपूर्वक अवशिष्ट वाजिन का भक्षण करेगा।

घ्राणभक्ष

वाजिनयाग[५] के वाजिनभक्षण के सन्दर्भ में घ्राणभक्ष पक्ष ही मुख्य है।[६] पूर्वोक्त रीति से स्ववेदान्तर्गत स्वशाखीय मन्त्रोच्चारणपूर्वक घ्राणभक्षात्मक वाजिनभक्षण सम्पन्न होने पर शिष्टाचारपरम्पराप्राप्त आचमन, मार्जनादि सम्पन्न करना चाहिए।

---

१. ''शस्त्रान्त आश्विने सर्वहूतेन चरति''। (का०श्रौ०सू०, १२.६.११)

२. आदेशकरणपर्याप्तवेदान्तर्गतभूमैः सकाशाद् वेद्यास्तृतीयबर्हिषः उदग्देशे वेद्यामेव नयनं व्यूहनमित्युच्यते। (श्रौ०पदार्थ०)

३. स्विष्टकृतं यजेति श्रुत्वा आगुरमुच्चार्य देवतामादिश्य निगदं पठित्वा याज्यासंज्ञामृचं पठति स स्विष्टकृन्निगद इत्युच्यते। (द्र०, श्रौ० पदार्थ०)

४. ''आमिक्षानि सुतजले'' तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम् इति श्रुतिः। (द्र० वाच०)

५. द्र०, श्रौ०पदार्थ०, पृ० ८०-८३।

६. अन्यत्रापि घ्राणभक्षपक्षः प्राप्यते यथा—''यद् घ्राणभक्षो विहितसुरायाः'' इति भागवतोक्त-वचनम्।

वाजिनयागानन्तर अनुष्ठेय विधि

वाजिनयाग के बाद दो विधियाँ अनुष्ठेय हैं—१. परिधिहोम, २. हारियोजनयाग। इसमें मुख्यतया हारियोजनयाग के अन्तर्गत अध्वर्यु सोमरस से पूरित द्रोणकलश[१] को लेकर मण्डप में आता है।

शाकलाधान[२]

हारियोजनयाग के पश्चात् शाकलाधान होगा, जिसमें यजमान सहित सभी के मन्त्र स्ववेदान्तर्गत स्वशाखीय ही हैं। (**देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, मनुष्य-कृतस्य पितृकृतस्य आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। एनसऽएनसोऽवयजनमसि। उच्चाहमेनोविद्धश्चकार यच्चाविद्धांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि।**[३])

उन्नेतानुवाचन[४]

शाकलाधान के पश्चात् उन्नेता नामक उपऋत्विक् द्रोण-कलश का अनुवाचन करके पुनः हारियोजनयाग के दो विषय का पाठ करेगा, यथा—१. याज्या, २. पुरोनुवाक्या। इस क्रम में उन्नेता द्रोणकलश को लेकर, निकलकर, मस्तक पर स्थापित कर 'धानासोमेभ्यो अनुब्रूहि'' का अनुवाचन करेगा।

धानामिश्रित सोम का सवन[५]

इस प्रसंग में याज्या एवं पुरोनुवाक्या के पाठसम्पादनानन्तर धानामिश्रित पूर्वोल्लिखित सोम का वषट्कार एवं अनुवषट्कार के साथ अध्वर्यु हवन करेगा।

धानाभक्षण[६]

धानामिश्र उक्त सोम से अध्वर्यु द्वारा होमविधान के पश्चात् सभी ऋत्विक् द्रोण-कलश में अवशिष्ट धानाकणों को ग्रहण करके देखेंगे एवं उसका आघ्राण करेंगे। इस प्रसंग में स्ववेदान्तर्गत स्वशाखीय मन्त्र द्वारा सभा में स्थित होकर धानाभक्षण करेंगे।

---

१. (क) अस्त्रियामाढकद्रोणौ—परिमाणार्थकाः पृथक्। (अमर० २.९.८८)
(ख) द्रोणोऽस्त्रियामाढके इति। (मे०, ४६.१७)

२. ''शाकलाधानं देवकृतस्येति प्रतिमन्त्रम्''। (द्र०, का०श्रौ०सू०, १०.८.७)

३. द्र०, का०श्रौ०सू०, १०.८.७ (टिप्पणी)।

४. ''उन्नेतानुवाचयति मूर्धनि कृत्वा धानासोमेभ्योऽनुब्रूहीति''। (कात्या०श्रौ०सू०, १०.८.३)

५. द्र०, का०श्रौ०सू०, १०.८.५।

६. ''उत्तरवेदौ वा निधाय विलाभं'' ''यत्ते अश्वसनि''रिति ''प्राणभक्षं भक्षयित्वा उत्तरवेदौ निवपन्ति''। (का०श्रौ०सू०, १०.८.६)

चमसावमर्शन

चमसावमर्शन विधि के अन्तर्गत सभी ऋत्विक् स्ववेदान्तर्गत स्वशाखोक्त मन्त्रों से उत्तर वेदी में देवताकृतस्य[१] इत्यादि मन्त्रों से समिधाओं का होम करते हैं। तत्पश्चात् चात्वाल देश में आकर, अपने-अपने चमसों और पूर्णपात्रों का स्पर्श करके, उनके ऊपर हरित कुशों का स्थापन करेंगे।[२] इस प्रसंग में अचमसी अर्थात् चमसरहित, जिनके पास स्वतन्त्र चमस नहीं है, ऐसे ऋत्विक् भी अपने वर्ग के वरिष्ठ ऋत्विजों के चमसों का स्पर्श कर, चमसस्थित अवशिष्ट जल एवं अपने-अपने मुख का स्पर्श करेंगे।

दधिद्रप्स[३] - प्राशन[४]

पूर्वोक्त धानाभक्षण नामक अनुष्ठान के पश्चात् अनुष्ठेय "**दधिद्रप्सप्राशन**" नामक कार्यक्रम के अन्तर्गत सभी ऋत्विक् आग्नीध्रशाला में आकर "**दधिक्राव्णो**"[५] इत्यादि मन्त्रों से दधिद्रप्स का भक्षण करेंगे।

सख्यविसर्जन

दधिद्रप्सप्राशनानन्तर "उभाकवीयुवा" इत्यादि मन्त्रों से होता सख्यविसर्जन करता है। कहीं-कहीं दधिद्रप्सप्राशन को ही सख्यविसर्जन विधि शब्द से कहा गया है। इस कृत्य की सम्पन्नता के पश्चात् अध्वर्यु पुनः चात्वाल देश से प्रधान वेदी में लौटकर वेदभूमि को स्पष्ट करेगा।

पत्नीसंयाज[६] - याग

पूर्वोक्त अनुष्ठान के पश्चात् पत्नीसंयाज नामक याग विहित है, जिसमें अंगहविर्याग में अवशिष्ट पशुपुच्छान् (जघनी) का होम "शालामुखीय" नामक अग्नि में किया जाता है। इस क्रम में दक्षिणाग्नि में अध्वर्यु के द्वारा कतिपय अन्य कृत्य भी विहित हैं, यथा—१. पिष्टलेप होम, २. वेदयोक्त्रविमोक, ३. समष्टियजुर्होम। इस कृत्य के पश्चात् चात्वाल देश में राजा औदुम्बर[७] (गूलरकाष्ठ-

---

१. द्र०, शु०य०वे०, ८.१३।

२. अपरेण चात्वालं यथास्वं चमसान् पूर्णपात्रानवमृशन्ति हरितकुशानवधाय संवर्चसेति। (का०श्रौ०सू०, ०.८.८)

३. द्रप्स इति। द्रप्सं दधि घनेतरत्। (द्र०, अमर०, २.९.५१)

४. "दधिक्राव्णः" इत्याग्नीध्रे दधिभक्षणम्। (का०श्रौ०सू०, १०.८.१०)

५. द्र०, तै०सं०, १.५.११.११, ७.४.१९.१५; शु०य०वे०, २३.३२।

६. "पत्नीसंयाजाः पशुवत्"। (का०श्रौ०सू०, १०.८.११)

७. (क) 'यजकाष्ठविशेषमिति' वाच०।
(ख) उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धक इत्यमरः।

निर्मित) पीठ को स्थापित करता है। इसी के साथ चात्वाल देश में अनेक वस्तुओं का विसर्जन किया जाता है।[1] यथा—१. सोमरस लगे हुए समस्त पात्र। २. सोमरस लगे हुए ग्रह, चमस। ३. सोमरस लगे हुए प्रस्तर। ४. सोमरस लगे हुए वृषभचर्म। ५. यजमान की कृष्णविषाण मेखला।[2]

उक्त वस्तुओं के विसर्जन के पश्चात् अध्वर्यु उद्गातृगण के चारों ऋत्विजों को सामगानार्थ आज्ञा देता है। इस प्रसंग में समस्त ऋत्विजों के साथ उद्गाता निधन[3] साम का गान करता है।

सपत्नीक यजमान का सामगान

निधन सामगान का अन्तिम अंश यजमान एवं उसकी चारों पत्नियाँ गाती हैं।[4] उपर्युक्त कृत्य अश्वमेध महायाग की प्रधान वेदी में अनुष्ठेय कर्म की पूर्णता का द्योतक है।

अवभृथेष्टि[5]

पत्नीसंयाज के बाद अवभृथेष्टि का विधान है। इस अवभृथ इष्टि में सपरिवार यजमान एवं समस्त ऋत्विक् गार्हपत्याग्नि को साथ लेकर जलाशय की ओर प्रस्तुत होते हैं। प्रस्थान मार्ग में अध्वर्यु प्रस्तोता को सामगान के लिए आज्ञा देता है। जब सामगान होता है, जलाशय का तटप्रदेश प्राप्त होने पर अवभृथेष्टि का शुभारम्भ होता है। अवभृथेष्टि के आहवनीयाग्नि का स्थान जल में ही निश्चित है। इस अवभृथ इष्टि के कई पक्ष हैं। यथा[6]—

१. आहुतिषट्करूप प्रथम पक्ष।
२. आहुतिदशकरूप द्वितीय पक्ष।

अश्वमेध महायज्ञ जैसी विशाल परियोजना का अतिशययज्ञकर्म बाहुल्यवशात् दशाहुतिरूप द्वितीय पक्ष ही श्रेयस्कर है।[7]

दशाहुति-विभाग

दशाहुति का विभाग इस प्रकार है। यथा—

---

१. ''आसन्द्यौदुम्बर्यो चात्वालं हरन्ति''। (का०श्रौ०सू०, १०.८.१३)
२. ''सोमलिप्तम् च''। (का०श्रौ०सू० १०.८.१४)
३. ''पंचावयवस्य सप्तावयवस्य वा साम्नोऽन्तिमे, अवयवे च तच्च यस्य कस्यचित्साम्नः अन्तिमभागरूपम् उद्गातृ-प्रस्तोतृ-प्रतिहर्त्तृभिः मिलितैः युगपद् गेयम्।'' (वाच०)
४. ''सर्वे निधनमुपयन्ति''। (का०श्रौ०सू०, १०.८.२०)
५. ''आहृतमादायावभृथं गच्छन्ति स्यन्दमानानां स्थावराः।'' (का०श्रौ०सू०, १०.८.२१)
६. ''वश एतत्कुर्यात्''। (का०श्रौ०सू०, १०.८.३१)
७. ''यजमानोक्तावाज्यभागौ बर्हिर्वर्जं चानुयाजौ''। (का०श्रौ०सू०, १०.८.३२)

१.	प्रयाज आहुति	=	४
२.	आज्यभाग से आहुति	=	२
३.	वरुण आहुति	=	१
४.	अग्नि-वरुण आहुति	=	१
५.	अनुयाज आहुति	=	२
			१०

इस अनुष्ठान में कुशास्तरण नहीं होता। दक्षिणाग्नि भी नहीं होता; किन्तु इस प्रसंग में प्रयोक्तव्य मन्त्र में जहाँ-जहाँ 'अग्निपद' है, वहाँ-वहाँ ''आपो देवता'' इसका ऊह करना चाहिए। तत्पश्चात् आज्या और पुरोनुवाक्या का पाठ होता है।

उपवेशन-विचार

जल में वेदी असम्भव होने से अवभृथेष्टि में यजमान-ऋत्विक्-यजमान-पत्नी, किसी का भी उपवेशन विहित नहीं है। पात्रासादन के पश्चात् अध्वर्यु आज्य-निर्वाप करेगा, यहाँ भी ''आज्याधिश्रपण'' एवं ''पर्यग्निकरण'' यह दोनों कृत्य जलस्पर्श से ही किये जायेंगे। इध्म होम का तो प्रसंग ही नहीं आता। उल्मुख गीले रहते हैं। यहाँ पर दोनों उल्मुख जलपूर्णपात्रविशिष्ट ही होते हैं। होता स्रुगादापन मन्त्र का पाठ करेगा एवं प्रयाज अप्सुमान दो आज्यभाग होते हैं। अवभृथेष्टि के प्रधान देवता दो हैं। यथा—१. वरुण, २. अग्निवरुण (युग्म देवता)[१]।

अवभृथेष्टि एवं वर्तमान समाजवाद

अवभृथेष्टि प्रसंग में जब जलप्रवाह के निकट उपस्थित होते हैं, तब अस्पृश्य, स्पृश्य का विचार भी नहीं होता। यह एक सामाजिक उत्सव के समान है, अवश्य ही इसमें दलगत राजनीति का गन्धमात्र भी नहीं है।

अवभृथेष्टि-समापन-कृत्य[२]

अवभृथेष्टि मे प्रधान कर्म की समाप्ति के पश्चात् पिंगलनेत्र वाले एवं खल्वाट पुरुष को ढूँढ़कर उसके शिर में ''जम्बूकाय स्वाहा'' शब्द से एक आहुति दी जाएगी।

सोमरस अथवा तत् प्रतिनिधि का विधान

सम्पूर्ण यज्ञ में सोमरसाभिषवण के पश्चात्, पूतिका का द्रवांशरहित ठोस भाग, जो ''शीठी'' या ''रिजीश'' शब्द से भी प्रसिद्ध है, उसको एक विशाल कुम्भ

१. का०श्रौ०सू०, १०.८.२८।
२. का०श्रौ०सू०, १०.८.२९।

के जल के मध्यभाग में रखा जाता है और यजमान उस कुम्भ में जल पूर्ण कर, उस जल से रिजीश को निकाल कर थोड़ा-सा रख देता है। इसके पश्चात् यजमान अवभृथ कुम्भ को अध्वर्यु के हाथ में देकर स्नान करता है।

अवभृथ स्नान-स्वयं सेवा

अवभृथस्नान स्वयं सेवा का एक मूर्त रूप है, जिसमें सपत्नीक यजमान एवं उसके परिवार के सभी सदस्य स्वयं ही स्नान करते हैं; परन्तु यज्ञानुष्ठाता यजमान एवं यजमान-पत्नी को जल से अंजलि भर-भर कर स्नान कराया जाता है। स्नान की सम्पन्नता के लिए परस्पर एक-दूसरे का पीठ रगड़ देते हैं, एवं उस कुम्भ के जल को यजमान, उपस्थित ऋत्विजों एवं जनसमूहों के ऊपर प्रक्षिप्त करता है। इसके पश्चात् पवित्र जल में सभी स्नान करते हैं।

स्नानानन्तर अनुष्ठेय विधि

अवभृथ इष्टि के अन्तर्गत स्नान सम्पूर्ण होने पर सर्वप्रथम सपत्नीक यजमान बाहर आता है।

ऋत्विजों का क्रम

स्नाननिवृत्ति करके ऋत्विजों का जलाशय से निकलने का क्रम इस प्रकार है—१. ब्रह्मा, २. होता, ३. अध्वर्यु।

कतिपय अनुष्ठेय विधि

इस प्रसंग में सभी लोग नवीन वस्त्र धारण करके, सूर्योपस्थान करके, गार्हपत्याग्नि को साथ लेकर ''आ महीयवं'' इत्यादि सामगान करते हैं।

'यागक्षेत्रप्रयाण-क्रम

इसके पश्चात् यजमान का अनुसरण करते हुए, सभी ऋत्विक् यागभूमि के लिए प्रयाण करेंगे। इस कार्य में उन्नेता सबसे आगे रहेगा।

पृष्ठदर्शन-निषेध

इस सम्पूर्ण कार्यक्रम में नदीतट से लौटते समय, सभी ऋत्विक् मार्ग में घूम कर पीछे की ओर नहीं देखेंगे।

समिधादानादि कार्य

यागभूमि में लौटने के पश्चात् कतिपय समिधादान अनुष्ठेय है। यथा—१. यजमान के द्वारा आहवनीय अग्नि में समिधादान। २. अध्वर्यु द्वारा शालामुखी अग्नि में समिधादान। ३. शाखान्तरानुरोध से समस्त ऋत्विजों द्वारा गणक्रमानुसार आहवनीय अग्नि में समिधादान।

अश्वमेधदीक्षा की समाप्ति

अवभृथ इष्टि में विहित स्नान के बाद, सपत्नीक यजमान, अश्वमेध महायज्ञ के आरम्भ में गृहीत दीक्षा व्रत से उन्मुक्त हो जाता है।

अवशिष्ट कार्य के लिए शपथग्रहण

दीक्षाव्रत से उन्मुक्त होने के पश्चात्, अवशिष्ट कार्यों के सम्पादन के लिए, यजमान आहवनीय अग्नि के पृष्ठभाग में स्थित होकर व्रताचरण के लिए पुनः मन्त्रपूर्वक शपथ ग्रहण करता है। शपथ ग्रहण के पश्चात् अवशिष्ट कार्य सम्पादन का संकल्प किया जाता है, यथा—१. प्रणीताविमोक, २. कुशप्राशन-विमोक, ३. पूर्णपात्रनयन, ४. विष्णुक्रमव्रत-विसर्जन, ५. ब्राह्मणभोज।

।। इस प्रकार आश्वमेधिक तृतीय सुत्याह कर्म की समाप्ति होती है।।

अवभृथ इष्टि-स्नान की विशेषता

अश्वमेधयाजी सम्राट्, अश्वमेध महायज्ञ के सम्पूर्ण होने पर अवभृथ स्नान करके, जलाशय से बाहर आयेगा।[1] वहाँ पर ब्रह्महत्यादि महापापकर्ता[2] अपनी शुद्धि के लिए अश्वमेधावभृथेष्टि जल में प्रविष्ट होकर, डुबकी लगाकर सचैल स्नान करेंगे, तो वे स्नानकर्ता भी महापापनिवृत्ति के लिए अपेक्षित शिरःकपाली द्वादशाब्द[3] ब्रह्मचर्य धारण पूर्ण कृच्छ्राचरणादि प्रायश्चित्त न करके भी अवभृथ स्नान से ही शुद्ध होते हैं, और वे "अश्वमेधपूत"[4] कहे जाते हैं। अतः उनके साथ प्रायश्चित्तकारी के समान ही निःशंक व्यवहार किया जा सकता है।[5] एक शब्द

---

१. "उत्क्रान्ते यजमाने पापकृतोऽभ्यवयन्त्यचरित्वा व्रतानि"। (का०श्रौ०सू०, २०.८.१७)

२. पातकभेदा यथा—

पातकानि

पातक | महापातक | उपपातक | अतिपातक

तत्र महापातकानि यथा—(क) ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः तत्संसर्गी च पंचमः।।(म०स्मृ०, ११.५४)

३. शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म वेदयन्।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात्।। (म०स्मृ०, २.४३)
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्। (म०स्मृ०, ११.७८)

४. "अश्वमेधपूताख्यास्ते"। (का०श्रौ०सू०, २०.८.१८)

५. (क) यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।। (म०स्मृ, ११.७४)
(ख) यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः।
प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम्।।
निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवान् गुहः।
यष्ट्वा वा अश्वमेधेन क्षत्रियो यो महीपतिः।। (इति मन्वर्थमुक्तावली)
(ग) शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते।। (म०स्मृ०११.८२)

में अवभृथ स्नान सामाजिक एकता स्थापन का मान्यताप्राप्त व्यावहारिक रूप है।

उदयनीयेष्टि

सुत्याह के अन्त में दूसरे दिन प्रात:काल उदयनीयेष्टि का अनुष्ठान होता है।[1] तदनन्तर अनुबन्ध्या का विधान है। अनुबन्ध्या अनुष्ठान पशुबन्ध प्रायश्चित्त रूप है।[2] शतपथब्राह्मणानुसार उदयनीय आहुति की समाप्ति पर एकविंशति वशा गौ[3] का आलम्भन करते हैं।[4]

अश्वमेध का अंगभूत अनुवन्ध्या-कर्मानुष्ठान

एकविंशति अनुबन्ध्या का आलम्भन होता है। यहाँ देवता मैत्रावरुण, वैश्वदेव, बार्हस्पत्य हैं। मैत्रावरुण के लिए एकादशकपाल है। विश्वेदेवों के लिए द्वादशकपाल है। बृहस्पति के लिए अष्टाकपाल है। प्रत्येक देवता के लिए सात-सात पशुओं का विधान है। अन्य सभी अनुष्ठान पशुगणनानुसार होते हैं। पूर्वोक्त

---

१. **अथ उदयनीयेष्टि:**। आदित्येन चरुणोदयनीयेन प्रचरति। स यदमुत्र राजानं उपप्रैष्यन् यजते तस्मात् तत् प्रायणीयं नाम। अथ यदत्रावभृथमेत्य यजते, तस्मादेतदुदयनीयं नाम। तद्वा एतत् समानमेव हवि: आदित्या एव प्रायणीमहित्या उदयनीयम्। सर्वै: पश्यामेवाग्रे स्वस्ति यजति। अथात्र प्रज्ञाते यथा पूर्व करोति। साग्निमेव प्रथमं यजति, अथ सोमम्, अथ सवितारम्, अथ पथ्यां स्वस्तिम्। (पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृत छन्दोऽभ्यस्ता, पृ० ७६)

२. अनुवन्ध्या पशुबन्धप्रायश्चित्तरूप:। अथ मैत्रं वरुणं वशामनुवन्ध्यामलभते स एषोऽन्य एव यज्ञास्तायते पशुबन्ध एव समष्टि यजूंषि ह्येवान्तो यज्ञस्य यदि वशां न विन्देद् अप्युक्षवश एव स्यात्। स य: सहस्रं वा भूयो वा दद्यात् स एता: सर्वा आलभेत मैत्रावरुणमेवाग्रे, अथ वैश्वदेवीम्, अथ बार्हस्पत्यान्। अथो ये दीर्घसत्रमासीरन् संवत्सरं वा भूयो वा त एता: सर्वा आलभेरन्। (मधुसूदनविद्यावाचस्पतिकृत छन्दोऽभ्यस्ता, पृ० ७६)

३. यद्यपि वशाशब्दोऽयम् अनेकार्थक:, तथा हि—
(क) वशा वन्ध्यासुतायोषास्त्रीगवीकरिणीषु च। (विश्व० ६७.७२)
(ख) वशा स्त्रीकरिणी च स्यात्। (अमर० ३.३.२१७)
(ग) वशा वन्ध्याऽवतोका तु स्रवद्गर्भाऽथ संधिनी।
आक्रान्ता वृषभेणाऽथ बृहद्गर्भोपघातिनी।।
काल्योपसर्याप्रजने प्रष्ठौही बालगर्भिणी।
स्याच्चण्डी तु सुकरा बहुसूति: परेष्टुका।। इति। (अमर० २.९.६९-७०)
(घ) वशो जनस्पृहायत्ते स्वायघ्नत्वप्रभुत्वयो: वशा नार्या वन्ध्यगव्यां हस्तिन्यां दुहितर्यपि। इति हैम: (२.५६६)
(ङ) तत्रभवान् आचार्यपाणिनिरपि समानाधिकरणसमासप्रसंग उपचचार—''पोटा-युवति-स्तोक-कतिपयगृष्टिधेनुवशाबृहद्वस्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकभूतै: जाति:।'' (काशिका, श्रीनारायणमिश्रसम्पादिता टीका)।

४. द्र०, श०ब्रा०, १३.५.४.२५।

पशुबन्धप्रायश्चित्तात्मक अनुवध्या नामक इष्टि अनुष्ठान के पश्चात् उदवसानीय इष्टि अनुष्ठेय है। इस उदवसानीय इष्टि में "इन्द्राविष्णू" यह द्वन्द्व देवता प्रधान है, अर्थात् इन्द्राविष्णुदेवताक उदवसानीय इष्टि होती है। इस उदवसानीय इष्टि में धान्य और यव प्रधान द्रव्य है। इस इष्टि का नामान्तर है—त्रैधातवी।[१]

उदवसानीय इष्टि की सामान्य दक्षिणा

इसको त्रैधातवी इष्टि भी कहते हैं। इसमें ऐन्द्रावैष्णव के लिए द्वादशकपाल होता है। इस इष्टि के अन्त में सामान्य दक्षिणा दान का विधान है। यथा—१. ब्रह्मा के लिए तीन हिरण्यशतमान दक्षिणा। २. होता के लिए तीन गाय, ३. आग्नीध्र के लिए तीन गाय, ४. अध्वर्यु के लिए तीन वस्त्र।

विशेष दान-विधि

इस त्रैधातवी अथवा उदवसानीय इष्टि के पश्चात् राजा की चारों पत्नियों की अनुचरियों का चार प्रधान ऋत्विजों को दान दिया जाता है।[२]

पत्नी-दान का निषेध

यद्यपि कुत्रचिद् यह उल्लिखित है कि अश्वमेधयज्ञ में स्वीकृत यजमान की चार पत्नियों में अन्तिम "पालागली" नामक चतुर्थ परिणीता दूतपुत्री का अध्वर्यु को दान करना चाहिये तथा "**अस्याः इष्टेः समाप्त्यनन्तरं दानविधिर्भवति। यः श्रुतिक्रमानुसारेण अध्वर्यवे पालागली दीयते**"। ऐसा कुत्रचिद् उल्लेख पाया जाता है, किन्तु यह वेदविरुद्ध है।[३] शतपथब्राह्मण में भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है;[४] परन्तु श्रौतयज्ञों के समन्वय से वह सिद्धान्तमत प्रतीत नहीं होता; किन्तु चारों पत्नियों की अनुचरियों का दान ही स्पष्ट है।[५] इसके पश्चात् वीणागानानन्तर मैत्रावरुणीपयस्या का अनुष्ठान सायंकालिक होम सम्पन्न करके, अश्वमेधयज्ञशाला के समस्त द्रव्यों का अध्वर्यु को दान करके, सपरिवार यजमान अरणि को अपने साथ लेकर ऋत्विजों के साथ अपने घर लौटता है।

प्राकृत-अग्निहोत्रशाला में अग्निस्थापन

इसके अनन्तर स्मार्ताग्नि में पञ्चभू-संस्कारों को करके स्मार्ताग्निस्थापना

१. "एकविंशतिरनुवन्ध्याः। सप्त मैत्रावरुण्यः, सप्त वैश्वदेव्यः...। उदवसानीया त्रैधातवी।" (का०श्रौ०सू०, २०.८.२३)

२. का०श्रौ०सू०, २०.८.२४-२६;

३. का०श्रौ०सू०, २०.८.२५-२७।

४. श०ब्रा० १३.५.४.२७;

५. का०श्रौ०सू०, २८.८.२५-२७।

करता है। ततः गार्हपत्यापतन में पञ्चभू-संस्कारों[१] को करके गार्हपत्याग्नि की स्थापना करता है। इससे यजमान का कल्याण होता है। ततः सभी ब्राह्मणों की पूजा करके, विप्रों से आशीर्वाद लेकर सभी ब्राह्मणों को यजमान नमस्कार करता है। यज्ञादि विहित कर्म के आरम्भ में अपेक्षित भूमि का पाँच प्रकार से शोधन किया जाता है। यथा—१. परिसमूहन, २. उपलेपन, ३. रेखाकरण, ४. पांशूद्धरण, ५. जलकरणाभ्युक्षण। इसे पंचभू संस्कार कहते हैं। अश्वमेध अनुष्ठान पूर्ण होने पर यजमान अपने घर में अग्निमंथन के द्वारा अग्निहोत्र सम्पन्न करके पूर्ववत् सम्पूर्ण कर्म का आचरण करता है।

अश्वमेधयाग की पूर्णता में संवत्सर आवधिकानुष्ठान

इस प्रकार बारह दिन पर्यन्त अग्निदेवताक अष्टाकपालपुरोडशेष्टि विहित है। प्रत्येक ऋतु में छः पशुयाग भी विहित हैं, जिनको कि एक साथ सम्पादित किया जाएगा। यथा[२]—

१. वसन्त ऋतु में छः आग्नेय पशुयाजन।
२. ग्रीष्म ऋतु में छः ऐन्द्र पशुयाजन।
३. वर्षा ऋतु में छः पर्जन्य पशुयाजन।
४. शरद् ऋतु में छः मैत्रावरुण पशुयाजन।
५. हेमन्त ऋतु में छः ऐन्द्रावरुण पशुयाजन।
६. शिशिर ऋतु में छः ऐन्द्राबार्हस्पत्य पशुयाजन।

उपर्युक्त समस्त पशुयाजनों का सम्पादन एकादशी धर्मानुसार कर्तव्य है। इस प्रकार अश्वमेध के अनुष्ठान के बाद सम्पूर्ण वर्षपर्यन्त उक्त विधियों का अनुष्ठान होगा। इस प्रकार दिनत्रयात्मक अनुष्ठान विधि के अन्तर्गत, सुत्याहत्रययुक्त एवं प्रति सुत्याह, सवनत्रय से युक्त होकर, अश्वमेध महायज्ञ सम्पन्न होता है। (द्र० पृ० ४३१, तालिका संख्या-२३)

---

१. **पंचभूसंस्कारमिति**। तदुक्तं कात्यायने-तत्र पूर्वमाहवनीयखरे पंचभूसंस्काराः कर्तव्याः, तद्यथा—
(क) दर्भैःखरं प्राक्संस्थं वा त्रिः परिसमूह्यः।
(ख) गोमयेन त्रिः उपलिप्य।
(ग) स्फ्येन प्रागायता उदक्संस्था उदगायता प्राक्संस्था वा तिस्रो लेखाः खरः प्रमाणाः कृत्वा।
(घ) अनामिकाङ्गुष्ठेन ताभ्यो रेखाभ्यः पाशूंरुद्धृत्य।
(ङ) अद्भिः त्रिः अभ्युक्षेत्। (का०श्रौ०सू०, ४.१२.१०)

२. (क) "प्रत्यृतु पशूनालभते षट् षड् वसन्ताद्याग्नेयानैन्द्रान्।
पर्जन्यान्मरुतान्वा मैत्रावरुणानैन्द्रावैष्णवानैन्द्राबार्हस्पत्यान्"।।(का०श्रौ०सू०, २०.८.३०)
(ख) अथोत्तरं संवत्सरमृतुपशुभिर्यजते। षड्भिराग्नेयैर्वसन्ते षडभिरैन्द्रैर्ग्रीष्मे। षड्भिः षड्भिः पार्जन्यैर्वा मरुतैर्वा वर्षासु, षड्भिर्मैत्रावरुणैः शरदि। षड्भिरैन्द्रावैष्णवैः हेमन्ते, षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यैः शिशिरे। षट्त्रिंशदेते पशवो भवन्ति। (छन्दोऽभ्यस्ता)

तालिका संख्या- २३

अश्वमेध महायाग

(दिनत्रयात्मक अनुष्ठान विधि)

- प्रथम सुत्याह (प्रथम सुत्याह)
  - अग्निष्टोमसंस्थाक
    - १ प्रात:सवन
    - २ मध्यन्दिन सवन
    - ३ तृतीय सवन
- द्वितीय सुत्याह (मध्यन्दिन)
  - उक्थ्यसंस्थाक
    - १ प्रात:सवन
    - २ माध्यन्दिन सवन
    - ३ तृतीय सवन
- तृतीय सुत्याह (अन्तिम दिन)
  - अतिरात्रसंस्थाक
    - १ प्रात:सवन
    - २ माध्यन्दिन सवन
    - ३ तृतीय सवन

दशम परिच्छेद

अश्वमेधब्राह्मणाध्याय

ब्राह्मणों का साहित्य और अश्वमेध

ब्राह्मण अतीत युग से संरक्षित निधि हैं, जो वैदिक युग के क्रिया-कलापों का एक भव्य चित्र धर्ममीमांसक के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं। वह है धार्मिक दृष्टि से उपादेय, संग्रहणीय और मननीय। भारतीय धर्म के इतिहास में श्रौत-विधानों का एक विचित्र युग ही था। उस युग को अपने पूर्व सौन्दर्य तथा सौष्ठव के साथ आज भी उपस्थित करने का श्रेय इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों को है। ब्राह्मणों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उस समय यज्ञ-याग के अनुष्ठानों के विषय को लेकर विद्वानों में बड़ा शास्त्रार्थ होता था, तथा ''मीमांसा'' जैसे शास्त्र की उत्पत्ति उस युग में हो गयी थी, जिससे तर्कपद्धति के अनुसार यज्ञीय विषयों का विमर्श होता था। ब्राह्मणों में यज्ञीय विषयों के मीमांसक विद्वानों को 'ब्रह्मवादी' संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों का गाढ़ अनुशीलन अनेक सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है—

(क) यज्ञों के नानारूपों तथा विविध अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय देता है।

(ख) हम उन निर्वचनों का परिचय पाते हैं, जो निरुक्त की निरुक्तियों के मौलिक आधार हैं।

(ग) उन सुन्दर आख्यानों का मूल रूप हमें यहाँ मिलता है, जिनका विकास अवान्तरकालीन पुराणों में विशेषतः दृष्टिगोचर होता है।

(घ) ''कर्म-मीमांसा'' के उत्थान तथा आरम्भ का रूप जानने के लिए ब्राह्मण पूर्वपीठिका का काम करते हैं। ब्राह्मणों के अध्ययन से हम विविध शास्त्रों के उदय की कथा जान सकते हैं, और स्वयं देख सकते हैं कि यज्ञ की आवश्यकता पूर्ति के लिए उत्पन्न होने वाले ये शास्त्र सार्वभौम क्षेत्र में पदार्पण कर अपना विकास सम्पन्न करते हैं।[१]

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, आ० बलदेव उपाध्याय।

ब्राह्मण साहित्य की विलक्षणता

''**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**''[१] इस आर्ष सिद्धान्तानुसार वेद का स्वरूप स्पष्ट है। यद्यपि कतिपय विद्वान् ब्राह्मणभाग को वेद नहीं मानते; परन्तु प्राचीन शिष्ट परम्परा में इस विवाद का कोई स्थान नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना गया है—''**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**''। मीमांसा और न्यायशास्त्र में जो वेद के विषय विभाग किये गये हैं—विधि, अर्थवाद, अनुवाद आदि, वे सभी मुख्यतया ब्राह्मण में ही घटित होते हैं।

व्याकरण के मुख्य आचार्य भगवान् पाणिनि ने भी ''**छन्दसि**'' पद से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण किया है। अर्थात् उन्होंने ''छन्दसि'' कहकर व्याकरण के जिन-जिन प्रत्यय आदेश स्वर आदि का विधान किया है, वे मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में पाये जाते हैं। जो कार्य केवल मन्त्रभाग में ही इष्ट थे, उनके लिए सूत्रों में ''**मन्त्रे**'' पद दिया है। केवल ब्राह्मण में होने वाले व्याकरण कार्यों के लिए ''**ब्राह्मणे**'' पद उनके सूत्रों में आता है। इससे ''छन्द'' पद से दोनों का ग्रहण स्पष्ट है। धर्मशास्त्र के प्रवक्ता आचार्य मनु के अनुसार—

''उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः।।[२]

इत्यादि वचनों में ब्राह्मण वाक्यों को ''**वैदिकी श्रुति**'' नाम से कहा गया है। इन सब वचनों को देखने से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे जाते थे। इसके अतिरिक्त वर्तमान मन्त्र-ब्राह्मणात्मक ग्रन्थों के पर्यालोचन से भी दोनों का ही वेदत्व सिद्ध होता है; क्योंकि संहिताओं में विशेष कर शुक्लयजुर्वेद-संहिता में जो मन्त्रों का क्रम है, वह ब्राह्मण के अनुसार ही उपपन्न हो सकता है।

प्रथम मन्त्र के अनन्तर दूसरा मन्त्र क्यों आया, दूसरे के अनन्तर तीसरा क्यों आया—यह उपपत्ति शतपथ-ब्राह्मणानुसार सिद्ध होती है। अन्यथा, इस क्रम

१. (क) आपस्तम्ब परिभाषा-१.३३; (ख) बोधायन गृह्यसूत्र, २.६.३; (ग) बोधायन धर्मसूत्र, २.९.७; (घ) आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र, २४.१.३१; (ङ) सत्याषाढ़-श्रौतसूत्र, १.१.७; (च) कात्यायन-परिशिष्टप्रतिज्ञासूत्र-२; (छ) ''ऋग्वेदीयमन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः'' ऋग्वेदीयकौशिक गृह्यसूत्र, ३.१२.२३। (ज) ''आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च'' अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र; (झ) ''मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः'' षड्गुरुशिष्य; (ञ) ''मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु'' शुक्रनीति ४.२७१ द्र० वेदस्वरूपविमर्शः।

२. द्र०, म०स्मृ०, २.१५।

का कोई बीज प्राप्त नहीं हो सकता और कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता में सम्प्रति भी मन्त्र और ब्राह्मण का सम्मिलित रूप ही उपलब्ध है। अत: इनको पृथक् ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। आधुनिक विद्वानों के अनुसार ब्राह्मण भाग में अनेकत्र मन्त्रों का व्याख्यान मिलता है, इसलिए वेद शब्द से केवल मन्त्र भाग को ही लेना उचित है, और ब्राह्मण तो उनके लिए एक प्रकार के भाष्य हैं। इसलिए उन्हें वेद नहीं कहना चाहिए। विचार करने पर यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि व्याकरण के भाष्यकार श्रीपतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य में यह विचार उठाया है कि व्याकरण किसे कहते हैं? मात्र सूत्रों को या व्याख्यासहित सूत्रों को। इसका निर्णय यही किया गया है, कि व्याख्यासहित सूत्रों को ही व्याकरण कहते हैं।[1]

इसी न्याय से ब्राह्मणात्मक व्याख्यासहित मन्त्रों की कोई आपत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण केवल व्याख्यारूप ही तो नहीं हैं। यज्ञादि कर्मों की विधि, उनकी अवान्तर इतिकर्तव्यता और स्तुति आदि सब स्वतन्त्र रूप से वर्णित है। यज्ञ की इतिकर्तव्यता का संकेत मन्त्रभाग में भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अनेक मन्त्रों में देवताओं का सम्बोधन करके निवेदन किया गया है।[2] विना यज्ञ के उसे स्वीकार कराने का अन्य उपाय सम्भव नहीं है। उस यज्ञ की पूर्ण विधि तो ब्राह्मणों में ही प्राप्त होती है। केवल मन्त्रभाग के आधार पर तो कोई भी यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता। विना यज्ञ के इन मन्त्रों की अर्थसंगति भी असम्भव है। वेद को समस्त ज्ञान-विज्ञानों की निधि बताया गया है—यह भी ब्राह्मणों के सावधान पर्यालोचन से ही सार्थक होती है। ब्राह्मणों के मनन से ही सब प्रकार के विज्ञान भी प्रस्फुट होते हैं। अत: शिष्ट सम्प्रदाय में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद पद से गृहीत हैं।[3]

सम्प्रति सभी वेदों के मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग पृथक्-पृथक् उपलब्ध हैं, केवल कृष्णयजुर्वेद में मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का सम्मिश्रण है, इसलिए यह "कृष्ण" कहा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से मैथिल पण्डित महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा आविष्कृत यजुर्वेद मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग पृथक्-पृथक् स्पष्ट होने के कारण उसे "शुक्लयजुर्वेद" कहा जाता है एवं मन्त्र, ब्राह्मण भिन्न होने के

१. द्र०, पस्पशाह्निक, व्याकरणशब्दार्थ अधिकरण।

२. (क) "अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वत: परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छति।" (ऋ०वे०, १.१.४)
(ख) "वायवायाहि दर्शते मे सोमा अरंकृता: तेषां पाहि श्रधीध्वम्।" (ऋ०वे०, १.२.१)

३. द्र०, पं०गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी कृत, "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति" पृ० ७०-७२।

कारण, उक्त यजुर्वेद से सर्वथा विपरीत होने से शुक्ल पद का प्रतिद्वन्द्वितया कृष्ण शब्द से व्यपदेश किया जाता है।

यजुर्वेद

शुक्ल (पृथक्-पृथक् मन्त्रब्राह्मणात्मक) | कृष्ण (मिश्रित मन्त्रब्राह्मणात्मक)

सम्प्रति शुक्लयजुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचलित है। अत: सर्वादौ शुक्लयजुर्वेदीय ब्राह्मणानुसार प्रकृत विषय पर दृष्टिपात प्रस्तुत है—

यजुर्वेद अर्थात् **अध्वर्युवेद**

यत: श्रौतयाग में अपेक्षित आध्वर्यव कृत्य को स्ववेदान्तर्गत स्वशाखीय अथवा स्ववेदान्तर्गत स्वशाखाध्ययनानन्तर समस्त यजुर्वेदाध्यायी ही सम्पन्न करता है, अत: इसे अध्वर्युवेद भी कहते हैं। आचार्य पतञ्जलि के शब्दों में— "**एकशतमध्वर्युशाखाः**"[१] के अनुसार यजुर्वेद की १०१ शाखायें हैं। यह संख्या शुक्लयजुर्वेद एवं कृष्णयजुर्वेद की सम्मिलित रूप है। इनमें कितनी शाखायें शुक्लयजुर्वेद की हैं और कितनी कृष्णयजुर्वेद की—यह स्पष्ट नहीं है; परन्तु मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों की गणना में शुक्लयजुर्वेद की १९ एवं कृष्णयजुर्वेद की ३२ उपनिषदों का उल्लेख है, इनकी सम्मिलित संख्या ५१ है।[२] पूर्वोक्त महाभाष्य प्रामाण्य के अनुसार यजुर्वेद की १०१ शाखा होने से प्रत्येक शाखा का ब्राह्मण भी पृथक्-पृथक् होना चाहिए; परन्तु खेद की बात यह है कि वर्तमान विद्वत् समाज इस विशाल वाङ्मय की सम्पूर्णता से वंचित है।

उपलब्ध शुक्लयजुर्वेद

सम्प्रति शुक्लयजुर्वेद की मात्र दो शाखायें उपलब्ध हैं—

१. माध्यन्दिन शाखा, २. काण्व शाखा। दोनों के ब्राह्मण भी पृथक्-पृथक् हैं, जिसका नाम शतपथ-ब्राह्मण है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए पृथक् नाम से व्यक्त किया जाता है— १. माध्यन्दिनशाखीय शतपथ-ब्राह्मण। २. काण्वशाखीय शतपथ-ब्राह्मण।

---

१. द्र०, महाभाष्य पस्पशाह्निक।

२. द्र०, उपनिषत्संग्रहे मुक्तिकोपनिषत्, पृ०६५९।

माध्यन्दिनशाखीय त्रयोदशकाण्डान्तर्गत अश्वमेध महायज्ञ का विवेचन

अश्वमेधनामक त्रयोदश काण्ड की रूपरेखा

अध्याय–१ : अश्वमेधनिरूपणम्

१. ब्रह्मौदनपाकः, २. अश्वस्य बन्धनप्रोक्षणादिः, ३. सहस्रमाहुतयः, ४. सावित्र्य इष्टयः, ५. गाथागानम्, ६. अश्वकर्णेजपः, ७. धृतिहोमः, ८. औदग्रभणहोमः, ९. वैश्वदेवहोमः, १०. अध्वर्युकर्तृकजापः।

अध्याय– २ : अश्वमेधनिरूपणम्

१. आज्यसक्तुधानालाजहोमः, २. पर्यङ्गपशुनिरूपणम्, ३. उद्गात्रन्वारम्भः, ४. ग्राम्यपश्वालम्भः, ५. अरण्यपशूनामुत्सर्गश्च, ६. पश्वेकादशिनी, ७. अश्वस्य नियोजनाज्जलमणिबन्धनादि, ८. अश्वस्य प्रोक्षणादिः, ९. मृतस्याश्वस्य परिक्रमणादिः, १०. संवादः, ११. अश्वशरीरे सूचीभिर्वितोदः, १२. परिपशव्याहुतिः।

अध्याय– ३ : अश्वमेधनिरूपणम्

१. अश्वस्यावदानम्, २. वपाप्रचारः, ३. यूपैकविंशतिः, ४. अश्वस्य लोहितश्रपणादिः, ५. अश्वमेधेनापमृत्युनिरासः, ६. अवस्तोमीयहोमः, ७. अश्वमेधमहिमा, ८. अश्वमेधप्रायश्चित्तम् ।

अध्याय–४ : अश्वमेधनिरूपणम्

१. अश्वमेधारम्भकालादिः, २. सावित्र्य इष्टयः, ३. पारिप्लवाशंसनादि-निरूपणम्, ४. सावित्र्य इष्टयः, ५. यूपकाष्ठादिः।

अध्याय–५ : अश्वमेधनिरूपणम्

१. सवनीयपशवः, २. संवादः, ३. वपाहोमः, ४. प्रत्यृतुपश्वालम्भः।

माध्यन्दिनशाखीय शतपथब्राह्मणानुसार अश्वमेधविवेचन

ब्रह्मौदनपाक[१]

शतपथब्राह्मणानुसार ब्रह्मौदन पाक के द्वारा शरीर में बलवीर्य का आधानं होता है एवं इससे अवशिष्ट घृत का रज्जु में लेपन किया जाता है। उसी घृतमिश्रित रज्जु से अश्वबन्धन सम्पन्न होता है। यह रज्जु दर्भमयी होती है। दर्भ पवित्र

१. ''ब्रह्मौदनं पचति, रेत एव तद् धत्ते''। (श०ब्रा० १३.१.११)

है। अश्व स्वतः अमेध्य अर्थात् अपवित्र है, उसे मेध्य अर्थात् पवित्र दर्भमयी[१] रज्जु सम्पर्क से पवित्र किया जाता है। प्रसंगतः यह भी ध्यातव्य है कि ब्रह्मौदनादि समस्त कृत्य में स्वर्ण दक्षिणा का विधान है। इसमें ध्यातव्य यह है कि ब्रह्मौदन को वीर्यधारक कहा गया है, अर्थात् ब्रह्मौदन वीर्यवर्द्धक है। वीर्य को वेद में शुक्र-तेज-अमृत नाम से कहा गया है। यथा—''**तेजोऽसि शुक्रमसि अमृतमसि धामनामासि**''। वर्तमान विज्ञान के चिकित्सा विज्ञानान्तर्गत (Pathology) प्रयोग परीक्षा के अनुसार मनुष्य के वीर्य में सुवर्ण का अंश है। यह तथ्य पूर्व निरूपित है कि अश्वमेध महायज्ञ जन्म प्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण, सम्पूर्ण भारतवर्ष (संघ नहीं) की एकता एवं अखण्डता के पालन एवं रक्षा में समर्थ है। आर्य सन्तति की जन्म परम्परा को कुलक्रम से सिद्ध करने के लिए अनुष्ठित किया जाता था, अतएव उसमें उत्कृष्ट बलवीर्यधारक ब्रह्मौदनादि का सेवन एवं तत्प्रसंग में सुवर्ण की दक्षिणा का कार्यकारण-भाव गवेषणीय है।

अश्व का बन्धन प्रोक्षण

यजुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य यज्ञ है। शब्दान्तर में यज्ञ में यजुष् तत्त्व प्रधान है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से आध्वर्यव कृत्य यज्ञमात्र में सर्वातिशायी है। प्रकृत अश्वमेध महायज्ञ के सन्दर्भ में तो सम्राट् का समस्त अधिकार ही निहित रहता है।

यज्ञ जहाँ वैदिक कर्मकाण्ड विशेष है, वहीं एक प्राकृतिक उपलब्धिपूर्ण परिवर्तन प्रक्रिया विशेष है। यह स्थिति ऋक् और साम के विषय में भी समझनी चाहिए। पदार्थ मात्र में ऋक्, यजु, साम—ये तीनों प्राकृतिक प्रक्रिया सर्वथा सर्वदा वर्तमान है। इसलिए ''**सर्वं वेदात्मकं जगत्**'', ''**सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति**'' इत्यादि प्रामाणिक वाक्य सुप्रसिद्ध हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के शब्दों में ''ऋक्'' और ''साम'' केवल मर्यादाविधायक हैं। अतः इन्हें छन्द कहा जाता है। छन्द अर्थात् पद्यबद्ध, यह पद्यबद्धता ही मर्यादा है और ''यजुः'' वैदिक भाषा में गद्य है। ''यजुः'' या ''अग्नि'' का वाहन ''ऋक्'' या ''साम'' ही है। यज्ञ में प्राकृतिक विज्ञान रूप पर्यावरण स्वरूप का विवेचन करने पर अग्निरूपी यजु की आगमन एवं गमन प्रक्रिया ही ऋक् और साम है। मूल तत्त्व अग्नि या यजु ही है। इस प्रकार यजु ही यज्ञ में प्रधान है। अतः विना यजु का यज्ञ असफल होता है।[२] यज्ञ की सफलता हेतु, यजु सम्पन्न करने के लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक अश्वाभिधानी रसना को धारण करता है।[३] इस यजुर्वेदीय मन्त्र

---

१. ''दर्भमयी रसना भवति, पवित्रं वै दर्भाः''। (श०ब्रा० १३.१.१.२)।

२. ''यदयजुष्केण क्रियते'' (श०ब्रा०, १३.१.२.१)।

३. ''इमामगृभ्णन् रसनामृतस्य'' (य०वे०, २२.२)।

से ही अश्व का बन्धन होता है। यह रसना त्रयोदशहस्त परिमित होती है। चूँकि अश्वमेधयज्ञ वर्षव्यापी एक विशाल परियोजना है, अतः वर्षघटक १२ मासों के प्रतिनिधित्व पक्ष में अश्वाभिधानी रसना १२ हाथ ही होगी। पक्षान्तर में अश्वमेधयजनकाल समस्त ऋतुओं में जिस प्रकार श्रेष्ठ है, उसी प्रकार अश्वमेधयज्ञ भी समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ है। एक वर्ष से प्रायः पक्षात्मक अधिक कालसाध्य है। तत्प्रतिनिधिरूपतया पूर्वोक्त रसना अरत्निपरिमिता भी मान्य है[१]।

यजुर्मन्त्रों के प्राधान्य के विभिन्न उदाहरण

रसनाग्रहण के अतिरिक्त अनेक कार्यों में यजुर्मन्त्रों का विधान होने से यज्ञों में यजुःप्राधान्य स्पष्ट है। यथा—

१. "**अभिधाऽअभुवनमसि यन्तासि धर्ता, स त्वमग्निं वैश्वानरं सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः**" इस मन्त्र से रज्जु का अश्वग्रीवा में प्रक्षेप होता है।[२]

२. "**स्वगा त्वा देवेभ्यः**" मन्त्र से उसका देवों के लिए स्वागत कराता है।[३]

३. "**प्रजापतये**" इस मन्त्र से देवता के द्वारा समृद्ध कराता है।[४]

४. "**प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**" मन्त्र से अश्व को अन्य पशुओं से प्रबल बनाया जाता है।[५]

५. "**इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**" मन्त्र से अश्व को अन्य पशुओं से ओजस्वी बनाया जाता है।[६]

६. "**वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**" मन्त्र से अश्व में आशिष्ट गुण का स्थापन किया जाता है।[७]

७. "**विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि**" इस मन्त्र से अश्व में यशस्वी स्वरूप का स्थापन किया जाता है।[८]

८. "**सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि**" मन्त्र से सभी देवताओं के लिए अश्व को अर्पित किया जाता है।[९]

---

१. द्र०, श०ब्रा०, १३.१.२.१-२;
२. द्र०, य०वे०, २२.३।
३. तत्रैव, २२.४;
४. तत्रैव, २२.४;
५. तत्रैव, २२.५;
६. तत्रैव, २२.५;
७. तत्रैव, २२.५;
८. तत्रैव, २२.५;
९. तत्रैव, २२.५।

सहस्राहुति का विवेचन

वेद में शत-सहस्र शब्द अनेक अर्थ में प्रयुक्त हैं। प्रकृत प्रसंग में सहस्राहुति का अर्थ है—अनेक आहुतियाँ। सहस्राहुति स्वर्गप्राप्ति के लिए होता है—आर्षविज्ञान के कार्यकारण भाव से जीव का आवागमन भी आकर्षण विज्ञान के अनुसार होता है। स्थूल पार्थिव शरीर से मुक्त आत्मा, भौतिक-विज्ञान सम्मत अध: आकर्षण से रहित हो जाता है। रहित होने के कारण जीवनगति की परिभाषानुसार भारशून्य हो जाता है। अत: वह पतित नहीं होता, जिससे उसकी ऊर्ध्व गति होती है। इस क्रमिक प्रक्रिया में यज्ञ में प्रदत्त आहुति से उत्पन्न अग्निमार्ग से देवयान का सम्बन्ध होता है। भगवान् मनु के अनुसार— ''**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठति**''।[१] इसलिए शतपथब्राह्मण में भी सहस्राहुति को स्वर्ग साधन कहा गया है। जीवनकाल में अनुष्ठित ऐसे समस्त विधियों का संस्कार जीवात्मा में नित्य सम्बन्ध से रहता है एवं प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त पांचभौतिक शरीर त्याग के पश्चात् वह कार्य करता है। इसी को मीमांसक की भाषा में **अपूर्व** कहा जाता है। ''**कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन जायमानः**'' एवं ''**अन्यथासिद्धिशून्यकारणता**'' न रहने से ''**कालान्तर**''[२] में स्वर्गभोग के प्रति सम्प्रति किये गये यज्ञ आदि कारण नहीं बन सकते, अन्यथा ईश्वरवादी दर्शन के दृष्टिकोण से ईश्वर ही तत्तत् कर्मों का फल प्रदान करता है। सहस्राहुति में भी उपर्युक्त दृष्टिकोण की उपलब्धि स्पष्ट है।

सहस्राहुति का प्रकार

सहस्राहुति का विधान यजुर्वेद में स्पष्ट है। इसमें निम्नलिखित आहुतियाँ विहित हैं[३]—१. आग्नये स्वाहा, २. सोमाय स्वाहा, ३. अपां मोदाय स्वाहा, ४. सवित्रे स्वाहा, ५. वायवे स्वाहा, ६. विष्णवे स्वाहा, ७. इन्द्राय स्वाहा, ८. बृहस्पतये स्वाहा, ९. मित्राय स्वाहा, १०. वरुणाय स्वाहा। यजुर्वेद में अन्य आहुतियों का भी विधान है।[४] यहाँ ४९ आहुतियों का विधान है। इसके अतिरिक्त जगती छन्द के अनुसार ४८ आहुति एवं एक अतिरिक्त आहुति मिलाकर ४९ आहुतियों का विधान है।[५] इसी प्रकार एक हजार तक, उस

---

१. म०स्मृ०।

२. तदुक्तं पुष्पदन्ताचार्यैः—''क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।''

३. द्र०, य०वे०, २२.६।

४. तत्रैव, २२.७-८।

५. श०ब्रा०, १३.१.३।

समय तक, जब घोड़े के शरीर से बूँदें गिरनी बन्द हों, बराबर आहुतियाँ दी जाती हैं।

सावित्री इष्टि एवं गाथागान

सहस्राहुति के पश्चात् सावित्री इष्टि का विधान है। इसमें तीन सावित्री इष्टियों का विधान है। ततः गाथागान का कार्यक्रम होता है। शतपथब्राह्मणानुसार जो अश्वमेध करता है, उससे श्री और राष्ट्र निकल जाता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि अश्वमेध महायज्ञ के अनुष्ठाता सम्राट् का समस्त अधिकार वर्षव्यापी यज्ञ काल में संकल्प लेने के पश्चात् हस्तान्तरित होकर अध्वर्यु में सन्निहित हो जाता है एवं दिग्विजय द्वारा प्राप्त द्रव्य भी ऋत्विजों के पास चला जाता है। यजमान सम्राट् की चारों पत्नियों की अनुचरियाँ भी ऋत्विजों को दे दी जाती हैं। इस प्रकार अर्थ का विकेन्द्रीकरण एवं राष्ट्र के प्रति अनासक्तिपूर्वक सेवाभाव इसमें विहित है; परन्तु इस समस्त प्रक्रिया में सम्राट् का मनोबल गिरना नहीं चाहिए, अतः वीणावादकों के द्वारा प्रस्तुत गाथागानों से सम्राट् के विशाल व्यक्तित्व का उपस्थापन किया जाता है।

अश्व-कर्ण में जप एवं धृति-होम

उपर्युक्त कार्यक्रम के विषय में आचार्य कात्यायन का कथन है— "**अध्वर्युयजमानौ दक्षिणेऽश्वकर्णे जपतो विभुर्मात्रेऽपि**"[2]। पूर्व में कथित है कि तीन सावित्री इष्टियाँ होती हैं। इनमें अन्तिम तृतीय सावित्री इष्टि की समाप्ति के पश्चात् अध्वर्यु एवं यजमान अश्व के दक्षिण कर्ण में एक मन्त्र का जाप करते हैं।[3] इसमें अश्व के विभिन्न नामों के द्वारा पशुशास्त्रीय दृष्टिकोणानुसार उसका अध्ययन किया गया है यथा विभूर्मात्र प्रभूर्पित्रा में वैदिक प्रक्रियानुकूल पंचम्यर्थ में तृतीया है।[4] इस प्रकार यहाँ पर माता से विभूति या सन्तानयुक्त एवं पिता से प्रभुत्व या प्रभावशालिता अर्थ है। अवश्य ही यह पशुशास्त्रीय

---

१. "अप वा एतस्मात्। श्रीं राष्ट्रं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति। (श०ब्रा०, १३.१.५.१)

२. द्र०, का०श्रौ०सू०, २०.२.२८।

३. "विभूर्मात्रा प्रभूर्पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषसि नृम्णा असि। ययुर्नामासि शिशुंर्नामास्यादित्यानां त्वान्विहि। देवा आशापाला एवं देवेऽन्योऽश्वे मेधाय प्रोक्षित रक्षत। इह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा"। (क) शु०य०वे०, २२.१९, (ख) कृ०य०वे०, ७.१.१२.१, (ग) ऋ०वे०, २.२४.१०।

४. द्र०, शु०य०वे०, मही० भाष्य।

दृष्टिकोण से पशु का, विशेषत: अश्व का आनुवंशिक गुण है। यहाँ अवश्य ही ध्यातव्य है कि माता-पिता शब्द शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार क्रमश: पृथ्वी और द्यौ का वाचक है। पृथ्वी आधार है। प्राणीमात्र का गर्भस्थानीय है और पृथ्वी रूप आधार अथवा गर्भ में प्रजनन शक्ति का विकास द्यौ से प्राप्त होता है। द्यौ अर्थात् अन्तरिक्ष से ही सूर्यकिरण, वायु, जल इत्यादि की प्राप्ति से ही पृथ्वी से प्रजनन शक्ति का विकास होता है। अत: पृथ्वी ·मातृस्थानीय है एवं द्यौ पितृस्थानीय है।

आगे अश्व के विभिन्न नामों का विवेचन स्पष्ट है

१. **अश्वः** = अश्नुते व्याप्नोति मार्गम् इति अश्व:। २. **हयः** = ह्य गतौ, पचाद्यच्, ह्यति अर्थाद् याति इति ह्य:। ३. **अत्यः**[१] = अत सातत्यगमने, सततगमनशील:, औणादिको यत्प्रत्यय:। ४. **मयः** = मयते गच्छति इति मय:, अथवा मय इति सुखनाम (अश्व सुखस्वरूप है)। ५. **अर्वा** = अर्वासि रिपूनि हिनस्ति इति अर्वा। ६. **सप्तिः**—सैन्येन समवैति, शप् सम्बन्धे, क्तिन्प्रत्यय:। ७. **वाजी**—गमनशील: अथवा वाजा: पक्षा:, तद्वान् वाजी (विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध है कि कभी अश्व पक्षशील पशु थे)।[२] ८. **वृषासि**—वृष् अर्थात् अधिक वीर्यवान्, सन्तानोत्पादन में समर्थ, जिसका कामशास्त्रसिद्ध रसायनविशेष को वाजीकरण प्रक्रिया कहते हैं। ९. **नृम्णा** = प्रभु के प्रति स्वामिभक्त। पक्षान्तर में नृम्णा अर्थात् मनुष्य के समान मन वाला। यह युगल मानसिकता का द्योतक है। १०. **ययुः** = अत्यधिक गतिशील, या प्रापणे, प्रापणमिह गति:। ११. **शिशुः** = श्यति, कृशं करोति स्तनम्, जिसके दुग्धपान से माता का स्तन कृश हो जाता है।

इनमें ययु अश्व का अत्यधिक प्रिय नाम है।[३]

धृति होम का विधान

ऐसे अनेक प्रिय नामों से युक्त अश्व आदित्यमार्ग अर्थात् देवमार्ग से गमन करता है। इसके अनन्तर धृति होम के अन्तर्गत वर्षपर्यन्त चार आहुतियों

---

१. तस्माद् अश्व: पशून् अत्येति। (श०ब्रा० १३.१.६.१)

२. द्र०, नकुलकृतमश्वशास्त्रम्।

३. "अश्वस्य प्रियं नामधेयम्"। (श०ब्रा०, १३.१.६.१)

का विधान है। शतपथब्राह्मण में इसको '**षोडशनवति**' कहा गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण वर्ष में १४४० आहुतियाँ, धृति होम के अन्तर्गत सम्पन्न होंगी। अश्वाभिधानी में भी १४४० शृंखलाएँ होती हैं।[1] वर्षव्यापी अश्वमेध अभियान कार्यक्रम के अन्तर्गत, जो अन्त तक पहुँचते हैं, वे राष्ट्र में अधिकारी होते हैं। मध्य में पलायन करने वालों का इसमें कोई हक नहीं होता। इस प्रकार राष्ट्री अर्थात् राष्ट्र के प्रति अधिकारी व्यक्ति ही अश्वमेध का अधिकारी है। शतपथ-ब्राह्मण में अश्वमेध के अधिकारियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।[2]

औदग्रभण होम

पूर्वोक्त अश्वाभिधानी रशनाशृंखला संख्या के अनुरूप प्रतिदिन चतुर्वार क्रम से वर्षपर्यन्त अनुष्ठेय ३६०×४ = १४४० धृति होम के पश्चात् औदग्रभण होम का विधान है, जिसके अन्तर्गत सात दिन आहुतियाँ दी जाती हैं। औदग्रभण होम के क्रम में आहुतियों की संख्या का क्रम ७, २१, ३० है।

अध्वर्युकर्तृक जप

अध्वर्युकर्तृक जप में पठनीय सूक्त एक प्रकार से राष्ट्रसूक्त है।[3] इसके मन्त्र में ब्राह्मणों में ब्रह्मवर्चस्व, क्षत्रियों में वीर्य, शूर, धनुर्धारी, लक्ष्यभेदी, महारथी एवं प्रशस्त दुग्धवती गौ, भारवाही वृषभ, द्रुतगामी अश्व, सुन्दरी स्त्री, जयशील रथी, समाज में सामाजिक उन्नतिशील युवावर्गादि यजमान की इच्छाओं का उल्लेख किया गया है एवं प्रयोजन (अतिवृष्टि, अनावृष्टिरहित वर्षा) के अनुसार फलों से परिपूर्ण वृक्ष और ''अपूर्व आगमरूपी'' योग एवं ''आगत वस्तु का रक्षण'' रूपी क्षेम आदि समस्त राष्ट्रोपयोगी एवं पर्यावरण की दृष्टि से सर्वथा अपेक्षित एवं प्रदूषण-निवारण के लिए कवचस्वरूप—उपर्युक्त तथ्यों के मूल कारण के रूप में यज्ञ का चित्रण किया गया है।

---

१. ''संवत्सरम् आहुतिः जुहोति षोडशनवतिः (Chain) एता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेव एनं बध्नाति'' इति। (श०ब्रा०, १३.१.६.२)

२. द्र०, श०ब्रा०, १३.१.६.३।

३. ''आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। (शु०य०वे०, २२.२२)

आज्य-सक्तु-धाना-लाज-होम

इसका विधान यजुर्वेद में किया गया है।[१] इसकी आहुति के क्रम में "एकस्मै स्वाहा", "द्वाभ्यां स्वाहा", "शताय स्वाहा, "एकशताय स्वाहा" इत्यादि क्रमपूर्वक प्रत्येक पूर्वाहुति से उत्तराहुति एक-एक बढ़ती जाती है और यह बढ़ते-बढ़ते १०१ तक पहुँचती है। अन्तिम दो आहुतियाँ "दुष्टैः स्वाहा", "स्वर्गाय स्वाहा" इस प्रकार होगी। इसमें भी एक सूर्योदय से पूर्व और एक सूर्योदय के बाद होगी।

पर्यङ्गपशुनिरूपण[२]

अश्वमेधयज्ञ में स्वीकृत 'ययु' नामक विशिष्ट अश्व के विभिन्न अंगों में जिन पशुओं का बन्धन किया जाता है, उनकी तालिका इस प्रकार है—

देवता	पशु	अश्वाङ्ग
अग्नि	कृष्णग्रीव अज	अश्वललाट
सरस्वती	मेषी	हनु के नीचे
अश्विनौ	कृष्णपृष्ठयुक्त अजद्वय	अश्व के दो अग्रपाद में
सोम, पूषा	दो अज	अश्वनाभि
सूर्य, यम	श्वेत एवं श्याम अज	अश्व पार्श्व में

---

१. (क) "प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा"। (शु०य०वे०, २२.२३)

(ख) प्राच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा दक्षिणायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा प्रतीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोदीच्यै दिशे स्वाहोर्ध्वायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा। (शु०य०वे०, २२.२४)

२. पर्यङ्ग इति। तान्त्रिकबलिदानविधावपि पशोः प्रत्यङ्गे देवता पूज्यन्ते तत्र शिरःकपालकर्ण-चक्षुर्मुखनासिकाजिह्वाग्रीवोष्ठाधरशृंगद्वयपृष्ठोदरकुक्षिनिम्बपादचतुष्टयनाभिकटिपुच्छलाङ्गूल-सर्वाङ्गेषु रुधिरवनदाचण्डिकाबृहस्पतिचन्द्रादित्यसरस्वतीमहादन्तिकोग्रदन्ताः शिवाकृतिदुर्गोग्र-दन्तिकावैष्णवीकुमारीनारसिंहीमहाभैरवीरुद्राणिविबुधाभद्रकालीचण्डप्रियाच्छागपार्श्वाधिष्ठितदेवताः पूज्यन्ते इति दिक्। ईदृश एव मन्त्रप्रयोगः तान्त्रिकबलिदानविधावपि श्रूयते। (कालिकापु०, दुर्गापूजापद्धति, पृ० ९७-९८)

त्वष्टा	लोमयुक्त दो अज	अश्वजानु
वायु	श्वेत अज	अश्वपुच्छ
विष्णु	वामन अज	अश्वपुच्छ
इन्द्र	वन्ध्या गाय	अश्वपुच्छ

अश्वमेध सभी यज्ञों का राजा है। इस प्रकार यजमान स्वयं अश्वमेध स्वरूप है। अश्व में जिन पशुओं का बन्धन होता है, उससे यज्ञ का आरम्भ होता है। अश्व, तूपर, गोमृग का मध्य यूप में बन्धन होता है। पन्द्रह पर्यङ्ग पशु होते हैं। १५-१५ हर यूप में बाँधे जाते हैं। वज्र पन्द्रह संख्या वाला है। सत्रह पशुओं का बन्धन मध्य यूप में होता है।[1]

उद्गात्र अन्वारम्भ

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सामवेदीय ब्राह्मणभागोक्त का गान आरम्भ किया जाता है। इसमें अश्व के ''हिंकार'' को उद्गीथ के समान माना गया है, जिसमें शतमान स्वर्ण दक्षिणा विहित है।

ग्राम्य पशुओं का आलम्भन, आरण्य पशुओं का उत्सर्ग

ग्राम्य पशुओं से पर्यावरण की सुरक्षा द्वारा लोक की स्थिति है एवं आरण्य पशुओं से वायुमण्डल, वृष्टि इत्यादि की प्राप्ति द्वारा उस लोक की स्थिति है।[2] शतपथब्राह्मणानुसार ग्राम्य पशुओं से एवं आरण्य पशुओं से क्रमशः ग्राम एवं अरण्य की रक्षा होती है, तथा च आभाणकम्—''सिंहेन रक्षितं वनं वनेन रक्षितः सिंहः''। परन्तु इन दोनों पशुओं की उपयोगिताओं की समीक्षा की जाय, तो ग्राम्य पशु अधिक उपयोगी है।[3] इस ग्राम्य पशु से यज्ञ की सम्पूर्ति होती है। ग्राम्य पशुओं के पालन-पोषण में वृद्धि, पर्यावरण विकास के साथ ही ग्राम्य-विकास में अधिक उपयोगी है। ग्रामों की सीमावृद्धि से ही ग्राम्य-विकास सम्भव है, जिससे कि चोर, घातक, तस्कर आदि का शरणस्थल जंगल न बन सके। ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं की संख्या ६०९ है।

---

१. ''पंचदश—पंचदश एवेतरेषु। पंचदशो वै वज्रो वीर्यवज्रो वीर्य.......''।
''पंचदश पर्यङ्गाः पशवो भवन्ति पंचदशो वै वज्रो.......''। (श०ब्रा०, १३.२.२.१०-११)

२. ग्राम्यैरेव पशुभिरिमं लोकम् अवारुन्धारण्यैरमुमयं वै लोको मनुष्यलोकोऽथासौ देवलोको यद् ग्राम्यान् पशूनालभतऽइममेव तैर्लोकं यजमानो अवरुन्धे यदारण्यानमुं तैः। (श०ब्रा०, १३.२.४.१)

३. अपशुर्वा एष यदारण्यो नैतस्य होतव्यं यज्जुहुयात् क्षिप्रं यजमानमरण्यं मृतं हरेयुररण्यभागाः। (श०ब्रा०, १३.२.४.३)

पश्वेकादशिनी

शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार १०-१० पशुओं के ११ समूहों का आलम्भन वर्णित है। इस पश्वेकादशिनी के द्वारा ही अश्वमेधयज्ञ की पूर्णता विहित है। पश्वेकादशिनी आदि की उपयोगिता अश्वमेध से भिन्न सोमयागादि में भी दृष्ट है।

अश्व का नियोजन बन्धन

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अश्व का बन्धन, लेपन एवं पुच्छ में मणिगुच्छ-बन्धन आदि विहित है। इन समस्त कृत्यों का विधान शुक्लयजुर्वेद के मन्त्रभाग के २३ अध्याय में स्पष्ट है । इसमें कतिपय प्रश्नोत्तर भी विहित हैं—

१. कः स्विदेकाकी चरतीति? असौ वाऽआदित्य एकाकी चरत्येष ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसमेवास्मिंस्तद्धत्तः।

२. क उ स्विज्जायते पुनरिति। चन्द्रमा वै जायते पुनरापुनरेव अस्मिंस्तद्धत्तः।

३. किंस्विद् हिमस्य भेषजमिति। अग्निर्वै हिमस्य भेषजं तेज एवास्मिन् तद्धत्तः।

४. किं वावपनं महदिति। अयं वै लोक आवपनं महदस्मिन्नेव लोकः प्रतितिष्ठति।

५. का स्विदासीत् पूर्वाचित्तिरिति। द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वाचित्तिः दिवमेव वृष्टिमवरुन्धेश्च।

६. किंस्विदासीत् बृहद्वय इति। अश्वो वै बृहद्वय आयुरेव अवरुन्धे।

७. का स्विदासीत् पिलिप्पिलेति। श्रीर्वै पिलिप्पिला श्रियमेवावरुन्धे।

८. का स्विदासीत् पिशंगिला। अहोरात्रे वै पिशंगिलेऽअहोरात्रयोरेव प्रतितिष्ठति।[1]

अश्व का प्रोक्षणादि

अश्व के विभिन्न अंगों में पर्यङ्ग पशुओं के बन्धन के पश्चात् अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र को लेकर घोड़े पर जलप्रक्षेप करता है, तब यजमान उसके पीछे खड़ा रहता है।[2] इसके बाद 'सोम अध्वर' के यजु का जाप करके अश्वमेध सम्बन्धी यजु का आरम्भ करता है।

१. **वायुष्ट्वा पचतैरवतु**[3]—वायु पके अन्न से रक्षा करे, क्योंकि वायु अन्न पकाता ही है।

---

१. य०वे०, २३.९-१२।

२. नियुक्तेषु पशुषु। प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्तेऽश्वं प्रोक्षिष्यन्नन्वारब्धे यजमानऽआध्वरिकं यजुरनुद्रुत्याश्वमेधिकं यजुः प्रतिपद्यते। (श०ब्रा०, १३.२.७.१)

३. य०वे०, २३.१३।

२. **असितग्रीवश्छागैः**[१]—कृष्णग्रीव अजों द्वारा रक्षा करें; क्योंकि अग्नि कृष्णग्रीव है। यह अग्नि उन अजों सहित पकाता है।

३. **न्यग्रोधचमसैः**[२]—जब देवता यज्ञ कर रहे थे, तो उन्होंने चमसों को उलट दिया, जो बूँदें नीचे गिरीं, वह उगकर न्यग्रोध वृक्ष हो गयीं, इसलिए नीचे करने से ही बीज जमता है।

४. **शाल्मलिवृद्ध्या**[३]—शाल्मलि में वृद्धि स्थापित करता है। इसलिए वनस्पतियों में शाल्मलि बहुत बढ़ता है।

५. **एषस्य राथ्यो वृषा**[४]—इससे रथ को अश्व से युक्त कराता है। इसलिए अश्व रथ के सिवाय और किसी चीज को नहीं ले जाता।

६. **पड्भिश्चतुर्भिरेद्‌गन्**[५]—चार पैरों से यहाँ आया है। इसलिए अश्व तीन पैरों पर खड़ा रहता है, रथ में जोतने पर सब पैरों का काम लेता है।

७. **ब्रह्माऽकृष्णश्च नोऽवतु**[६]—श्वेत ब्रह्मा चन्द्रमा है। चन्द्रमा को अर्पण करता है। अर्थ "श्वेत ब्रह्मा हमें बचावें"।

८. **नमोऽग्नये**[७]—इस मन्त्र से अग्नि को नमस्कार करता है।

९. **सं शतो रश्मिना रथ**[८]—रस्सियों से रथ को सजाता है। इसलिए रस्सियों से सज्जित रथ सुन्दर लगता है।

१०. **सं शितो रश्मिना ध्यः**[९]—घोड़े को रस्सी से युक्त करता है, इसलिए रस्सी से बँधा घोड़ा सुन्दर लगता है।

११. **सं शितोऽसु अप्सुजा**[१०]—अप्सुजा अश्व है। इसलिए घोड़े को उसी की योनि से सम्पन्न करता है।

---

१. य०वे०, २३.१३।

२. तत्रैव– २३.१३।

३. तत्रैव– २३.१३।

४. तत्रैव– २३.१३।

५. (क) तत्रैव– २३.१३।

(ख) अत्रेदं रहस्यं प्रतिभाति—अश्वस्य आवागमनादि रथवहनादि सर्वं कृत्यजातं चतुर्भिः पादैः भवति, परन्तु स यदा केवलं तिष्ठति, विश्राम्यति, स्वपिति वा, तदा त्रिभिरेव पादैः एतत् सर्वं सिद्ध्यति। एतच्च शयनकाले स्फुटतरं दृश्यते, पुनः युद्धादौ चतुर्भिः पादैः सज्जीभूय तिष्ठतीति दिक्।

६. य०वे०, २३.१३।

७. तत्रैव– २३.१३; ८. तत्रैव– २३.१४।

९. तत्रैव– २३.१४; १०. तत्रैव– २३.१४।

१२. **ब्रह्मा सोमपुरोगवः**[१]—सोम को अग्रगामी करके स्वर्गलोक भेजता है।

१३. **स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व**[२]—हे अश्व! तू अपने शरीर को स्वयं बना, अर्थात् जैसे रूप चाहे, वैसे धारण कर।

१४. **स्वयं यजस्व**[३]—इससे उसको स्वराज देता है।

१५. **स्वयं जुषस्व**[४]—जितना तुम चाहो इस लोक में आनन्द मनाओ।

१६. **महिमा तेऽन्येन न सन्नशे**[५]—कोई तेरी महिमा की बराबरी नहीं कर सकता। इससे उसको महिमा से युक्त करता है।

१७. **न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यति**[६]—तू यहाँ न मरेगा, न दुःख पाएगा।

१८. **तद् देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः**[७]—तू सुगम मार्ग से देवों के पास जाता है। इस प्रकार वह उसको देवलोक का मार्ग दिखाता है।

१९. **यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुः**[८]—जहाँ पुण्यात्मा रहते हैं और जहाँ वे गये हैं। इससे वह उसको पुण्यात्माओं से सलोकता दिखाता है।

२०. **तत्र त्वा देवः सविता दधातु**[९]—सविता उसको वहाँ ले जाता है।

२१. **प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**[१०]—इस मन्त्र से सावधानीपूर्वक प्रोक्षणीपात्र को घोड़े के मुँह के नीचे रखता है।

२२. **अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पितैवाऽअपः**[११]—अग्नि पशु था। उससे देवों ने यज्ञ किया, उसने वह लोक जीत लिया, जिस लोक में अग्नि है। वही तेरा लोक हो जाएगा, तू उसे जीत ले। इस जल को पी। इसका तात्पर्य यह है कि जितनी अग्नि की विजय है, जितना अग्नि का लोक है, जितना ऐश्वर्य है, उतना ही तेरा लोक, तेरी विजय, तेरा ऐश्वर्य हो जाएगा।

२३. **वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः**[१२]—इससे तात्पर्य यह है कि वायु की जितनी विजय, लोक और ऐश्वर्य है, उतना मेरा भी होगा।

---

१. य०वे०, २३.१४; २. तत्रैव– २३.१५।
३. तत्रैव– २३.१५; ४. तत्रैव– २३.१५।
५. तत्रैव– २३.१५; ६. तत्रैव– २३.१६।
७. तत्रैव– २३.१६; ८. तत्रैव– २३.१६।
९. तत्रैव– २३.१६; १०. तत्रैव– २३.१६।
११. तत्रैव– २३.१७; १२. तत्रैव– २३.१७।

२४. **सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः।**[१] इससे कहने का तात्पर्य यह है कि जितनी विजय सूर्य की है, जितना लोक तथा ऐश्वर्य, उतनी ही विजय, लोक तथा ऐश्वर्य तेरा भी हो। अश्व को तृप्त करके फिर प्रोक्षणी को शुद्ध करके दूसरे पशुओं को प्रोक्षित करता है।

मृत अश्व का परिक्रमण

इस कार्यक्रम में अश्व के नीचे एक वस्त्रखण्ड, बिछौना और स्वर्ण बिछा देते हैं, फिर उसका संज्ञपन करते हैं। ऐसा अन्य किसी पशु के साथ नहीं करता। यही अन्य पशुओं से अश्व की विशेषता है।[२] अश्व-संज्ञपन के बाद **प्राणाय स्वाहा**[३] आदि मन्त्रों से आहुति दी जाती है।

यहाँ चिकित्सकीय दृष्टि से अश्व यद्यपि मृत है; परन्तु "**प्राणाय स्वाहा**" आदि से प्राण स्थापित कर जीवित पशु का ही यज्ञ होता है। इसके बाद **गणानां त्वा**[४] आदि मन्त्रों से पत्नियाँ परिक्रमण करती हैं। परिक्रमाएँ ३,६,९ बार क्रमशः विहित हैं, यहीं पर मृत अश्व के पास पूर्ववर्णित महिषी का शयनादि विहित है।

संवाद

अश्वमेधयज्ञ एक ऐसी योजना है, जिसमें शासनशक्ति और वित्त का विकेन्द्रीकरण होता है। ये दोनों तथ्य पूर्ववर्णित हैं। शतपथब्राह्मण के शब्दों में— **अप वा एतस्मात्, श्रीराष्ट्रं क्रामति यो अश्वमेधेन यजते।**[५] प्रकारान्तर में अश्वमेधरूपी महायोजना के माध्यम से वित्त एवं शासनशक्ति की उन्नति भी होती है।[६] वस्तुतः वित्त या कोश राष्ट्र के लिए सर्वाधिक भारधारक या पोषकतत्त्व है। '**डुभृञ् धारणपोषणयोः**' एवं इसकी उन्नति करना एक भार (वजन) पहाड़

---

१. य०वे, २३.१७।

२. "वासोऽधिवासं हिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति यथा नान्यस्मै पशवे तस्मिन्नेनमधि-संज्ञपयन्त्यन्तैरेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति। यदेनं संज्ञपयन्ति"। प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमानऽआहुतीर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद् दधाति तथो हास्यैतेन ज्ञोऽवत्तेन पशुनेष्टं भवति। (श०ब्रा०, १३.२.८.१-२)

३. "प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा"। (य०वे०, २२.२३)

४. "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे, निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्।।" (य०वे०, २३.१९)

५. श०ब्रा०, १३.२.९.१।

६. "श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति। (श०ब्रा०, १३.२.९.२)

पर चढ़ाने के समान है—"**गिरौ भारं हरन्निवेति, श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रं सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति**।[1] जिस प्रकार श्री राष्ट्र का भार (धारक, पोषक) तत्त्व है, उसी प्रकार यह राष्ट्र का केन्द्रबिन्दु भी है। "**श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति**"।[2] नीतिकारों ने स्पष्ट कहा है—"**स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजः**"।[3]

यहाँ पर केन्द्र शब्द से भगवती श्रुति ने एक अत्यधिक गूढ़ रहस्य का उद्‌घाटन किया है। श्री को राष्ट्र का केन्द्र कहा है। पूर्व निरूपित है कि भौगोलिक रूप से विश्व का एक निश्चित केन्द्र नहीं होता। अश्वमेध महायज्ञ राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय योजना के साथ-साथ विश्वस्तरीय योजना है। अतएव यहाँ पर वित्त को राष्ट्र अर्थात् विश्व का केन्द्र कहा गया है, अर्थात् आर्थिक स्थिति की दृढ़ता ही राष्ट्र के लिये मध्याकर्षण के समान है। अतएव उसी के द्वारा विश्व की स्थिति बनी हुई है। इसलिए श्री अथवा अश्वमेध दोनों ही विश्व के केन्द्र अर्थात् मध्याकर्षण शक्तिभूत हैं। क्षेम अर्थात् कल्याण को राष्ट्र के लिए शीत अर्थात् शान्तिकारी कहा गया है।

इस अध्याय में संहिताभाग[4] में ऋत्विजों और स्त्रियों का सांसारिक व्यक्तिगत जीवन पर आधारित अनेक स्थूल विषयों पर संवाद है, जिसके उच्चारण के कारण मुखमालिन्य का परिहार मन्त्र से किया जाता है।[5] शतपथब्राह्मण में इस प्रसंग में स्पष्ट आदेश है कि "**ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णोऽअकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति**।"[6]

अश्व-शरीर में सूची-प्रवेश

सूची तीन प्रकार की होती है। यथा—

१. स्वर्णसूची, २. रजतसूची, ३. ताम्रसूची।

परिपशव्याहुति

इसके अन्तर्गत "**स्वाहा देवेभ्यः**", "**देवेभ्यः स्वाहा**" से राजा वपा के आगे-पीछे आहुतियाँ देता है। यह उभयविध कृत्य लोक एवं परलोक की तृप्ति

---

१. श०ब्रा०, १३.२.९.३।

२. तत्रैव- १३.२.९.४।

३. कामन्दकनीति०; ४. श०ब्रा०१३.२.९.७।

५. "दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्राण आयूंषि तारिषत्।। (ऋ०वे०, ४.३९.६; य०वे०, २३.३२)

६. श०ब्रा०, १३.२.९.९।

का उपलक्षक है। परिपशव्याहुतियाँ दो होती हैं, जिनमें महिमान सोमग्रह का विधान है। आहुतियों में परिपशव्याहुतियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। तत्सम्बद्ध होने के कारण महिमान ग्रह को राजा कहा गया है।[1]

अश्व का अवदान

अश्वमेधयज्ञ की पारलौकिक उपलब्धि इस प्रकार है—"**यो अश्वमेधेन यजते, सर्व एवं भवति, सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजः सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन् अपि वा एतेन ब्रह्महत्यामतरंस्तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते**।"[2] आगे नर्कुट की चटाई के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण यह रहस्य खोलता है कि नर्कुट अर्थात् वेतस जलज है एवं अश्व भी जल से उत्पन्न होता है। इस प्रसंग में ज्ञातव्य है कि पौराणिक दृष्टिकोण से समुद्रमन्थन से ही उच्चैःश्रवा की उत्पत्ति हुई थी। भगवान् वेदव्यास के अनुसार—"**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुबृंहयेत्**"[3]। इसके बाद वपाप्रचार, यूपैकविंशति, अश्व का लौहित श्रपण—ये तीनों कृत्य विहित हैं। वेदी, स्तोम एवं यूप—ये तीनों अश्वमेध में सर्वोच्चस्थानीय ध्वज स्वरूप हैं, इसलिए इन तीनों को अश्वमेध का तीन मस्तक कहा गया है। तीनों २१-२१ होते हैं। "**शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् एकविंशः**"।[4]

अश्वमेध द्वारा अपमृत्यु का निरास

सभी लोक मरणधर्मा हैं, अतः मृत्यु से बचने के लिए "**मृत्यवे स्वाहा**" ऐसी आहुति का विधान है। मृत्यु में सबसे भयंकर है ब्रह्महत्या द्वारा मृत्यु। ब्रह्महत्या की अपेक्षा अन्य मृत्यु तो मृत्यु ही नहीं है– "**अमृत्युर्ह वा अन्यो ब्रह्महत्यायै मृत्युरेष ह वै। साक्षान् मृत्युः ब्रह्महत्या साक्षादेव मृत्युमुपजयति**"।।[5] ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का आविष्कार मुण्डिभ महोदय ने किया था। ब्रह्महत्या से मुक्ति के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप अश्वमेध का भी विधान है।

अश्वस्तोमीय होम

ये सोलह आहुतियाँ होती हैं। **षोडशाश्वस्तोमीया जुहोति**।[6] अश्वस्तोमीय आहुति के पश्चात् द्विपद आहुति विहित है। "**अश्वस्तोमीयं हुत्वा द्विपदा**

---

१. श०ब्रा०, १३.२.११.३; २. तत्रैव- १३.३.१.१।
३. द्र०, महाभा०, आदिपर्व, अनुक्रमणिकापर्व।
४. द्र०, श०ब्रा०, १३.३.३.१०।
५. तत्रैव- १३.३.५.३; ६. तत्रैव- १३.३.६.५।

जुहोति।''[१] ''**जुम्बकाय स्वाहा**'' इससे अवभृथस्नान की अन्तिम आहुति दी जाती है। यह आहुति कुष्ठखल्वाट दन्तुर एवं पिंगाक्ष मनुष्य के मस्तक पर विहित है। ''**जुम्बकाय स्वाहेत्यवभृथऽउत्तमामाहुतिं जुहोति साक्षादेव वरुणमवयजते शुक्लस्य खलतोर्विक्लिधस्य पिंगाक्षस्य मूर्धनि जुहोत्येतद्**......''।[२]

अश्वमेध-महिमा[३]

महिमा के निरूपण प्रसंग में शतपथश्रुति ने अश्वमेध को विभिन्न नामों से प्रस्तुत किया है। यथा—

१.	प्रभु	—	प्रभूतशक्तिसम्पन्न
२.	विभु	—	विभूतियुक्त
३.	व्यष्टि	—	सफल
४.	धृति	—	कीर्तियुक्त
५.	व्यावृत्ति	—	सुरक्षित
६.	ऊर्जस्वान्	—	ऊर्जस्वी
७.	पयस्वान्	—	पयस्वी
८.	ब्रह्मवर्चसी	—	ब्रह्मवर्चस
९.	अतिव्याधी	—	लक्ष्यभेदक
१०.	दीर्घ	—	विस्तृतवनयुक्त
११.	क्लृप्ति	—	योग्य
१२.	प्रतिष्ठा	—	प्रतिष्ठित

अश्वमेध-प्रायश्चित्त[४]

किसी परिस्थितिवश अश्व के दुर्घटनाग्रस्त होने पर निम्नलिखित प्रायश्चित्त का विधान है—

दुर्घटना	प्रायश्चित्त
१. अश्व का वडवा सम्पर्क होने पर	वायुदेवताक पयाहुति
२. रोगग्रस्त होने पर	पूषादेवताक चरु आहुति
३. अक्षत नष्ट होने पर	वैश्वानरदेवताक द्वादशकपाल पुरोडाश आहुति

१. श०ब्रा०, १३.३.६.२।
२. तत्रैव-, १३.३.६.५।
३. तत्रैव-, १३.३.७।
४. तत्रैव-, १३.३.८।

४. चक्षुरोग होने पर	सूर्यदेवताक चरु आहुति
५. जल में डूबकर मरने पर	वरुणदेवताक यवमय चरु आहुति
६. नष्ट होने पर	त्रिहविष इष्टि[1]
७. शत्रु द्वारा अश्व छीन लेने पर या मर जाने पर।	अन्य अश्व का प्रोक्षण

अश्वमेधारम्भ-कालादि

प्रश्न है कि किस ऋतु में अश्वमेध आरम्भ किया जाय—

१. कतिपय आचार्यों के मत में ग्रीष्म ऋतु में आरम्भ करना चाहिए; क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रियों की ऋतु है और अश्वमेध यज्ञ क्षत्रियों का है।[2]

२. परन्तु सिद्धान्त मत यह है कि वसन्त ऋतु में यज्ञ का आरम्भ करना चाहिए; क्योंकि वसन्त ब्राह्मणों की ऋतु है।[3]

३. वसन्त में भी चान्द्र फाल्गुनमास की पूर्णिमा से ६-७ दिन पूर्व अर्थात् अष्टमी तिथि को चारों प्रधान ऋत्विजों का आह्वान होना चाहिए, अन्य ऋत्विज इन्हीं के अधीन है।[4]

इस प्रसंग में अध्वर्यु जो ब्रह्मौदन का पाक करेगा, वह सभी के लिए पर्याप्त होना चाहिए, इसलिए कहा गया है—**तेभ्यो अध्वर्युश्चातुश्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निर्वपति।**[5] इस प्रसंग में गोदक्षिणा एवं स्वर्णदक्षिणा का निरूपण पूर्ववत् है।[6]

१. त्रिहविष इष्टिस्वरूप :

त्रिहविष इष्टि

द्यावापृथिवीदेवताक एककपालपुरोडाश | वायुदेवताक पय | सूर्यदेवताक चरु

त्रिहविषेष्टि नष्टवेदिनी इति कथ्यते अर्थात् नष्टवस्तुनोऽलाभो भवति।

२. "कस्मिन्नृतावभ्यारम्भ इति ग्रीष्मेऽभ्यारभेतेत्यु है कऽआहुर्ग्रीष्मे"। (श०ब्रा०, १३.४.१.२)

३. "तद्वै वसन्तऽएवाभ्यारभेत"। (श०ब्रा०, १३.४.१.३)

४. "सा यासौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति, तस्यै पुरस्तात्....अन्वन्यऽऋत्विजः" (श०ब्रा०, १३.४.१.४)

५. श०ब्रा०, १३.४.१.५।

६. तत्रैव- १३.४.१.६।

अध्वर्यु यजमान के कण्ठ में स्वर्ण का निष्क पहनाता है।[१] वेद में सुवर्ण-तेज- शुक्र-अमृत ये सभी समानान्तर शब्द हैं, एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं।[२] इसी के बाद यजमान की चारों पत्नियाँ, स्वर्णहार पहने हुए उपस्थित होती हैं। उसके साथ ही अग्न्यागार में प्रवेश किया जाता है। इससे पूर्व द्वार से यजमान का एवं दक्षिण द्वार से पत्नियों का प्रवेश होता है। तत्पश्चात् सायंकालिक आहुति सम्पन्न होने पर गार्हपत्य के पीछे, उत्तर की ओर मस्तक करके, वावाता के साथ शयन करता है। वहीं दूसरी पत्नियाँ भी शयन करती हैं।[३]

अश्वमेधयज्ञ का असिधारा व्रत रूप

संवत्सर पर्यन्त वावाता के साथ यजमान का शयन अवश्य होगा; परन्तु वावाता तथा अन्य पत्नियों एवं अनुचरियों का यजमान आलिंगन नहीं करेगा। इस प्रकार संवत्सर पर्यन्त ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक संयत जीवन धारण किया जाएगा।

ततः प्रातःकालिक आहुति के बाद पूर्णाहुति देगा।[४] यहाँ पर सम्राट् कण्ठ में डाले गये निष्क को अध्वर्यु को दान देता है।[५] फिर आग्नेयी इष्टि का निर्वपन होता है। इसमें १५ सामधेनियाँ होती हैं। यहाँ पर भी शतमान सुवर्ण दक्षिणा है। इसके बाद पौष्णी इष्टि विहित है, जिसमें १७ सामिधेनियाँ और १०० वस्त्र दक्षिणा है।[६]

सावित्री इष्टियाँ एवं पारिप्लवाशंसनादि

जब पूषा की आहुति दी जा रही है, उस समय अश्व को स्नान करवा कर लाया जाता है। अश्व समस्त रंगरूपों से युक्त, गतिमान्, युवा एवं सहस्त्र गाय के मूल्य का होता है। उसके दाहिने धुरे के नीचे की बराबरी अन्य कोई अश्व नहीं कर सकता।[७]

---

१. "तेजोऽसि शुक्रममृतामायुष्पा आयुर्मे पाहि। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे। (य०वे०, २२.१)

२. द्र०, श०ब्रा०, १३.४.१.७ "तेजोऽसि शुक्रममृतमिति....दधाति"।

३. "चतस्रो जाया उपक्लृप्ता.....संवत्सरस्योद्वचं समश्रवाऽइति"। (श०ब्रा०, ३.४.१.८-९)

४. द्र०, श०ब्रा०, १३.४.१.१०।

५. तत्रैव, १३.४.१.११।

६. तत्रैव, १३.४.१.१२-१५।

७. तत्रैव- १३.४.२.१।

अश्व के रूप के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण में कई विकल्प प्रस्तुत हैं। इन विकल्पों के अन्तर्गत विभिन्न आचार्यों का मत प्रतिपादित है।[1]—

आचार्य	अश्व का स्वरूप
१. भाल्लवे आचार्य	दो वर्णों का कृष्ण सारंग अश्व
२. सात्ययज्ञि आचार्य	पूर्वार्ध कृष्ण, पश्चार्ध श्वेत, ललाट में कृत्तिका चिह्नयुक्त त्रिरूप अश्व।

वेद में बहुत्र अश्व को अक्षिस्वरूप कहा गया है। अक्षि में द्विरूपता और त्रिरूपता स्पष्ट है—

द्विरूपता — श्वेतकृष्णात्मकता
त्रिरूपता — श्वेत-कृष्ण एवं कनीनिकारूपता

परन्तु यहाँ किसी पक्ष में आग्रह नहीं है, जैसा मिले वैसा ही लेना चाहिए; क्योंकि अश्वमेध जाति का अश्व चिरकाल से ही सुलभ नहीं था। बहुरूप, द्विरूप, त्रिरूप या कृत्तिकाचिह्नयुक्त हो; परन्तु गति में तीव्र होना आवश्यक है।

अश्व के सहगामी सैनिकादि

राजपुत्र कवचधारी तलवार लिए १०० क्षत्रिय कुमार, १०० सूत्र ग्रामणी के पुत्र तीरों से लदे हुए तरकस लिये, १०० छात्र संगृहीताओं के पुत्र, दण्ड धारण किये हुए अश्व के साथ रहेंगे।

अश्व के सहगामी अश्वान्तर

यद्यपि अश्वमेध का अश्व बहुत ही शिक्षित एवं विशिष्ट जाति का होता था; परन्तु अनेक अस्त्रधारी सैनिकों के मध्य वह स्वयं ही विचलित न हो जाय, इसलिए अश्वोपयोगी प्राकृतिक पशूचित पर्यावरण की दृष्टि से अश्वमेध के लिए छोड़े जाने वाले अश्व के साथ अनेक अश्व भी सहगमन करते थे।

सहगामी अश्वों का निरूपण

अश्वमेध के अश्व के साथ १०० निरष्ट[2] अन्य घोड़े भी चलते थे। निरष्ट अर्थात् चिह्नविशेष, जो तीन वर्ष की आयु के द्योतक हैं। ऐसे आठ चिह्न

१. ''तद् होवाच भाल्लवेयो—द्विरूप एवैषोऽश्वः स्यात् कृष्णसारंगः, अथ होवाच सात्ययज्ञिः- त्रिरूप एवैषोऽश्व स्यात्तस्य कृष्णपूर्वार्धः शुक्लोऽपरार्धः कृत्तिकाञ्जिः पुरस्तात्''। (श०ब्रा०, १३.४.२.३-४)

२. **निरष्ट इति।** ''निर्गतानि अष्टौ वयोव्यञ्जनानि यस्मात्''; ''अश्वशतं निरष्टं निरमणम्'' (श०ब्रा० १३.४.२.५); ''अश्वस्य दन्तगतानि वयोव्यञ्जनानि तेषामेकैकं त्रीणि त्रीणि वर्षाणि अनुवर्त्तते तान्यष्टौ व्यञ्जनानि निर्गतान्यस्मादिति निरष्टं चतुर्विंशतिवर्षीयम्। (वाच०)

होने पर अश्व ३×८ = २४ वर्ष का हो जाता है। इसी को निरष्ट कहते हैं। ऐसे १०० अश्व, अश्वमेधीयाश्व के साथ सहगमन करते हैं।[१] इसके बाद सावित्री इष्टि में १२ कपालों का पुरोडाश होता था। इसमें १५ सामिधेनियाँ एवं दो आज्यभाग वृत्रघ्न अर्थात् इन्द्र के लिए होती थी।[२] हविष के याज्य एवं अनुवाक का मौनपाठ होता था। यहाँ पर भी शतमान सुवर्ण दक्षिणा होती है।[३] सावित्री इष्टि के प्रसंग में प्रयाज में एक वीणावादक ब्राह्मण याजी का यशोगान किया जाता है।[४]

सावित्री इष्टि के भेद

सावित्री इष्टियाँ तीन होती थीं। द्र० तालिका संख्या२४, पृ० ४५६) यहाँ पर तीनों इष्टियों के प्रयाज के समय वीणावादक ब्राह्मण का यशोगान करेगा।[५]

पारिप्लवाशंसन

सावित्री इष्टि के पश्चात् यजमान और अध्वर्यु उठकर अश्व के दाहिने कर्ण में ''**विभूर्मात्रा प्रभूर्पित्रा**'' इत्यादि समस्त मन्त्र का जप करेंगे। ततः अश्व को उत्तर-पूर्व में छोड़ देंगे।[६]

अश्वमोचन के पश्चात् पृष्ठदर्शन का निषेध है। मार्ग में अश्व की रक्षा करते हुए यदि कोई ब्राह्मण मिल जाय तो, उससे अश्वमेध के विषय में प्रश्न करना चाहिए। यदि वह उसका प्रतिपादन कर सके तो ठीक है, यदि नहीं तो उसका तिरस्कार करना चाहिए; क्योंकि जो अश्वमेध के विषय में नहीं जानता है, वह ब्राह्मण ही नहीं है; क्योंकि अश्वमेध जैसे व्यापक विषय को जानना एक तरह से सर्वज्ञ होने के समान है।[७] अश्वमोचन के पश्चात् अध्वर्यु वेदी की दक्षिण दिशा में एक सुवर्ण की जरी लगी दरी बिछाता है, जिसमें होता

---

१. द्र०, श०ब्रा०, १३.४.२-५।

२. द्र०, ऋ०वे०, ५.८२.९, ७.७५.१।

३. द्र०, श०ब्रा०, १३.४.२.७।

४. द्र०, तत्रैव, १३.४.२.८।

५. द्र०, तत्रैव, १३.४.२.६-१४।

६. द्र०, तत्रैव, १३.४.२.१५।

७. ''यद्यब्राह्मणजातमुपनिगच्छेत् तत्तत्पृच्छद् ब्राह्मणाः कियद्यूयमश्वमेधस्य वित्थेति ते ये न विद्युर्जिनीयात्तान्त्सर्वं वाऽअश्वमेधः सर्वस्यैष न वेद यो ब्राह्मणः सन्नश्वमेधस्य न वेद सोऽब्राह्मणो ज्ञेयः''। (श०ब्रा०, १३.४.२.१६-१७)

तालिका संख्या-२४

सावित्री इष्टि

१. सविता प्रसविता	२. सविता आसविता	३. सविता सत्यप्रसविता
(क) पंचदश सामिधेनियाँ	सप्तदश सामिधेनियाँ	सप्तदश सामिधेनियाँ
(ख) द्वादशकपाल पुरोडाश	द्वादशकपाल पुरोडाश	द्वादशकपाल पुरोडाश
(ग) दो आज्यभाग वृत्रघ्न हेतु	दो आज्यभाग सत् हेतु	दो आज्यभाग रयि हेतु
(घ) शतमान स्वर्णदक्षिणा	शतमान रजतदक्षिणा	शतमान स्वर्णदक्षिणा
(ङ) ऋग्वेद,५.८२.९,७.४५.१	ऋग्वेद, ५.८२.५, ७.४५.३	ऋग्वेद, ५.८२.७, ४.४५.४

बैठता है और उसकी दाहिनी ओर सोने की तिपाई पर यजमान एवं उसकी दाहिनी ओर से सोने की जरी लगी दरी के सामने ब्रह्मा, उद्गाता और अध्वर्यु सामने रखे सुवर्णमय कूर्च (आसनविशेष) पर बैठते हैं।[१] सबके बैठ जाने पर अध्वर्यु कहता है— "**हे होतः, समस्त प्राणियों में उपस्थित यजमान का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करो**"। ततः होता पारिप्लवाख्यान प्रस्तुत करता हुआ, अध्वर्यु को आमन्त्रित करता है एवं अध्वर्यु, होता परस्पर एक-दूसरे को सम्बोधित करते हैं।

प्रथम अश्वमेधयाजी का पुण्य स्मरण

इस प्रसंग में आयोजित उपर्युक्त गोष्ठी में प्रथम अश्वमेधयाजी एवं आनुवंशिक अश्वमेधकर्ता सूर्यवंश के प्रथम पुरुष महाराज मनु का स्मरण किया जाता है। इस प्रकार आनुवंशिक अश्वमेधयाजी परम्परा के संस्थापक-प्रवर्तक का स्मरण किया जाता है। इसके बाद वीणावादक उपस्थित होते हैं। उसको अध्वर्यु अश्वमेधयाजी पूर्व राजाओं के यशोगान के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार भारत के अभूतपूर्व वैभवशाली लोकातिशायी परम्परा का मूर्तस्वरूप यहाँ पर उपस्थापित किया जाता है[२]।

प्रक्रम आहुति

उपर्युक्त प्रेरणा देने के बाद अध्वर्यु प्रक्रम आहुति प्रदान करेगा। इसकी दो विधियाँ हैं—

प्रक्रम आहुति

अन्वाहार्यपचन[३] | अश्वपादपरिलेखन

इसमें स्वकुलपरम्परानुसार उपर्युक्त दो विधि है; परन्तु दोनों में अन्वाहार्यपचन अधिक प्रचलित है।[४]

कतिपय अन्य आहुतियाँ

सावित्र इष्टि की प्रसविता नामक पहली आहुति देने से पूर्व आहवनीय अग्नि में रूप नामी आहुतियों का विधान है। यहाँ पर क्रमशः दस आहुतियों का विधान है, यथा—

---

१. श०ब्रा०, १३.४.२.१; २. तत्रैव-१३.४.२.३।

३. **अन्वाहार्यपचनमिति**। दक्षिणाग्नेरायतनस्य बाह्यतो गार्हपत्यकुण्डवद् द्विमेखलं शूर्पाकारं दक्षिणाग्नि-कुण्डमित्युच्यते। तन्मध्ये स्थापितोऽग्निर्दक्षिणाग्निरन्वाहार्यपचन इत्युच्यते। (श्रौतपदार्थ०)

४. द्र०, श०ब्रा०१३.४.२.४।

१. प्रथम दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में सायंकाल धृति नामक आहुतियाँ देते समय, वीणावादक दक्षिणाभिमुख होकर उत्तर मन्द्र लय से रचित तीन गाथाओं का गान करता है। इसमें सम्राट् के युद्ध एवं विजय का वर्णन होता है। ये वीणावादक क्षत्रिय होते हैं।

२. द्वितीय दिन

सावित्री इष्टि के पश्चात् होता-अध्वर्यु संवाद में राजा वैवस्वत प्रजापति यजुर्वेद के अनुवाद का पाठ, वृद्धजन समावेश, अध्वर्यु द्वारा वीणावादन का आदेश।

३. तृतीय दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा वरुण, प्रजा गन्धर्व, सुन्दर युवा समावेश, अथर्ववेद के पर्व का पाठ, प्रक्रम आहुति का निषेध।

४. चतुर्थ दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा सोम वैष्णव, प्रजा अप्सराएँ, सुन्दर युवतियों का समावेश, आङ्गिरस वेद के एक पर्व का पाठ।

५. पञ्चम दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा अर्बुदकाद्रवेय, प्रजा सर्प, सर्प एवं सर्पविदों का समावेश, सर्पविद्या वेद के एक पर्व का पाठ।

६. षष्ठ दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा कुबेरवैश्रम, प्रजा राक्षस, तस्करकुण्ठकों का समावेश, देवजनविद्या वेद के एक पर्व का पाठ।

७. सप्तम दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा अशितधान्व और प्रजा असुर, कुसीदियों का समावेश, माया वेद की माया का प्रदर्शन, प्रक्रम आहुति का निषेध।

८. अष्टम दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा मत्स्यसाम्मद, प्रजा जलचर, मत्स्य और मत्स्य जीवों का समावेश, इतिहास वेद से कुछ इतिहास का श्रवण, प्रक्रम आहुति का निषेध।

९. नवम दिन

सावित्री इष्टि के बाद होता-अध्वर्यु संवाद में राजा तार्क्ष्यवैवस्वत, प्रजा पक्षी, पक्षी एवं पक्षिशास्त्रियों का समावेश, पुराण वेद से कुछ पुराणपाठ, प्रक्रम आहुति का निषेध।

१०. दशम दिन

सावित्री इष्टि के पश्चात् होता-अध्वर्यु संवाद में राजा धर्म इन्द्र, प्रजा देवगण, अप्रतिग्रही श्रोत्रिय ब्राह्मणों का समावेश, सामवेद से दस मन्त्रों का पाठ, प्रक्रम आहुतियों का निषेध।

पारिप्लवाख्यान-शब्दार्थ

यह पारिप्लवाख्यान का स्वरूप है। इसमें समस्त राजाओं-प्रजाओं, वेदों, देवों, भूतों का वर्णन करके, सम्राट्, यजमान का उसके समान स्तर का कीर्तन किया जाता है। यह कार्य अध्वर्यु द्वारा आदिष्ट होने पर होता द्वारा किया जाएगा।[१] यह पारिप्लवाख्यान वर्षपर्यन्त कीर्तनीय है। वर्षपर्यन्त पारिप्लवन आवृत्तिपूर्वक कथन होने के कारण ही इसका नाम पारिप्लव है। उपर्युक्त १० आहुतियों का ३६ बार अनुष्ठान होगा। १०×३६ = ३६० आहुतियों का वर्षपर्यन्त विधान है।[२]

यूपकाष्ठादि

पूर्वोक्त वर्षपर्यन्त पारिप्लवाख्यान के बाद दीक्षा होती है। प्राजापत्य पशु के आलंभन के पश्चात् इष्टियाँ समाप्त हो जाती हैं। पुरोहितों की अग्नियों में आहुतियाँ दी जाती हैं। दीक्षादिन = १२, उपसद दिन = १२, सुत्याह = ३ इस प्रकार उपर्युक्त सप्तविंशतिस्तोम होते हैं।[३]

वाग्विसर्जन = मौनभंग का समय

दीक्षा-समाप्ति के बाद "**नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्**" इस नियम के अनुसार सायंकाल वाग्विमोचन होता है। उस समय वीणावादक एकत्र होते हैं एवं अध्वर्यु की प्रेरणा से सम्राट् यजमान का देवताओं के समान यशोगान करते

१. श०ब्रा०, १३.४.३.५-१५।
२. तत्रैव- १३.४.३.१५।
३. तत्रैव- १३.४.४.१।
४. तत्रैव- १३.४.४.२।

हैं।[४] प्रतिदिन सायंकाल मौनभंग के पश्चात् अग्निष्टोर्मीय इष्टि के बाद वीणावादन कार्यक्रम प्रस्तुत होता है।[१] इसी क्रम में तीन सुत्यादिवसों में वसतीवरी एवं उद्वसानीय के उपरान्त वीणागायन के द्वारा सम्राट्, यजमान का प्रजापति के साथ समानता का उपस्थापन किया जाता है।[२]

यूपदारु

यूप २१ होते हैं, एवं २१ अरत्नि प्रमाण के होते हैं। मध्ययूप अग्निष्ठ होता है, जो कि रज्जुदाल काष्ठ का बना होता है।

उसके दोनों ओर दो पीतदारु के यूप एवं दोनों ३,३ = ६ बिल्व के और, ३,३ = ६ खदिर के, ३,३ = ६ पलाश के यूप होते हैं।[३]

अग्निष्ठ क्यों ?

मध्ययूप अग्निष्ठ को वेद में नासिका अर्थात् यूपों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है और वह अग्निकुण्ड के सर्वाधिक निकट होने के कारण अग्निष्ठ कहलाता है। अन्य दो पीतदारु यूप सुगन्धयुक्त होते हैं एवं शीघ्र ज्वलनशील होते हैं। ये दोनों अग्निष्ठ नामक प्रधान यूप (मध्यस्थिति) के ठीक दोनों ओर आस-पास होते हैं। शतपथब्राह्मण के अनुसार 'अग्निष्ठ'रूपी नाक अर्थात् प्रधान चक्षुस्वरूप है।[४] इसके दोनों ओर ३-३ बिल्व यूप का विवरण इस प्रकार है— पीतदारु के दोनों यूप भीतर को होंगे एवं बिल्व के सभी यूप बाहर को होंगे। बिल्व के ३-३ = ६ समूह वाले यूप कर्णस्थानीय हैं। इसके बाद खदिर यूप, बिल्व की अपेक्षा बाहर की ओर होंगे एवं खदिर की अपेक्षा पलाश यूप बाहर की ओर होंगे। इस प्रकार २१ यूपों में अग्निषोमीय पशुओं का आलम्भन होता है। यहाँ पर कर्मकाण्डात्मक त्रिदिवसव्यापी अश्वमेध महायज्ञ का प्रथम दिन का कृत्य समाप्त होता है।

द्वितीय सुत्याह कृत्य

इसके अन्तर्गत प्रातःकाल गौतम स्तोत्र का पाठ होगा। यह पाठ चार-चार करके बढ़ता जाएगा; क्योंकि गौतम स्तोत्र के बहिष्पवमान में चार-चार मन्त्र होते हैं।

---

१. श०ब्रा० १३.४.४.३; २. तत्रैव- १३.४.४.४।
३. तत्रैव- १३.४.४.५; ४. तत्रैव- १३.४.४.७।

१. बहिष्पवमान – ४ मन्त्र
२. आज्य – ८ मन्त्र
३. मध्यन्दिनपवमान – १२ मन्त्र
४. पृष्ठ – १६ मन्त्र
५. आर्भवपवमान – २० मन्त्र
६. अग्निष्टोम साम – २४ मन्त्र

कुछ अग्निष्टोम साम में चार मन्त्र ही होते हैं। अग्निष्टोम के पश्चात् वसतीवरियों की परिक्रमा के बाद अध्वर्यु अन्नहोम करता है, जिसमें 'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा' इत्यादि १२ अनुवादों से आहुतियाँ दी जाती हैं।[१]

द्वितीय सुत्याह का सवनत्रय

प्रातःसवन

"**अग्निं तं मन्ये यो वसुः**" (ऋग्वेद ५.६ सम्पूर्ण सूक्त), होता इस पंक्ति छन्द वाले आज्य को पढ़कर, एक दिन के आज्य सूक्त को पढ़ता है (ऋग्वेद ३.१३ सम्पूर्ण सूक्त)। "**वारहतप्रउग**" तथा "**मधुछन्दस**" (विश्वामित्र के १०० पुत्रों में मध्यम तथा जेता के पिता मधुछन्दा द्वारा दृष्ट) के ३-३ मन्त्र करके साथ-साथ पाठ करता है।

माध्यन्दिन सवन

"**त्रिकेन्द्रकेषु महिषो यवा शिरः**" (ऋग्वेद- २.२२.१) यह मरुत्वतीयशस्त्र का प्रथम मन्त्र है। यज्ञों में "अश्वमेध" एवं छन्दों में "अतिछन्द" को अतिष्ठ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसका तीन बार पाठ किया जाता है। उसके आगे तीन मन्त्र हैं— "**इदं वसो सुतमन्धः**" (ऋग्वेद ८.१.१-३), तत्पश्चात् "**इत्था हि सोम इन्मदे**" (ऋग्वेद- १.८०), "**अवितासि सुनवतो वृक्तबर्हिषः**" (ऋग्वेद- ८.३६.१-७) इत्यादि षट्पद सूत्रों को पढ़कर एकदिनात्मक यज्ञ के सूक्तों में निविद डाला जाता है। यह मरत्वतीयशस्त्र है। इसी प्रकार निष्कैवल्य शस्त्र भी होता है, जिसमें महानाम्नी पृष्ठ होता है एवं "अनुरूप" तथा "प्रगाध" के साथ पढ़ा जाता है। "**इन्द्रो मदाय वावृधे**" (ऋग्वेद- १.८१.१-९), "**प्रेदं ब्रह्मवृत्रतूर्येष्वाविथ**" (ऋग्वेद- ८.३७.१-७) इन पंक्ति और षट्पद सूक्तों का पाठ किया जाता है।

---

१. य०वे० २२.२३-२४।

तृतीय सवन

तृतीय सवन में वैश्वदेव शस्त्र का ''अतिछन्द'' मन्त्र है। ''**अभित्यं देवं सवितारमोण्योः**, (यजुर्वेद ४.२५) ''**अभि त्वा देवता**'' ये तीनों मन्त्र (ऋग्वेद १.२४.३-५) पढ़कर ''**उदुष्य देवः सविता दमोना**'', (ऋग्वेद ६.७१.४.-६) इस तृच से एकदिनात्मक यज्ञ के सूक्त में निविद डाला जाता है। इस प्रकार ''**महीद्यावा पृथिवी**'' (ऋग्वेद ४.५६.१-४) इत्यादि चार मन्त्रों को पढ़कर एक-दिनात्मक यज्ञ के सूक्त में (ऋग्वेद १.१६९) निविद डाला जाता है। इसी प्रकार ''**रिभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो**'' (ऋग्वेद ४.३४) इत्यादि आर्भवशस्त्र को पढ़कर एकदिनात्मक यज्ञ के सूक्त को पढ़कर एकदिनात्मक यज्ञ के सूक्त (ऋग्वेद १.१११) में निविद डाला जाता है। आगे भी ''वैश्वदेव-शस्त्र'' यथा ''**को नु वाङ्मित्रावरुणा**'' (ऋग्वेद ५.४१) को पढ़कर एकदिनात्मक यज्ञ के सूक्त (ऋग्वेद १.१८९) में निविद डाला जाता है। यह वैश्वशस्त्र सम्पन्न हुआ। तृतीय सवन का अन्तिम शस्त्र है— ''**अग्निमारुतशस्त्र**'', जिसके अन्तर्गत ''**मूर्धानं दिवो अरतिं**'' (ऋग्वेद ६.७) इस वैश्वानर मन्त्र को पढ़कर एकात्मक यज्ञ के मन्त्र (ऋग्वेद ३.३) में निविद डाला जाता है। इसी प्रकार मारुत मन्त्र ''**आ रुद्रासि इन्द्रवन्तः**'' (ऋग्वेद ५.५७) पढ़कर एकदिनात्मक यज्ञ के मन्त्र (ऋग्वेद१.१८७) में निविद प्रक्षेप होता है। आगे (ऋग्वेद ६.१५.१-९) इन नौ जात मन्त्रों ''**इममूषु वो अतिथिमुषर्बुधम्**'' को पढ़कर एकदिनात्मक यज्ञ के मन्त्र (ऋग्वेद १.१४३) को पढ़कर निविद डाला जाता है।

कतिपय अन्य कृत्य

तत्पश्चात् बहिष्पवमान पाठ से पहले अध्वर्यु के सहयोगी अश्व को स्नान करवाकर पवमान के लिए चलते हैं एवं बहिष्पवमान पाठ के उपरान्त अश्व को पाठ के स्थान में लाते हैं, जहाँ वह छींक दे अथवा लोट दे तो, यज्ञ सफल माना जाता है। यहाँ पर अश्व को लाकर अध्वर्यु होता से स्तुति करने को कहता है एवं होता ११ मन्त्रों से अश्वस्तुति करता है (ऋग्वेद १.१६७.१-११)। इसमें भी पहले एवं अन्तिम मन्त्र को ३-३ बार पढ़ा जाता है, इस प्रकार १५ मन्त्र हो जाते हैं। अग्रिम दो मन्त्रों (ऋग्वेद १.१६३.१.१२-१३) को छोड़कर अधिग्रु में (ऋग्वेद १.१६२) ''**मा नो मित्रो वरुणो**'' इत्यादि का पाठ होता है। कुछ लोग इससे पूर्व ''**चतुस्त्रिंशद्वाजिनो**'' (ऋग्वेद १.१६२.१८) को रखते हैं। यहाँ पर समस्त सूक्त को ही मिलाने का विधान है।

सञ्ज्ञपन

अश्व के लिए वस्त्र, तदुपरि चद्दर, तदुपरि स्वर्ण बिछाकर, फिर संज्ञपन होता है। पशुओं के संज्ञप्त होने पर चारों पत्नियाँ, पाँचवीं कुमारी एवं ४०० अनुचरियाँ पदप्रक्षालनार्थ पानी लाती हैं। पदप्रक्षालन के पश्चात् महिषी अश्व के समीप शयन करती है, जो पूर्ववर्णित है।[१]

संवाद

यहाँ पर विभिन्न ऋत्विजों और महिषियों का संवाद होगा, जिसका स्वरूप निम्नांकित है—

१. अध्वर्यु का प्रश्न	—	कुमारी द्वारा उत्तर[२]
२. ब्रह्मा का महिषी से प्रश्न	—	महिषी की १०० अनुचरियों द्वारा उत्तर[३]
३. उद्गाता का वावाता से प्रश्न	—	वावाता की १०० क्षत्रिय अनुचरियों द्वारा उत्तर[४]
४. होता का परिवृक्ता से प्रश्न	—	परिवृक्ता की १०० दासीपुत्री अनुचरियों द्वारा उत्तर[५]
५. छत्ता का पालागली से प्रश्न	—	पालागली की १०० सूतपुत्री अनुचरियों द्वारा उत्तर[६]

इस संवाद में आज के होलिकोत्सव के समान अनेक हास्यव्यंग्यविनोदादि स्थूलविषयात्मक कौतुक हैं। चैत्र मास ही होलिका का समय है एवं प्रस्तुत संवाद का समय भी चैत्र मास ही है। अश्लीलभाषणजन्य मुखमालिन्यपरिहारार्थ ''दधिक्राव्णो'' मन्त्र विशेष का पाठ होता है।[७] चूँकि अश्व में वपा नहीं होती, अत: कतिपय आचार्यगण गवय और तूपर की वपाओं को अश्व पर स्थापित करते हैं, इस प्रकार प्रतीकात्मक वपा का विधान करते हैं; परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं है, अश्व में विद्यमान चन्द्रनात्मक भेद से ही कार्यसिद्धि होती है।[८] सम्पूर्ण

---

१. य०वे० २३.२०-२१; २. तत्रैव- २३.२२-२३।
३. तत्रैव- २३.२४-२९; ४. तत्रैव- २३.२६-२७।
५. तत्रैव- २३.२८-२९; ६. तत्रैव- २३.३०-३१।
७. ''ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति वाचमेवैतत्पुनते देवयाज्यायै देवानामप्रक्रमाय...।'' (श०ब्रा० १३.५.२.१०)
८. ''या च गोमृगे वपा भवति या चाजे तूपरे तेऽअश्वे प्रत्यवधायाहरन्ति नाश्वस्य वपास्तीति वदन्तो न तथा कुर्यादश्वस्यैव प्रत्यक्षं मेद आहरेत्प्रज्ञाता इतरा:''। (श०ब्रा०१३.५.२.१०)

वपापाक के पश्चात् स्वाहाकार से आहुति के अनन्तर यज्ञशाला के पीछे, संसद में बैठकर ब्रह्मोद्य शास्त्रार्थ (Question-Answer) होता है। पुनः अग्रिम द्वार से अपनी-अपनी धिष्णियों में बैठते हैं। उसके बाद ब्रह्मोद्य सम्पन्न होता है।

ब्रह्मोद्य कर्म

पूर्व में भी प्रश्नोत्तर का प्रसंग आया है; परन्तु वह ब्रह्मोद्य नहीं है। वहाँ अध्वर्यु-ब्रह्मा-होता-उद्गाता-क्षत्ता का क्रमशः कुमारी-महिषी-वावाता-परिवृक्ता-पालागली से प्रश्नोत्तर होता है एवं कुमारी तथा महिषी आदि चारों रानियों की अनुचरियाँ उत्तर देती हैं। इस प्रसंग में प्रश्न एवं उत्तर सर्वथा व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध हैं; परन्तु प्रकृत ब्रह्मोद्य कर्म में अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन प्रस्तुत है। इसमें प्रश्नोत्तर दो भागों में प्रस्तुत होता है। प्रथम भाग में चार प्रश्न तथा द्वितीय भाग में पाँच प्रश्न होते हैं। वस्तुतः ब्राह्मण में प्रतीक रूप में इसका उल्लेख किया गया है। मन्त्रभाग में कुल ३६ प्रश्नोत्तर विद्यमान हैं। मन्त्रभाग के ४-४ प्रश्नोत्तरसमूह को ब्राह्मणभाग में एक-एक करके प्रतीक रूप में उल्लिखित किया गया है। ब्राह्मणभाग के अनुसार मन्त्रभाग में उल्लिखित प्रश्नोत्तरसमूह के प्रतीकात्मक चार प्रश्नोत्तर के पश्चात्, सदस्यों का स्थान-परिवर्तन होता है। प्रस्तुत प्रसंग में ब्राह्मणभाग के अनुसार संक्षिप्त रूप ही उल्लिखित है।[१]

प्रश्नकर्त्ता		**उत्तरदाता**
१. होता	—	अध्वर्यु
२. अध्वर्यु	—	होता
३. ब्रह्मा	—	उद्गाता
४. उद्गाता	—	ब्रह्मा

उपर्युक्त चार मन्त्रों के पश्चात् प्रश्नोत्तरकर्त्ता सदन से पूर्व की ओर जाते हैं। जब यजमान हविर्धान के निकट बैठता है, तो चार प्रधान ऋत्विक्गण उसके पास जाकर अपना स्थान ग्रहण करते हैं।[२]

५. होता	—	अध्वर्यु
६. अध्वर्यु	—	होता

---

१. य०वे० २३.४५-६२।

२. "एतस्यामुक्तायामुत्थाय। सदसोऽधि प्राञ्चो यजमानमभ्यायन्त्यग्रेण हविर्धानऽआसीनमेत्य यथायतनं पर्युपविशन्ति"। (श०ब्रा० १३.५.३.१६)

७. ब्रह्मा — उद्गाता

८. उद्गाता — ब्रह्मा

९. यजमान — अध्वर्यु

ब्रह्मोद्य के पश्चात् कृत्य

ब्रह्मोद्य के पश्चात् अध्वर्यु हविर्धान में जाकर स्वर्ण के पात्र में प्रजापति-देवताक महिमान ग्रह को लेता है, जिसका पुरोरुग् मन्त्र है—

''हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम''।।[1]

इसके पुरोनुवाक्य एवं प्रैष क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. **सुभूः स्वयंभूः प्रथमः**[2]— पुरोनुवाक्य

२. **होता यक्षत् प्रजापतिम्**[3]— प्रैष वाक्य

ततः होता कहता है—**प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो**[4]। यहाँ वषट्कार होने पर ''**यस्ते अहन्त संवत्सरे संबभूव**''[5] इस मन्त्र से अध्वर्यु आहुति देता है। शतपथब्राह्मणानुसार यहाँ अनुवषट्कार नहीं होता; क्योंकि सोमग्रह की सम्पूर्ण आहुति हो जाती है।

वपा-होम

विभिन्न आचार्यों के अनुसार वपा आहुतियों के सम्बन्ध में अनेक मतान्तर हैं, यथा—

१. सत्यकाम जाबाल का मत

वैश्वदेव की वपा की आहुति होने पर पृथक्-पृथक् आहुतियाँ दी जायेंगी।

२. सोमापम और मानुतन्तव्य नामक दो आचार्यों का मत

इन्द्राग्निदेवताक वपा आहुति के अनन्तर देवतान्तर की आहुतियाँ होंगी।

३. शैलालि आचार्य का मत

प्रजापतिदेवताक आहुत्यनन्तर अन्य देवता की आहुति होगी।

---

१. ऋ० १०.१२१.१, य०वे० २३.१।

२. य०वे० २३.६३;

३. तत्रैव- २३.६४।

४. तत्रैव- २३.६५;

५. श०ब्रा० १५.५.२.२३।

४. *भाल्लवेय आचार्य का मत*

चातुर्मास्य के २१ देवताओं के लिए आहुति देकर २१ भाग करना चाहिए।

५. *शुनकगोत्रीय इन्द्रोत आचार्य का मत*

प्रत्येक देवता के लिए पृथक्-पृथक् आहुतियों का विधान करें।

६. *मैथिल विद्वान् याज्ञवल्क्य का मत*

प्रजापति एवं पशुओं की वपाओं की आहुतियाँ साथ-साथ होनी चाहिए।[१]

वपाहुति के पश्चात् अध्वर्यु पूर्ववत् पुनः हविर्धान में जाकर रजतपात्र में (स्वर्णपात्र में नहीं) प्रजापतिदेवताक द्वितीय महिमान ग्रह को लेता है। इसका पुरोरुग् मन्त्र है— "**यः प्राणतो निमिषतो महित्वा**" (यजुर्वेद २३.३) एवं प्रथम महिमान ग्रह के आज्य के स्थान में अनुवाक्य एवं अनुवाक्य के स्थान पर आज्य प्रैष पूर्ववत् ही रहेगा। "**होता यक्षत प्रजापतिम्**" (यजुर्वेद २३.४) वषट्कार से आहुति एवं "**यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा संबभूव**" (यजुर्वेद २३.४) इस मन्त्र से वषट्कार द्वारा आहुति प्रदान करेगा; परन्तु अनुवषट्कार नहीं होगा।[२]

वेदोक्त अश्वमेधयाजी राजाओं का वर्णन

शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेधयाजी अनेक राजाओं का वर्णन है। इन राजाओं ने अश्वमेध (एकाधिक) यज्ञों के संपादन के साथ-साथ अन्य यज्ञों का भी संपादन किया था। इसमें से कतिपय के पुरोहितों का नाम भी प्राप्त होता है। वर्णनानुसार वेदोक्त अश्वमेधयाजी राजाओं का वर्णन इस प्रकार है—

१. *परीक्षितपुत्र जनमेजय*

"त तदेतद्गाथयाभिगीतम्। आसन्दीवति धान्याद् रूक्मिण हरितस्रजम् अबध्नादश्वसारगं देवेभ्यो जनमेजय इति"।[३]

२. *कोशलनरेश अह्लार*

"तदेतद्गाथयाभिगीतम् अट्णारस्य परः पुत्रोऽश्वं मेध्यमबन्धयत, हैरण्यनाभः कौसल्यो दिशः पूर्णा अमहतेति।"[४]

---

१. श०ब्रा० १३.५.३.१-६।

२. "हुतासु वपासु। प्रपद्याध्वर्युः राजतेन पात्रेण प्राजापत्यं महिमानमुत्तरं ग्रहं गृह्णाति, तस्य पुरोरुग्य...नानुवषट्करोति तस्योक्तं ब्राह्मणम्।" (श०ब्रा० १३.५.३.७)

३. श०ब्रा० १३.५.४.२-३; ४. तत्रैव- १३.५.४.४।

३. इक्ष्वाकुवंशीय पुरुकुत्स

"तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तमस्माकमत्र पितरस्तऽआसन्त्सप्त ऋषयो दौर्ग्रहे बध्यमानऽइति।"[१]

४. अयोगवाह राजा मरुत

"तदेतद्गाथयाभिगीतं मरुत: परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन्गृहे आविक्षितस्याग्नि: क्षत्ता विश्वेदेवा: सभासद इति"[२]।

५. पाञ्चालराज क्रैव्य/क्रीवि

"तदेतद्गाथयाभिगीतम् अश्वं मेध्यमालभत क्रिवीणामतिपूरुष: पांचाल: परिवक्रायां सहस्रशतदक्षिणामिति"[३]।

६. मत्स्यराज द्वैतवन

"तदेतद्गाथयाभिगीतम्, चतुर्दश द्वैतवनो राजा संग्रामजिघ्रयान् इन्द्राय वृत्रघ्नेऽबध्नात् तस्माद् द्वैतवनं सर इति"[४]।

७. दुष्यन्तपुत्र भरत

"तदेतद्गाथयाभिगीतम् अष्टासप्ततिं भरतो दौ:ष्यन्तिर्यमुनामनु गंगायां वृत्रघ्नेऽबध्नात्पंचपंचाशतहयानिति"[५]।

८. सुद्युम्नपुत्र मायावान्

"त्रयस्त्रिंशशतं राजाश्वान् बध्वा मेध्यान् सौद्युम्नीत्यष्टादन्यानमायान्मायवत्तर इति।"[६]

९. श्विक्नराज ऋषभयाज्ञतुर

"तदेतद्गाथयाभिगीतं याज्ञतुरे यजमाने ब्रह्मणा ऋषभे जना: अश्वमेधे धनं लब्ध्वा विभजन्ते स्म दक्षिणा इति।"[७]

१०. पांचालराज शोणसात्रासाह

"शोण: सात्रासाह ईजे पांचालो राजा तदेतद्गाथयाभिगीतं सात्रासहं यजमाने—अश्वमेधेन तौर्वशा: उदीतरे त्रयस्त्रिंशा: षट्सहस्राणि वर्मिणामिति"।[८]

---

१. श०ब्रा० १३.५.४.५; २. तत्रैव- १३.५.४.६।
३. तत्रैव- १३.५.४.७; ४. तत्रैव- १३.५.४.९।
५. तत्रैव- १३.५.४.११; ६. तत्रैव- १३.५.४.१२।
७. तत्रैव- १३.५.४.१५; ८. तत्रैव- १३.५.४.१६।

११. सत्राजित् के पुत्र शतानीक

"गोविनतेन शतानीक:। सात्राजित् ईजे काश्यस्याश्वमादाय ततो हैतदर्वाकाशयो अग्निन्नादधत।"[1]

दक्षिणा का संक्षिप्त निरूपण

पूर्व में कथित है कि अर्थशास्त्र सिद्धान्त सम्मत वित्तीय विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तानुसार दिग्विजय से प्राप्त विशाल द्रव्यराशि को बाँटने की योजना थी। इस पर विशेष ध्यातव्य है कि राष्ट्र के मध्य में ब्राह्मण की भूमि, पुरुष एवं धन को छोड़कर अवशिष्ट समस्त धन का दान होता था।

ऋत्विजों में दिशादान विभाजन

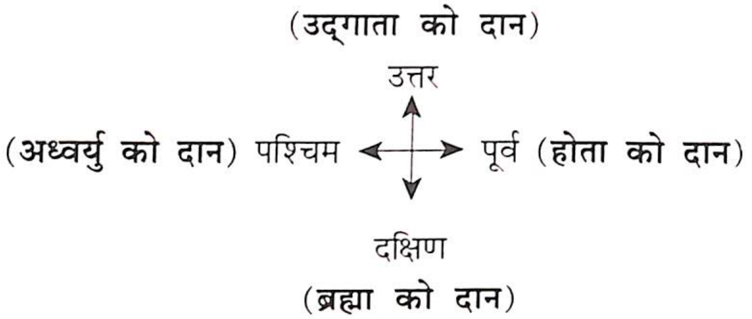

पूर्व दिशा की समस्त सम्पत्ति होता के लिए, दक्षिण दिशा की समस्त सम्पत्ति ब्रह्मा के लिए, पश्चिम दिशा की समस्त सम्पत्ति अध्वर्यु के लिए, उत्तर दिशा की समस्त सम्पत्ति उद्गाता के लिए होती थी। शेष ऋत्विजों का भी श्रौतसूत्रानुसार प्रथम का १/२, द्वितीय का १/३, तृतीय का १/४ होता था।[2] उद्वसानीय आहुति के पश्चात् मित्रावरुण, विश्वेदेव एवं बृहस्पति देवताओं की तृप्ति के लिए २१ वपा अर्थात् वन्ध्या गाय का आलम्भन होगा।[3] शतपथब्राह्मणानुसार उद्वसानीयेष्टि की समाप्ति पर चारों पत्नियाँ, पाँचवीं कुमारी एवं चारों पत्नियों की ४०० अनुचरियों को भी नियमानुसार दक्षिणा में दान किया जाएगा;[4] परन्तु श्रौतसूत्र के विवेचनानुसार कुमारी अध्वर्यु को दी जायेगी एवं चारों प्रधान ऋत्विजों को ४०० अनुचरियों का दान दिया जाएगा। पत्नी-दान का स्पष्टत: निषेध है।[5]

---

१. श०ब्रा० १३.५.४.२०।

२. तत्रैव- १३.५.४.२४;

३. तत्रैव- १३.५.४.२५।

४. तत्रैव- १३.५.४.२७;

५. तत्रैव- १३.५.४.२८।

प्रत्यृतु पश्वालम्भन

क्र.सं.	ऋतु नाम	देवता नाम	पशु-संख्या
१.	वसन्त	अग्नि	६
२.	ग्रीष्म	इन्द्र	६
३.	वर्षा	पर्जन्य/मरुत्	६
४.	शरद्	मित्रावरुण	६
५.	हेमन्त	इन्द्राविष्णु	६

इस प्रकार ६×६ = ३६ पशुओं का आलम्भन होगा। यह कृत्य अश्वमेध-समाप्ति के बाद आगामी एक वर्ष के अन्तर्गत अनुष्ठेय है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय-ब्राह्मण और अश्वमेधयज्ञ

तैत्तिरीय-ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। काठक-ब्राह्मण का नाम भी सुना जाता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण का पाठ स्वरों से युक्त मिलता है, जिस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण का। फलत: यह नितान्त प्राचीन प्रतीत होता है। यह तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें ''काण्ड'' कहते हैं।

१. तैत्तिरीय-ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। २. द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी (जिसमें सोम के स्थान पर सुरा के पान का विधान है) तथा बृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि नाना सत्रों का विवरण दिया गया है। प्रत्येक अनुष्ठान के उपयोगी ऋग्-मन्त्रों का भी सर्वत्र निर्देश है। इनमें से अनेक ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत हैं तथा अनेक नवीन प्रतीत होती हैं। ३. तृतीय काण्ड अवान्तरकालीन रचना माना जाता है। जिसमें प्रथमत: ''नक्षत्रेष्टि'' का विस्तृत वर्णन है। ४. चतुर्थ प्रपाठक में पुरुषमेध के उपयुक्त पशुओं का वर्णन है, जो कृष्णयजुर्वेद की संहिता में उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत माध्यन्दिन-संहिता से वहाँ उद्धृत किया गया है।

इस ब्राह्मण में सामवेद समस्त वेदों का शीर्ष-स्थानीय माना गया है। मूर्ति तथा वैश्य की उत्पत्ति ऋक् से, गति तथा क्षत्रिय की उत्पत्ति यजुष् से तथा ज्योति और ब्राह्मण की उत्पत्ति सामवेद से बतलाकर यह ब्राह्मण साम को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है। नाना प्रकार के यज्ञों में गाय की दक्षिणा का ही सर्वत्र विधान है। वर्णव्यवस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा उसका सर्वत्र आदर दीख पड़ता

है। अश्वमेध केवल क्षत्रिय राजाओं के लिए ही विहित था और इसका वर्णन यहाँ (काण्ड ३, प्रपाठक ८ और ९) बड़े विस्तार तथा विशद रूप से किया गया है। क्षत्रियों में दो प्रकार का भेद दीखता है, जो राज्य करने के अधिकारी थे उनका नाम "राजपुत्र" था; परन्तु राज्य करने के अनधिकारी क्षत्रिय का नाम "उग्र" था।[१]

तैत्तिरीय-ब्राह्मणानुसार अश्वमेधयज्ञ-विवरण

सूत्रकारों ने स्पष्ट किया है—"**राजा सार्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत**"। उसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया है—**चैत्र्यां पौर्णमास्यां साङ्ग्रहणेष्ट्या यजते**"। तदनुसार साङ्ग्रहणेष्टि का विधान स्पष्ट है। यथा[२]—

"**साङ्ग्रहणेष्ट्या यजते इमां जनतां संगृहणाति इति**"।

श्रीसायण के शब्दों में "**इमां जनतां स्वस्यापेक्षितं जनसमूहं सङ्ग्रहीष्यामि इत्यभिप्रेत्य साङ्ग्रहणाख्य इष्ट्या यजेत**"। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जनमत को अपने पक्ष में करने के पश्चात् ही अश्वमेध महायाग जैसी विशाल परियोजना का सम्पादन सम्भव हो सकता है। महाकवि भारवि के शब्दों में "**जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः**"।[३]

यजमान-संस्कार एवं सांग्रहणी इष्टि

१. अश्व-बन्धनार्थ रसना का परिमाण एवं तत् प्रकृतिरूप मुंजा का उल्लेख, २. अश्वमेधारम्भ काल हेतु प्रशस्त काल-निरूपण, ३. अश्वमेधोपयोगी देशविशेष का विधान, ४. अश्वमेध में वृत ऋत्विजों का ससम्मान आनयन, ५. केशवपनादि विधान।

ब्रह्मौदन-विधान

१. पूर्वोक्त जलानयन हेतु देशविशेष का विधान, २. संगृहीत जल में ओदन-पाक-विधान, ३. अवशिष्ट ब्रह्मौदन से अश्वाभिधानी रसना का अंजन,

---

१. द्र०, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पं०बलदेव उपाध्याय, "ब्राह्मण-साहित्य"।

२. अच्छिद्रार्थाः कर्ममन्त्राः सप्तमे पाठके श्रुताः।
अष्टमे नवमे चाश्वमेधब्राह्मणमुच्यते।।
अश्वमेधस्त्रिरात्रोऽयं महापं त्विहाष्टमे।
पाठके वर्ण्यते तत्र प्रोक्ताऽऽदौ स्वामिसंस्कृतिः।। (तै०ब्रा०, ३.८.१ मंगलाचरणम्)

३. जितेन्द्रियत्वं विनयस्य लक्षणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणातिरेकेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः।। (किरात०, प्रथमसर्ग)

४. अश्वाभिमानी रसना का दर्भमयत्व प्रतिपादन, ५. ब्रह्मौदन भक्षण की प्रशंसा, ६. सुवर्ण दक्षिणा दान एवं उसकी प्रशंसा, ७. ब्रह्मौदनपाकार्थ वर्ष्य-कूप्य-स्थावर-वहन्त्य आदि जलों को प्रजापतिदेवताक अश्व के लिए अपेक्षित बताया गया है।

रशना द्वारा अश्वबन्धन-विधान

१. ब्रह्मा के अनुज्ञापन में मन्त्र का उपस्थापन एवं प्रस्तुतीकरण, २. अश्वाभिधानी रशना के आदान के लिए मन्त्रविधान, ३. अश्वाभिधानी रशना के अभिमन्त्रण में मन्त्र एवं रशना परिमाण विषय में विभिन्न पक्षों का स्पष्टीकरण, ४. रशनादान-मन्त्रस्थ पदों का तात्पर्य विवरण, ५. शाखान्तरीय मन्त्रविशेष का तात्पर्य।

अश्व का स्नान-विधान

१. स्नानार्थ अश्व को ले जाने पर चतुरक्षश्वा का आनयन, २. चतुरक्षश्वा के मारण हेतु अध्वर्यु द्वारा दासीपुत्र को आदेश, ३. सैध्रक मूसल द्वारा अश्व का हनन, ४. हतश्वा का अश्व के नीचे बन्धन, ५. अश्व के नीचे मारे गये मृत कुक्कुर का बाद में अश्व के दक्षिण पार्श्व में जल में क्षेपण, ६. अश्वोत्थान के लिए दण्डद्ध इषीका नामक तृणसमूह रूप उदूह का विधान, ७. जल से तीर्थपर्यन्त अश्व को प्रेरित करना, ८. ब्रह्मा और यजमान का परस्पर हाथ मिलाकर दो मन्त्रों का पाठ।

चार प्रधान ऋत्विजकर्तृक अश्वप्रोक्षण-निरूपण

१. सर्वप्रथम प्रधान ऋत्विजकर्तृक सामान्येन अश्व-प्रोक्षणरूप इतिकर्तव्यता का विधान, २. उक्त कार्य सम्पादन काल में पूर्व दिशा में स्थित होकर अध्वर्यु द्वारा प्रोक्षण सम्बन्धी कर्तव्योपदेश, ३. उक्त कार्य सम्पादन काल में, दक्षिण दिशा में स्थित होकर ब्रह्मा द्वारा प्रोक्षणकर्तव्यत्व-विधान, ४. इसी सातत्य में पश्चिम दिशा में स्थित होकर होता द्वारा प्रोक्षण का कर्तव्यत्व-विधान, ५. इसी सातत्य में उत्तर दिशा में स्थित होकर उद्गाता द्वारा प्रोक्षणरूप इतिकर्तव्यता-विधान, ६. प्रत्येक दिशा में स्थित सहयोगियों की शतसंख्या की प्रशंसा।

अश्वशरीर से भूमिपतित जलबिन्दु का अनुमन्त्रण

१. स्नात अश्वशरीर से बिन्दुपतनरूपी दोषपरिहारार्थ बिन्दुओं का अनुमन्त्रण, २. अनुमन्त्रण एवं अनुवचन के लिए प्रयुक्त मन्त्रों की सहस्र

संख्यात्मकता, ३. हवनीय बिन्दुओं के भूमिपतन के कारण भूमि का अग्नि-सादृश्य निरूपण,४. अश्व शरीर से पतित बिन्दुओं के अनुमन्त्रण मन्त्रों के अनुवचन की यज्ञ समाप्ति के प्रति कारणता, ५. अनुमन्त्रण सम्बन्धी मन्त्रों के तात्पर्यार्थ निरूपण, ६. प्रथमोक्त बिन्दुस्कन्दनरूपी दोष का परिहार।

अध्वर्यु द्वारा दिशा चतुष्टय में स्थित होकर प्रोक्षण

१. पूर्व दिशा में स्थित होकर अध्वर्युकर्तृक अश्व प्रोक्षण, २. दक्षिण दिशा में स्थित होकर अध्वर्युकर्तृक अश्व प्रोक्षण, ३. पश्चिम दिशा में स्थित होकर अध्वर्युकर्तृक अश्व प्रोक्षण, ४. उत्तर दिशा में स्थित होकर अध्वर्युकर्तृक अश्व प्रोक्षण, ५. अश्व के अधोभाग का प्रोक्षण, ६. अश्व के ऊर्ध्व भाग का प्रोक्षण।

अश्वचरित एवं अश्वरूप सम्बन्धी होम

१. अश्वचरित होम-विधि. २. उक्त होम में प्रयुक्त मन्त्रों का तात्पर्य, ३. अश्वचरित होम के विषय में आक्षेप एवं समाधान, ४. अश्वचरित होम की आहुतियों का देशकाल-निरूपण, ५. उक्त विषय में पूर्वपक्ष, तत्खण्डनपूर्वक सिद्धान्त मत स्थापन, ७. अश्वरूप होम-विधि, ७. ''सर्वस्मै स्वाहा'' इत्यादि पृथक् मन्त्र से होम-विधान।

अश्वनाम-निर्वचन एवं अश्वोत्सर्ग

१. अश्व के एकादश नामों का तात्पर्य निरूपण, २. कर्तव्य होम-विधि, ३. उक्त होम के पश्चात् स्वेच्छया दिग्विजय-भ्रमणार्थ अश्वोत्सर्जन, ४. अश्व-रक्षणार्थ विभिन्न सैनिकों की नियुक्ति, ५. यथेच्छ भ्रमण के लिए रात्रि में संरक्षणार्थ संस्कार विशेष, ६. सैनिकों की विशेष संख्या का निरूपण, ७. सैनिकों की कर्तव्यहानि पर प्रायश्चित्त।

दीक्षा-निरूपण

१. वैश्वदेव होम, २. वैश्वदेव होम में देवता-संख्या-निरूपण, ३. दैनिक होम-निरूपण, ४. होम का सामान्य एवं विशेष विधान, ५. सात दिन में एकविंशति होम-विधान, ६. प्रकारान्तर में त्रिंशत्संख्याक होम-निरूपण, ७. दीक्षा में दिन-संख्या-निरूपण, ८. पूर्णाहुति।

पूर्वानुवाकोक्त विधि का विशेष निरूपण

१. वैश्वदेवविधि-प्रशंसा, २.प्रथम एवं द्वितीय दिन के छः मन्त्रों की प्रशंसा, ३. तृतीय, सप्तम दिन के मन्त्रों का तात्पर्य, ४. पूर्णाहुति।

इष्टित्रय का निरूपण

दीक्षा के पूर्व उत्कृष्ट अश्व का सेना के संरक्षण में वर्षपर्यन्त स्वेच्छया दिग्विजयार्थ भ्रमण के समय, देवयजन देश में प्रतिदिन करणीय इष्टि-त्रय का निरूपण—

१. प्रातर: अनुष्ठेय इष्टि, २. मध्याह्न अनुष्ठेय इष्टि, ३. अपराह्ण अनुष्ठेय इष्टि, ४. सायंकाल अनुष्ठेय इष्टि, ५. श्रौतसूत्रोक्त विशेष विधान।

दीर्घकालिक उखा सम्भरण एवं ''आब्रह्मन्'' इत्यादि मन्त्र का निरूपण–

१. आब्रह्मन् ब्राह्मणोब्रह्मवर्चसी'' इत्यादि मन्त्र में द्वादश वाक्यों का क्रमश: निरूपण, २. दीक्षानन्तर संवत्सरपर्यन्त प्रतिदिन सावित्री इष्टित्रय का अनुष्ठान पूर्ण होने पर, उखा-सम्भरणोपरान्त, उखा नामक अग्नि का उपस्थापन विहित है।

दशविध अन्नहोम-निरूपण

१. अन्नहोम सामान्य विधि, २. अन्नहोमार्थ दशद्रव्य—आज्य-मधु-तण्डुल-पृथुक-लाजा-करम्ब-धान-सक्तु-मसूर-प्रियंगु का पृथक् निरूपण, ३. दश द्रव्यों का मिश्रणपूर्वक होम।

आरण्य एवं अन्नहोमों का फलाधायकत्व

१. ''प्रजापतिं वा'' आदि पूर्वानुवाकोक्त मन्त्र की विशेष व्याख्या, २. अन्तिम अनुवाक के व्याख्यान विस्तार के लिए प्रथम से लेकर सप्त मन्त्र का तात्पर्य, ३. कतिपय मन्त्रों का कालविशेष-विधान।

अन्नहोम मन्त्रों का व्याख्यान

१. अन्नहोम मन्त्रों का विविध श्रौत नाम, २. ''अश्व'' नामक मन्त्रानुवाक का तात्पर्य, ३. इसी क्रम में ''उद्राव'' मन्त्रानुवाक का तात्पर्य, ४. पूर्व होम मन्त्रों का तात्पर्य, ५. 'पृथिव्यै स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों का तात्पर्य, ६. पूर्वदीक्षा मन्त्रों का तात्पर्य, ७. ऋतुदीक्षादि मन्त्रों का तात्पर्य।

यूप-विधान

१. अश्वमेध के दिनत्रय साध्य कर्मकाण्डरूप यज्ञ के प्रथम दिन से पूर्व ''औपवसथ्य'' दिन में यूपों का प्रयोग, २. अश्वमेधातिरिक्त होम में यूप संख्या का स्पष्टीकरण, ३. अश्वमेध में यूप संख्या का स्पष्टीकरण, ४. अश्वमेध में मुख्य यूप का निरूपण, ५.यूप के प्रकृतिभूत वृक्ष का निरूपण, ६. प्रसंगत: यागान्तरीय यूप-प्रकृतिभूत वृक्ष निरूपण, ७. तेजनि द्वारा अश्वावदान विधि,

८. अन्य पशुओं की प्लक्ष शाखा से अवदान विधि, ९. अश्व की वेतस शाखा से अवदान विधि, १०. ग्राम्य पशुओं का पूर्वोक्त यूपों में बन्धन, ११. आरण्य पशुओं का यूपान्तरालों में बन्धन, १२. ग्राम्य पशुओं का आलम्भन, १३. आरण्य पशुओं का पर्यग्निकरण उत्सर्ग।

अन्वहोमानुवाक के अवशिष्ट मन्त्रों का तात्पर्य

१. अनुवाकान्त मन्त्रत्रय की प्रशंसा, २. यज्ञाख्य मन्त्रों का तात्पर्य, ३. शारीर होममन्त्रों का तात्पर्य, ४. योग मन्त्रों का तात्पर्य, ५. महिम मन्त्रों का तात्पर्य, ६. ब्रह्मवर्चस् मन्त्रों का तात्पर्य, ७. यज्ञबीजम् इत्यादि अनुवाक का तात्पर्य, ८. सन्नति मन्त्रों का तात्पर्य, ९. अन्वहोम तथा अश्वमेधानुष्ठान के ज्ञान की प्रशंसा, १०. अवशिष्ट रात्रियापन विधान।

यूपस्थापना-प्रकार

१. अग्निष्ठ नामक प्रधान यूप की स्थापना, २. अग्निष्ठ के दोनों ओर दो देवदारु यूप स्थापना, ३. देवदारु यूपों के दोनों ओर तीन बैल्व यूप स्थापना, ४. बैल्व यूपों के दोनों ओर पुन: तीन यूपों की स्थापना, ५. अन्तिम यूप के दोनों ओर पुन: तीन यूपों की स्थापना, ६. प्रश्नोत्तर के माध्यम से पशुओं के अवदान स्थान का विशेषोल्लेख, ७. उत्तर दिशा में अश्व हविष की स्थापना, ८. तूपर एवं गोमृग के हविष का साधन प्रकार, ९. तूपर एवं गोमृग के होम की विशेष विधि, ११. पुनर्होमविधान, १२. होमज्ञान-प्रशंसा, १३. आहुतिद्वय-विधान।

चेतव्य अग्नि का निरूपण

१. अश्वमेध में ''चेतव्य'' अग्नि का स्वरूप, २. ''उक्थ्य'' एवं ''यूपों'' के एकविंशति तत्त्व का विशेष निरूपण, ३. विभिन्न मतवादों का उल्लेख, ४. अग्नि का द्वादश पुरुषपरिमितत्व, ५. यूपों का संख्यान्तरदृष्ट्या विधान, ७. सिद्धान्त-स्थापना, ८. वृषभ ककुद के दृष्टान्त द्वारा प्रधानत्व साधन।

बहिष्पवमान में विशेष विधि

१. बहिष्पवमान सर्पण काल में अश्वसन्निधि, २. अश्व की उद्गातृ-स्थानीयता, ३. बहिष्पवमान के लिए अश्वपुच्छ का अवलम्बन, ४. अध्वर्यु-कर्तृक उद्गान, ५. अध्वर्यु-कर्तव्य, ६. उपसंहार।

अश्वशरीर में पर्यङ्ग पशुओं का नियोजन

१. पशुओं का बन्धन, २. मुख्य पशुत्रय का अग्निष्ठ में बन्धन, ३. द्वितीय से लेकर एकादश पर्यन्त पशुओं का बन्धन, ४. अश्व की यूपरूपता एवं पर्यङ्ग पशुओं का अश्वांग में बन्धन।

नवम प्रपाठक

दिनत्रयानुष्ठेय कर्मकाण्डात्मक अश्वमेध के प्रथम दिन का कार्य, अर्थात् प्रथम सुत्याह अष्टम प्रपाठक में निरूपित है। नवम प्रपाठक में द्वितीय एवं तृतीय सुत्याह निरूपित है। आचार्य श्री सायण के अनुसार—

त्रिरात्रस्याश्वमेधस्य यदहः प्रथमं भवेत् ।
प्रपाठकेऽष्टमे तद्धि साकल्येन प्रपञ्चितम् ।।
नवमेऽहर्द्वयं तत्र मध्यमेऽहन्यामुपाकृते ।
अश्वेऽथ रोहितादीनामालम्भाद्यभिधीयते ।।

अष्टादशी पशुओं की आलम्भन विधि— १. अष्टादशी पशुओं की आलम्भन विधि, २. अष्टादशी संख्या का तात्पर्य, ३. अतिरिक्त पशुओं का बन्धन स्थान, ४. आरण्य पशुओं का विधान, ५. पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त मत, ६. अग्निष्ठातिरिक्त यूप में बद्ध ग्राम्य पशुओं का विवरण।

चातुर्मास्यादि पशु-प्रयोग

१. चातुर्मास्य पशु प्रयोग विधि, २. एकादशिन पशु विधि, ३. दशिन पशु विधि, ४. पशुवर्ग्य संख्या, ५. पशुभेद-निरूपण।

रोहितादि पशुओं का वपा होम निरूपण

१. प्रत्येक देवता हेतु पशुत्रय की प्रशंसा, २. प्रत्येक देवता हेतु अनेक पशुओं के विषय में प्रश्नोत्तर, ३. वपा होम निरूपण, ४. आरण्य पशुओं के लिए वपा होम निषेध।

अश्व का रथयोजन एवं साज-सज्जा

१. रथयोजन मन्त्र की व्याख्या, २. व्याख्याओं की विविधता, ३. रथ में ध्वजस्थापन विधि, ४. यजमान द्वारा रथारोहणपूर्वक उत्तर दिशा में जल के समीप जाने पर अध्वर्यु की इतिकर्तव्यता, ५. रथ में योजना के पूर्व अश्व का मणियों द्वारा शृंगार, ६, पत्नियों द्वारा व्याहृतियों से अश्व शृंगार, ७. महिषी द्वारा सुवर्णमणियों से शृंगार, ८. मणियों की सहस्त्ररूपता, ९. तीनों पत्नियों द्वारा विभिन्न गुच्छों से अश्वसज्जा, १०. अश्व को विभिन्न उपहार, ११. अश्वानुमन्त्रण, १२. अश्वमेध में प्रयाज याज्या निरूपण।

ब्रह्मोद्य (जगत् स्थिति के सन्दर्भ में) परमब्रह्मविषयक होता-ब्रह्मा का प्रश्नोत्तर

१. ब्रह्मोद्य विधि, २. अग्निष्ट यूप के दक्षिण में ब्रह्मा का उपवेशन, ३. अग्निष्ठ यूप के उत्तर में होता का उपवेशन, ४. दक्षिण एवं उत्तर में दोनों प्रतिस्पर्धी होता एवं ब्रह्मा के मध्य में अग्निष्ट की स्थिति, ५. उत्तर में स्थित होता का ''किंस्वित्'' इत्यादि प्रश्न-वाक्यों का उत्थापन, ६. दक्षिण में स्थित ब्रह्मा का ''द्यौरासीत्'' इत्यादि उत्तर प्रस्तुत करना, ७. प्रश्न और उत्तर के व्याख्यान का विवरण प्रसंग, ८. प्रथम से लेकर द्वादश ब्रह्मोद्य वाक्यों का तात्पर्य विवरण।

संज्ञप्त अश्व का उपचार

१. संज्ञप्त अश्व के सन्दर्भ में ''प्राणाय स्वाहा'' इत्यादि चतुर्दश मन्त्रों से विविध होम विहित है, यथा—**प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, स्नापेभ्य स्वाहा, सन्तानेभ्यः स्वाहा, परिसन्तानेभ्यः स्वाहा, पर्वभ्यः स्वाहा, सन्धानेभ्यः स्वाहा, शरीरेभ्यः स्वाहा, यज्ञाय स्वाहा, दक्षिणाभ्यः स्वाहा, सुवर्गाय स्वाहा, लोकाय स्वाहा, सर्वस्मै स्वाहा**। २. ''अम्बे अम्बिके अम्बालिके'' इत्यादि मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता द्वारा पत्नियों का आगमन, ३. दक्षिण केश पक्ष को जूड़ा जैसा गूँथकर एवं वाम केशराशि को उन्मुक्त खोलकर तीन समिधाओं से प्रदक्षिणा करते हुए अश्व का स्पर्श, ४. पश्चात् वाम केशों का जूड़ा बाँधकर और दक्षिण केशपाश को उन्मुक्त कर पूर्वोक्त क्रम से प्रदक्षिणा करते हुए मन्त्र विशेष का पाठ, ५. पत्नीकर्तृक अश्व की तीन प्रदक्षिणायें, ६. श्रौतसूत्रोक्त विधानानुसार क्षौम वस्त्र द्वारा अध्वर्युकर्तृक महिषी का आच्छादन, ७. ''गायत्री त्रिष्टुप्'' इत्यादि दो मन्त्रों से महिषी द्वारा प्राक्क्रोडात् सुवर्ण निर्मित सूचियों से अश्व शरीर में भेदन, ८. तदुत्तरवर्ती दो मन्त्रों से रजत निर्मित सूचियों से क्रोड के पश्चात् एवं नाभि के पूर्व तक अश्व शरीर में भेदन, ९. तदुत्तरवर्ती दो मन्त्रों से लोह अथवा सीसा निर्मित सूचियों से परिवृक्ताकर्तृक अवशिष्ट अश्व शरीर में भेदन।[1] १०. कस्त्वां श्यति[2] आदि मन्त्र से अश्व का त्वक् छेदन।

मृत अश्वोपचार में विनियुक्त अवशिष्ट मन्त्र व्याख्या

१. अश्वसमीप में वस्त्र से आच्छादित महिषी द्वारा ''अश्व शयन कर रहा है'' इस प्रकार क्लेश का अनुभव होने पर अन्य पत्नियों द्वारा महिषी को प्रोत्साहन, २. प्रोत्साहन मन्त्र ''ऊर्ध्वमेनाम्'' एवं उसका तात्पर्य, ३. प्रोत्साहन

---

१. तै०सं०, ५.२.११.१-६; २. तै०सं०, ५.२.१२.१।

में विनियुक्त प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्त्रों के चारों पादों का पृथक् तात्पर्य, ४. ''दधिक्राव्णो अकारिषम्'' द्वारा श्रौतसूत्रोक्त शुद्धि विधान, ५. ''आपो हिष्ठा'' मन्त्र द्वारा मार्जन विधि।

अश्वमेध एवं अन्य पशुओं की प्रशंसा

१. अश्वमेध के प्रशंसा प्रसंग में आख्यायिका का उपस्थापन, २. मनुष्य, अश्व, गो, अज, अवि विधियों की प्रशंसा, ३. आरण्यादि पशुओं के उत्सर्ग विधि की प्रशंसा, ४. प्रकृत अनुवाकोक्त सम्पूर्ण विधियों की समष्टि प्रशंसा, ५. अश्वमेध की प्रशंसा।

त्रिरात्रव्यापी अश्वमेध महायज्ञ में प्रयुक्त पशु विवरण

१. प्रथम सुत्याह एवं सुत्याह की प्रशंसा, २. द्वितीय सुत्याह के पृष्ठस्तोत्र में शाक्वर सामविधि, ३. तृतीय सुत्याह में गोजातीय पशुओं की विधि, ४. उक्त पशुओं का देवत्व, ५. तृतीय रात्रिशेष में नौ पशुओं का अनुवन्ध्य विभाग, ६. पश्वन्तर विधि, ७. ऋतुदेवताक पश्वन्तर विधि।

दो महिम नामक ग्रहों का विधान

महिमग्रह-निरूपण, २. महिमग्रह-यागविधि, ३. महिमयागप्रशंसा।

शरीरहोम एवं स्विष्टकृद् आहुति विधान

१. शरीर होम विधि, २. शरीर होम मन्त्रानुवाकों का चतुर्दश संख्याविधान, ३. गोमृगरूप पशु विशंसन की पृथक् प्रक्रिया रूप प्रथमाहुति, ४. द्वितीय आहुति में अश्वशफ का साधनीभूतत्व विधान, ५. तृतीय आहुति में अयस्मय कमण्डल का साधनीभूतत्व विधान।

अश्वस्तोमीय होम विधान

१. अश्वस्तोमीय होम विधि, २. अश्वस्तोमीय आज्य का हवनसाधनीभूत द्रव्यत्वेन विधि, ३. अश्वस्तोमीय होम में मन्त्रों का षट्त्रिंशद् रूप संख्या विधान, ४. पूर्वोक्त मन्त्र संख्याक आहुतियों का न्यूनाधिक निराकरण द्वारा पूर्वोक्त संख्या की प्रशंसा, ५. ''इमा नु कं'' इत्यादि द्विपद ऋचाओं का होम विधान, ६. अश्वस्तोमीय एवं द्विपद होम में पौवापर्यनिश्चय, ७. शरीरहोमादि शंकानिवारणार्थ अन्य आहुतियों का निषेध।

इष्टित्रय विधान

१. पूर्वोक्त इष्टियों का संवत्सरानुष्ठानरूप विशेषत्व, २. तीनों इष्टियों में सविता के प्रधानत्व का कारण, ३. इष्टि होम की प्रशंसा।

तीनों इष्टियों में वीणावादन का प्रस्तुतीकरण

१. दो ब्राह्मण वीणावादक द्वारा गायन की प्रस्तुति, २. पक्षान्तर में एक ब्राह्मण एवं एक क्षत्रिय द्वारा गायन की प्रस्तुति, ३. दोनों गायकों के लिए पृथक्-पृथक् समय निर्धारण, ४. ब्राह्मण द्वारा गेय विषय, ५. दिन में सावित्री इष्टि सम्बन्धी स्विष्टकृत् के प्रसंग में ब्राह्मण द्वारा गेय विषय, ६. सायंकाल धृति होम के प्रसंग में क्षत्रिय द्वारा गेय विषय, ७. प्रत्येक गायक द्वारा तीन-तीन गान की प्रस्तुति, ८. गायकों को पुरस्कार प्रदान।

अवभृथविषयक होम-विशेषाभिधान

१. "मृत्यवे स्वाहा" आदि मन्त्रों से मृत्यु हेतु व्याधि प्रभृति देवताक अनेक आहुतियों का विधान, २. अनेक आहुति पक्ष का निराकरण, ३. एक आहुति पक्ष का विधान, ४. आचार्य मुण्डिभ का मत, ५. तृतीय आहुति विधान, ६. तृतीय आहुति के पात्र का स्वरूप परिचय।

उपाकरण मन्त्र व्याख्यान

१. "नमो राज्ञ" मन्त्र द्वारा अश्वतूपरादि का उपाकरण, २. मन्त्र का भागशः विवरण, ३. आग्नेयादि पशुत्रयालम्भन, ४. मृगारेष्टि, ५. याज्यानुवाक्य।

ययु का रोगादि होने पर प्रायश्चित्त

१. उपतपत् रोग परिहार के लिए इष्टित्रयरूप प्रायश्चित्त, २. त्वग् दोष निवारणार्थ प्रायश्चित्त, ३. उपद्रव रोग निवारणार्थ प्रायश्चित्त, ४. अश्व के सुत्याह दिन में अश्व निवासस्थान में न लौटने पर प्रायश्चित्त, ५. अश्व द्वारा वडवादि ध्यान करने पर प्रायश्चित्त।

ब्रह्मौदन-विधान

१. शाखान्तरीय ब्रह्मौदन एवं इष्टि का विकल्प विधान, २. शाखान्तरीय इष्टि पक्ष का दूषण, ३. स्वपक्ष का विधान।

अश्वमेध की प्रशंसा

१. अश्वमेध की विभुत्वगुणेन प्रशंसा, २. अश्वमेध की प्रभुत्वगुणेन प्रशंसा, ३. अश्वमेध की ऊर्जस्त्वगुणेन प्रशंसा, ४. अश्वमेध की पयस्वत्वगुणेन प्रशंसा, ५. अश्वमेध की विधृतगुणेन प्रशंसा, ६. अश्वमेध की व्यावृत्तगुणेन

प्रशंसा, ७. अश्वमेध की प्रतिष्ठितत्वगुणेन प्रशंसा, ८. अश्वमेध की तेजस्वित्वगुणेन प्रशंसा, ९. अश्वमेध की ब्रह्मवर्चसगुणेन प्रशंसा, १०. अश्वमेध की अतिव्याधिगुणेन प्रशंसा, ११. अश्वमेध की दीर्घत्वगुणेन प्रशंसा, १२. अश्वमेध की क्लृप्तगुणेन प्रशंसा। इस अनुवाक में विभिन्न नामों से अश्वमेध की स्वरूप परिचयात्मक प्रशंसा की गई है।

अश्वसंज्ञपन-प्रक्रिया

१. वेतस शाखा का विधान, २. तार्ष्य का विधान, ३. यामसाम का विधान, ४. कृत्यधीवास का विधान, ५. हिरण्यकशिपु का विधान, ६. सुवर्ण-फलक स्थापना, अश्व स्थापना।

उत्तरवेदी उपवाप का विधान एवं अश्व नाम निर्वचन

१. अश्व नाम निर्वचन, २. अर्वा नाम निर्वचन, ३. वाजि नाम निर्वचन, ४. आदित्य नाम निर्वचन, ५. उत्तरवेदी का उपवाप, ६. अश्वमेध के आधारभूत अग्नि और आदित्य, ७. उत्तरवेदी के उपवाप का निगमन।

अश्वमेधारम्भ काल में ऋत्वालम्भन विधान

१. प्रधान याग के पूर्व संवत्सर मात्र में अश्व प्रोक्षण विधि, २. अश्व शब्द निर्वचन, ३. अश्वमेध शब्द निर्वचन, ४. अश्वमेध प्रशंसा, ५. अश्वमेध याग ज्ञान की प्रशंसा, ६. ऋत्वालम्भन काल।

अश्वमेधीयाश्व के विभिन्न अवयवों में उपासना

१. अवयवों में उपासनायें, २. अहोरात्र के रूप में अश्वलोम का ध्यान, ४. भूमि में शरीर विवर्तन का ध्यान।[1]

अथर्ववेदीय गोपथब्राह्मण और अश्वमेधयज्ञ

गोपथब्राह्मण

अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण है, जिसका नाम ''गोपथब्राह्मण'' है। इसके दो भाग हैं—१. पूर्वगोपथ, २. उत्तरगोपथ।

प्रथम ग्रन्थ में पाँच तथा द्वितीय में ६ प्रपाठक या अध्याय हैं। इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की स्वभावत: विशेष महिमा गायी गयी है। अथर्व ही सब ब्राह्मणों में अग्रगण्य तथा प्रथम माना गया है। अथर्व से ही तीनों वेदों तथा ओंकार की उत्पत्ति और ओम् से समस्त संसार की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसलिए

---

१. द्र०, तैत्तिरीयब्राह्मणोक्त तृतीयकाण्डस्थ नवम प्रपाठकीय १-२३ अनुवाकसार।

इस ब्राह्मण का आग्रह है कि प्रत्येक वेदाभ्यासी को अन्य वेदों के पढ़ने के पूर्व अथर्व का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

पूर्वगोपथ

१. इसके प्रथम प्रपाठक में ओंकार तथा गायत्री की विशेष महिमा का सुन्दर वर्णन है। २. द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन है। प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष का समय नियत किया गया है; परन्तु छात्र की शक्ति को देखकर इस अवधि में कमी की जा सकती है। ३. तृतीय प्रपाठक में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्यकलाप का वर्णन है। ४. चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विजों की दीक्षा का विशेष वर्णन किया गया है। ५. पञ्चम प्रपाठक में प्रथमतः संवत्सरसत्र का वर्णन है। अनन्तर अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि अन्य सुप्रसिद्ध यज्ञों का भी विवरण है।

उत्तरगोपथ

इसका विषय-वर्णन इतना सुव्यवस्थित नहीं है, तथापि नाना प्रकार के यज्ञों तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओं के उल्लेख से यह भाग भी पूर्व की अपेक्षा कम रोचक नहीं है।

गोपथब्राह्मण[1] के रचयिता

गोपथब्राह्मण के रचयिता निश्चय ही ''गोपथ'' ऋषि हैं। अथर्ववेदीय ऋषियों की नामावली में ''गोपथ'' का नाम आता है; परन्तु अन्य वेदों के ऋषियों की नामावली में इनका नाम नहीं मिलता। इस ब्राह्मण के देश-काल का परिचय अनुमान से ही हमें मिलता है। अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण होने से ही इसके अन्तिम खण्ड में अथर्व की विपुल प्रशंसा गायी गयी है, इसमें बहुत से नवीन विचार पाये जाते हैं, जैसे कमल के ऊपर ब्रह्मा का उदय।

प्रत्येक वेदमन्त्र के उच्चारण से पूर्व ऊँकार का उच्चारण, किसी अनुष्ठान के आरम्भ में पहले तीन बार आचमन करना। ऋग्वेद से अनेक मन्त्र उद्धृत हैं; परन्तु मन्त्रों के ऋषियों के विषय में पार्थक्य दिखता है।

भाषाशास्त्रीय दृष्टि

भाषाशास्त्र की दृष्टि से गोपथ के अनेक संकेत बड़ महत्त्वपूर्ण हैं। ''**परोक्ष-प्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**'' का शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में भी यहाँ अनेकत्र उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

---

१. ''गोपथब्राह्मण'' का एक सुन्दर संस्करण डॉ॰गास्ट्रा ने लाइडन नगर से १९१९ में प्रकाशित किया है; ''अथर्ववेद एण्ड गोपथब्राह्मण'' नाम से अथर्ववेद तथा गोपथब्राह्मण का एक बहुत ही प्रामाणिक तथा साङ्गोपाङ्ग अध्ययन मारिस ब्लूमफील्ड ने प्रकाशित किया था, जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ. सूर्यकान्त ने चौखम्बा से प्रकाशित कराया है।

१. ''**वरुण**'' शब्द की व्युत्पत्ति ''वरण'' से राजा वरण किये जाने के कारण है (तं वा एतं वरणं वरुण इत्याचक्षते'')। २. ''**मृत्यु**'' शब्द की व्युत्पत्ति ''मुच्यु'' शब्द से सिद्ध की गयी है। ३. ''**अंगिरा**'' की व्युत्पत्ति ''अंगरस'' से तशा ४. ''**दीक्षित**'' की व्युत्पत्ति ''धीक्षित'' (श्रेष्ठ 'धी' को आश्रय करने वाला व्यक्ति) से की गयी है (''श्रेष्ठां धियं क्षियतीति तं वा एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते'')—ये व्युत्पत्तियाँ भाषाशास्त्र की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती हैं।[१]

गोपथब्राह्मण में अश्वमेध-प्रसंग

गोपथब्राह्मण 'अथर्ववेद' का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। अश्वमेधयज्ञ में चारों ऋत्विक्गणों में ब्राह्मण के चारों ऋत्विक् अथर्ववेदाध्यायी होते हैं।

इस ब्राह्मण के पूर्वगोपथ में तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम प्रपाठक में वर्णित विषयों में संक्षिप्त रूप से अश्वमेधयज्ञ सम्बन्धित विषय भी उल्लिखित है। यथा तृतीय प्रपाठक पूर्वगोपथ[२] के द्वितीय ब्राह्मण में होत्र-आध्वर्यव-औद्गात्र एवं ब्रह्मत्व का क्रमशः ऋक् यजुः साम एवं अथर्वाङ्गिरो वेद सम्बद्धत्व प्रतिपादन। चतुर्थ प्रपाठक में दीक्षा का सविशेष वर्णन है, जिसका क्रम है— १. ब्रह्मा की दीक्षा, २. उद्गाता की दीक्षा, ३. होता की दीक्षा, ४. अध्वर्यु की दीक्षा। प्रसंगतः अन्य उपऋत्विक् सम्बन्धी दीक्षा का वर्णन उपलब्ध है।[३] पञ्चम प्रपाठक में यज्ञ क्रमों का वर्णन है। यथा[४]— १. **अग्न्याधेयम्**, २. **पूर्णाहुतिः**, ३. **अग्निहोमः**, ४. **दर्शपूर्णमासौ**, ५. **आग्रायणम्**, ६. **चातुर्मास्यानि**, ७. **पशुबन्धः**, ८. **अग्निष्टोमः**, ९. **राजसूयः**, १०. **वाजपेयः**, ११. **अश्वमेधः**, १२. **पुरुषमेधः**, १३. **सर्वमेधः**, १४. **दक्षिणावान्**, १५. **दक्षिणारहितः**, १६. **सहस्रदक्षिणा**।

इस क्रम के अनुसार वाजपेय के बाद अश्वमेध का उल्लेख है। विभिन्न यज्ञों की उपलब्धियों का वर्णन आता है, जिसका विवरण निम्नलिखित है। यथा[५]—

१. राजसूय के द्वारा नाम की प्राप्ति।
२. वाजपेय के द्वारा सम्राट् नाम की प्राप्ति।
३. अश्वमेध के द्वारा स्वराट् नाम की प्राप्ति।

---

१. द्र०, वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय।
२. द्र०, पूर्वगोपथ, ३.२।
३. द्र०, तत्रैव- ४.२.३, ४.५.६।
४. द्र० तत्रैव- ५.७।
५. ''राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामधत्त सोऽन्तमेवापश्यद् योऽश्वमेधेनेष्ट्वा स्वराडिति नामधत्त''। (पूर्वगोपथ ५.८, वेदवेदिका)

एकादश परिच्छेद

अश्वमेध-श्रौतसूत्राध्याय

श्रौतसूत्र एवं अश्वमेधयज्ञ

वेदाङ्ग शब्द का अर्थ और महत्त्व

अंग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—उपकारक।[1] अर्थात् जिसके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है, उसे अंग कहते हैं। भाषा तथा भाव की दृष्टि से वेद अत्यन्त दुरूह है। अतएव वेद का अर्थ जानने में, उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में, जो उपयोगी शास्त्र है, उसे वेदाङ्ग कहते हैं।

वेदाङ्ग के भेद

वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए छः विषयों को जानने की नितान्त आवश्यकता है। वे इस प्रकार हैं—

वेदाङ्ग

शिक्षा | कल्प | व्याकरण | निरुक्त | ज्योतिष | छन्द

शिक्षा का स्वरूप[2]

वेदाङ्गों में शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वेदरूपी पुरुष की घ्राण शक्ति है। वेद के मन्त्रों का यथोचित उच्चारण प्रथम आवश्यक वस्तु है। शब्दमय मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण को सर्वप्रथम महत्त्व दिया गया है। इस उच्चारण के निमित्त प्रवर्तमान वेदाङ्ग शिक्षा कहलाता है।

कल्प का स्वरूप

वेद का मुख्य प्रयोजन वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञयाग का यथार्थ अनुष्ठान है। इसके लिए प्रवृत्त होने वाला अंग कल्प कहलाता है। कल्प का व्युत्पत्ति-

१. ''अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि''। (आ०बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २८१)

२. ''स्वर्णवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा''। (सायणाचार्यकृत ऋग्वेद-भाष्यभूमिका)

लभ्य अर्थ है[१]— यज्ञ के प्रयोगों का समर्थक शास्त्र, अर्थात् जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाय।

कल्प का अर्थ है

वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र।[२]

व्याकरण का स्वरूप

व्याकरणशास्त्र पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर, पद के स्वरूप का परिचय कराता है और उसके अर्थ का भी निश्चय कराता है। फलतः पदस्वरूप और पदार्थ निश्चय के निमित्त व्याकरण का उपयोग होने से यह भी वेदाङ्ग है। व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है— पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र।[३]

निरुक्त का स्वरूप

निरुक्त का कार्य है—

पदों की निरुक्ति बताना, पदों की व्युत्पत्ति बताना। निरुक्ति की भिन्नता से अर्थ की भिन्नता होती है। इसलिए वेद के अर्थनिर्णय के लिए निरुक्ति की वेदाङ्गता सम्पन्न होती है। निरुक्त ''निघण्टु'' की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है। निरुक्त के रचयिता आचार्य यास्क हैं।

छन्द का स्वरूप

वेदमन्त्रों के उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान आवश्यक है। छन्दों का ज्ञान हुए बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ ठीक से नहीं हो सकता। छन्द के बिना वाणी उच्चरित नहीं होती।[४]

ज्योतिष का स्वरूप

वेदाङ्गों में ज्योतिष अन्तिम वेदाङ्ग है। वेदों की प्रवृत्ति यज्ञसम्पादन के लिए है, यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। यज्ञ-याग के

---

१. ''कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र''। (बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २८१)

२. ''कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।'' (विष्णुमित्र, ऋग्वेदप्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३)

३. ''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'', ''मुखं व्याकरणं स्मृतम्''।

४. ''नाच्छन्दति वागुच्चरति। छन्दहीनो न शब्दो अस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्''।

लिए समयशुद्धि की आवश्यकता होती है। "ज्योतिष" यज्ञयाग के विशिष्ट समय का निर्देश करता है। वेदाङ्ग ज्योतिष का यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भली-भाँति जानता है, वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।[1]

कल्पसूत्र के भेद

कल्पसूत्र मुख्यत: चार प्रकार के होते हैं—

१. श्रौतसूत्र

जिसमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पाद्यमान यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों का वर्णन है।

२. गृह्यसूत्र

जिसमें गृह्याग्नि में होने वाले यागों का तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत विवरण है।

३. धर्मसूत्र

जिसमें चतुर्वर्ण तथा चारों आश्रमों के कर्तव्यों, विशेषत: राजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है। ये ही कल्पसूत्र में प्रधानतया परिगणित होते हैं।

४. शुल्बसूत्र

जिसमें वेदि के निर्माण की रीति का विशिष्टरूपेण प्रतिपादन है और जो आर्यों की प्राचीन ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

श्रौतसूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य

श्रौतसूत्र का मुख्य विषय श्रुति-प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है। इन यागों के नाम हैं—दर्शपूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ़पशु, सोमयाग, सत्र (द्वादश दिनों में समाप्य द्वादशसुत्या-युक्त यागविशेष), गवामयन (पूरे एक वर्ष तक चलने वाला याग), वाजपेय,राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाहयाग, अहीन (दो दिनों से लेकर एकादश दिनों तक चलने वाला यागविशेष), अग्नि-स्थापना के अनन्तर ही यागविधान विहित है। फलत: अग्नि-चयन का और किन्हीं अवस्थाओं में पुनराधान का वर्णन भी श्रौतसूत्रों में आवश्यक होता है। यागों के पूर्वोल्लिखित नामों को देखकर

---

१. "वेदा हि यथार्थमभिप्रवृत्ता: कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञा:।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।" (वेदाङ्ग-ज्योतिष, श्लोक-३)

ही अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रौतसूत्र का विषय बड़ा पेचीदा है तथा साधारण मनुष्यों के लिए उसमें किसी प्रकार का आकर्षण नहीं है; परन्तु धार्मिक दृष्टि से यह अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। आजकल श्रौतयागों का विधान विरल हो गया है। फलतः इन सूत्रों के अनुशीलन से ही हम उस युग की धार्मिक रूढ़ियों, विधानों तथा धाराओं को समझने में कृतकार्य हो सकते हैं।[१]

चारों वेदों के पृथक् श्रौतसूत्र

१. ऋग्वेद — आश्वलायन, शांखायन

२. यजुर्वेद — (क) कात्यायन
(ख) बोधायन, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़, वाराह

३. सामवेद — लाट्यायन, द्राह्यायण।

श्रौतसूत्रों का प्रयोजन

उपलब्ध समस्त वेद वाङ्मय में दो विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित हैं—

१. कर्मवाद
२. ज्ञानवाद } वेदवाद

इनमें समस्त कर्मवाद = कर्मपरक वेदभाग ही कर्मकाण्डात्मक है, जिसमें समस्त श्रौत, वैदिक प्रयोगों का प्रतिपादन है। उपर्युक्त कर्मकाण्डात्मक व्याख्यान का प्रमाणभूत आधार ही श्रौतसूत्र है। वेदभाष्यकारों में प्रमुख सुगृहीतनामधेय वेंकटस्कन्दस्वामी, सायण, महीधर, उव्वट प्रभृतियों ने स्वनिर्मित वेद की तत्तच्छाखीय व्याख्यायों में तत्तत् शाखोपयुक्त श्रौतसूत्र का प्रतिपद आश्रय किया है। एतावता श्रौतसूत्रों को छोड़कर वेदों की कर्मकाण्डीय व्याख्या की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अश्वमेध और श्रौतसूत्र

यतः अश्वमेध भी एक सोमयागात्मक कर्मकाण्ड ही है, अतः यह भी श्रौतसूत्र-विषयान्तःपाती ही है। इसलिए एतत् प्रतिपादक वेदवचनों की व्याख्या में भी श्रौतसूत्र सापेक्ष ही है। वेदभाष्यकारों ने अपनी व्याख्याओं में इसको स्पष्ट किया है।

श्रौतसूत्र-शैली

यतः श्रौतसूत्र सूत्रग्रन्थ है, अतः इसमें संकेतात्मक परिपाटी से ही विषयों का प्रतिपादन हुआ है, जिसका स्पष्टीकरण संहिताभाग में, उपबृंहण ब्राह्मण ग्रन्थों

१. द्र०, वैदिक साहित्य और संस्कृति, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ३०६-३०७।

में हुआ है। उपलब्ध श्रौतसूत्रों में अश्वमेध का वर्णन प्राय: एक ही है। जो स्वल्प भेद दृष्टिगोचर होते हैं, उनके द्वारा भी विषय प्रतिपादन में कोई रूपान्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्प्रति कतिपय श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित अश्वमेध विषय का निरूपण किया जा रहा है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र में अश्वमेधयज्ञ

आश्वलायन-महिमा

श्रौतं हौत्रमहो महोमहमयो मह्यां मुहुर्मह्यते
यन्मैत्रावरुणाच्छवाकसहितग्रावस्तुता कार्यते।
हौत्रा, तत्र समस्तसंगमनकृत् यच्छ्रौतसूत्रं महद्
राराजीति तदाश्वलायनमहर्षिव्याकृतं यत्पुरा ।।

आश्वलायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद का है। महर्षि आश्वलायन का श्रौत-गृह्य-शुल्ब-धर्म चारों सूत्र-ग्रन्थ सारगर्भ भाषा में प्रतिपादित है। ऋग्वेदीय होने के कारण महर्षि आश्वलायन स्ववेदान्तर्गत स्वशाखा अध्ययन रूप स्वाध्याय परम्परा, मर्यादानुसार विहित श्रौतकर्मानुष्ठान के अन्तर्गत सोमयागादि श्रौत प्रयोगों में होता का कर्म-सम्पादन करते थे।[१] अवश्य ही व्याकरणशास्त्रीय तद्धित प्रक्रिया के अनुसार 'आश्वलायन' यह व्यक्ति नाम न होकर ''युव''प्रत्ययान्त होने के कारण अनेक आश्वलायन व्यक्ति हो सकते हैं। फिर भी कृतित्व, कर्तृत्व, व्यक्तित्व के अनुसार व्यक्ति विशेष का ही बोध अवश्य इसमें इष्ट है। किसी भी भाषा की व्यावहारिक पक्ष की यह महती उपलब्धि है। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे व्यावहारिक शब्द अनेक उपलब्ध हैं, यथा—पाणिनि, कात्यायन, द्राह्यायण आदि। अधुना भी मालवीय-विद्यासागर-नेता जी कहने से एक निश्चित व्यक्तित्व-कृतित्व-कर्तृत्व-विशिष्ट महापुरुष का ही बोध होता है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र के उत्तरषट्क के चतुर्थ अध्याय के पाँच खण्डों ६,७,८,९,१० में अश्वमेध विवेचित है। तदनुसार अश्वमेध का स्वरूप है—

१. समस्त कामनाओं की सम्पूर्ण प्राप्ति। जितेन्द्रियत्व अथवा समस्त विभूतियों की प्राप्ति के लिए अभिषिक्त राजा द्वारा अश्वमेध अनुष्ठेय है।[२]

---

१. जनकस्य होता आश्वलायनो बभूव। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

२. ''सर्वान्कामानाप्स्यन्सर्वा विजितीर्विजिगीषमाण: सर्वा व्युष्टीर्व्यशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत''। (आश्व०श्रौ०सू०, २.४.६.१)

२. कर्मकाण्डत्मक दिनत्रयव्यापी अश्वमेध महायज्ञ के मध्यम अर्थात् द्वितीय सुत्याह के दिन, जिस अश्व से यज्ञ होगा, उसको पूर्व में विश्वदिग्विजयार्थ उत्सर्जन करने के प्रसंग में अग्निदेवताक एवं पूषादेवताक दो इष्टियों का अनुष्ठान होगा।[१]

३. इस संकल्प के अनन्तर पूर्वोक्त दो इष्टियों के अनुष्ठान के पश्चात् सुरक्षा सैनिकों के साथ, अश्वोत्सर्जन के अनन्तर वर्षपर्यन्त प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न, सायं तीन सावित्री इष्टियों का विधान, यथा—सविता, प्रसविता, आसविता।[२]

४. इसी प्रसंग में संवत्सरपर्यन्त प्रतिदिन पारिप्लवाख्यान भी अनुष्ठेय है, जिसके अन्तर्गत आहवनीय अग्नि के दक्षिण में परिप्लवाख्यान प्रस्तुत करने वाला हिरण्यकशिपु = स्वर्णासन में बैठकर, पुत्रामात्य-परिवृत अभिषिक्त राजा को पारिप्लवाख्यान प्रस्तुत करेगा। इस कार्यक्रम में चार प्रधान ऋत्विजों में सर्वाधिक उत्तरदायी अध्वर्यु सोने की आसन्दी में बैठकर प्रतिगर अर्थात् प्रतिवचन करेगा एवं उसका होता 'अध्वर्यो' कहकर आह्वान करेगा एवं अध्वर्यु "हो होतः" ऐसा प्रत्याह्वान करेगा। ऐसा परस्पर सम्बोधन प्रतिसम्बोधनात्मक प्रतिगर मात्र यहीं विहित है, अन्यत्र नहीं।[३]

५. पारिप्लवाख्यान में पूर्व जगद्विजयी सम्राटों के व्यक्तित्व का उपस्थापन किया जाएगा,

(क) प्रथम दिन मनु का उपस्थापन[४]

(ख) द्वितीय दिन यमदेव का उपस्थापन[५]

(ग) तृतीय दिन वरुणदेव का उपस्थापन[६]

(घ) चतुर्थ दिन सोमदेव का उपस्थापन[७]

(ङ) पञ्चम दिन अर्बुद काद्रवेय का उपस्थापन[८]

(च) षष्ठ दिन कुबेर का उपस्थापन[९]

---

१. "अश्वमुत्यस्त्रक्ष्यन्निष्टीभ्यां यजेत। अग्निर्मूर्धन्वान्। विराजौ संयाज्ये। पौष्णी द्वितीया। (आश्व. श्रौ.सू., २.४.६.२-५)

२. त्वां चित्रश्रवसस्तम यद्वाहिष्ठं तदग्नय इति संयाज्ये अश्वमुत्सृज्य रक्षिणो विधाय सावित्र्यस्तिस्र इष्टयोऽहरहर्वेदराजतन्त्राः। (तत्रैव, २.४.६.७) सविता सत्यप्रसवः प्रसविताऽऽसविता। (तत्रैव, २.४.६.८)

३. तत्रैव- २.४.६.१०-१३।

४. तत्रैव- २.४.७.१; ५. तत्रैव- २.४.७.२।

६. तत्रैव- २.४.७.३; ७. तत्रैव- २.४.७.५।

८. तत्रैव- २.४.७.५; ९. तत्रैव- २.४.७.६।

(छ) सप्तम दिन असित का उपस्थापन[१]

(ज) अष्टम दिन मत्स्य का उपस्थापन[२]

(झ) नवम दिन तार्क्ष्य का उपस्थापन[३]

(ञ) दशम दिन धर्म का उपस्थापन[४]। (द्र०, तालिका संख्या २५, पृ० संख्या ४८९)

पूर्वोक्त दसों की प्रजासन्तति, वेदपरम्परा आदि का स्पष्ट उल्लेख किया जाएगा एवं पूर्वोक्त दशात्मक पारिप्लवाख्यान की संवत्सरपर्यन्त, पर्याय से आवृत्ति की जाएगी। इस प्रकार षट्त्रिंशत् वार आवृत्ति के पश्चात् संवत्सर पूर्ण होने पर दीक्षा सम्पन्न होगी।

६. पूर्व में कहा गया है कि कर्मकाण्डात्मक अश्वमेध दिनत्रयसाध्य है। इन्हें क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय सुत्य[५] कहते हैं।[६]

अश्वचेष्टा का अध्ययन

७. अध्वर्युगण द्वारा अश्व का स्थापन किये जाने पर यदि वह आघ्राणया चंक्रमण करता है, तो यज्ञ की समृद्धि[७] होती है।

८. यदि इन दोनों में से कोई कार्य नहीं करता है, तब होता यजमान "सुगव्यं नो वाजि स्वश्व्यम्" एवं "यदक्रन्दः" आदि एकादश ऋचाओं से स्तुति करेगा। एकादश ऋचाओं का पाठ एक श्रुति अथवा त्रैस्वर किसी भी उपाय से हो सकता है।[८]

९. संज्ञपन के पश्चात् सम्राट् की पत्नियाँ विशिष्ट केशसज्जापूर्वक अश्व का वस्त्र से स्वागत करेंगी। ततः ज्येष्ठ महिषी को अश्व के समीप में शयन कराया जाएगा[९]। इस प्रसंग में होता एवं शत राजपुत्री अनुचरियों के साथ एवं ब्रह्मा तथा शत क्षत्रिय पुत्रियों के साथ वावाता का परस्पर कथोपकथन होगा।[१०]

१०. ततः ब्रह्मोद्य नामक प्रसिद्ध प्रश्नोत्तर सम्पन्न होगा।[११]

११. यह 'ब्रह्मोद्य' नामक कथोपकथन यजमान एवं ऋत्विजों के मध्य होगा।[१२]

---

१. आश्व. श्रौ.सू. २.४.७.७;
२. तत्रैव- २.४.७.८।
३. तत्रैव- २.४.७.९;
४. तत्रैव- २.४.७.९।
५. सूत्रान्तरे सुत्याहशब्दः;
६. आश्व० श्रौ० सू०, २.४.८.१।
७. तत्रैव- २.४.८.२-३;
८. तत्रैव- २.४.८.४-५।
९. तत्रैव- २.४.८.९-१०;
१०. तत्रैव- २.४.८.११-१५।
११. तत्रैव- २.४.९.१;
१२. तत्रैव- २.४.९.२-३।

तालिका संख्या-२५

वीणागायकों का कार्यक्रम

क्र० मन्त्र	उपदेष्टव्य-व्यक्ति	सूक्त-पाठ
१. मनुर्वैवस्वत:	तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इति गृहमेधिन उपदिशति	ऋचो वेदो वेद: सोऽयमिति सूक्तं निगदेत्
२. यमो वैवस्वत:	तस्य पितरो विशस्त इम आसत इति स्थविरानुपदिशति	यजुर्वेदो वेद: सोऽयमिति याजुषमनुवाकं निगदेत्
३. वरुण आदित्य:	तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति यून: शोभनानुपदिशति	अथर्ववेदो वेद: सोऽयमिति भेषजं निगदेत्
४. सोमो वैष्णव:	तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवती: शोभना उपदिशति	अङ्गिरसो वेदो वेद: सोऽयमिति घोरं निगदेत्
५. अर्बुद: काद्रवेय:	तस्य सर्पा विशस्त इम आसत इति सर्पान्सर्पविदो वोपदिशति	सर्पविद्यां वेद: सोऽयमिति सर्पविद्यां निगदेत्
६. कुबेरो वैश्रवण:	तस्य रक्षांसि विशस्तानीमान्यासत इति [1]**सेलगा**न्पापकृतो वोपदिशति।	रक्षोविद्या वेद: सोऽयमिति रक्षोविद्यां निगदेत्
७. असितो धान्वन:	तस्यासुरा विशस्त इम आसत इति कुसीदिन उपदिशति	असुरविद्या वेद: सोऽयमिति मायां कांचित्कुर्यात्
८. मस्त्य: सांमद:	स्योदकचरा विशस्त इम आसत इति मत्स्यान्मत्स्यविदो वोपदिशति	इतिहासवेदो वेद: सोऽयमिति इतिहासमाचक्षीत
९. ताक्ष्यों वैपश्यत:	तस्य वयांसि विशस्तानीमान्यासत इति वयांसि ब्रह्मचारिणो वोपदिशति	पुराणवेदो वेद: सोऽयमिति पुराणमाचक्षीत
१०. धर्म इन्द्र:	तस्य देवा विशस्त इम आसत इति यूनोऽप्रतिग्राहकान् श्रोत्रियानुपदिशति	सामवेदो वेद: सोऽयमिति साम गायात्

१. **सेलग इति**। ब्राह्मणग्रन्थेषु तस्करार्थकोऽयं शब्द इति प्रतिभाति। द्र०, ऐ.ब्रा०, ७.५.१, ८.११.८; श०ब्रा० १३.४.३.१०। अत्रार्थे शैलगोऽपि–इति केचिद् ब्रुवन्ति पुरुषमेधे स्मृतोऽयम्। द्र०, वाज०सं०, ३०.१८; तै०ब्रा०, ३.४.१६.१।

१२. महिम नामक सुवर्ण एवं रजतनिर्मित पात्र विशेष का ग्रहण, पश्वालम्भन प्रसंग में तीन प्रधान पशु, यथा—अश्व-तूपर-गोमृग ''प्रजापतिदेवताक'' होंगे एवं इन तीनों के वपाचरण के पश्चात् अन्य पशुओं का वपाचरण होगा।[1]

१३. अन्य समस्त वपा-प्रचार में पृथक्-पृथक् देवताओं का विधान।[2]

१४. अश्वमेध में द्वितीय एवं तृतीय सुत्याहों का विवरण।

१५. सर्वस्तोम एवं अतिरात्र का विधान।[3]

१६. चारों प्रधान ऋत्विजों की जो निर्दिष्ट दिशायें हैं, उन्हीं दिशाओं से प्राप्त, ब्राह्मणभिन्न व्यक्तियों की भूमि एवं पुरुष सम्पत्ति को छोड़कर अन्य समस्त वित्त दक्षिणा में दिया जाएगा।[4]

शाङ्खायन-श्रौतसूत्रानुसार अश्वमेध-विचार

शाङ्खायन-महिमा

बाहवृच्याख्यसुरद्रुमो विधिफलाश्शाखा अमुष्योदिताः
सैका विंशतिरेव, तासु च पुनः काण्डद्वयी लभ्यते।
श्रीशाङ्खायनवारिजातगलितं यच्छ्रौतसूत्रं मधु
तन्माधुर्यविलोलुपा मधुकराः पूर्णं तदाश्रीयताम् ।।

शाङ्खायन-शब्द-विमर्श

प्रकृत में शंख एक ऋषिविशेष का नाम है। कलियुगारम्भ में दूरदर्शी एवं समाज के व्यापक हितसाधक महर्षि कृष्णद्वैपायन ने वेदाध्ययन-परम्परा में विभागादि व्यवस्थित कर, आध्वर्यव कृत्य संपादनोपयोगी, वेदभाग के प्रचारार्थ वैशम्पायन को नियुक्त किया। उनके शिष्यों में मैथिल पण्डित याज्ञवल्क्य भी थे। उन्होंने स्वरचित ''याज्ञवल्क्यस्मृति'' में विंशति सामाजिक एवं राष्ट्रीय संविधानकारों का उल्लेख किया है, उसमें शंख का भी नाम[5] है।

---

१. आश्व, श्रौ.सू., २.४.९.४-५; २. तत्रैव- २.४.१०.६-८।

३. तत्रैव- २.४.१०.९; ४. तत्रैव- २.४.१०.१०।

५. नाम इति। शंखशब्दोऽयम् अनलपार्थभाक्, यथा—

१. कश्यपात् कद्राज्जातो नागविशेषः। (महाभा०, आदिपर्व, ३५.८), २. अन्यतमो वैराटिः अभिमन्युश्यालकः कश्चित् शंखः (महाभा०, आदिपर्व, १८५.८), ३. दैत्यान्यतमः (महाभा०, सभापर्व ९.१३), ४. निध्यन्यतमः, तदुक्तम्—''महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाद्याः खर्वश्च निधयो नव।। ५. दशनिखर्वपरिमितो राशिः, ६. शंखो वाद्यविशेषः, ७. शंखो जलधरविशेषः, ८. शंखः कपालास्थिविशेषः।

उपलब्ध साहित्य के अनुसार प्रतीत होता है कि आचार्य शंख और लिखित दोनों ही भ्राता एवं संविधान-निर्माताओं में थे। शंख और लिखित नामक आचार्य-युगल युधिष्ठिर-समकालिक महाराज सुधन्वा के पुरोहित थे। सूत्रकार, स्मृतिकार शंख भिन्न या अभिन्न हैं—यह अनिर्णीत है। शंख के अपत्य को शांख्य कहा जाएगा; क्योंकि ''अत इञ्'' का बाधकर ''ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च'' सूत्र से ''अण्''प्रत्यय प्राप्त होगा; परन्तु (क) गर्गादिभ्योऽञ् (४.१.१०५), (ख) सर्वत्र लोहितादिक्तान्तेभ्यः (४.१.१८), (ग) कण्वादिभ्यो गोत्रे (४.२.११) यहाँ पर तीन गण निर्दिष्ट हैं—(क) गर्गादि, (ख) लोहितादि, (ग) कण्वादि। इसमें गर्गादि में ही कण्वादि का पाठ 'लोहितादि' के पश्चात् है। पूर्वचर्चित ''शंख'' शब्द भी गर्गादि के अन्तर्गत, गर्गादि से पूर्व त्रिंशत् शब्दसमूहात्मक लोहितादि गण में पठित है। लोहितादि गण पठित शब्दों से ''स्फ'' प्रत्यय होता है, जिससे शांखायनादि शब्दों की सिद्धि होती है।[1]

शांखायन का परिचय

कौषीतकि ब्राह्मण, कौषीतकि गृह्यसूत्र आदि के रचनाकार तथा ऋग्वेद की एक शाखा के सम्पादक। इनका उल्लेख वंशसूची में शांखायन आरण्यक के अन्त में हुआ है, जहाँ गुणाढ्य को उसका रचयिता कहा गया है। श्रौतसूत्र में शांखायन ऋग्वेदीय साहित्यान्तर्गत संहिता और ब्राह्मण के पश्चात् तृतीयकोटिक साहित्य है। इसमें ४८ अध्याय हैं। शांखायन ब्राह्मण से शांख्यायन श्रौतसूत्र का सम्बन्ध है। इस श्रौतसूत्र के पंचदश तथा षोडश अध्याय की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा-शैली में हुई है।[2]

शांखायन-श्रौतसूत्रानुसार अश्वमेध-विचार

१. सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए अश्वमेधानुष्ठान।[3]
२. त्रिरात्र यज्ञक्रतु अश्वमेध का विधान।[4]
३. प्रधान ऋत्विजों के लिए पात्रचतुष्टय का निर्वचन।[5]
४. अध्वर्युकर्तृक यजमान का निष्क प्रतिमोचन।[6]

---

१. द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणम्, पृ० २४४ रूपालीटिप्पणी।
२. द्र०, हिन्दुधर्मकोशः।
३. सर्वान् कामानाप्नुयां सर्वा व्युष्टीर्व्यश्नुवीयेति।
४. स एतं त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यदश्वमेधम्।
५. महर्त्विग्भ्यो निर्वपति चतुरः पात्रानञ्जलीन् प्रसृतांश्च।
६. अथास्मा अध्वर्युः निष्कं प्रतिमुंचति।

५. सायं आहुति के पश्चात् वावाता के साथ शयन।[1]

६. अग्निदेवताक अष्टकपालयुक्त पुरोडाशनिर्वचन।[2]

७. सूर्योदय काल मे चरु निर्वपन।

८. अश्व के लिए स्वस्त्ययन[3]।

९. संवत्सरपर्यन्त काल के लिए अश्व का उत्सर्जन।

१०. ब्रह्मचर्यभंग के अतिरिक्त अश्व की समस्त कामनाओं की पूर्ति।[4]

११. कवचयुक्त १०० राजपुत्र, निषंगयुक्त राजन्य, १०० सूत ग्रामणीपुत्र एवं क्षत्र संग्रहीतों के १०० दण्डधारी पुत्र रक्षार्थ अश्व का अनुगमन करेंगे।

१२. संवत्सरपर्यन्त सावित्री इष्टि।[5]

१३. होताकर्तृक पारिप्लवाख्यान।[6]

१४. अध्वर्युकर्तृक वीणावादकों को सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुति के लिए प्रेरणा। वीणागायकों द्वारा प्रस्तुत इस कार्यक्रम में १० दिव्य पुरुषों एवं उनके विस्तार का वर्णन किया जाएगा । वीणागायकों द्वारा दस चरणों में प्रस्तुत ''पारिप्लवाख्यान'' नामक सांस्कृतिक कार्यक्रम की समाप्ति के पश्चात् यूप सम्बन्धी कार्यों का आरम्भ होगा।

यूप-प्रकरण[7]

यूप

संख्या — परिमाण

२१ यूप — २१ अरत्नि

---

१. सायमाहुतौ हुतायां जघनेन गार्हपत्यमुदग्वावातया सह संविशति।

२. अथाग्नेयमष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति।

३. स्वस्त्ययनमेव तदश्वाय करोति।

४. सर्वरूपमश्वं जवेन सम्पन्नं संवत्सरायोत्सृजन्ति सर्वकामिनमन्यत्रब्रह्मचर्यात्।

५. अथ सवित्रे प्रसवित्रे सवित्र आसवित्रे सवित्रे सत्प्रसवायेति संवत्सरं हवींषि।
(क) सविता वै प्रसविता स म इमं यज्ञं प्रसुवा इति।
(ख) सविता वा आसविता स म इमं यज्ञमासुवा इति।
(ग) सविता वै सत्यप्रसवः स म इमं यज्ञं सत्येन प्रसवेन प्रसुवा इति।

६. होता च पारिप्लवमाचष्टे।

७. एकविंशतिर्यूपा एकविंशत्यरत्नयः।

यूपोपकरण-विवरण[१]

बैल्व = ८

खदिर = १०

पैतुद्रव = २ (उपस्थावान् = देवदारु)

अग्निष्ठ = १ (राज्जुदाल = श्लेष्मातक)

प्रधान पशु-विवरण

प्रधानपशु
(प्राजापत्यदेवताक)

अश्व गो मृग तूपर

अन्य कृत्य

१. पर्यङ्ग पशु का बन्धन, २. आरण्य पशुओं का बन्धन, ३. संज्ञप्त अश्व के पास महिषी का शयन, ४. यजमान द्वारा प्रेरणा।

पत्नियों तथा होता ब्रह्मादिकों का परस्पर नर्म भाषण[२]

होता-महिषी

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।
प्र तिलामीति ते पिता गर्भे मुष्टिमतंमयत।।

ब्रह्मा-वावाता

ऊर्ध्वासेनामुच्छ्रयतादृगिरौ भारं हरन्निव।
अथास्यै मध्यमेजति शीते वाते पुनन्निव।।

उद्गाता-परिवृक्ता

यदस्या अहंभेद्या इत्युद्गाता परिवृक्ताम्।

अध्वर्यु-पालागली

यदरिणो यवमत्ति न पुष्टं वह मन्यते।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति।।

---

१. अष्टौ बैल्वा दश खादिराः पैतुद्रवा उपस्थावानौ राज्जुदालोऽग्निष्ठः।

२. ''अश्वपालानां समानजातीयाः शतं शतमनुचर्यस्ताः प्रत्यभिमेधन्ति विपश्यत इव ते मनो होतर्मा त्वं वदो बहु''। (द्र०, शां०श्रौ०सू०, १६.४.१-५)

ब्रह्मोद्य प्रकरण[1]

प्रश्न	**किंस्वित् सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः।**
ब्रह्मा	**कः स्वित्पृथिव्यै वर्षीयान्कस्य मात्रा न विद्यते।।**
उत्तर	**ब्रह्मसूर्यसमं ज्योतिर्द्यौःसमुद्रसमं सरः ।**
उद्‌गाता	**इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते।।**
प्रश्न	**कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।**
ब्रह्मा	**किं स्विद्धिमस्य भेषजं किं स्विदावपनं महत्।।**
उत्तर	**सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।**
उद्‌गाता	**अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्।।**
प्रश्न	**पृच्छामि त्वां चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।** **केषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्विष्टः केषु विश्वं भुवनमाविवेश।।**
उत्तर	**अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश।** **सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेनदिवो अस्य पृष्ठम्।।**
प्रश्न	**केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।** **एतद्ब्रह्मन्नुप वह्लामसि त्वा किं स्विन्नः प्रतिवोचस्यत्र।।**
उत्तर	**पंचस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।** **एतत्त्वत्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवत्युत्तरो मत्।।**

तत्पश्चात् पुरोनुवाक्या-याज्यादि कर्मकाण्ड विधियों का विधान है।[2]

पूर्वराजाख्यान

इसके अन्तर्गत पूर्व राजाओं के इतिहास की प्रस्तुति की जाएगी।

१. जनमेजय की प्रस्तुति

परीक्षितपुत्र जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ शौनक के पुरोहितत्व में सम्पन्न हुआ था। तत्सम्बन्धिनी गाथा का उल्लेख शांखायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है।[3]

१. द्र०, शां०श्रौ०सू०, १६.५.१-४, १६.६.१-४।

२. द्र०, तत्रैव- १६.७.१-१६।

३. एतेन हेन्द्रोतः शौनको जनमेजयं पारिक्षितं याज्यां चकार। तदुतैषापि यज्ञगाथा गीयते।
आमन्दीवति धान्यादं रुक्मिणं हरितस्रजम्।
अबध्नादश्वं सारङ्गं देवेभ्यो जनमेजय इति।।
एते एव पूर्वे अहनी। ज्योतिरतिरात्रस्तेनोग्रसेनम्। गौस्तेन भीमसेनम्। आयुस्तेन श्रुतसेनम्। सर्वे पारिक्षितायाः। तदुतैषापि यज्ञगाथा गीयते—
पारिक्षिता यजमाना अश्वमेधैः परोवाम्।
अजहः पापकः कर्म पुण्यः पुण्येन कर्मणा।। (शा०श्रौ०सू०, १६.९.१-७)

२. *सम्राट् ऋषभ की प्रस्तुति*

इसमें इन्द्र ने सोमरसपान करके पर्याप्त आनन्द किया था एवं ब्राह्मण ईप्सित धन प्राप्त करके आनन्दित हुए थे। शांखायन श्रौतसूत्र में तत्सम्बन्धिनी गाथा प्राप्त होती है।[१]

३. *विदेहराज आहलार की प्रस्तुति*

विदेहराज आह्लार ने भी एक विशिष्ट अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था।[२]

४. *मरुतकर्तृक अश्वमेध महायज्ञ*

अवीक्षितपुत्र मरुत द्वारा आयोजित अश्वमेध महायज्ञ में विश्वेदेवगण सभासद थे।[३]

अश्वमेध महायज्ञ की दक्षिणा[४]

वर्ग	**ऋत्विक्**	**दिशा**
होतृवर्ग	होता	पूर्व दिशा से प्राप्त धन
ब्रह्मवर्ग	ब्रह्मा	दक्षिण दिशा से प्राप्त धन
अध्वर्युवर्ग	अध्वर्यु	पश्चिम दिशा से प्राप्त धन
उद्गातृवर्ग	उद्गाता	उत्तर दिशा से प्राप्त धन

दक्षिणा में भूमि एवं ब्राह्मणस्वत्व के अतिरिक्त धन का ग्रहण होगा।

प्रत्यृतु पश्वालम्भन[५]

ऋतुनाम	**देवता**
१. वसन्त	अग्निदेवताक ६ पशु
२. ग्रीष्म	इन्द्रदेवताक ६ पशु

---

१. अभिजित्तेन ह ऋषभो याज्ञतुर ईजे। तदुतैषापि यज्ञगाथा गीयते—
''ऋषभेऽश्वेन यजति पुरा याज्ञतुरे नृपे।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन ब्राह्मणाश्चेप्सितैर्धनैः।। (शां०श्रौ०सू०, १६.९.८-१०)

२. विश्वजित्तेन ह पर आह्लार ईजे वैदेहः। तदुतैषापि यज्ञगाथा गीयते—
''आह्लारस्य परस्यादोऽश्वं मेध्यमवध्नत।
हिरण्यनाभः कौसल्यो दिशः पूर्णा असंहत।।'' (तत्रैव, १६.९.११-१३)

३. महाव्रतमतिरात्रस्तेन ह मरुत्त आविक्षित ईजे। तदुतैषापि यज्ञगाथा गीयते—
''मरुतः परिवेष्टारो मरुतस्यावसन्गृहे।
आविक्षितस्याग्निः क्षत्ता विश्वेदेवाः सभासदः।। (तत्रैव, १६.९.१४)

४. ''प्राची दिग्घोतुः दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्योः उदीच्युद्गातुर्यदन्यद्भूमेः पुरुषेभ्यश्चाब्राह्मणानां स्वम्।'' (तत्रैव, १६.९.१८-२२)

५. द्र०, तत्रैव- १६.९.२७-३२।

३. वर्षा	मरुत/पर्यङ्ग-देवताक ६ पशु	
४. शरद्	मित्रावरुणदेवताक ६ पशु	
५. हेमन्त	बृहस्पतिदेवताक ६ पशु	
६. शिशिर	इन्द्रविष्णुदेवताक ६ पशु	

अश्वमेध के पश्चात् किस श्रौत प्रयोग का अधिकार होगा[१]?

शांखायन-श्रौतसूत्रानुसार अश्वमेध महायज्ञ के सम्पादन के पश्चात् पुरुषमेध का अधिकार है एवं अश्वमेध के द्वारा जिस फल की प्राप्ति नहीं है, वह पुरुषमेध के द्वारा होती है।

द्राह्यायण-श्रौतसूत्रानुसार अश्वमेधयज्ञ

द्राह्यायण-महिमा

श्रीसामश्रुतिसङ्गमस्वरलसन्माधुर्यमाध्वीकधीः
श्रीद्राह्यायणसत्कवीन्द्ररचितं यच्छ्रौतसूत्रं महत्।
तत्रौद्गात्रपवित्रकर्मनिखिलं न्यक्षेण सम्पादितं
तस्मिन् ये खलु वाजिमेधविधयः सर्वेऽप्यमुस्त्रायताः।।

'द्रह' नामक ऋषिविशेष के गोत्रापत्य को द्राह्यायण कहा जाएगा। द्रहस्य ऋषेः गोत्रापत्यं युवा यङ्युनि फक्।[२] महर्षि द्राह्यायण सामवेदीय कल्पसूत्रकार, ऋषिविशेष हैं। द्रह् शब्द अत्यन्त गम्भीर-अगाध ह्रदवाचक है।[३] विद्यासागरादि के समान गुण का आरोप करके गम्भीर चिन्तन, मननशील एवं गम्भीर शास्त्राध्यायी साधना एवं पाण्डित्यपरिनिष्ठित व्यक्ति का यह परिचायक शब्द है। ज्योतिष पारंगत जगन्नाथ सम्राट् प्रसिद्ध हैं। यहाँ सम्राट् शब्द भी अत्यधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व विशिष्ट का परिचायक है। द्रह् शब्द ह्रद अर्थ में कोशसिद्ध है। यथा कालीदह = कालियनागलीला = कालीह्रद।

अश्वमेधाधिकारी

सूत्रकार ने अश्वमेधाधिकारी के लिए "राजाप्रतिघ"[४] शब्द का प्रयोग किया है। अप्रतिघ राजा अश्वमेध का अधिकारी है। अप्रतिघ अर्थात् सार्वभौम। समस्त भूमण्डल में जिसकी अप्रतिहत गति है, वही अश्वमेधाधिकारी है।

---

१. प्रजापतिरश्वमेधेनेष्ट्वा पुरुषमेधमपश्यत्। तस्य यदनाप्तमश्वमेधेनासीत् तत् सर्वं पुरुषमेधेनाप्नोति (शां०श्रौ०सू०, १६.१०.१-२)

२. द्र०, वाच०; ३. द्र०, वाच०।

४. राजाप्रतिघोऽश्वमेधेन यजेत, यो न कुत्रचिदपि देशे प्रतिहन्यते सोऽप्रतिघः। (द्राह्या० श्रौ०सू०, २७.१.१)

अवमेध-दीक्षाकाल

पूर्वपक्ष

यत: अश्वमेध भी अहीन याग है, अत: अहीन याग के लिए निर्धारित दीक्षा का काल होगा।

अहीन-दीक्षाकाल

उत्तरायण में किसी पौर्णमासी को दीक्षा ग्रहण करके, एक मास में सभी अहीन याग पूर्ण किये जाते हैं।[१]

उत्तरपक्ष

अश्वमेधयाग अहीन होने पर भी उसका दीक्षाकाल अन्य अहीन से पृथक् है। इस सन्दर्भ में महाव्रत में आचार्य गौतम[२] का मत मन्तव्य है।

अश्वोत्सर्जन

धानञ्जयी आदि कतिपय सूत्रकारों के अनुसार दीक्षा के पूर्व ही अश्व का उत्सर्जन विहित है; परन्तु द्राह्यायण के अनुसार दीक्षा के पश्चात् ही दिग्विजय के लिए अश्व छोड़ा जाएगा ।[३]

अश्व का बन्धन

दिग्विजयार्थ अश्व के छोड़े जाने पर अश्व स्वेच्छया भ्रमण करेगा, इस प्रसंग में उसे कहीं रोका नहीं जाएगा। अन्त में चान्द्रवर्ष के नौ रात्रि शेष रहने पर जिस दिन राजक्रय अर्थात् सोमलता का क्रयण किया जाएगा।[४]

मतान्तर

अथवा धानञ्जयी के मत में ग्रीष्म में वैशाख, शाण्डिल्य के मत में वसन्त (चैत्र) में होगा।[५]

ब्रह्मौदन

द्राह्यायण के मत में दीक्षा के पूर्व ही ब्रह्मौदन का विधान है एवं इसके लिए चैत्र अथवा वैशाख की सप्तमी अथवा अष्टमी तिथि को, ऋत्विजों का ब्रह्मौदन-भक्षण एवं दक्षिणा-दान विहित है।[६]

---

१. द्राह्या०श्रौ०सू०, २६.१.१।

२. तस्योपायो यथा महाव्रते गौतमीयम्। (द्राह्या०श्रौ०सू०, २२.२.१५-१६) इति गौतमस्य मतम्।

३. तत्रैव- २७.१.४;

४. तत्रैव- २७.१.७।

५. ग्रीष्म उपक्रमेतेति धानञ्जय:, वसन्त इति शाण्डिल्य:। (तत्रैव- २७.१.८)

६. तत्रैव- २७.१.९।

अश्वोत्सर्जन-काल-विकल्प

वाजसनेयि प्रभृति कतिपय अध्वर्युवों में पूषादेवताक इष्टि के पश्चात् अश्वोत्सर्जन विहित है।[१] अश्वरक्षण-विधि सभी आचार्यों को सम्मत है। दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् प्रतिदिन तीन सावित्री इष्टि विहित है। इष्टि-समाप्ति के पश्चात् आहवनीय अग्नि के दक्षिण में, स्वर्णासन में,यजमान एवं होता प्राङ्मुख उपवेशन करेंगे।[२] होता के मुख से प्रतिदिन पारिप्लवाख्यान का श्रवण होगा।[३] इस प्रसंग में अध्वर्यु पश्चिमाभिमुख होकर सुवर्ण निर्मित आसन में उपवेशन करेंगे[४] एवं सुवर्ण निर्मित विशेष आसन में ब्रह्मा एवं उद्गाता बैठेंगे।[५]

ऋत्विजों का सत्कार

उपर्युक्त कार्यक्रम में सभी ऋत्विजों का पृथक्-पृथक् सत्कार विहित है। यथा[६]—

१. अध्वर्यु से दस गुणा होता को। यदि अध्वर्यु = १० स्वर्णमुद्रा : होता = १०० स्वर्णमुद्रा।

२. अथवा अध्वर्यु को १०० स्वर्णमुद्रा, होता को १०० स्वर्णमुद्रा।

३. ब्रह्मा और उद्गाता को स्वेच्छानुसार दक्षिणा।

इसके बाद संवत्सरपर्यन्त देवव्रतानुष्ठानपूर्वक होता से पारिप्लवाख्यान सुनकर,अश्व बन्धन कर दीक्षा ग्रहण करना चाहिए।[७]

कतिपय मुख्य कृत्यों का अनुष्ठान

१. हिरण्यासन इत्यादि का ऋत्विजों द्वारा स्वगृह नयन।[८] २. माध्यन्दिन में अश्वपुच्छ को ग्रहण कर गमन करते समय यजमान एवं

---

१. द्राह्या०श्रौ०सू०, २७.१.१०।

२. तासु संस्थितासु दक्षिणाद् आहवनीयस्य हिरण्मये कूर्च्चे प्राङ्मुख आसीनो यजमानस्तथा होता। (तत्रैव, २७.१.१३)

३. संवत्सरमहरहर्होतुः पारिप्लवमाचक्षाणस्य शृणुयात्। (तत्रैव, २७.१.१४)

४. पुरस्तादध्वर्युः प्रत्यङ्मुखो हैरण्ये फलके। (तत्रैव, २७.१.१५)

५. हिरण्यकशिपुन्यासीनो ब्रह्मोद्गाता चोदङ्मुखौ। (तत्रैव, २७.१.१६)

६. शतं होत्रे दद्याद् दशाध्वर्यवे सहस्रं वा होत्रे शतमध्वर्यवे। (तत्रैव, २७.१.१७)

७. संवत्सरादूर्ध्वमश्वं बध्वा दीक्षेत—संवत्सरं देवव्रतानुष्ठानेन सह होतुराख्यानं श्रुत्वा तदनन्तर-मश्वं बध्वा दीक्षेत। (तत्रैव, २७.१.२०)

८. तत्रैव- २७.१.२१।

उद्गाता का परस्पर संवाद।[१] ३. ततः बहिष्पवमान स्तुति देश में अश्व को स्थापित कर, उसे वडवा दर्शन।[२] ४. वहाँ अश्वकर्तृक "ह्रेषा" शब्द करने पर, यजमान द्वारा उद्गाता को बहिष्पवमान के लिए प्रेरणा।[३] ५. स्वर्णमय शय्या विशेष में स्थित होकर उद्गाता द्वारा बहिष्पवमान से अश्वस्तुति के पश्चात् उक्त शय्या का स्वगृहानयन।[४] ६. पशुसंज्ञपन के पश्चात् होता एवं ब्रह्मा द्वारा महिषी एवं वावाता की मानसिक इच्छा का परीक्षण।[५] ७. इसी प्रकार १०० अनुचरियों द्वारा ब्राह्मणों की मानसिक इच्छाओं का प्रेरणापूर्वक परीक्षण। ८. उद्गाता द्वारा परिवृक्ता का एवं उनकी १०० अनुचरियों द्वारा उद्गाता की मानसिक इच्छा की प्रयोगात्मक परीक्षा।[६] ९. तत्पश्चात् आचमन, १०. ब्रह्मौद्य पुनर्बोधन कार्यक्रम (पाठ्यक्रम) उत्तम प्रयाज के पश्चात् चारों महाऋत्विक् और यजमान ब्रह्मौद्य करेंगे। ११. ब्रह्मौद्य का विवरण।[७] १२. ब्रह्मौद्य की दक्षिणा।[८]

दक्षिणा का विवरण[९]

द्राह्यायण-श्रौतसूत्रानुसार ब्राह्मणातिरिक्त एक जनपद की समस्त सम्पत्ति दक्षिणा रूप में दी जाएगी अथवा शत्रु के जनपद को जीतकर उसी में अश्वमेधयज्ञ होगा एवं उस स्थिति में पूर्व-पश्चिम इत्यादि दिग्विजय का धन होता आदि को दिया जाएगा।

दक्षिणा में विशिष्ट विवेचन

चाहे शत्रु राष्ट्र को जीतकर उसमें, अथवा अपने जनपद में अश्वमेध का अनुष्ठान हो, दोनों ही स्थिति में क्षेत्र एवं पुरुष से भिन्न स्थूल सम्पत्ति ही

---

१. मध्यमे ह्यश्वस्य बालधिमालभ्य बहिष्पवमानं सर्पेयुः। (द्राह्या०श्रौ०सू०, २७.२.१)

२. अश्वमास्तावमाक्रमय्य वडवां दर्शयेयुः। (तत्रैव, २७.२.३)

३. तत्रैव, २७.२.४।

४. तत्रैव, २७.२.६।

५. या पत्नीनां प्रियतमा यजमानस्य सा वावाता। (तत्रैव, २७.२.७)
संज्ञप्तेषु पशुषु होत्रभिमेधिते ब्रह्मा वावातामभिमेधतु। (तत्रैव, २७.२.९)

६. तत्रैव, २७.२.११-१४।

७. तत्रैव, २७.३.२-७।

८. तस्य दक्षिणाः सहस्रं प्रथमेऽहनि दद्यात्तथोत्तमे। (तत्रैव, २७.३.८)

९. मध्यमेऽहन्येकजनपदे यद्ब्राह्मणानां वित्तं तद् दद्यात्। विजितस्य वा मध्ये यजेत। प्राचीं होत्रे दिशं दद्याद्—दक्षिणां ब्रह्मणेऽध्वर्यवे प्रतीचीमुदीचीमुद्गात्रे। (तत्रैव, २७.३.९-११)

दान की जा सकती है, अथवा जब ऋत्विज तृप्त हो जाँय, तावत् पर्यन्त दक्षिणा देनी चाहिए[१] अथवा मध्यत:कारी महाऋत्विजों को ४८,१००,१००० दक्षिणा प्रदान की जायगी।[२]

अतिरिक्त व्यवस्था

उपयुक्त दक्षिणा सम्बन्धी विवेचन यद्यपि सूत्रकार द्वारा अनुमोदित होने पर भी सर्वथा अन्तिम नहीं है। सम्राट् अपनी श्रद्धा के अनुसार इससे अधिक भी दक्षिणा दे सकता है।[३]

अश्वमेध विशेष

द्राह्यायण-श्रौतसूत्रकार ने कतिपय अश्वमेध विशेष का भी उल्लेख किया है—

१. पतन्तक अश्वमेध[४]

२. गोविनत अश्वमेध।[५]

लाट्यायन-श्रौतसूत्र में अश्वमेधयज्ञ

लाट्यायन-महिमा

श्रीश्रीमद् भगवत्स्वरूपमहितः श्रीसामवेदो महान्
यच्छाखात्रयमेव लभ्यत इदं शाखासहस्रे सति।
औद्गात्रं श्रुतिमङ्गलस्वरमहामाधुर्यलीलास्पदं
श्रीलाट्यायनसंस्कृतं विजयते तत्र शतैर्सूत्रं महत्।।

लाट्यायन-श्रौतसूत्र का परिचय

लाट्यायन-श्रौतसूत्र सामवेदीय है। महाभाष्य, चरणव्यूह आदि ग्रन्थों के

१. द्राह्या०श्रौ०सू०, २७.३.१२-१३।
२. तत्रैव- २७.३.१४।
३. तत्रैव- २७.३.१५।
४. तत्रैव- २७.४.१-२४।
५. स गोविनतोऽश्वमेधः। एवं सर्वच्छन्दोमं प्रथममहः सर्पपशुमध्यमं सर्वस्तोममुत्तमम्। एवं सति त्रयाणाम् अह्नां साम्यसिद्धिः। कथम्? प्रथमेऽहनि सर्वे छन्दमः कृता भवन्ति। युग्मस्तोमाच्छन्दोमा इत्युच्यन्ते। तथा मध्यमेऽहनि सर्वे पशव आलभ्यन्ते। तृतीये सर्वे स्तोमा इति साम्यसिद्धिः।

अनुसार सामवेद सहस्रशाखात्मक है। सम्प्रति सामवेद की मात्र तीन शाखायें उपलब्ध हैं। यथा—(क) कौथुमी, (ख) जैमिनीया, (ग) राणायनीया।

एतद्भिन्न सात्यमुग्रि[१] आदि शाखाओं का यत्र-तत्र[२] उल्लेख मिलने पर भी सम्प्रति शाख़ायें अनुपलब्ध हैं।

सामवेद में उल्लिखित एवं अधुनाऽपि उपलब्ध तथा पूर्व में सत्यव्रत-सामश्रमि भट्टाचार्य द्वारा एवं पुनः तिरुपति संस्कृत विद्यापीठ द्वारा सम्पादित प्रकाशित आठ[३] ब्राह्मणों में विहित श्रुतिबोधितेतिकर्त्तव्यताक चोदनालक्षण वाक्यों में, प्रतीयमान परस्पर विरोधादिनिवारणार्थ विभिन्न महर्षियों द्वारा प्रणीत, विभिन्न वेदों, तत्तत् शाखानुसारी श्रौतसूत्रों में लाट्यायन-श्रौतसूत्र भी अन्यतम है। ग्रन्थकार महर्षि लाट्यायन हैं। यह अभिधान भी "आश्वलायन" के अनुसार व्याकरणप्रक्रियानुसार तद्धितप्रकरणान्तर्गत युवप्रत्ययान्त है। अतएव इसके अर्थ-कोटि में अनेक व्यक्ति आ सकते हैं। किस व्यक्ति ने इन सूत्रों का प्रणयन किया, यह अनिश्चित है।

लाट्यायन-शब्दार्थ

धातुपाठ[४] में लट् बाल्ये[५] धातु प्रसिद्ध है, जिससे पचादेः आकृति-गणत्वात्[६] अच् प्रत्यय करने पर "लटः" रूप बनेगा, "लटति इति लटः"

---

१. सत्यम् उग्रं यस्य असौ सत्यमुग्रः कटुसत्यवाग् इत्यर्थः, तस्यापत्यं पुमान् सात्यमुग्रिः। "अत इञ्" पितुः कटुसत्यभाषणस्य भूषणत्वात् तद्धितान्तेन तदपत्यानां निर्देशः।

२. द्र०, (क) चरणव्यूहः सामदेवखण्डः।
(ख) ननु च भोः छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयाः अर्थमेकारं अर्थमोकारं प्रयुञ्जते इत्यादि। (महाभाष्यप्रत्यहाराह्निकस्य प्रत्याहारसूत्रम्)

३. अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः प्रौढब्राह्मणमादिमम्।
षड्विंशाख्यं तृतीयं स्यात् ततस्सामविधिर्भवेत्।।
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत्ततः। संहितोपनिषदंशो ग्रन्था अष्टावुदीरिताः।।
(सामवेदीयताण्ड्यमहाब्राह्मणम्, द्वितीयो भागः)

४. भ्वा०प०सेट्।

५. लट् बाल्ये इति—
"ललाटतिलकोपेतः कृष्णकमललोचनः।
गोकुलेऽत्र क्रियां वक्तुं मर्यादा दशवार्षिकी।।"
अस्मिन् क्रियागुप्तकूटश्लोके लट्-बाल्ये धातोः प्रयोगः व्याकरणचरणशरणैः बोद्धव्यः।

६. पचादेराकृतिगणत्वाद् इति। अत्र मुख्यमानं तु "यङोऽपि च" इति अचि यङो लोपविधानम्।

जिसका अर्थ होगा बालक। इसी प्रकार कर्तरि वर्तमानकाल में ''ण्वुल्-तृचौ'' सूत्र से ण्वुल्प्रत्यय करने पर 'लाटकः' निष्पन्न होगा। सम्भवतः बहुप्रचलित लड़का शब्द इसी का अपभ्रंश हो, यद्यपि इस विचार में भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण की अपेक्षा है; क्योंकि बहुव्यवहृत शब्द ही करणवैकल्याद्यशक्तिवशात्[1] अपभ्रंश होते हैं, जबकि ''लाटक'' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में अन्वेषणीय है। कोश में[2] पुल्लिग लाटः 'घञ्'प्रत्ययान्त शब्द के निम्नलिखित अर्थ निर्दिष्ट हैं—

१. देशविशेष, २. वस्त्र, ३. जीर्णालंकार, ४. विदग्ध पुरुष।[3] व्याकरण प्रक्रियानुसार— १. गर्ग्य २. गार्ग्य, ३. गार्ग्यायण। इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत— १. लट् अथवा लाट, २. लाट्य, ३. लाट्यायन। क्रमशः गोत्रापत्य, युवापत्य अर्थों में शब्द निष्पन्न होंगे।

महर्षि लाट्यायन के अनुसार अश्वमेध की संक्षिप्त प्रस्तुति

१. अभिषिक्त क्षत्रिय सम्राट् का अश्वमेधाधिकार।[4] सम्राट्भिन्न क्षत्रिय राजा के लिए अश्वमेध यज्ञ नहीं है।

२. दीक्षा के पश्चात् लक्षणविशिष्ट, वेगसम्पन्न अश्व का उत्सर्जन।[5]

३. विश्वदिग्विजयार्थ वर्षपर्यन्त अश्व की रक्षा एवं सोमक्रय सम्पन्न होने पर उसका बन्धन।[6] यहाँ पर सोम का कोई भी प्रतिनिधि[7] स्वीकृत नहीं है।

४. आरम्भ काल—महर्षि लाट्यायन ने अश्वमेधयज्ञारम्भ समय विषयक दो प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख किया है—

(क) आचार्य धानञ्जयी के अनुसार ग्रीष्म[8]

(ख) आचार्य शाण्डिल्य के अनुसार वसन्त[9]

---

१. ''दैवीवाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैः अभिधातृभिः।
अनित्यदर्शिनामस्मिन्वादे बुद्धिविपर्ययः।।'' (वाक्यपदीयम्)

२. वाच०।

३. अत्र किञ्चित्—विदग्धपुरुष इत्यर्थमेव उद्दिश्य महत्सु ''लाटसाहब'' इति शब्दः साम्प्रतमपि प्रचलति। आंग्लशासनसमये तु नितरां प्रसिद्ध आसीत्।

४. राजाश्वमेधेन यजेत।

५. दीक्षित्वाश्वमुत्सृजेत्।

६. तमनावर्त्तयन्तो दिग्भ्यः संवत्सरं रक्षित्वा राजक्रये बध्नीयुः।

७. सोमप्रतिनिधिरिति। सोमप्रतिनिधिषु पूतीकलता अर्जुनवृक्षादयो बहुत्र ब्राह्मणादिषूक्ता इति।

८. ग्रीष्म उपक्रमेति धानञ्जय्यः।

९. वसन्त इति शाण्डिल्यः।

५. उक्त दोनों समयों में अन्यतर के अन्तर्गत चैत्र अथवा वैशाख में, सप्तमी अथवा अष्टमी में चारों प्रधान ऋत्विजों को ब्रह्मौदन निवेदन करके, उनको पृथक्-पृथक् एकसहस्र गो दक्षिणा दी जाएगी।[१]

६. अश्वरक्षा-विधान के अन्तर्गत यह ज्ञातव्य है कि पूषादेवताक इष्टि के प्रारम्भ या समाप्ति में अश्व का उत्सर्जन होगा।[२]

७. अश्वोत्सर्जन के पश्चात् तीन सावित्री इष्टियाँ सम्पन्न हो जाने पर आहवनीय अग्नि के दक्षिण में सुवर्णनिर्मित आसन पर उपविष्ट होकर सम्राट् वर्षपर्यन्त प्रतिदिन होता द्वारा प्रस्तुत पारिप्लवाख्यान का श्रवण करेगा। इस कार्यक्रम में ब्रह्मा एवं उद्गाता स्वर्ण के भव्यासन में उत्तराभिमुख होकर उपस्थित रहेंगे।[३]

पारिप्लवाख्यान की दक्षिणा

पारिप्लवाख्यान प्रस्तुतकर्ता होता को जितनी दक्षिणा प्राप्त होगी, उस पूर्णराशि के दशांश के बराबर अध्वर्यु को मिलेगा।[४] यहाँ यह ध्यातव्य है कि होता को प्राप्त दक्षिणा से दशांश वियुक्त कर अध्वर्यु को देने का विधान नहीं है; अपितु होता को प्रदत्त सम्पूर्ण राशि का दशमांश पृथक् रूप में अध्वर्यु को प्राप्य है।[५]

उदाहरणार्थ यदि होता को शत अथवा सहस्र गोदक्षिणा दी जाय, तो अध्वर्यु को भी दस या सौ दक्षिणा दी जाएगी। इस कार्य में ब्रह्मा एवं उद्गाता की दक्षिणा यजमान के विवेकाधीन है।

८. ब्रह्मचर्यव्रतपालनपूर्वक संवत्सर पूर्ण होने पर अश्व की बन्धनपूर्वक दीक्षा होगी।[६] इस दिन पूर्ववर्णित पारिप्लवाख्यान में अपेक्षित हिरण्यकशिपु आदि सुवर्णासनों को ऋत्विजों को दिया जाएगा।[७]

९. इस प्रसंग में द्वादशदीक्षा, द्वादश उपसद आदि कार्यक्रम होंगे।[८]

---

१. चैत्रवैशाखयोरन्यतरस्य सप्तम्यामष्टम्यां वा मध्यतः कारिण ऋत्विजो ब्रह्मौदनं भोजयित्वा तेभ्यः पृथक् सहस्राणि दद्यात्।

२. पौष्ण्यामिष्टौ विततायां संस्थितायां वाश्वमुत्सृजेत् तं तथैवावृता रक्षेयुः।

३. हिरण्यकशिपुनि ब्रह्मोद्गाता चोदङ्मुखौ।

४. शतं होत्रे दद्याद् दशाध्वर्य्यवे।

५. सहस्रं वा होत्रे शतमध्वर्य्यवे किञ्चिच्चेतराभ्याम्।

६. संवत्सरादूर्ध्वम् अश्वं बद्ध्वा दीक्षेत।

७. तद्हरेतान्यृत्विज आसनानि यथास्वं हरेरन्।

८. तस्य द्वादशदीक्षा द्वादशोपसदः सर्वेषामह्नां बहिर्बहिष्पवमानैः स्तुवीरन्।

१०. माध्यन्दिन में अश्व के पुच्छ को स्पर्शपूर्वक यजमान उद्गाता को लक्ष्य करके कहेगा—"**उद्गातः! अहं त्वा वृणे शतेन च, निष्केण च अश्वो म उद् गास्यतीति**"[१]। यहाँ पर संख्या निर्दिष्ट है, द्रव्य नहीं निर्दिष्ट है। यह निष्क गवादि समझना चाहिए।

११. ततः अश्व को वडवादर्शन, जिसमें अश्व यदि सम्मुख से ध्वनि करे, उस समय भी उद्गाता के प्रति यजमान कहेगा—"**उद्गातः। उपत्वाह्वये शतेन चैव निष्केण त्वमेव मे उद्गास्यसीति**"।[२]

१२. उत्तराभिमुख अश्व को अश्व स्थान से निकालकर वहाँ बैठाकर उद्गाता, अश्वव्रत सामगान करेगा यथा अभिवाजी विश्वरूप इत्यादि।[३]

१३. अश्व के स्थान पर उद्गाता, बहिष्पवमान से स्तुति करते समय जिस सुवर्णासन पर बैठेगा, वह उन्हीं का हो जाएगा।[४]

१४. पशुओं का संज्ञपन होने पर होता और ब्रह्मा का क्रमशः वावाता और परिवृक्ता के साथ अभिमेथन (मन्त्रयुक्त असंयतवाणी द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति) एवं दोनों रानियों की अनुचरियों द्वारा उनका उत्तर।[५]

१५. उद्गाता द्वारा परिवृक्ता से अभिमेथन यथा—"**यदस्याः अणुहोदभ्या अणुस्थूलमुपातसन् मुष्कौ यदस्या एजतो गोशफे शकुलाविवेति निर्दिशेत्**।"[६]

१६. इसी प्रकार परिवृक्ता की **अनुचरियाँ भी उद्गाता** का प्रत्यभिमेथन करेंगी। यथा[७]— "**देवासो ललामगुं प्रसंहष्टिनमाजिषुरिति निर्दिशेयुः सक्थ्ना देदिश्यते नार्यृतस्याभिक्षुवो यथेति**"।

१७. अभिमेथन के पश्चात् ब्रह्मा एवं उद्गाता द्वारा वामदेव्य सामगान।[८] ततः ब्रह्मौद्य की प्रस्तुति, जिसके अनुसार ब्रह्मा एवं उद्गाता का परस्पर प्रश्नोत्तर एवं ब्रह्मौद्य वक्ताओं द्वारा यजमान का पृथिवीविषयक प्रश्न।[९]

१८. दक्षिणा—प्रथम दिन एवं अन्तिम दिन में सहस्र गौ दक्षिणा।[१०] माध्यन्दिन में किसी एक जनपद के ब्राह्मणातिरिक्त वित्त दक्षिणा।[११] यहाँ पर महर्षि

१. द्र०, ला०श्रौ०सू० ९.९.१८।
२. तत्रैव- ९.९.१९; ३. तत्रैव- ९.९.२२।
४. हिरण्यकशिपुन्यासीनो बहिष्पवमानेन स्तुत्वा स एव तद्वरेत्।
५. द्र०, ला०श्रौ०सू०, ९.१०.१-४।
६. उद्गाता परिवृक्तीमभिमेथेत्। (ला०श्रौ०सू०, ९.१०.५)
७. "शतमस्याः सूत्रग्रामणीनां दुहितरोऽनुचर्य्यः स्युस्तास्तं प्रत्यभिमेथेयुः"। (तत्रैव, ९.१०.६)
८. अप उपस्पृश्य वामदेव्यं गीत्वा तस्यच्चाऽनुजपेयुः।
९. द्र०, ला०श्रौ०सू०, ९.१०.८-१४।
१०. तस्य दक्षिणाः सहस्रं प्रथमेऽहनि दद्यात्तथोत्तमे।
११. मध्यमेऽहन्येकजनपदे यदब्राह्मणानां वित्तं स्यात् तद् दद्यात्।

लाट्यायन ने सम्राट् के अतिरिक्त मण्डलेश्वर का भी अश्वमेधाधिकार निरूपित किया है।[१]

अन्य श्रौतसूत्रों के अनुसार प्रति दिशाओं के क्षेत्र एवं मनुष्यातिरिक्त अन्य सम्पत्ति ऋत्विजों को दी जाएगी अथवा ऋत्विजों को इतना प्रभूत दान दिया जाय कि वे स्वयं सन्तुष्ट होकर निषेध करें।

दक्षिणा का विभाजन अर्धिनी, तृतीयिनी और पादिनी के नियमानुसार ही होगा।[२] यह सभी विकल्प न्यूनतम हैं। इससे अधिक भी दिये जा सकते हैं।[३]

१९. **अश्वमेध का विकल्प**—विकल्प, अश्व के चारण काल के आधार पर है। तदनुसार अर्धमास, एक मास, तीन मास, अर्धवार्षिक काल अश्वचारण के आधार पर अश्वमेध का विकल्प है, यथा—

(क) पञ्चदश स्तोमविकृतिक पतन्तक अश्वमेध होता है। इसमें अर्धमासमात्र अश्व का विश्व-भ्रमण अपेक्षित है।[४]

(ख) यदि इसी पतन्तक नामक अश्वमेध विशेष में तृतीय सुत्याह ज्योतिष्टोम अतिरात्र रूप हो, तदानीं मासव्यापी अश्वभ्रमण अपेक्षित है।[५]

(ग) यदि पतन्तक अश्वमेध का तृतीय सुत्याह गोऽतिरात्ररूप हो, तदानीं तीन मास अश्व-भ्रमण अपेक्षित है।[६]

(घ) पतन्तक अश्वमेध का ही तृतीय सुत्याह यदि आयु अतिरात्र रूप हो, तो अर्धवार्षिक अश्वभ्रमण अपेक्षित है।[७]

विकल्पों की व्यावहारिकता

विवेचनपक्ष में उपर्युक्त अश्वमेध महायोजना के दृष्ट प्रयोजनानुसारी विवेचनपक्ष में उपर्युक्त समस्त भेदों का अत्यन्त व्यावहारिक एवं राजनीतिक प्रयोजन पर्याप्त स्पष्ट है।

पूर्व में दशाश्वमेध एवं शताश्वमेध के निरूपण प्रसंग में यह स्पष्ट हो चुका है कि एक सम्राट्कर्तृक अपने जीवन में ही अनेक अश्वमेधों का आयोजन

१. विजितस्य वा मध्ये यजेत।

२. प्राचीं होत्रे दिशं दद्यात्, दक्षिणां ब्रह्मणेऽध्वर्यवे प्रतीचीमुदीचीम् उद्गात्रे यदन्यक्षेत्राच्च पुरुषेभ्यश्चेत्युभयोर्विचारयोः।

३. अवरार्घ्या एताः कामन्तु भूयसीर्दद्यात्।

४. एतान्येव पंचदशस्तोमान्यहानि कल्पयेत् स पतन्तकोऽश्वमेधः, अर्धमासमश्वञ्चारयित्वैतेन यजेत।

५. ज्योतिष्टोमो वै तस्यातिरात्रस्तृतीयमहः स्यात् तेन मासम्।

६. गौर्वा तेन त्रीन्।

७. आयुर्वा तेन षट्।

किया जाता था, जबकि त्रिदिवसव्यापी कर्मकाण्डात्मक अश्वमेध महायोजना की आद्योपान्त साङ्गोपाङ्ग सम्पन्नता के लिए प्रायः वर्षत्रयात्मक काल अपेक्षित है। वर्षात्मक दिवस गणनानुसार दोनों की समानता भी स्पष्ट है; परन्तु ऐसी स्थिति में प्रत्येक अश्वमेध के प्रारम्भ में सोमप्रवाक के पश्चात् दीक्षोपरान्त विश्वभ्रमणार्थ अश्वोत्सर्जन, पारिप्लवाख्यान, अवभृथेष्टि के पश्चात् प्रत्यृतु पश्वालम्भन आदि समस्त कृत्यों में महान् समय अपेक्षित है, जो कि प्रथम बार सुदृढ़ रूप से समस्त शत्रून्मूलनपूर्वक समस्त विश्वदिग्विजय के पश्चात् प्रति बार अपेक्षित नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में बार-बार युद्धघोषणा, सैन्य-कोश-क्षयादि रूप विभीषिका का अनुष्ठान न करके, पूर्वसिद्ध दिग्विजय का पुनः औपचारिक मात्र अनुष्ठान ही करणीय है। ऐसी स्थिति में आवश्यकतानुसार अर्धवार्षिक-त्रैमासिक-मासिक-अर्धमासिक अश्वभ्रमण से ही कार्यसिद्धि इष्ट है। आज भी निर्वाचनादि के प्रसंग में अन्य किसी प्रत्याशियों के न होने पर अर्थात् एकमात्र प्रत्याशी होने पर अथवा किसी एक पक्ष में अन्य समस्त प्रत्याशियों द्वारा अपना नाम वापस लेने पर अथवा एक को छोड़कर अन्य समस्त आवेदनपत्र अवैध होने पर अवशिष्ट प्रत्याशी निर्विरोध निर्वाचित होता है। ऐसी स्थिति में चुनावप्रचार, सभा इत्यादि बहिरंग कार्य नहीं होते; परन्तु चुनाव आयोग के नियमानुसार औपचारिक विजयी प्रत्याशी की घोषणा होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वर्षव्यापी दिग्विजयी अश्वमेध में भी तृतीय सुत्याह में पूर्वोक्त ज्योतिष्टोम आदि में किसी अन्यतम का अनुष्ठान अपेक्षित है।

समीक्षा

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी भी तथ्य के अध्ययन की पूर्णता के लिए अध्येय विषय के अंग-उपांगों की नितान्त अपेक्षा होती है। वेद के विषय में भी यही तथ्य है। वेद के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्दरूपी छः अंग प्रसिद्ध हैं। इनमें द्वितीय कल्प नामक ग्रन्थ में श्रौतसूत्रों का अन्तर्भाव है। आचार्य सायण, आचार्य महीधर, आचार्य उव्वटादि समस्त मान्य व्याख्याकारों का अपनी रचनाओं में प्रति मन्त्र श्रौतसूत्रों का आनुमत्य है। इसे लिखित रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र, आश्वलायन, शांखायन एवं सामवेदीय श्रौतसूत्र, द्राह्यायण, लाट्यायन श्रौतसूत्र में अश्वमेध सम्बन्धी अंश का अध्ययन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि अश्वमेध जैसे विशाल कार्यक्रम के विवरण में भी श्रौतसूत्रों की नितान्त आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत श्रौतसूत्र सम्बन्धी अध्याय विषय की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

द्वादश परिच्छेद

उपसंहाराध्याय

यज्ञान्त-स्नान-विमर्श

स्नान का सामान्य स्वरूप

स्थूल दृष्टि से प्रतिदिन क्रियमाण अवगाहन स्नान लोकप्रसिद्ध है। यह स्नान प्रयोजन के अनुसार, इच्छानुसार व्यक्ति स्वयं सम्पन्न करता है अथवा नहीं भी करता है। शरीर को स्वच्छ रखने के लिए इसका प्रयोजन इतना प्रकट एवं व्यवहारसिद्ध है कि इस पर प्रकाश डालने के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं है। यहाँ स्नान पर धर्मशास्त्रीय पक्ष से किंचित् विचार उपस्थापित किया जाएगा।

स्नान का शास्त्रीय रूप

नित्य-नैमित्तिक-काम्य भेद से स्नान तीन प्रकार का होता है— १. **नैमित्तिक स्नान** ग्रहण-अशौच आदि में होता है। २. तीर्थों का स्नान **काम्य** कहा जाता है। ३. **नित्य स्नान** प्रतिदिन का धार्मिक कृत्य माना गया है। ये तीन मुख्य स्नान हैं। इसके अतिरिक्त गौण स्नान भी हैं; जो सात प्रकार के हैं, जिनका प्रयोग शरीर के अवस्था-भेद से किया जाता है[१]—१. **मान्त्र (मन्त्र से स्नान)** "आपो हिष्ठा" वेदमन्त्रों द्वारा। २. **भौम (मिट्टी से स्नान)** सूखी मिट्टी का शरीर में अवलेपन। ३. **आग्नेय (अग्नि से स्नान)** पवित्र भस्म का सारे शरीर में अवलेपन। ४. **वायव्य (वायु से स्नान)** गौखुर से उड़ी धूल शरीर पर गिरने देना। ५. **दिव्य (आकाश से स्नान)** धूप निकलते समय वर्षा से स्नान। ६. **वारुण (जल से स्नान)** नदी-कूपादि के जल से स्नान। ७. **मानस (मानसिक स्नान)** भगवान् विष्णु के नामों का स्मरण। धर्मकार्यों से पूर्व स्नान अनिवार्य है।[२]

विभिन्न शास्त्रानुसार स्नान

१. चिकित्साशास्त्रीय स्नान, २. धर्मशास्त्रीय स्नान, ३. रसायनशास्त्रीय स्नान, ४. तान्त्रिक स्नान।

---

१. (क) आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यन्तु वारुणम्।
आपो हिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्।।
(ख) "यत्तु सातपवर्षेण तत् स्नानं दिव्यमुच्यते।" (वाचस्पत्यम्-समृद्धृत-या॰स्मृ॰)

२. द्र॰, हिन्दूधर्मकोश।

कतिपय विशेष स्नान

१. अभिषेक, २. उपाकर्म, ३. तीर्थस्नान, ४. सहस्रधारास्नान, ५. दीक्षान्तस्नान, ६. अवभृथस्नान।

प्रसंगप्राप्त अवभृथस्नान-विमर्श

श्रौत-स्मार्त परम्परानुसार यज्ञ समाप्त होने पर सामूहिक नदीस्नान, यज्ञादि के न्यूनाधिक दोष की शान्ति के निमित्त शेष कर्तव्य होम अवभृथस्नान कहलाता है।[१] इस होम में स्नान का विशेष महत्त्व है।[२]

अवभृथेष्टि एवं अवभृथस्नान

मुख्य यज्ञसमाप्ति के बाद क्रियमाण यज्ञाङ्गभूत यज्ञशेषकर्म, जो कि यज्ञान्तकृत्य होता है, ततः अवभृथस्नान का विधान है।

अवभृथ-स्नान में प्राशस्त्य

देवखात एवं समुद्रगामी आदि पौराणिक पुण्य नदियों में अवभृथ-स्नान प्रशस्त है। लोकनिर्मित जलाशयों में मध्य में स्तम्भारोपणपूर्वक, सविधि प्रतिष्ठित जलाशय में भी स्नान का प्राशस्त्य है।

नदीविशेष में अवभृथ-स्नान का निषेध

कतिपय परिस्थितियों में सरस्वती नदी में अवभृथ-स्नान का निषेध है। यथा सत्र प्रसंग में महर्षि कात्यायन के शब्दों में "**नावभृथं सरस्वत्याम्**"[३]। ऐसी स्थिति में समीपवर्ती नदी-तडागादि में अवभृथ स्नान किया जाएगा। "**पारिपार्श्वेषूदकेषु**"[४] यदि पार्श्व में नदीतडागादि विद्यमान न हो, अथवा शुद्ध न हो, तदानीं सरस्वती से ही जल का उद्धरणपूर्वक अवभृथ किया जाएगा।[५] आचार्य कर्क ने भी सरस्वती में अवभृथस्नान का निषेध किया है—"**सरस्वत्यां नावभृथं कुर्यात्**"[६]।

अवभृथ-शब्दार्थ

आचार्य अमरसिंह के शब्दों में—"**दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञः**"[७]। इसके

---

१. (क) "ततश्चकारावभृथे विधिदृष्टेन कर्मणा"। (महाभा०)
(ख) "भुवं कोष्णेन कुण्डोघ्नी मेध्यो नावभृथादपि"। (रघुवंश, प्रथम सर्ग)
(ग) द्र०, भा०पु०, १०.७५.८-९, १०.७५.१९।

२. द्र०, हिन्दू-कोश;
३. द्र०, का०श्रौ०सू०, २४.६.२१।
४. तत्रैव, २४.६.२२;
५. तत्रैव, २४.६.२३।
६. द्र०, वाचस्पत्यसमुद्धृतं कर्कवचनम्;
७. द्र०, अमर०, २.७.२७।

विवरण में आचार्य भानुजीदीक्षित ने यह स्पष्ट किया है—"**दीक्षाया अन्ते प्रधानकर्मसमाप्तौ क्रियमाणो यो यज्ञ इष्टिविशेषः**"।[1]

व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति

१. अवभृथे अनेन, डुभृञ्-धारणपोषणयोः (जु०उ०अ०), २. भृञ् भरणे (भ्वा०उ०अ०), ३. अवै भृञ् उणादि, २-३ क्थन्प्रत्ययः, कित्वाद्, गुणाभावः।

अवभृथ शब्द का अन्य अर्थ

अग्निविशेष, जिसका वरुण के साथ यजन-पूजन होता है, उसके पुत्र का नाम हृच्छय है।[2]

अवभृथेष्टि अथवा अवभृथ का स्वरूप

यजमान जल में उतरते समय दक्षिण पैर को जलाशय के तीर प्रदेश में प्रेरित करेगा। अन्य सभी लोग स्वयं ही जल में उतरेंगे। "**प्रतियुतो वरुणस्य पाशः प्रत्यस्तो वरुणस्य पाशः**" इत्यादि मन्त्रों से सभी अवभृथस्नायी, स्नान के पश्चात् पृष्ठदर्शन न करते हुए यज्ञमण्डप की ओर जायेंगे एवं जलाशय से यज्ञमण्डप की ओर गमन के मध्य में सभी अवभृथस्नायी मन्त्रपूर्वक तीन-तीन समिधाओं का ग्रहण करेंगे। समिधाग्रहण मन्त्र यथा—"**एधोऽसि एधिषिमहि**"। सभी अवभृथस्नायी क्रमशः यज्ञमण्डप में आकर आहवनीय अग्नि में तीनों समिधाओं का पृथक्-पृथक् मन्त्रोच्चारणपूर्वक समन्त्रक प्रयोग करेंगे। मन्त्र यथा—१. समिदसि स्वाहा, २. तेजोऽसि स्वाहा, ३. मह्यं धेहि तेजः स्वाहा।

यजमान सर्वत्र "**अग्नये इदं**" इस प्रकार समिधा त्याग करेंगे। ततः "**अपो अन्वचारिषम्**" इस मन्त्र से सभी आहवनीय अग्नि का उपस्थान करेंगे। यहाँ तक अवभृथ या अवभृथेष्टि कहा जाता है।[3]

---

१. द्र०, अमर०, व्याख्या सुधा, २.७.२७।

२. द्र०, १. वा० पु०, २९.३१।
 २. ब्र०पु०, २.१२.३३।

३. "अन्ये स्वयमेवोत्तरन्ति। यजमान उत्तरन् दक्षिणपादेन तीरदेशं नोदयति प्रतियुतो वरुणस्य पाशः प्रत्यस्तो वरुणस्य पाश इति मन्त्रेण सर्वे तीर्थमनवेक्षमाणा देवयजनं गच्छन्ति। सर्वे अर्धमार्गे तिस्रस्तिस्रः समिधो गृह्णन्ति। एकैकसमिद्ग्रहणे एधोऽस्योधिषीमहीति मन्त्रः। सर्वे आगत्य क्रमेण आहवनीये समिधः प्रक्षिपन्ति। तत्र समित्त्रयप्रक्षेपणे त्रयो मन्त्राः-समिदसि स्वाहा, तेजोऽसि स्वाहा, मयि धेहि तेजो स्वाहा इति। अग्नय इदमिति यजमानस्य सर्वत्र त्यागः। अपो अन्वचारिषमित्यृचा सर्वे आहवनीयमुपतिष्ठन्ते। अथावभृथ इत्यत आरभ्य एतदन्तं कर्म अवभृथेष्टिस्वभृथ इति चोच्यते"। (श्रौ०पदार्थ०)

अवभृथ मन्त्र का विनियोग

अवभृथसूक्त में तीन ऋचाएँ हैं। यह ऋग्वेद-संहिता के मण्डल क्रम में १०.१२.१९० सूक्त है एवं सायणाचार्य द्वारा व्याख्यात ८.८.४८ वर्ग है। यह ऋषि विश्वामित्र के पौत्र ब्रह्मवादी मधुच्छन्दा[1] ऋषि के अघमर्षण[2] नामक पुत्र का दर्शन है। यह अघमर्षणसूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विनियोग अश्वमेध-सौत्रामणी आदि के अवभृथस्नान में किया जाता है।[3]

सम्पूर्ण मन्त्र का स्वरूप

१. **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।[4]**
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।

२. **समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।[5]**
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ।।

३. **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।[6]**
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।।

---

१. मधुच्छन्दा इति। (ऐ०आ०)

२. मधुच्छन्दा इति नाम तु मधुरमन्त्रदर्शनाद् इति प्रसिद्धिः। तद्वद् अघमर्षणतत्त्वदर्शनाद् अघमर्षण इति तत्पुत्रस्य नाम इति कल्पयितुं शक्यते।

३. ततः स्विष्टकृदादि। अपः सकृत्सम्मृज्यापबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति। समुद्रे ते स्रुवं प्रतिष्ठाप्य अभिपूर्वं हुत्वाऽवभृथं यजमानो अनुमन्त्रयते। अवभृथनिक्षुम्पुण निचेरुरसि निचुङ्कुण। अव देवैः देवकृतमनोयाट्। अव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्। अयमवभृथानुमन्त्रणमन्त्र इत्युच्यते। (श्रौ० पदार्थ०)

४. तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेपः—ऋतमिति सत्यनाम। ऋतं मानसं यथार्थसंकल्पनं सत्यं वाचिकं यथार्थभाषणम्। चकाराभ्यामन्यदपि शास्त्रीयं धर्मजातं समुच्चीयते। तत्सर्वमभीड्वादभितप्ताद् ब्रह्मणा पुरा स्पष्टार्थं कृतात्तपसोऽधि। अध्युपर्यर्थे उपर्युपजायत उदपद्यत। तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत। (तै०आ०, ८.६) इति श्रुतेः। तपश्चात्र स्रष्टव्यपर्यालोचनलक्षणम्। यस्य ज्ञानमयं तपः। (मुण्डक० ३०.१.९) इति श्रुत्यन्तरात्।
अभीड्वादभितः प्रकाशमानात्परमात्मनो मायाधिष्ठानरूपापादानभूतादृतं सत्यं चाजायत। ततस्तस्मादेवेश्वरादर्णवोऽर्णवोदकेन युक्तः समुद्रश्चाजायत। समुद्रशब्दोऽन्तरिक्षोदध्योः साधारण इत्यभिमतार्थस्य प्रकाशनायार्णवशब्देन विशेष्यते।

५. तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेपः—अर्णवात् समुद्रात् सृष्टादध्यूर्ध्वं संवत्सरः संवत्सरोपलक्षितः सर्वः कालोऽजायत। श्रूयते हि। सर्वे सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च। (तै०आ० १०.१.२) इति। स चेश्वरोऽहोरात्राण्येतदुपलक्षितानि सर्वाणि भूतानि विद् धत् कुर्वन् सृजन्। मिषतो निमिषादियुक्तस्य विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य वशी स्वामी भूत्वा वर्तते।

६. तत्रत्यसायणभाष्यसंक्षेपः—सूर्याचन्द्रमसौ कालस्य ध्वजभूतौ दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षं च इत्थं त्रिभुवनं स्वः। स्वःशब्दो मुखवाची। दिवो विशेषणं सुखरूपां दिवम्। तदेतत्सर्वं धाता विधाता यथापूर्वं पूर्वस्मिन् काले अकल्पयत सृष्टवान्, अथवागामिन्यपि कल्पे कल्पयिष्यतीत्यर्थः।

चूँकि अवभृथस्नान में अनुष्ठेय कर्म की सम्पूर्ति होती है, तत्प्रसंग में यजमान द्वारा अवभृथस्नान की निवृत्ति होने के पश्चात्, उसी जल में स्नान करने से स्नान करने वाले की पातक-उपपातक-अतिपातक-महापातक की निवृत्ति होती है। ऐसे व्यक्ति को अश्वमेधपूत कहा जाता है—**''अश्वमेधपूतास्ते ख्याताः''**।[१] यथा—

सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः ।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्विषात् ।।[२]

''अघमर्षणसूक्तस्य अघमर्षण-ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः आपो देवता अश्वमेधावभृथे विनियोगः''। अघमर्षणसूक्त का यही विनियोग प्रतिदिन[३] प्रातः मध्याह्न सायाह्न में अनुष्ठेय सन्ध्या के अन्तर्गत अघमर्षण नामक पापनिरसन कर्म में विनियुक्त है। इसलिए इसको अघमर्षण कहते हैं। अवभृथेष्टि के पश्चात् विहित अवभृथस्नान में विनियुक्त है। यहाँ पर आचार्य सायण ने स्पष्ट किया है—

रात्र्यादीनां भावानां सृष्ट्यादिप्रतिपादकत्वात्तादृग्रूप एवार्थो देवता।
तथा च अनुक्रान्तम्-ऋतं मधुच्छन्दसोऽघमर्षणो भाववृत्तमानुष्टुभं त्विति।।

लिङ्गाद् विनियोगोऽवगन्तव्यः।[४] इस कथन का तात्पर्य भी ''आपो देवता'' में ही पर्यवसित होता है।

अघमर्षण का पापनाशकत्व

अघमर्षण नामक ऋषि ने अवभृथस्नान में विनियुक्त अघमर्षण सूक्त का तत्त्वदर्शन किया था। अघमर्षण एवं अवभृथ दोनों ही पापनिरसन के लिए है। अवभृथ का अर्थ पूर्वविवेचित है।

अघमर्षण-शब्दार्थ

अघम् = पापम्, मृष्यते = उत्पन्नत्वेऽपि नाशेन कर्माक्षमत्वात् सह्यते अनेन इति अघमर्षणः। यहाँ पर मृष् तितिक्षायां धातु से ''करणाधिकरणयोश्च'' इस पाणिनिसूत्र द्वारा करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय हुआ है। अतः करणसाधन लुडन्त शब्द है। समष्टि में षष्ठीतत्पुरुष अघस्य मर्षणम् अघमर्षणम्।

---

१. द्र०, का०श्रौ०सू०।
२. भा०प०, १०.७५.२१।
३. अहरहः सन्ध्यामुपासीत। (द्र० तै०उप०, शिक्षावल्ली)
४. द्र० ऋ०वे०, १०.१२.१९०।

पापनिरसनार्थ विधियाँ

पापनिरसनार्थ श्रौत-स्मार्त अनेक विधियाँ प्रचलित हैं, यथा— १. प्रायश्चित्त, २. श्रावणी उपाकर्म, ३. नैमित्तिक स्नान, ४. अघमर्षण।

पापनिरसन का स्वरूप— अघमर्षणकृत्य एवं अवभृथस्नान में विनियुक्त मन्त्र के अतिरिक्त मन्त्र भी स्वीकृत हैं, यथा—

(क) **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।**
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।[१]

(ख) **द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव।**
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ।।[२]

(ग) **आपो हिष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन**
महे रणाय चक्षसे।[३]

विभिन्न श्रुतियों एवं स्मृतियों में अवभृथमन्त्र[४]

१. उत्पन्नपापनाशार्थं जप्ये मन्त्रभेदे तच्च द्रुपदादिवेत्यादि, ऋतञ्च सत्यञ्चेत्यादि आपोहिष्ठेत्यादि-सूक्तञ्च। तच्च अन्तर्जले जप्यम्, तत्फलं चोक्तम्।[५] २. ऋतञ्च सत्यञ्चाघमर्षणं त्रिरन्तर्जले जपन् सर्वस्मात् पापात् प्रमुच्यते।[६] ३. हत्यालोकानिमांस्त्रीन् हि त्रिः पठेदघमर्षणम्। यथाश्वमेधावभृथमेवं तन्मनुरब्रवीत्[७]। ४. ''पातकोपपातकमहापातकानामेकतमसन्निपातेऽघमर्षणमेव जयेत'' इति।[८] ५. यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः, तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् इति।[९] ६. स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः, अघमर्षणसूक्तेन अश्वमेधावभृथसमम्।[१०] ७. जलनिमग्नः प्राणान् संयम्य त्रिरावृत्ताघमर्षणसूक्तेन स्नायात्, नास्त्यघमर्षणात् परमन्तर्ज्जले।[११] ८. अन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयन् सर्वपापेभ्यो मुच्यत इति[१२]। ९. अपि चाप्सु निमज्जित्वा त्रिः पदेदघमर्षणम्। यथाश्वमेधावभृथं तथैतन्मनुरब्रवीत्।[१३] १०. अपि चाप्सु निमज्जानः त्रिः पठेद-

---

१. द्र०ऋ०वे०, १०.१२.१९०।
२. द्र०शु०य०वे० २०.२०;
३. द्र०ऋ०वे० १०.९.१।
४. द्र० वाचस्पत्ये अवभृथशब्दः;
५. द्र०, ब्राह्मणसर्वस्वम्।
६. द्र० बौधायनः;
७. द्र०, या०स्मृ०।
८. द्र० हारीतस्मृतिः;
९. द्र० बृहद्विष्णुः।
१०. द्र० या०स्मृ०;
११. द्र० शंखस्मृतिः।
१२. द्र० गौ०स्मृ०;
१३. द्र० अत्रिस्मृतिः।

घमर्षणम्। यथाश्वमेधावभृथे तादृशं मनुरब्रवीत्।[१] ११. अपि चाप्सु निमज्जित्वा त्रिः पठेदघमर्षणम्। यथाश्वमेधयज्ञो हि मनुस्तादृशमाहरत्।[२] १२. त्रिरात्रं चाप्युपवसन् त्रिरह्नाभ्युपयन्नपः। प्राणानम्बुनि संयम्य त्रिः पठेदघमर्षणम्। यथाश्वमेधावभृथमेवं तन्मनुरब्रवीत्।[३] १३. त्र्यहं चोपवसेद् यस्तु त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। मुच्यते पातकैः सर्वैः जप्त्वा त्रिरघमर्षणम्[४]। १४. मातरं भगिनीं गत्वा मातृस्वसारं स्नुषां सखीं सनाभ्याञ्च अगम्यागमनं कृत्वा अघमर्षणम् अन्तर्जले त्रिरावर्त्य एतस्मात् पापात् पूतो भवतीति। तथा गुरुतल्पगमनं कृत्वा अघमर्षणान्तर्ज्जले त्रिरावर्त्य एतस्मात् पापात् पूतो भवतीति। अत्र पापगौरवमाकलय्य संयतेन मास्येकं यावत् जलमवगाह्याघमर्षणसूक्तं त्रिरावर्त्य स्नातव्यम्।[५] १५. महापातककर्त्तारः चत्वारश्च विशेषतः। अग्निं प्रविश्य शुध्यन्ति स्नात्वा वाच इति क्रतौ। रहस्यकरणे चैव मासमभ्यस्य पौरुषम्। अघमर्षणञ्च वा सूक्तं शुध्ये चान्तर्जले स्थितः।[६] १६. अथ ब्रह्महत्यां कृत्वा प्राचीं वा उदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य प्रभूतेनेन्धनेनाग्निं प्रज्वाल्याघमर्षणं चाष्टसहस्त्रमावर्त्य जुहुयात् तस्मात् पापात् पूतो भवतीति।[७] १७. अन्तर्ज्जले त्रिरावर्त्य मुच्यते ब्रह्महत्येति।[८] १८. अकार्यकरणे चैव अभक्ष्यस्य च भक्षणे। अघमर्षणसूक्तेन पीत्वापः शुध्यते नरः।।[९] १९. मनसा पापं कृत्वा अघमर्षणं जपेत्।[१०] २०. क्षत्रियागमने वैश्यागमने चैव तापसीं त्रिरावर्त्य विशुद्धः स्यात् शूद्रागाम्यघमर्षणम्।[११] २१. ब्रह्महा त्रिरात्रोपोषितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेत्।[१२] २२. त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम्। अन्तर्जले विशुद्ध्येत् तु दत्वा गान्तु पयस्विनीम्।[१३] २३. तीर्थं गत्वा ततः शुचिरात्मा उदकान्ते स्थण्डिले उद्वृत्य सकृच्छिन्नवाससा सकृत्पूर्णेन पाणिना आदित्याभिमुखः अघमर्षणमध्यायमधीयीत।[१४] २४. षडङ्गन्यासं कृत्वा वामहस्ते जलं निधाय दक्षिणहस्तेन जलमाच्छाद्य हयं रं लं वं इति त्रिरभिमन्त्र्य मूलमुद्धरन् गलितोदकबिन्दुभिस्तत्त्वमुद्रया सप्तधा मूर्धानमभ्युक्ष्य शेषजलं दक्षिणहस्ते समादाय तेजोरूपं ध्यात्वा इडयाकृष्य देहान्तः पापं प्रक्षाल्य कृष्णवर्णं तज्जलं ध्यात्वा

१. द्र० वशिष्ठस्मृतिः;
२. द्र० आ०श्रौ०सू०।
३. द्र० बौ०श्रौ०सू०;
४. द्र० या०स्मृ०।
५. द्र० रहस्ये बृहन्मनुः;
६. द्र० लघुयमः।
७. द्र० बृहद्यमः;
८. द्र० हारीतस्मृतिः।
९. द्र० बृहद् आपस्तम्बः;
१०. द्र० वशिष्ठस्मृतिः।
११. द्र० बृहद् आपस्तम्बः।
१२. तापसीमिति तापसीम् ऋचमित्यर्थः शङ्खलिखितौ.....।
१३. द्र० या०स्मृ०;
१४. द्र० प्रकाशविषये बौधायनः।

पिङ्गलया विरेच्य पुर: कल्पितवज्रशिलायां फडिति मन्त्रेण पापपुरुषस्वरूपं तज्जले नि:क्षिपेदित्यघमर्षणम्[१] इति[२]।

अवभृथेष्टि और अवभृथस्नान की प्रक्रिया

विभिन्न श्रौत अनुष्ठानों में अवभृथेष्टि विभिन्न रूपों में विहित है। यथा चातुर्मास्य की अवभृथेष्टि में महर्षि कात्यायन का अनुशासन है––**वारुणी निष्कामेण अवभृथम्**।[३] अर्थात् अवभृथप्रसंग में पयस्या पाक करते समय पापवशात् पात्र के भीतरी भाग के निचले हिस्से में लगे हुए पयस्या से इसका निष्कासन करके अवभृथ के लिए जल प्रवेश किया जाएगा। चातुर्मास्येष्टि में सोमावभृथ में विहित सामगान का निषेध है। घर से मौन ही जलाशय में जाकर, उसमें प्रवेश कर, पयस्यापाचनार्थ निर्धारित निष्कासन-स्थली को जल के अन्दर डुबो देना चाहिए[४]। तत: सपत्नीक यजमान मज्जन न कर स्नान करें।[५] साथ ही पति-पत्नी दोनों जल से एक-दूसरे के पीठ का प्रक्षालन करें।[६] इस प्रसंग में सपत्नीक यजमान द्वारा पहले से धारण किये हुए दोनों वस्त्रों को, जिसको देना चाहे, ऐसे किसी एक ऋत्विक् को देकर, अन्य वस्त्रों का परिधान करना चाहिए। तत: जिस प्रकार जलाशय तक गये थे, उसी प्रकार आहवनीय से लौटकर यजमान ''देवानां समिदसि'' आदि मन्त्र से समिदाधान करेगा और यजमानपत्नी अमन्त्रक गार्हपत्याग्नि में समिदाधान करेगी।[७]

चातुर्मास्य के अवभृथेष्टि-स्नानोपरान्त

समिदाधान

यजमान	यजमानपत्नी
समन्त्रक	अमन्त्रक
आहवनीयाग्नि	गार्हपत्याग्नि

इसी प्रकार सोमयाग के अवभृथ में अध्वर्यु द्वारा यजमान को ''**ऊरुं हि राजा वरुणश्चकार**''[८] इत्यादि मन्त्र का पाठ करवायेगा अथवा प्रस्तोता को दो शब्द कहेगा––

१. तन्त्रसारे तान्त्रिकाघमर्षणमुक्तम्, तत्प्रमाणं तु तत्रैवावगम्यम्।

२. एतानि सर्वाणि अवभृथमन्त्राणि वाचस्पत्ये उद्धृतानि सन्ति।

३. द्र० का०श्रौ०सू० ५.६.१८;

४. तत्रैव ५.६.२९।

५. तत्रैव ५.६.३०;

६. तत्रैव ५.६.३१।

७. तत्रैव ५.६.३२-३३;

८. द्र० शु०य०वे० ८.२४।

(क) प्रस्तोत: सामगाय

(ख) प्रस्तोत: साम ब्रूहि

अध्वर्यु द्वारा पूर्वोक्त रीति से प्रस्तोता को प्रैषदान जलाशय के समीप मध्यमार्ग में ही किया जाएगा। तत: ऋत्विक् एवं यजमान सामूहिक रूप से सामवेद के अन्त्यभाग का पाठ करेंगे।[१] पश्चात् चात्वाल के समीप लायी गयी गूलर की बनी कुर्सी को लेकर ऋत्विक् यजमान एवं उसकी पत्नी अवभृथ के लिए जलप्रवाह के शान्त जलराशि में प्रवेश करेंगे। यदि उपर्युक्त जलराशि सरलतया उपलब्ध न हो, इसकी विकल्प व्यवस्था भी है। जल में सर्वप्रथम "**नमो वरुणाय**"[२] इत्यादि मन्त्र से यजमान को प्रवेश कराया जाएगा। इस क्रम में आज्यग्रहणपूर्वक जल में समिधा निक्षेप करके "**अग्नेरनीकं**"[३] इत्यादि मन्त्र से समिधा के ऊपर हवन किया जाएगा।[४] अवभृथ स्नान में आहवनीय के स्थान पर जल में होम किया जाता है। यहाँ पर इच्छानुसार षडाहुति अथवा दशाहुति का विधान है। यह अवभृथ षडाहुत्यात्मक अथवा दशाहुत्यात्मक है। यजमान की इच्छानुसार इन दोनों में से किसी एक पक्ष का स्वीकार विहित है।[५]

सोमयागीय अवभृथ[६]

षडाहुत्यात्मक	दशाहुत्यात्मक
प्रयाजाहुति-४	आज्यभाग-२
प्रधान आहुति-१	प्रयाज-४
स्विष्टकृत्-१	अनुयाज-२
	अग्निवरुण-२

इसमें से किसी एक के अनुष्ठान के पश्चात् ऋजीष कुम्भ को जल में प्लावित कराना चाहिए।[७] इसके बाद "**देवीराप:**"[८] इत्यादि मन्त्र से कुम्भ को वहीं छोड़कर "**अवभृथनिचुम्पुण**"[९] इत्यादि मन्त्र से ऋजीष कुम्भ को डुबो देना चाहिए। तत्पश्चात् जिस कृष्णाजिन में बैठकर यजमान ने दीक्षा-ग्रहण किया था,

१. द्र० का०श्रौ०सू० १०.८.१७-२०; २. द्र०शु०य०वे० ८.२४।
३. तत्रैव ८.२५; ४. द्र०का०श्रौ०सू० १०.८.३१।
५. तत्रैव १०.८.३१; ६. तत्रैव १०.८.३१-३२।
७. तत्रैव १०.९.१, यथा जलस्योपरि कुम्भ: प्लवेत् तथा कुर्यात्। अत्र मन्त्र:—
"समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्त: सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप:।
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमो वाके विधेम यत्स्वाहा"।। (शु०य०वे० ८.२६)
८. द्र०शु०य०वे० ८.२७; ९. तत्रैव ८.२८।

उसका एक छोर हाथ से पकड़कर स्वयं डुबकी लगाए[1] एवं ग्रहचमसादि जिन पात्रों में सोम लगा हो, सबको जल में प्रक्षिप्त करना चाहिए।

सोमयाग और चातुर्मास्येष्टि अवभृथ में भेद

चातुर्मास्येष्टि में सपत्नीक यजमान द्वारा पूर्व से पहने हुए वस्त्रों का इच्छानुसार किसी एक ऋत्विज को दान विहित है; किन्तु सोमयाग में इसका स्पष्ट निषेध है।[2] सौत्रामणी इष्टि में उदक प्रवेश से लेकर अवभृथेष्टिपर्यन्त सोमयागवत् ही होगा।[3] इसका निरूपण पूर्व उल्लिखित है।[4] सौत्रामणी में सुराकुम्भ का जलप्लावन, ततः समन्त्रक मास कुम्भ का जल में मज्जन एवं जलाशय में अवभृथ के लिए जहाँ प्रवेश किया जाएगा, वहाँ से जल के भीतर ही उत्तर दिशा में दो पैर आगे जाकर, अंजलि से जल लेकर, जिधर शत्रु हो, उधर फेंकना चाहिए। यहाँ पर सौमिक अवभृथ के समान स्नान करके, जल में रहते हुए अन्य वस्त्र पहनकर एवं पूर्वोद्धृत वस्त्र का जल में समन्त्रक[5] त्याग, ततः सोमप्रयोगवत् ''उद्वयम्[6] इत्यादि मन्त्रपूर्वक जल से बाहर निकलना प्रत्यावर्तन एवं अपां सोमम्[7] मन्त्र का पाठ।[8]

अश्वमेधीय अवभृथ में विशेष

१. अश्वमेध में जलमग्न पिंगल खलति विक्लिध शुक्ल खल्वाट व्यक्ति के मस्तक पर जुम्बकाय स्वाहा[9] मन्त्र से होम।[10] २. अश्वमेधादि महापातकियों की भी अश्वमेधावभृथ स्नान से शुद्धि।[11] ३. ऐसे व्यक्तियों की अश्वमेधपूत संज्ञा।[12] ४. अथवा अश्वमेध में तीनों सुत्याह का पृथक्-पृथक् अवभृथ स्नान। इस प्रकार प्रतिदिन क्रियमाण अवभृथ के प्रथम एवं द्वितीय सुत्याह में ऋजीष कुम्भ का समन्त्रक जल में मज्जन। अन्यथा द्वितीय, तृतीय सुत्याह में फलवैगुण्य होगा। ५. सिद्धान्त मत है[13] कि स्नान भी होगा।[14] ''**प्रत्यहं अवभृथेन चरन्ति**''।

---

१. द्र०का०श्रौ०सू० १०.९.२-४।

२. तत्रैव १०.९.७;

३. तत्रैव १९.५.१२।

४. तत्रैव १०.८.२१-१०.९.१७;

५. द्र०शु०य०वे० २०.२१।

६. द्र० ऋ०वे० ६.४.११;

७. द्र०शु०य०वे० २०.२१।

८. द्र०का०श्रौ०सू० १९.५.१२-१७;

९. द्र०शु०य०वे० २५.९।

१०. ''अवभृथेष्ट्यन्तेऽप्सु मग्नस्य पिंगलखलतिविक्लिधशुक्लस्य मूर्धनि जुहोति जुम्बकाय स्वाहेति''। (का०श्रौ०सू० २०.८.१६)

११. उत्क्रान्ते यजमाने पापकृतोऽभ्यवयन्त्यचरित्वा व्रतानि''। (का०श्रौ०सू० २०.८.१७)

१२. ''अश्वमेधपूताख्यास्ते''। (का०श्रौ०सू० २०.८.१८)

१३. ''सर्वं वा श्रुतेः''। (का०श्रौ०सू० २०.८.२२)

१४. द्र०का०श्रौ०सू० २०.८.१६-२२।

अश्वमेधयज्ञ का खण्डन-विमर्श

किसी भी विषय का खण्डन-मण्डन भारतीय मनीषा की चरमोत्कर्ष स्थिति का सुदृढ़ दृष्टान्त है। यद्यपि आज भारत सहित विश्व के विभिन्न देशों, अनेक विश्व संघटनों, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, व्यक्तिगत संस्थाओं इत्यादि में व्यक्तिस्वातन्त्र्य, वाक्स्वातन्त्र्य, विचारस्वातन्त्र्य आदि महनीय विषयों का समावेश है; परन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग सम्पूर्ण रूप से होता है या नहीं, यह अवश्य ही विचारणीय है; क्योंकि किसी भी वस्तु की वाग् विषय खण्डन-मण्डन की स्वस्थ प्रवृत्ति की चिन्तन परम्परा को जीवित रखने के लिए सन्तुलनात्मक स्थिरबुद्धि की आदि से अन्त पर्यन्त सर्वथा अनिवार्यता है। बुद्धिजीवियों की उपलब्धियों का यह अन्तिम दिग्दर्शन है एवं इस महान् कृत्य में तटस्थता, निरभिमानिता, पक्षपातशून्यता जितनी स्वीकार करनी पड़ेगी, उतना ही गूढ़ग्राहिता, पूर्वाग्रहग्रस्तता आदि का त्याग करना पड़ेगा। अश्वमेध के खण्डन प्रसंग में यह बात सर्वप्रथम ज्ञातव्य है, जिसका कि उल्लेख पूर्व में ही है एवं समस्त शास्त्र के प्रारम्भ में इसका निश्चित उल्लेख रहता है, जिसके विना अनुबन्धचतुष्टय की सम्पन्नता अपूर्ण है—"**प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते**"। इस प्रकार अश्वमेध जैसे अदृष्ट के साथ-साथ दृष्ट प्रयोजन बहुल विषय पर खण्डन-मण्डन जैसे विषयों की उपस्थिति हास्यास्पद ही है, तथापि प्रयोजन, उद्देश्य, सामर्थ्य आदि अत्यावश्यक गुणगणाभाव से सुदूर फलदायी विषय भी जब आयोजन कोटि के बहिर्भूत हो जाते हैं, तदानीं प्रयोजनाभावात् ऐसे विषय की प्रवृत्ति नहीं होती। वेदप्रामाण्य के विषय में भी खण्डन-मण्डन करने पर वेदप्रतिपादित समस्त विषयों पर उपर्युक्त प्रश्न हो सकता है। उपर्युक्त समस्त दृष्टिकोणों के आधार पर अश्वमेध के खण्डन-प्रसंग में निम्नलिखित कतिपय प्रश्न सामने उपस्थित होते हैं—

१. वेदप्रामाण्य, २. तान्त्रिक अनुष्ठान, ३. प्रयोजनाभाव, ४. उद्देश्याभाव।

१. वेदप्रामाण्य

समस्त वैदिक अनुष्ठान वेदप्रामाण्य के आधार पर हैं; परन्तु देवगुरु आचार्य बृहस्पति ने महर्षि चार्वाक के रूप में वेदप्रामाण्य का खण्डन किया है, यथा—

१. **अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डं भस्मधारणम्।**
पुण्ड्रकं विद्यापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।

२. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं नहि।।

३. ग्रावोन्मज्जनवद् यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः।।

४. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् ।
प्रज्ञा पौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका।।

५. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्म्मणि।
एष्वेव पशवो हिंस्याः नान्यत्रेषोऽब्रवीन्मनुः ।।

६. एतेष्वेव पशुं हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः।
आत्मानञ्च पशुञ्चैव गमयदुत्तमां गतिम्।।

७. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।।

८. पशुः चेन्निहतः स्वर्गे ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंसते।।

९. मृतानां यदि जन्तूनां श्राद्धं स्यात् तृप्तिकारकम्।
प्रस्थितानां मनुष्याणां वृथा पाथेयकल्पनम्।।

१०. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

११. अङ्गनालिङ्गनाजन्यं सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते।।

१२. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशोनापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।।

१३. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैषात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिका:।।

१४. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।।

१५. **कण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।**
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।।

१६. **देहस्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।**
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी।।

१७. **अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।**
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता।।

१८. **स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।**
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते।।

१९. **यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।**
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।।

२०. **को हि वेदस्तममुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः।**
तत्प्रमाणादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम्।।[1]

उपर्युक्त चार्वाक मत में वेदप्रामाण्य, परलोक, पुनर्जन्म, ईश्वरास्तित्व, कर्मफलभोग इत्यादि समस्त कार्य-कारणसिद्ध वैदिक उपलब्धियों का अत्यधिक स्थूल रूप से प्रकट खण्डन किया गया है, जो कि एक स्थूल "बुद्धिवाद" के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

अश्वमेध का उल्लेखपूर्वक खण्डन

यहाँ पर अश्वमेध का नाम न लेकर भी इसके कृत्य का उल्लेखपूर्वक महर्षि चार्वाक ने आक्षेप किया है।

अश्वस्यात्र हि शिश्नं पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
भण्डैस्तद्वत् परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम्।।[2]

अवैदिक दार्शनिकों द्वारा अश्वमेध का खण्डन

परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफलभोग एवं बुद्धागम तथा जिनागम प्रामाण्यवादी होने पर भी वेदप्रामाण्यवादी न होने के कारण अवैदिक दार्शनिकत्वेन प्रसिद्ध हीनयान, महायान के अन्तर्गत योगाचार-वैभाषिक-सौत्रान्तिक आदि एवं जैनियों में दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि समस्त परम्पराओं में स्व-स्व अभिप्रेत बुद्धागम,

---

१. द्र०, माधवाचार्य्यकृतं चार्वाकदर्शनम्, संपादकः—श्रीदक्षिणारंजनशास्त्री।

२. द्र०, तत्रैव।

जिनागम के समस्त कर्मकाण्डों एवं तान्त्रिक प्रक्रियाओं को गुरुपरम्पराक्रम में स्वीकार करने पर भी वेदप्रतिपादित कर्मकाण्ड का प्रकट खण्डन होने से अश्वमेधादि श्रौत प्रयोग भी खण्डनीयत्वेन पर्यवसित होते हैं। इस विषय में आचार्य धर्मकीर्ति का मत अत्यधिक प्रसिद्ध है, यथा—

वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापहानाय चेति
ध्वस्तः प्रज्ञानां पञ्चचिह्नानि जाड्ये।।

उक्त श्लोक में उल्लिखित पाँच वस्तुओं में व्यापक रूप से वैदिक परम्परा का खण्डन किया गया है। इसमें अश्मेध का नाम न लेने पर भी स्वतः खण्डन हो जाता है। यद्यपि उपर्युक्त श्लोक के द्वारा कार्य-कारणसिद्ध समस्त वैदिक उपलब्धियों की व्यापक रूप से खण्डन के लिए स्थूल चेष्टा की गयी है; परन्तु व्याप्य रूप से विचार करने पर यह खण्डन अश्वमेध में भी पर्यवसित होता है।

१. वेदप्रामाण्य-निरास = श्रौतप्रयोग से निवृत्ति। २. कश्चित् कर्तृवादः = यज्ञपुरुष से निवृत्ति। ३. स्नाने धर्मेच्छा = अवभृथेष्टि, अवभृथस्नान, अश्वप्रोक्षण से निवृत्ति। ४. जातिवादावलेपः = वर्णव्यवस्था से निवृत्ति, अश्वमेध के प्रसंग में क्षत्रियसाध्यत्व, आर्त्विज्य, पत्नी-चतुष्टय, अनुचरीचतुष्टयवृन्द, अश्वरक्षक-वृन्दादि से निवृत्ति। ५. सन्तापारम्भः पापहानाय चेति = समस्त पापापनोदनार्थ अश्वमेधप्रवृत्ति से निवृत्ति।

कर्मयोग में अश्वमेध निष्प्रयोजन

भारतीय परम्परा में साधक की अन्तरंग स्थिति के अनुसार बाह्य रूप के भी तदनुरूप भेद हैं। ऐसी तीन स्थितियाँ हैं—

(क) कर्मयोग, (ख) भक्तियोग, (ग) ज्ञानयोग।

कर्मयोग की दो स्थितियाँ हैं—निष्काम कर्म, सकाम कर्म। इनमें मात्र सकाम कर्म में ही अश्वमेध जैसी विशाल परियोजना का आयोजन संभव है। निष्काम कर्मयोग में अश्वमेधादि अनेक आयासबहुल यज्ञों का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः ''प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'' इस नीति के अनुसार लौकिक फल पर्यवसित अश्वमेध आदि में कर्त्ता की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

भक्तियोग में अश्वमेध निष्प्रयोजन

निष्काम कर्म की ही उच्चतम परिणति उपासनाओं के माध्यम से भक्तिमार्ग में पर्यवसित होती है। भक्ति के अनेक भेद हैं, यथा— वैष्णव दर्शन में नवधा भक्ति प्रसिद्ध है, जिसमें प्रेमा भक्ति अन्तिम है। प्रेमा भक्ति में भी भाव, महाभाव, अधिरूढ़ आदि भक्ति की उच्चतम स्थितियाँ वैष्णव परम्पराओं में प्रसिद्ध हैं। ऐसी स्थिति में साधक की मनःस्थिति भगवान् के अर्चन, नाममहासंकीर्तन, सख्य, आत्मनिवेदन, प्रेम इत्यादि दिव्य वैभवों में इतना रम जाती है कि उसे लोक-लोकान्तर के वैभवातिशय भी क्षणिक प्रतीत होते हैं। अतः उसे आकांक्षा ही नहीं रहती। श्रीमद्भागवत महापुराण के शब्दों में—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भावौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्।।[१]

यहाँ पर ''विना पशुघ्नात्'' अंश में विभिन्न व्याख्याकारों ने निम्नलिखित पदच्छेद किया है—

(क) विना पशुघ्नात्, (ख) विना अपशुघ्नात्, (ग) विना आपशुघ्नात्।

१. अपगता शुक् अर्थात् शोको यस्मात् तम् आत्मानं हन्तीति अपशुघ्नः, तस्मात्, पशुघातिन इति वा।[२] २. पशुघ्नः, अर्थात् स्वर्गकर्मी, ततो विना स तु विरज्यत एव।[३] ३. आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा विरक्तस्ततः पृथक् चेत् पशुस्त्रीव्यतिरिक्तो नेति बोध्यः।[४] ४. स्वर्गप्राप्त्यै यज्ञेषु पशुघातकात् कर्मसिक्तात्।[५]

इस प्रकार पशुघ्न अर्थात् पाशुक श्रौतकर्मानुष्ठानकारी अर्थात् सोमयाजी व्यक्ति की अपेक्षा भगवत्शक्ति की प्रशंसा प्राप्त है। अतएव भक्तिमार्ग में भी प्राप्य परिपूर्णता के बाद अश्वमेधयागानुष्ठानादि निष्प्रयोजन ही होते हैं। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक भी प्रसिद्ध है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।।

---

१. द्र० भा०पु० १०.१.४।

२. द्र० श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका; ३. द्र० वंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः।

४. पुरुषोत्तमचरणप्रणीतो वल्लभाचार्यकृतः श्रीसुबोधिन्याः श्रीप्रभुचरणकृतः श्रीटिप्पण्याश्च प्रकाशः।

५. अन्वितार्थप्रकाशिका।

ज्ञानमार्ग में अश्वमेधयज्ञ निष्प्रयोजन

ज्ञानमार्ग के पथिक के लिए अश्वमेध निष्प्रयोजन है; क्योंकि परिपक्व ज्ञानी निर्गुण मोक्ष[१] का अधिकारी होता है, अत: उसके लिए किसी भी लोक-लोकान्तर का दिव्यातिदिव्य वैभवातिशय भी अकिंचित्कर है; क्योंकि ये सभी पुण्य क्षीण होने पर स्थूल शरीर धारण करते हैं[२], जबकि ज्ञानमार्गियों का पुन: प्रत्यावर्तन इष्ट नहीं है। अतएव मुण्डकोपनिषद्[३] में स्पष्ट प्रतिपादित है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो ह्यभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।।

तान्त्रिक अनुष्ठान

युगभेद से कर्मकाण्ड-भेद के निर्णय-प्रसंग में प्रसिद्ध है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ।।[४]

एतदनुसार सम्प्रति गणनानुसार विगत ५१०० वर्षों से प्रवृत्त कलियुग में तन्त्र एवं आगमानुसार कर्मकाण्ड पद्धति मान्यताप्राप्त है एवं मिथिला-दरभंगा-कलिंग-उत्कल-कामरूप-पुरी, पूर्व एवं पश्चिम वंग, त्रिपुरा, मणिपुर, तिब्बत, दक्षिण भारत, नेपाल आदि स्थानों में तन्त्राचार का बाहुल्य प्रचलित भी है। तदनुसार भी अश्वमेध का कोई विधान नहीं है। पुराणों के अनुसार भी कलिवर्ज्य

---

१. निर्गुणमोक्ष इति। अत्र किंचित्—

मोक्ष
- निर्गुण
- सगुण
  - सार्ष्टि
  - सालोक्य
  - सारूप्य
  - सायुज्य

तत्र सगुणमोक्षस्य भक्तिविषयः, निर्गुणमोक्षस्य ज्ञानविषयः, यथा—देव्याः पुरे पुरान्तरं निर्माय साधना, देव्याः पुरे एव साधना, देवीस्वरूपप्राप्तिः, देवीस्वरूपविलीनता तद्विवरणम्। (द्र० शंकराचार्यकृता सौन्दर्यलहरी, लक्ष्मीधरभट्टाचार्यव्याख्या)।

२. ''त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ति।
ते तं समासाद्य तु पुण्यलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।

३. द्र० मुण्डक-उ०, खण्ड-२।

४. द्र० प्राणतोषिणीतन्त्रम्, श्रीरामतोषणभट्टाचार्यकृतम्।

होने से अश्वमेध का प्रयोग सम्प्रति अप्रचलित है। अश्वमेध महायज्ञ जैसी वर्षद्वयाधिककालव्यापी विशाल परियोजना के लिए अपेक्षित राजनीतिक एवं आर्थिक सामर्थ्य, सैन्यबल, कोषतत्त्व, व्यक्तितत्त्व, अश्वविशेष, जन्मप्रभृति आनुवंशिक उत्तरदायित्व पालन की परम्परा की स्थापना की सुदृढ़ निश्चयात्मक मानसिकता का अभाव, आफलोदय कर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति का अभाव इत्यादि विभिन्न प्रत्यक्ष कारण भी अश्वमेध के अनुष्ठानाभाव में हेतु हैं। इस प्रकार वेदप्रामाण्य, बुद्ध्यभाव, तान्त्रिक अनुष्ठान का प्राबल्य एवं वैदिक अनुष्ठान की न्यूनता तथा प्रयोजनाभाव, उद्देश्याभाव आदि विभिन्न पक्षों से अश्वमेध का खण्डन सिद्ध होने पर भी इस विशाल परियोजना के व्यवहार पक्ष की राजनीतिक उपलब्धि एवं उपादेयता सर्वथा सुदृढ़रूपेण सिद्ध है।

वैधहिंसा-विचार

जिस प्रकार स्त्री-पुरुष का अवैधानिक शरीर सम्बन्ध पापास्पद है; परन्तु वैधानिक शरीर सम्बन्ध उतना ही धर्मास्पद है एवं विधानानुसार न करने पर प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है, अर्थात् पाप और पुण्य में विहित-अविहित पक्ष ही मानदण्ड है। यह स्थिति हिंसा में भी है। अविहित हिंसा सर्वथा पापास्पद है, परन्तु विहित हिंसा अत्यधिक करुणास्पद है। यथा "**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**"[१] इस वेदवाक्य में "सर्व" शब्द व्यापक अर्थ का अभिधायी है। इस दृष्टि से १. **वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**[२], २. **वायव्यं वत्समालभेत**[३], ३. **वायव्यं गोमृगम्**[४]। इत्यादि विहित वचन निर्विषय हो जायेंगे। अतः पूर्ववाक्य की वैधहिंसातिरिक्त हिंसाविषयता ही युक्तियुक्त है[५]। यद्यपि आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में "**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**" इस सामान्य शास्त्र का "**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**" इस विशेषवाक्य से बाध किया है, तथापि सामान्य, विशेष का बाध्य-बाधक

---

१. अस्य वचस आकरस्थलं मृग्यम्, क्वचित् "न हिंस्यात्" इति पाठः। द्र० भामती ३.२.३५, शान्तिपर्वणि २७८.५, कौर्मे २.१६.१ च (श्रीरामशंकरभट्टाचार्यकृता ज्योतिष्मती-व्याख्या)।

२. द्र० तै०सं० २.१.१.१।

३. तत्रैव- २.१.४.१५।

४. तत्रैव- २.१.१०.११।

५. शास्त्रेषु सामान्यविशेषवचनानि सर्वथा आवश्यकानि, "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यवाक्यम्। विशेषवाक्यं यथा— "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि (द्र० तै०सं० ६.११.६, ऐ०ब्रा० २.६)

भाव समान विषयों में होता है, विषयान्तर में नहीं। यहाँ भिन्न विषय होने से बाध्य-बाधकभाव नहीं होगा; क्योंकि सामान्य वचन हिंसा का अनर्थहेतुकत्व-प्रतिपादक है, अक्रत्वर्थत्व का नहीं। इस प्रकार अनर्थहेतुत्व एवं क्रतूपकारकत्व का कोई विरोध नहीं है।[1] यहाँ पर सांख्यकारिका के प्रसिद्ध टीकाकार श्री बालरामोदासीन महोदय ने भिन्न विषय में बाध्य-बाधक भाव की अप्रवृत्ति को दृष्टान्तर द्वारा भी समझाया है—"**आमतक्रं कोष्ठे कफं हन्ति**", "**आमतक्रं कण्ठे कफं करोति**"—इन दोनों में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि दोनों में विषयभेद है। प्रथम वाक्य में इष्टसाधनत्व प्रतिपादित है और द्वितीय वाक्य में अनिष्टसाधनत्व। इस प्रकार सांख्यदर्शन के अनुसार भिन्न विषय होने के कारण, विरोध न होने से बाध्य-बाधक भाव नहीं होगा।[2]

मीमांसकमत-मीमांसा

गुरुमत अर्थात् प्रभाकर मिश्र के मतानुसार निषेधविध्यर्थ के बाध के बिना अग्नीषोमीय पश्वालंभनविषयक वाक्य की उपपत्ति हो सकती है। मीमांसक-मत में बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व ही अर्थसाधनत्व है एवं बलवदनिष्टसाधनत्व ही अनर्थसाधन है एवं ये दोनों परस्पर व्यधिकरण धर्म हैं। जहाँ अर्थसाधनता रहेगी, वहाँ अनर्थसाधनता नहीं रह सकती, इसी प्रकार जहाँ अनर्थसाधनता रहेगी, वहाँ अर्थसाधनता नहीं रहेगी, अर्थात् एक ही वस्तु इष्ट भी हो, अनिष्ट भी हो, ऐसा नहीं हो सकता, इसलिए स्मार्त परम्परा में मान्य है—"**यस्माद् यज्ञे वधोऽवधः**"।[3]

एक शंका का निवारण

"**श्येनेनाभिचरन् यजेत**" इस प्रसिद्ध वेदवचन में श्येनयाग द्वारा शत्रुवधरूपी इष्टसाधनत्व अविहित है। अपरत्र आचार्य मनु "**अविचारो मूलकर्म च**" इत्यादि की उपपातक में गणना करके अनिष्टसाधनत्व का उपपादन किया है। इदानीं श्येनयागरूप एकत्र अधिकरण में शत्रुवधरूप इष्टसाधनत्व एवं उपपातकरूप अनिष्टसाधनत्व दोनों व्यधिकरण धर्म का समावेश हो रहा है, इसकी संगति कैसे होगी?

---

१. सांख्यकारिका-तत्त्वकौमुदी, द्वितीयकारिका।

२. द्र० कल्पतरुपरिमलः, अप्पयदीक्षितेन्द्रकृतः, ब्रह्मसूत्रम्- ३.१.२५।

३. यज्ञार्थे पशवः सृष्टा यज्ञार्थे पशुघातनम्।
अतस्त्वां घातयिष्यामि यस्माद् यज्ञे वधोऽवधः।। (दुर्गापूजापद्धतिः)

पूर्वोक्त शंका का समाधान

"**आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्**"[१] इत्यादि स्मार्त वचन से एकवाक्यता[२] करने पर निम्नलिखित समन्वय प्राप्त होता है, यथा—

(क) आततायिस्थल में श्येनयाग इष्टसाधक है। (ख) अनाततायिस्थल में श्येनयाग उपपातक होने से बलवद् अनिष्टसाधक है। यही स्थिति यज्ञादि श्रौत, स्मार्त विधानों में पशुहिंसाओं की है।

वैधहिंसा विषय का निष्कर्ष

पाप या पुण्य में हिंसा या अहिंसा प्रयोजक नहीं है; अपितु विहित एवं अविहित ही उसका प्रयोजक है,[३] जिसको कि पूर्व में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धरूप दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है। इष्टसाधकत्व, अनिष्टसाधकत्व आदि विचार इसी का परिष्कार है, अर्थात् अनिष्टसाधक का वेद में विधान ही नहीं है। सोमयागादि समस्त वैदिक कर्म में एवं बलिदानादि समस्त तान्त्रिक कर्मों में यही दृष्टि शास्त्र-परिष्कृत है।

अश्वमेधयज्ञ का मीमांसाशास्त्रीय अध्ययन

विद्वत्परम्परा में, महापुरुषों के लिए प्रयुक्त एक विशेषण चिरकाल से प्रसिद्ध है—"**पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण**"। यह विशेषण सम्बद्ध व्यक्ति के पाण्डित्य का निरतिशय प्रकर्षकाभिधायक है[४]। उक्त पद में प्रयुक्त पदों का अर्थ निम्नलिखित है—

---

१. गुरुं वा बालवृद्धं वा आचरन् वाऽपि पण्डितम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।।
आततायिलक्षणं तु— अग्निदो गर्दभश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते आततायिनः।। (वाच०)

२. **एकवाक्यता इति**। तल्लक्षणानि यथा—१. अविसंवादिवाक्यत्वम्, २. विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वम्, ३. उपजीव्योपजीवकभावापन्नविषयताशालिबोधकत्वम्, ४. साकांक्षत्वे सति एकार्थप्रतिपत्तिपरत्वम्, ५. एकार्थबोधकानां शब्दानां मिथः आकांक्षया एकस्यां बुद्धौ आरूढत्वम्, ६. वाक्यार्थाकांक्षिताकांक्षापूरणेन विशिष्टार्थबोधकत्वम्। एतच्च द्विविधम् यथा—१. पदैकवाक्यता, २. वाक्यैकवाक्यता। (सर्वतन्त्र०)

३. **विहिताविहित इति**। विहितसुरापानमपि धर्मास्पदम्, यथा सौत्रामण्यादौ। अविहितं गंगाजलपानमपि अधर्मास्पदम्। ननु गंगाजलपानम् अधर्मास्पदमिति कथमिति चेत्? अत्रोच्यते-यत्र कुत्रचिद् अविहितत्वसामान्येन गंगाजलपानस्यापि अधर्मास्पदत्वात्, यथा निर्जलैकादश्याम्। अत्र किंचित्—गंगाजलपानम् अधर्मास्पदं कदापि नास्ति; परन्तु निर्जलोपवासप्रसंगे उपवासभङ्गो हि अधर्मास्पदमिति विवेक इति।

४. बृहद्वैयाकरणभूषणम्, पृ०१६।

(क) पद = व्याकरणशास्त्र, (ख) वाक्य = मीमांसाशास्त्र (उभयमीमांसा) (ग) प्रमाण = न्यायशास्त्र, (घ) पारावार = समुद्र, (ङ) पारीण = पारङ्गत।

अतः सम्पूर्ण आनुपूर्वी का अर्थ होगा—व्याकरण-मीमांसा-न्यायशास्त्र-समुद्रपारगामी। इसमें मीमांसा विशेषतः पूर्वमीमांसा, व्याकरण एवं न्याय में पदपदार्थप्रतिपादनपरक पर्याप्त पर्यालोचन परिशीलन परिप्रेक्षित होता है। अतः इन तीनों शास्त्रों का परस्पर वाद भी अत्यधिक प्रचलित है। उन वादों में युक्तायुक्तत्व विचार, गौरव-लाघव विचार आदि स्वीकार्य कोटि के आधार हैं। यथा—(क) **फलव्यापारो धात्वर्थ इति प्राचीनवैयाकरणं मतम्**। (ख) **फलविशिष्टो व्यापारोः व्यापारविशिष्टं वा फलं धात्वर्थ इति नवीनवैयाकरणं मतम्**। (ग) **व्यापारमात्रं धात्वर्थः फलं कर्मप्रत्ययार्थ इति प्राचीननैयायिक-मतम्**[1]। (घ) **फलविशिष्टो व्यापारो धात्वर्थ इति नव्यनैयायिकमतम्**। (ङ) **फलं धात्वर्थव्यापारः प्रत्ययार्थ इति मीमांसकमतम्**। यहाँ पर असत्त्वभूत साध्य क्रिया ही व्यापारपदवाच्य है। इस प्रकार को ही मीमांसक मत में भावना कहते हैं;[2] परन्तु मीमांसकानुसार यह भावना दो प्रकार की है, यथा—

भावना

शाब्दीभावना	आर्थीभावना
लिङ्वाच्या	तिङ्वाच्या

लिङ्वाच्या आर्थीभावना को ही वैयाकरण व्याकरण कहते हैं, यथा—**व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया**।[3] लेट् के विषय में भी उक्त मन्तव्य है, अर्थात् लकारवाच्या शाब्दीभावना है और तिङ्वाच्या आर्थीभावना है। लट् लकार के विषय में भी उक्त तथ्य मन्तव्य है, अर्थात् लकारवाच्या शाब्दी-भावना, तिङ्वाच्या आर्थीभावना।

भावना-शब्दार्थ

भवितुर्भावनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना।

१. द्र० (क) व्युत्पत्तिवादः, गूढार्थतत्त्वालोकव्याख्या, बच्चाझाकृत। (ख) जयाटीका, महामहोपाध्यायजयदेवमिश्रकृता, (ग) न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्डम्, (घ) किरणावलीव्याख्या, कृष्णवल्लभाचार्यकृता, (ङ) तर्कसंग्रहः, चन्द्रिकाव्याख्या, (च) तर्कसंग्रहः, व्याख्यापंचकोपेतः, (छ) तर्कसंग्रहः, दीपिका-किरणावलीयुतः।

२. द्र० अर्थसंग्रहः।

३. द्र० वैयाकरणमतोन्मज्जनम्, धात्वर्थे पंचमकारिका।

लेडर्थ-विचार

आचार्य पाणिनि का सूत्र है—लिङर्थे लेट्। लिङर्थ के विषय में आचार्य का स्पष्टीकरण है—"**विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्**"। लेट् के ६ अर्थ स्पष्ट हैं—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न, प्रार्थना।

मीमांसा के सिद्धान्तानुसार इनमें प्रथम चार प्रवर्तनारूप ही हैं। अतः प्रवर्तनासम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् सूत्र करने पर भी कार्यसिद्धि हो जाती है। मीमांसकों के अनुसार प्रथम चारों का पृथक्-पृथक् उपादान स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ है, यथा—

अस्ति प्रवर्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।
तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया।।
न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथाऽपि वा।
विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम् ।।[1]

प्रवर्तना-शब्दार्थ

'अश्वमेधेन यजते' इत्यादि लेडन्त "यजते" में लिङ्वाच्या शाब्दीभावना एवं तिङ्वाच्या आर्थीभावना है। भावना पदार्थ पूर्व में निरूपित है। प्रश्न है— "लिङर्थे लेट्" सूत्रानुसार, जो लिङर्थ है, वही लेडर्थ है। मीमांसकों के अनुसार लिङर्थ प्रवर्तना शब्द का अर्थ है—**प्रवृत्त्यनुकूलो धर्म इष्टसाधनत्वम्**"। इष्टसाधनता ज्ञान के कार्यमात्र के प्रति प्रवृत्ति में हेतु होने के कारण इष्टसाधनत्वरूप प्रवर्तना ही लेडर्थ होगी।

आचार्य जैमिनि का साम्मत्य—महर्षि जैमिनि ने उपर्युक्त तथ्यों को स्पष्ट करते हुए निरूपण किया है—"**शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्**"। उक्त सूत्र का अर्थ है—शास्त्र सम्बन्धिफलम् = स्वर्गादि, प्रयोक्तरि = कर्तरि, "**प्रयोक्तृ-फलसाधनतालक्षणत्वाद् विधेः**"[2]। **आचार्य बादरायण का साम्मत्य**—षड्दर्शन-शिरोरत्नायमान वेदान्तदर्शन के रचयिता महर्षि बादरायण ने उपर्युक्त तथ्य को विस्तृत करते हुए स्पष्ट कहा है— "**कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्**"। भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने[2]

१. द्र० बृहद्वैयाकरणभूषणम्, लकारार्थनिर्णयः।

२. तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवापरोऽपि जीवधर्मः प्रपंच्यते। कर्त्ता चायं जीवः स्यात्। कस्मात्? शास्त्रार्थवत्त्वात्। "यजेत" "जुहुयात्" "दद्यात्" इत्येवंविधं विधिशास्त्रमर्थवद् भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषम् उपदिशति। न चासति कर्तृत्वे तदुपपद्यते। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद् भवति— "एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" (प्र० ५.९) इति। (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, २.३.३३)

तथा भामतीकार श्री वाचस्पति मिश्र ने[1] इसी तथ्य को अत्यधिक विस्तृत रूप से स्पष्ट किया है।

आचार्य मण्डन मिश्र की सम्मति

पुंसान्नेष्टाऽभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति मनीषिणः।।[2]

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि, जिस प्रकार इष्टसाधनत्व प्रवर्तना है, उसी प्रकार कृतिसाध्यत्व भी प्रवर्तना है। उसका भी लिङर्थ अथवा लेडर्थ क्यों न माना जाय? परन्तु गौरवभिया ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता। इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व उभय को लिङ् या लेट् का शक्यतावच्छेदक मानने पर कल्पनागौरव होगा। वाचस्पति मिश्र ने कल्पनागौरव को अत्यधिक हेय कहा है—

कल्पनागौरवं यत्र तत्पक्षं नाद्रियामहे ।
कल्पनालाघवं यत्र तत्पक्षमाद्रियामहे।।[3]

परन्तु प्रश्न यह है कि केवल इष्टसाधनत्व को ही कार्यमात्र के प्रवृत्ति के प्रति हेतु मानने पर चन्द्रमण्डलानयनादि में भी व्यक्ति की प्रवृत्ति हो सकती है। अतः कृतिसाध्यता ज्ञान को ही प्रवर्तक माना गया है। ''**फलमखगौरवम् अदोषाधायकम्**'' इस न्याय के अनुसार प्रकृत गौरव दोषास्पद नहीं है। कतिपय आचार्य हितसाधनत्व को ही लिङर्थ या लेडर्थ मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कृतिसाध्यत्व मात्र ही शक्यार्थ होने पर अश्वमेधादि महायोजना में अशक्त व्यक्ति की भी प्रवृत्ति हो सकती है, इसलिए मदंशविशिष्ट कृतिसाध्यत्व, अर्थात्— ''**योगा मत्कृतिसाध्य-मत्कृतिसाध्यत्वविरोधिधर्मानधिकरणत्वात्**'' यही लिङर्थ मन्तव्य है। यद्यपि लौकिक व्यवहार में गुरुजनों के द्वारा बलात् प्रवृत्त होकर भी ''अयं किञ्चिदिष्टं ज्ञात्वा मां प्रवर्तयति'' ऐसा जानकर व्यक्ति की प्रवृत्ति हो सकती है, तथापि अनेक द्रव्यव्यय-प्रयासादि-साध्य अश्वमेधादि महायोजना में विशिष्ट ज्ञान के विना व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

---

१. ''ननु तद्गुणसारत्वाद् इत्यनेनैव जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च लब्धमेवेति, तद् व्युत्पादनम् अनर्थकमित्यत आह—''तद्गुणसारत्वाधिकारेणेति''। तस्यैवैष प्रपंचो ये पश्यन्त्यात्मा भोक्तैव न कर्तेति तन्निराकरणार्थः। ''शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्'' इत्याह स्म भगवान् जैमिनिः। प्रयोक्तरि अनुष्ठातरि, कर्तरीति यावत्। शास्त्रफलं स्वर्गादि। कुतः प्रयोक्तृफलसाधनतालक्षणत्वात् शास्त्रस्य विधेः। कर्त्रपेक्षितोपायता हि विधिः''। (ब्रह्मसूत्र-२.३.३३ भामतीव्याख्या)

२. बृहद्वैयाकरणभूषणम्, लकारार्थनिर्णयः।

३. द्र० तत्त्वबिन्दु; आचार्य वाचस्पति मिश्र।

प्रासंगिक दोष का निराकरण

मद-विष-सम्पृक्त अन्नभोजनादि में प्रवृत्ति वारण के लिए "**बलवदनिष्टाननुबन्धित्व**" ज्ञान को भी प्रवृत्ति के प्रति हेतु मानना चाहिए; परन्तु इस प्रकार अश्वमेध आदि प्रभूत आयाससाध्य में व्यक्ति का प्रवृत्ति-वारण भी हो सकता है। अत: प्रवर्तनारूप इष्टसाधनत्व को लेडर्थ मानना चाहिए, "बलवदनिष्टाननुबन्धित्व" तो अर्थत: भी सिद्ध है। यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि प्रवर्तनारूप इष्टसाधनत्व का प्रतिव्यक्ति भेद होने से श्रृंगग्राहिकया निर्वचन न होने के कारण उसका लिङ् या लेट् का शक्य क्यों माना जाय? परन्तु यह आक्षेप भी दृढ़ नहीं है; क्योंकि तदादि का कोई निश्चित शक्यतावच्छेदक नहीं है एवं उससे अनेक अर्थ की उपस्थिति होती है; परन्तु एतावता तदादि शब्द न तो अनिश्चयार्थक है, न ही अनेकार्थक है, अपितु "बुद्धिविशेषविषयत्वरूप "शक्यतावच्छेदकावच्छिन्न" होने से एक निश्चित अर्थ का ही उपस्थापक होता है। इसी प्रकार प्रकृत में "**लिङ् लेट् वा इच्छाविषयतावच्छेदकसर्गत्वादिवत् साधनत्ववाचक:**" इस निश्चित अर्थ का उपस्थापक होने से कोई दोष नहीं है। इस प्रकार इष्टसाधनताज्ञान ही प्रवर्तकत्वेन आवश्यक होने से वही लेडर्थ है।

गुरुमत का खण्डन

आचार्य कुमारिल भट्ट के शिष्य "गुरु" उपाधि से विभूषित प्रभाकर मिश्र अपूर्वतत्त्व को लेडर्थ मानते हैं एवं सन्ध्या इत्यादि में अपूर्व को उद्देश्य मानकर ही प्रवृत्ति मानते हैं, जो कि मीमांसा में एक भिन्न मत के रूप में स्थापित है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वेदविहित कर्त्तव्य में प्रवृत्ति के जो भी हेतु हों; परन्तु निष्फल कर्म के प्रति कभी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वेदसहस्र के द्वारा कहे जाने पर भी कोई व्यक्ति निरुद्देश्य कार्य के प्रति प्रवृत्त नहीं होगा।

मीमांसकों का विधिलभ्य अर्थविचार-प्रसंग

अग्निहोत्रादि अल्पायास साध्य कर्म से एवं ज्योतिष्टोम, अश्वमेधादि प्रभूत आयाससाध्य कर्म से प्राप्य स्वर्गलाभ आदि में वैजात्य होगा या नहीं? इसमें कर्मानुकूल सुखविशेष रूप स्वर्गादि लाभ प्राप्त है। मीमांसकों ने विधिलभ्य अर्थविचार प्रसंग में फलवैजात्य स्वीकार न करने पर ज्योतिष्टोमलभ्य एवं अग्निहोत्रलभ्य फल की समानता होने से अल्पवित्त व्यय, आयासादि साध्य अग्निहोत्र द्वारा ही स्वर्गलाभ फल प्राप्त होने

पर बहु-आयास, बहुवित्त-व्ययादिसाध्य अश्वमेधादि विधियों का अनुष्ठान, लक्षण अप्रामाण्य प्रसंग हो सकता है; परन्तु पूर्वनिरूपित प्रवर्तनारूप इष्टसाधनता ज्ञान के अश्वमेधादि में भी रहने के कारण उक्त आशंका निराधार है।

उदयनाचार्य का मत

प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य के कथनानुसार—

"विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाऽभ्युपायता।।"[१]

इसके अनुसार वक्ता के अभिप्राय में ही विधि की शक्ति सिद्ध होती है; परन्तु यह मत तन्त्रान्तरीय है। उदयनाचार्य के कथनानुसार यदि वक्ता के अभिप्राय में ही लिङ्, लोट् आदि की शक्ति है, तो इच्छात्वरूप जाति को ही शक्यतावच्छेदक होने से लाघव होगा। इस प्रकार इष्टसाधनत्वरूप प्रवर्तना की इस पक्ष में कोई आवश्यकता नहीं। कतिपय आचार्य साक्षात् प्रवर्तक ज्ञान-विषय को लेट् आदि का शक्य मानते हैं। अन्य आचार्य विधिजन्य ज्ञान को ही प्रवृत्ति मात्र के प्रति कारण मानते हैं।

विहित हिंसा पापास्पद नहीं है

पूर्व में कथित है कि पुण्य और पाप, विहित, अविहितपरक हैं। भगवद्-गीता के शब्दों में—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।[२]

अन्यत्राऽपि

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः।।

इत्यादि वचनों से श्रौत-स्मार्त परम्पराओं में शास्त्रविहित एवं शास्त्र-अविहित कर्म ही क्रमशः पुण्य और पाप के आस्पद हैं।

बौद्धों का अनुमान

वेदाप्रामाण्यवादी बौद्धों ने सामान्येन यज्ञीय हिंसा को भी अधर्मास्पद कहा है, यथा—"**क्रत्वन्तर्वर्तिनीहिंसा अधर्मजनिका हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत्**"।[३] परन्तु यह अनुमान हेत्वाभास के अन्तर्गत होने के कारण बाधित है।

---

१. द्र० बृहद्वैयाकरणभूषण-समुद्धृतम्।

२. द्र०, वि०पु०;

३. द्र०, तर्कसंग्रहः, सपदकृत्यम्, ढुण्ढिराजसंस्करणम्।

खण्डन स्वयं में हास्यास्पद

वस्तुतः यह खण्डन हास्यास्पद है; परन्तु बौद्ध वेद-प्रामाण्यवादी नहीं होते। अतः वेदप्रामाण्यनिरास होने से स्वतः ही समस्त वैदिक कृत्य खण्डित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अश्वमेधादि क्रतुमध्यानुष्ठेय हिंसा भी खण्डित हो जाती है। पुनः हिंसात्वरूप लौकिक हेतु से क्रतुमध्यवर्तिनी हिंसा को खण्डित करना, स्वीकृत एवं स्वाभीष्ट वेदप्रामाण्यवाद के खण्डन के प्रति अनास्था प्रकट करना है।

वैधहिंसा की संस्तुति

वैधहिंसा वेदविहित है एवं पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा के द्वारा समर्थित है। यथा—

(क) **हिंसा त्ववैदिकी या तु तयानर्थो ध्रुवं भवेत्।**
वेदोक्तया हिंसया तु नैवानर्थः कथञ्चन।।[१]

(ख) **नेष्यस्यन्यान् बध्यजनान् हिंसा नैषां च धर्मतः।**
स्वधर्मेण च हिंसैव महाकरुणया समा।।[२]

(ग) **क्षत्रधर्मरतोऽपि त्वं वृथा हिंसां परित्यज।**[३]

(घ) **या वेदविहिता हिंसा सा न हिंसेति कीर्त्यते।**[४]

(ङ) **यद् घ्राणभक्षो विहितस्सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।**[५]

(च) **यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।**
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः।।
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ।।[६]

उत्तरमीमांसा का स्पष्टीकरण

आचार्य श्राबादरायण ने ब्रह्मसूत्र के इस विषय में अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहा है—**अशुद्धमिति चेन्नशब्दात्।**[७] प्रस्थानत्रयभाष्यभास्वरयशा

१. द्र०, बृहद्वैयाकरणभूषणम्, पृ० ९९।
२. द्र०, योगवासिष्ठम्, उत्पत्तिप्रकरणम्, सर्गः ८४, श्लोकः ४६।
३. द्र०, ऋषभोपदेशः, उत्तरखण्डः, ब्र०पु०।
४. द्र०, श्रीधरस्वामिव्याख्या, भा०पु०;
५. द्र०, श्रीधरस्वामिव्याख्या, भा०पु०।
६. द्र०, म०स्मृ० पंचमाध्यायः;
७. द्र०, ब्रह्मसूत्रम्- ३.१.२.५।

श्रीशंकराचार्य ने इसकी व्याख्या में हिंसा सम्बन्धी समस्त शंकाओं को स्पष्ट रूप से निराकृत किया है।[१]

पञ्चशिखाचार्य का मत

यद्यपि उपर्युक्त विचार के अनुसार विहित कार्यमात्र पुण्यास्पद है—चाहे हिंसा हो अथवा अहिंसा; परन्तु पंचशिख आचार्य ने स्पष्ट कहा है—"**स्याद् एवाल्पः शंकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षाय अलम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बहु अन्यदस्ति यत्रायम् आवापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षम् अल्पं करिष्यति।**"[२] यद्यपि ऐसी स्थिति में मधुविषसम्पृक्त अन्न-भोजन के समान पशुसंज्ञपनविशिष्ट श्रौतकार्य में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए; परन्तु स्वर्गादिभोगरूप बहुसुखानुविधतया अल्पदुःखास्पद कार्य में प्रवृत्ति अवश्य होगी। इस प्रकार हिंसाजन्य पाप की अपेक्षा, स्वर्गभोगजन्य सुख की पर्याप्त अधिकता के कारण श्रौतकार्य में भी प्रवृत्ति सिद्ध है। पशुहिंसाजन्य पापप्रायश्चित्त का स्वल्पवित्तव्यय आयाससाध्य होने के कारण उससे नष्ट होने वाले पाप का स्वल्पत्व भी सिद्ध है। अपरत्र यज्ञ के बहुवित्तव्यय, आयाससाध्य होने के कारण तज्जन्य स्वर्गसुखभोग का आधिक्य भी सिद्ध है।

महानिष्कर्ष

इस सम्पूर्ण सन्दर्भ का मीमांसानुसार यही सिद्धान्त है कि श्रौत-स्मार्त-परम्परा में वेदबोधितेतिकर्तव्यताक कर्म ही पुण्यास्पद है। वह कर्म नित्य-नैमित्तिक-काम्य भेद से अनेक प्रकार का है। इसमें अश्वमेधादि काम्यकर्म के अन्तर्गत हैं। यद्यपि मीमांसानुसार प्रकट विचार करने पर पशुसंज्ञपन, रुधिर-श्रपण आदि अनेक विधान ऐसे हैं, जो किसी अंश में लोक में उद्वेजक हैं। इसका समाधान यह अवश्य है कि वेदादि शास्त्र, लोक-परलोक उभय को लक्ष्य करके चलता है। अतः क्वचित् लोक में प्रचलित मान्यता का आंशिक स्खलन हो सकता है, जिसका समाधान पूर्व में किया जा चुका है।

यदि किसी व्यक्ति को जन्मप्रभृति आनुवंशिक अखण्ड आर्यराज्य की एकता, सम्प्रभुता की रक्षा करने वाली सन्तति परम्परा की इच्छा और अलौकिक दिव्य सुखवैभवातिशय के प्राप्ति की इच्छा न हो, तो वह अश्वमेध से विरत हो सकता है; परन्तु किसी दीर्घकालीन विशाल उपलब्धि की महती परम्परा

---

१. द्र०, ब्रह्मसूत्र, ३.१.२.५ शांकरभाष्यम्।

२. द्र०, पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्यासभाष्यम्, २.१३, तत्रैव वाचस्पतिमिश्रैस्तत्त्ववैशारद्याम् इदं पञ्चशिखवचनमिति कथितम्।

स्थापित कर, जनसमुदाय की सुखसमृद्धि आदि की स्थायी व्यवस्था के लिए यदि क्वचित् आंशिक लोकोद्वेजक कार्य शास्त्रपरतन्त्र होकर अनुष्ठित करना पड़े, तो विचार करने पर वह दोषास्पद नहीं प्रतीत होता।

उपसंहार

'अश्वमेधमहायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' नामक शोध-ग्रन्थ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है। प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह तथ्य निर्गलित है कि 'अश्वमेधयज्ञ' जैसे विशाल विश्वव्यापी कार्यक्रम का साङ्गोपाङ्ग विवरण, परिशिष्टादि सहित सम्पूर्ण विवेचन किसी भी स्थिति में एक निबन्ध का विषय नहीं हो सकता; अपितु अनुभूत रहस्यात्मक तथ्य यह है कि, ऐसे महान् विषय का जितना भी अध्ययन किया जाय, उतना ही विस्तृत होता जाता है। इस प्रसंग में कूपखननन्याय का दृष्टान्त मन्तव्य है। खननाधिक्य से कूप की समाप्ति नहीं होती, और अधिक गाम्भीर्य प्रकट होता है।

विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः।।

आचार्य चाणक्य की उक्त सार्वकालिक मान्यता के अनुसार शासक, शास्य भी हो सकता है। शासक का शास्य रूप 'स्वयं शास्य' ही है। किसी भी व्यक्ति का स्वयं शास्य रूप, उसकी योग्यता की पराकाष्ठा है, जिसमें विनय-अधिकार-उपलब्धि-कर्तव्य-उत्तरदायित्व-स्वपक्ष-परपक्ष-तटस्थनीति-हेय-उपादेय-मैत्री-विग्रह-पुरुषार्थचतुष्टय-लाभ-वितरण आदि समस्त विधि-विधानों का असिधारव्रत अत्यधिक सूक्ष्मेक्षिकया एवं सिंहग्राहिकया विवेचन करना पड़ता है।

वैदिक यागों में अग्निष्टोम एवं अश्वमेधयज्ञ—दोनों का अपने में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अग्निष्टोम पञ्चदिनात्मक है एवं अश्वमेध संवत्सरव्यापी है। अश्वमेधयागार्थ संवत्सरसाध्यता, ऋतु आनुकूल्यता, मेध्य पशुओं की उपलब्धि, प्रजा का सहयोग, अनेक वेदविद् ब्राह्मणों की सम्पूर्ण यागपर्यन्त उपलब्धता, राजनैतिक स्थिरता, विदेशी राष्ट्र का आक्रमणाभाव एवं जन्मप्रभृति आनुवंशिक एकता हेतु, सुदृढ़ राष्ट्र स्थापनार्थ दृढ़ संकल्पयुक्त, धर्मनिष्ठ, चक्रवर्ती सम्राट् की आवश्यकता है; किन्तु अत्यधिक महिमायुक्त होने पर भी यह यज्ञ सम्प्रति कलिवर्ज्य है। कलिवर्ज्य होने से प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में अश्वमेधयज्ञ की दृष्ट उपलब्धि पर ही विचार किया गया है।

अश्वमेधयाग, राजनीतिक एकीकरण एवं विश्वराजनीति की उत्कृष्टता का चित्र प्रस्तुत करता है। अश्वमेध का सामाजिक महत्त्व भी है; क्योंकि संसार में सम्मानप्राप्ति, पुरुषार्थ बल पर आधारित हैं। बुद्धि-बल-विवेक 'पुरुषार्थ' का आधारभूत तत्त्व है। बुद्धिमान् व्यक्ति ही अनुकूल वातावरण में चिन्तन मार्ग को प्रशस्त करते हैं। बुद्धि-बल-विवेकरूपी पुरुषार्थ को एक शब्द में 'शक्ति' से अभिहित किया जा सकता है। शक्तियों में राजशक्ति सर्वश्रेष्ठ है। अश्वमेध महायाग के अनुष्ठान के लिए सम्प्रभुता एवं राजशक्तिसम्पन्नता सर्वप्रथम अर्हता है। यह यज्ञ आनुवंशिक उत्तरदायित्वयुक्त शक्तिसम्पन्न चक्रवर्ती सम्राटों के पराक्रम का द्योतक है। इसके सम्पादन से श्रुतिप्रोक्त अदृष्टफल एवं राज्यसीमा विस्ताररूप दृष्ट फल की प्राप्ति होती है।

वर्षत्रयाधिक कालव्यापी अश्वमेध महायज्ञ अनेक श्रौत क्रियाओं का समूह है। अत्यन्त प्रज्ञावान् ऋत्विक् समूह द्वारा अनुष्ठेय, अश्वमेध प्रायः अनेक शतवर्ष पूर्व से ही विलुप्त है। अश्वमेधाधिकारी सम्राट् एवम् अश्वमेधोपयुक्त ययु जाति का अश्व सहस्रों वर्षों से लुप्त है। अतः दुर्लभ विषयों के ज्ञान हेतु भी अश्वमेध का अनुशीलन वर्तमान समय में समीचीन है।

उपर्युक्त समस्त बिन्दुओं का विशाल समष्टि रूप, अश्वमेध महायाग जैसी विश्वस्तरीय बहुवर्षव्यापी परियोजना में प्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से विचार करने पर अश्वमेधविषयक शोध-ग्रन्थ का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। उदाहरणार्थ सामाजिक,राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से अश्वमेध को यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस आधार पर यह महायाग अपने में साधन और साध्य उभयात्मक होने से अद्भुत उपलब्धिमूलक है। समीक्षात्मक दृष्टिकोण से अश्वमेध याग जहाँ आरम्भ होता है, वहीं आकार समाप्त भी होता है, जिस विश्व एकता की रक्षा के लिए इस महापरियोजना में ''सोमप्रवाक'' प्रारम्भ होता है, 'अवभृथ' के बाद उसी विश्व एकता की प्रतिष्ठा होती है। अतएव आत्म-परीक्षण का यह एक वैदिक दर्पण है। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में उपर्युक्त समस्त मान्यताओं का यथास्थान, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रयोजनवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि सिद्ध है कि यह कार्यक्रम मात्र यजमान, पुरोहित का गृहकृत्य नहीं है, अपितु संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसा विश्वसंस्थानात्मक वैदिक रूप है, इस सारगर्भित तथ्य का अनेकत्र सोदाहरण वर्णन प्रस्तुत होने पर प्रकृत शोध-ग्रन्थ का क्षेत्र अवश्य ही विस्तृत है। अश्वमेध महायाग जैसे पुष्पराज के शोध सौरभ से सुवासित भारतवर्ष, ततः जम्बूद्वीपादि का शासनात्मक सुवर्णकाल अवश्य ही विषय कोटि का मुख्य प्रतिपाद्य है, जिसका पर्याप्त दिग्दर्शन यथामति ग्रन्थ में प्रस्तुत है।

प्राय: वैदिक-तान्त्रिक-पौराणिक-मिश्रादि प्रयोग धार्मिक माने जाते हैं, इस दृष्टि से भी अश्वमेध महायाग एक महान् धार्मिक अनुष्ठान अवश्य ही हो सकता है; परन्तु उक्त मान्यता की स्थापना के पूर्व धर्म का निश्चित एवं प्रकट स्वरूप निर्धारित होना चाहिए। दु:खास्पद है कि कतिपय प्रचलित कालसापेक्ष मान्यताओं को ''धर्म'' मानकर ही प्राय: पक्ष-विपक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ को किसी भी पूर्वाग्रहग्रस्तता से मुक्त रखा गया है एवं अश्वमेध जैसे सोमयाग का विभिन्न लौकिक प्रयोजनास्पद दृष्टिकोणों से सार्वजनिक रूप प्रस्तुत किया गया है। अश्वमेध-राजसूय आदि अवश्य ही महायज्ञ हैं। सम्प्रति दुर्भाग्य से 'यज्ञ' शब्द अत्यधिक संकुचित अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है, जिसका कोई भी सार्वजनिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय रूप नहीं है, जबकि यज्ञ एक विश्व क्या ब्रह्माण्डस्तरीय, आकाशपरिमण्डलव्यापी भूगोल को भी प्रभावित करने वाली, प्राकृतिक शाश्वत प्रक्रिया है।[१] अवश्य ही अनुष्ठीयमान समस्त यज्ञकर्मों में विधीयमान समस्त प्रक्रियायें, उक्त शाश्वत प्राकृतिक यज्ञ की परिचायक हैं। इस प्रकार यज्ञ की अनादि, अविच्छिन्न परम्परा, प्राकृतिक रूप से अनुष्ठित होने पर ही सिद्ध होती है। बृहदारण्यक के आरम्भ में ही अश्वमेध का उक्त रूप संकेतित है।

वर्तमान समय में वैदिक यज्ञ अत्यन्त दुर्लभ हैं। श्रौत-प्रयोगानुष्ठानार्थ सपत्नीक अनुष्ठाता का श्रौत अग्न्याधानपूर्वक नित्य श्रौताग्निहोत्री होना चाहिए एवं अग्निपरम्परा अविच्छिन्न होनी चाहिए। यह परम्परा आनुवंशिक होती है। इस प्रकार हठात् कोई व्यक्ति ग्रन्थमात्र पढ़कर श्रौतप्रयोगाधिकारी नहीं हो सकता। इसमें भी सोमयागी-सोमपायी परम्परा उत्कृष्ट है; परन्तु जैसा कि पूर्वकथित है, सम्प्रति 'यज्ञ' शब्द अत्यधिक संकुचित अर्थ में प्रचलित है, अतएव तन्मात्र को ही लक्ष्य करके यज्ञों को सामान्य रूप से प्रस्तुत करना दूरदर्शिता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अवश्य ही उक्त संकुचित दृष्टिकोण से सर्वथा दूर हटकर विषय को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इसमें विज्ञान सम्बन्धी अनेक नवीनतम उपलब्धियाँ भी सम्मिलित हैं, जो नियत कार्य-कारणभावमूलक वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि से उपादेय हैं।

अश्वमेध से भावी सन्तति-निर्माणार्थ सुवर्णमय अतीत की झलक

जैसा कि शोध-ग्रन्थ में अनेकत्र स्पष्ट है कि अश्वमेध यजमान एवं पुरोहित का गृहकृत्य मात्र नहीं है, अपितु राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को अतिक्रान्त कर, सार्वभौम

१. द्र०, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० ६-९ पं०गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी।

विशाल परियोजना है, फिर भी राष्ट्र के सुवर्णमय अतीत के मस्तक के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्र यदि अपना पृथक् विशिष्ट अस्तित्व, पृथक् विशिष्ट अस्मिता, पृथक् विशिष्ट स्वरूप-उपलब्धि-उत्तमर्णता, आकर्षण नहीं रखता, तो सार्वभौम और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपहासास्पद हो जाता है। यद्यपि ''अतीतचर्चा से क्या लाभ'' दृष्टिकोणवादी भी संसार में उपलब्ध हैं; परन्तु मेरे विचार से इतिहास और संस्कृति मातृपितृतुल्य है। इसके विना हमारी सत्ता नहीं, पुरातत्त्व, भूगोलादि इसी में निविष्ट हैं। जिस प्रकार माता-पिता से विहीन किसी समाज की स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार संस्कृति और इतिहास के विना हम अपने को निराश्रय पाते हैं। सुवर्णमय अतीत का इतिहास हमारे लिए एक स्वच्छ दर्पण के समान है। वस्तुतः व्यक्ति या राष्ट्र का यह आत्मचिन्तन-आत्मदर्शन-आत्ममन्थन तभी सम्भव होगा, जब सुवर्णमय अतीत प्रकट होगा। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में अश्वमेध का पूर्वाङ्ग विवेचन उक्त कार्य मे सर्वथा समर्थ है।

अश्वमेध यज्ञादि भावी सन्तति के निर्माणार्थ वर्तमान का अलङ्करण है। जिस प्रकार यान्त्रिक औद्योगिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की सुदृढ़ता, स्थायिता, चिरकालिक गुणवत्ता आदि तभी सिद्ध होंगे, जब कि उसका मौलिक पदार्थ अपने में शत-प्रतिशत सम्पूर्ण हो। राष्ट्र-निर्माण के विषय में भी यही स्थिति है। धर्म, गृह्य, श्रौतसूत्र, स्मृतिशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद आदि विभिन्न प्रयोग परीक्षणात्मक वैज्ञानिक ग्रन्थों के अध्यापन से यह कार्य-कारण प्रत्यक्षसिद्ध है। यज्ञादि के द्वारा वर्तमान पीढ़ी की उस सुदृढ़ता को स्थापित किया गया है, जिससे भावी पीढ़ी के कृतित्व-कर्तृत्व के अनुरूप, सफल व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास सम्भव हो। आर्षविज्ञान के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि केवल अश्वमेध महायज्ञ ही नहीं, अपितु समस्त शास्त्रीय विधियाँ वेद-विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रयोगशाला हैं एवं यज्ञ, उस प्रयोगशाला की प्राविधिक परिपाटी है। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि यज्ञानुष्ठान मात्र एक स्थूल कृत्य नहीं है। जिस प्रकार समस्त वैज्ञानिक प्रक्रिया को प्रयोगशाला में परीक्षित किया जाता है, उसी प्रकार विशाल सौर जगत् की प्राकृतिक स्वयंसिद्ध प्रक्रिया को यज्ञमण्डप में प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः स्वयंसिद्ध प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रक्रिया की यज्ञ है। जब तक विश्व की वर्तमान पीढ़ी इस विशाल स्वयंसिद्ध वैज्ञानिक प्रक्रिया की उपलब्धियों से परिचित नहीं होगी, तब तक भावी पीढ़ी के प्रति उसका योगदान असम्पूर्ण है। अतएव भावी पीढ़ी के निर्माण के लिए वर्तमान का अलङ्करण आवश्यक है एवं यह तभी सम्भव है, जब वैदिक प्रक्रिया से अपने को लाभान्वित करेंगे। तभी '**कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः**' की लाभजनक प्रक्रिया सिद्ध होगी।

परिशिष्ट-क

यज्ञीय पात्र-सूची

PLATE-I

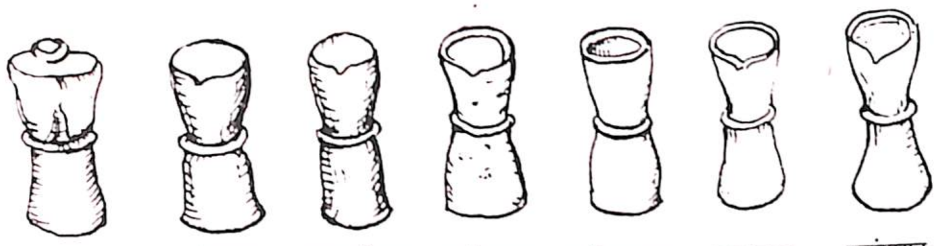

अंशवदाभ्यग्रहः अतिग्राह्यग्रहः अन्तर्यामग्रहः आदित्यग्रहः आश्विनग्रहः उक्थ्यग्रहः उपांशुग्रहः

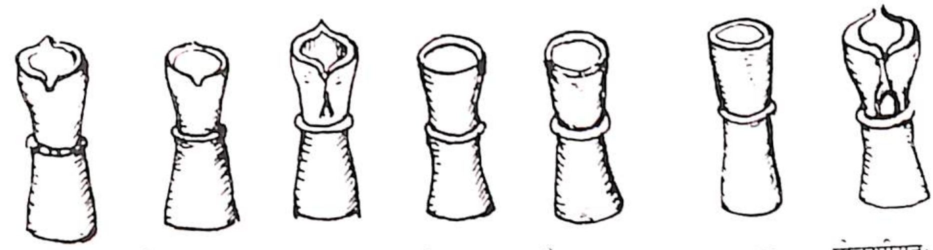

ऋतुपात्रग्रहः ऐन्द्रवायव्यग्रहः दधिग्रहः मन्थिग्रहः मैत्रावरुणग्रहः शुक्रग्रहः षोडशीग्रहः

अग्निहोत्रस्थाली अन्वाहार्यस्थाली आग्रायणस्थाली आज्यस्थाली आदित्यस्थाली

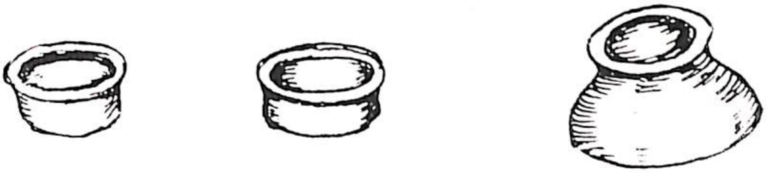

उक्थ्यस्थाली ध्रुवस्थाली ब्रह्मौदनस्थाली

PLATE-II

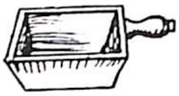
अच्छावाकचमसः

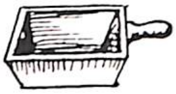
आग्नीध्रचमसः

उद्गातृचमसः

नेष्टृचमसः

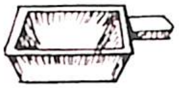
पोतृचमसः

प्रशास्तृचमसः

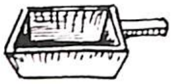
ब्रह्मचमसः

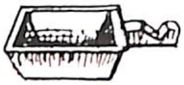
ब्राह्मणाच्छंसिचमसः

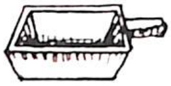
यजमानचमसः

होतृचमसः

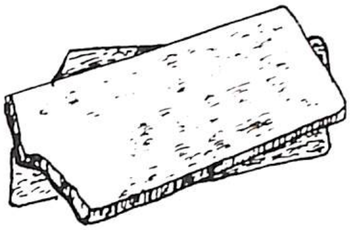
अधिश्रयणफलकम्

उपमा

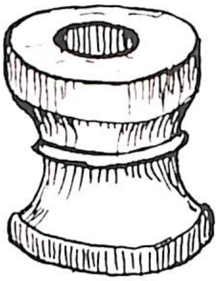
उलूखलम्

ग्रावा

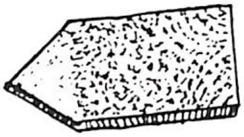
दृषतम्

मुसलम्

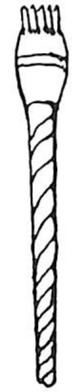
शम्या

PLATE-III

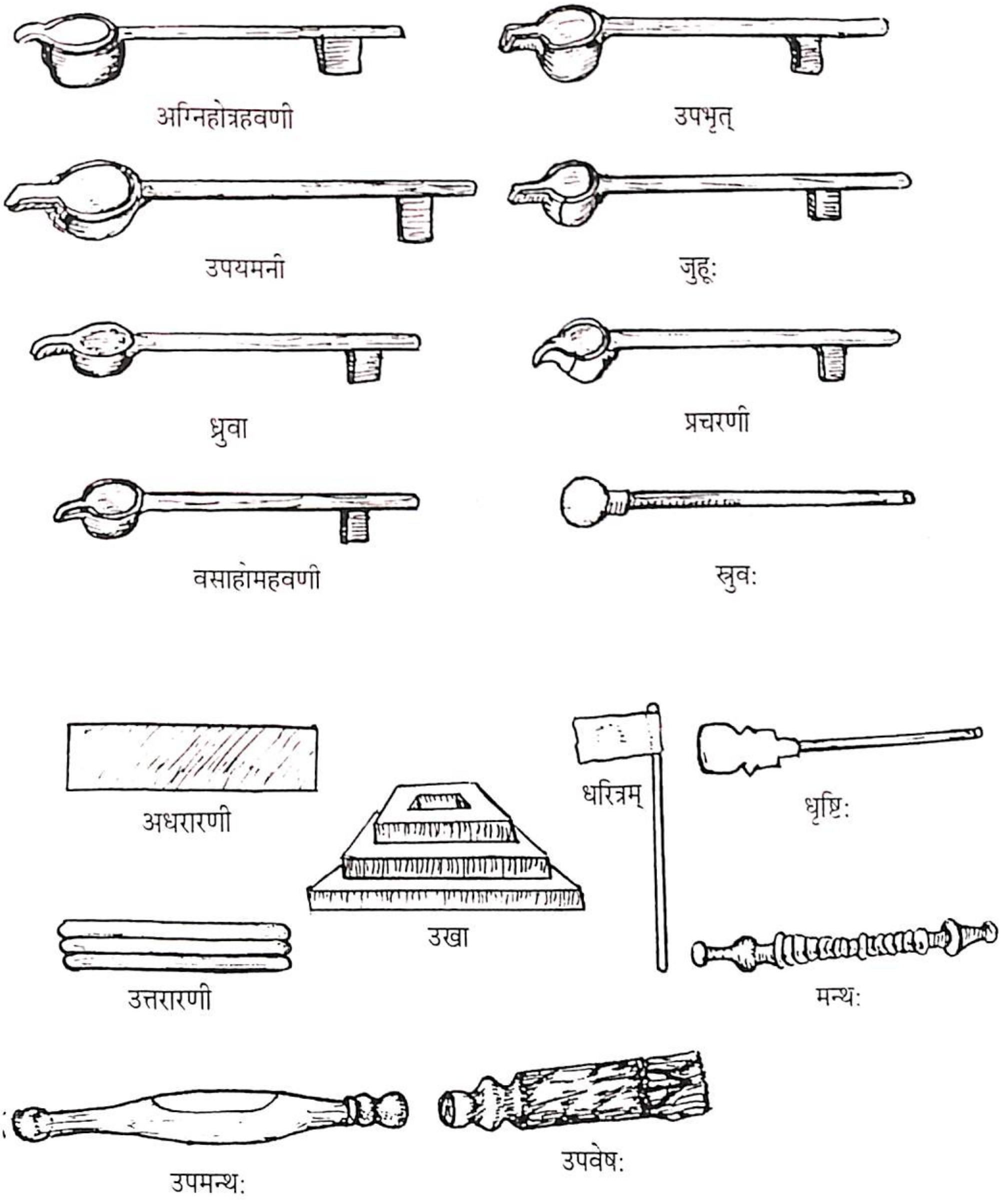
अग्निहोत्रहवणी
उपभृत्
उपयमनी
जुहूः
ध्रुवा
प्रचरणी
वसाहोमहवणी
स्रुवः
अधरारणी
धरित्रम्
धृष्टिः
उखा
उत्तरारणी
मन्थः
उपमन्थः
उपवेषः

PLATE-IV

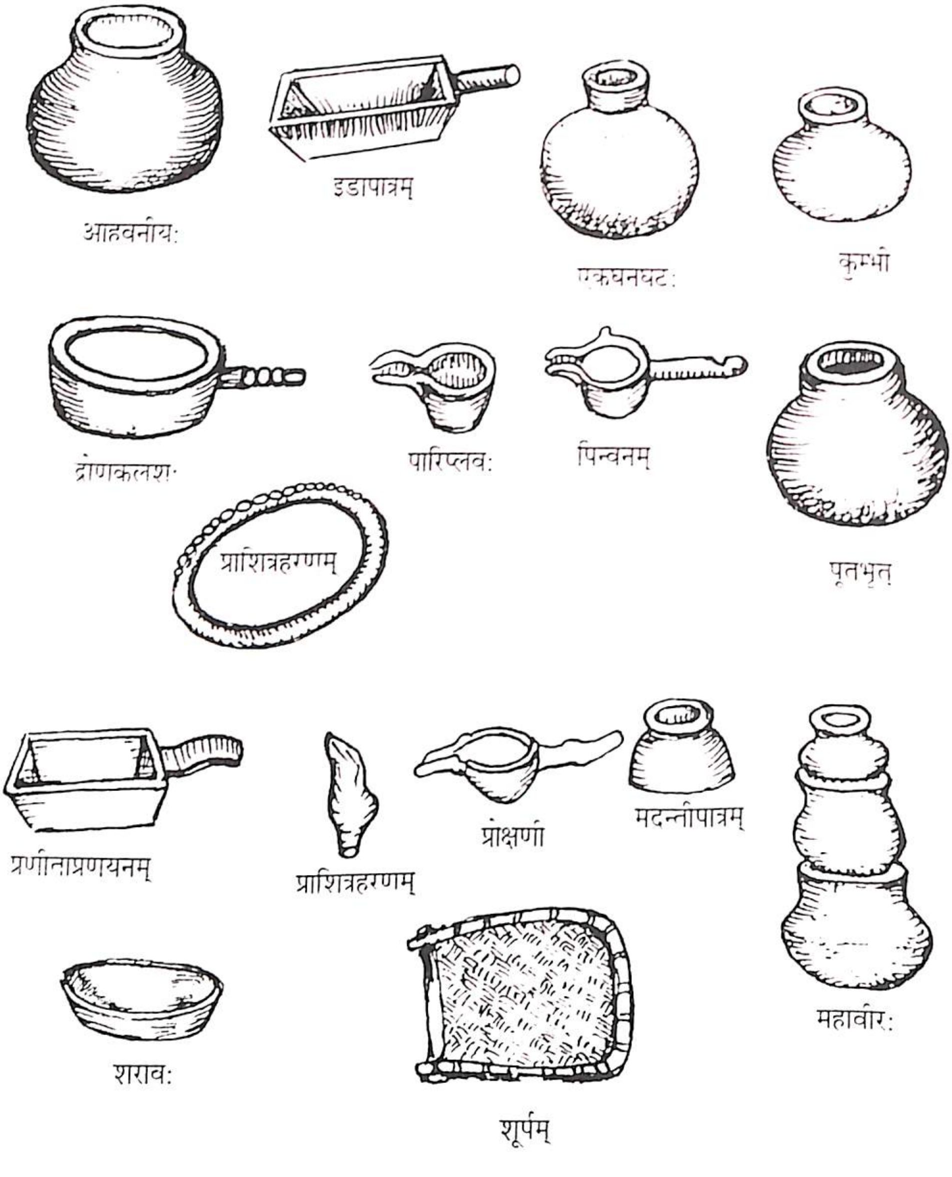

आहवनीय:
इडापात्रम्
एकधनघट:
कुम्भी
द्रोणकलश:
पारिप्लव:
पिन्वनम्
पूतभृत्
प्राशित्रहरणम्
प्रणीताप्रणयनम्
प्राशित्रहरणम्
प्रोक्षणी
मदन्तीपात्रम्
महावीर:
शराव:
शूर्पम्

PLATE-V

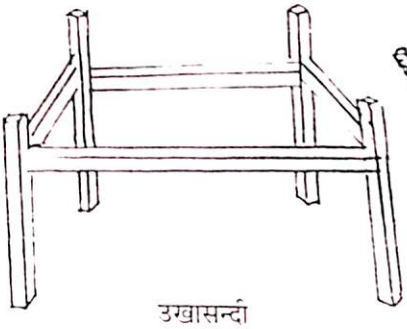
उखासन्दी

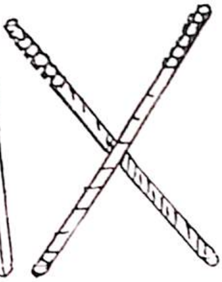
उपस्तम्भनम्

कशिपुः

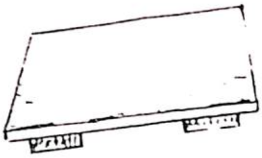
फलकम्

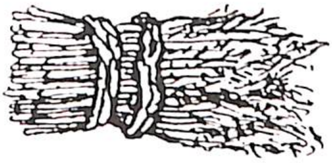
कूर्चः

कृष्णाजिनम्

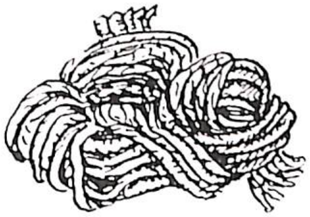
वृषी

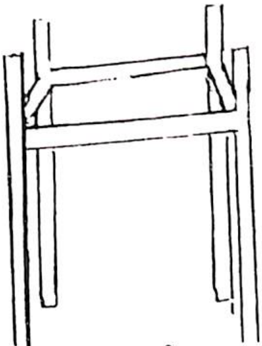
राजासन्दी

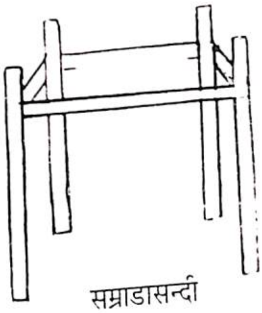
सम्राडासन्दी

PLATE-VI

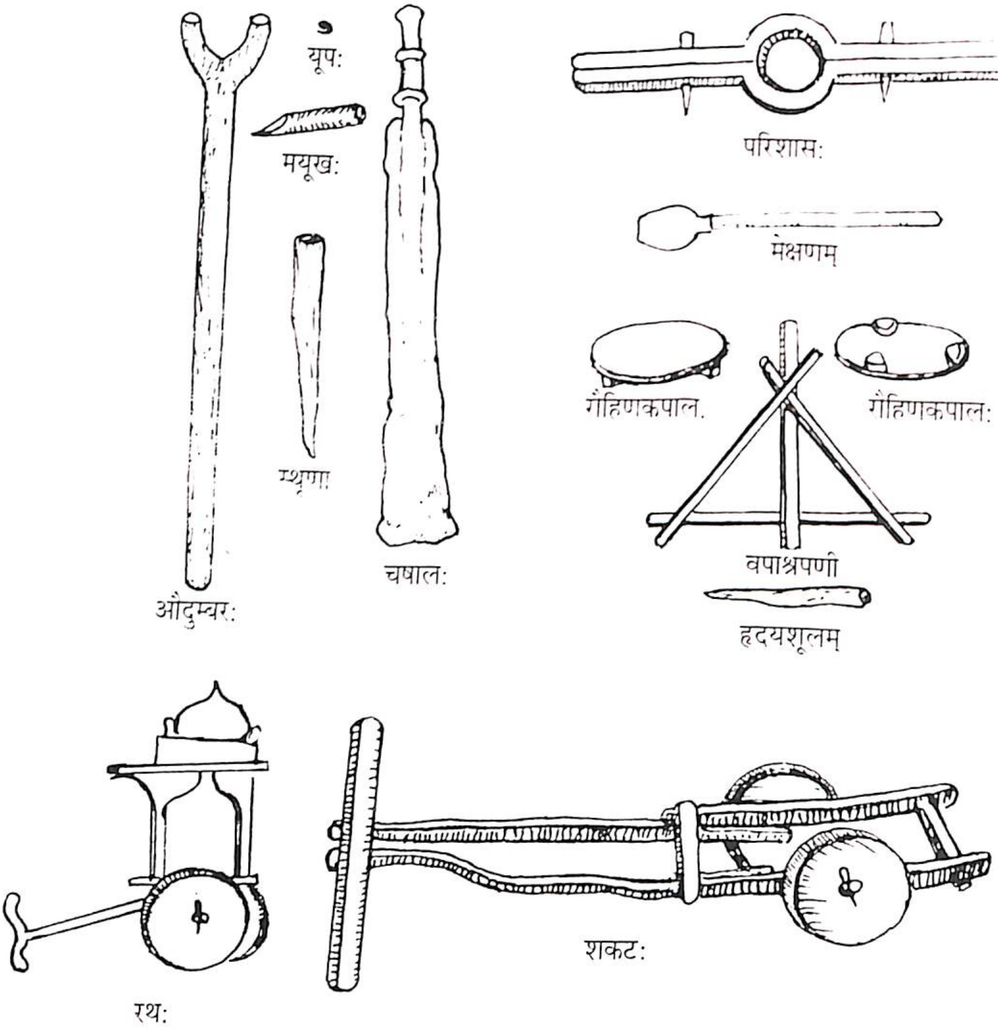
१
यूप:
मयूख:
स्थूणा
औदुम्बर:
चषाल:
परिशास:
मेक्षणम्
गौहिणकपाल.
गौहिणकपाल:
वपाश्रपणी
हृदयशूलम्
रथ:
शकट:

PLATE-VII

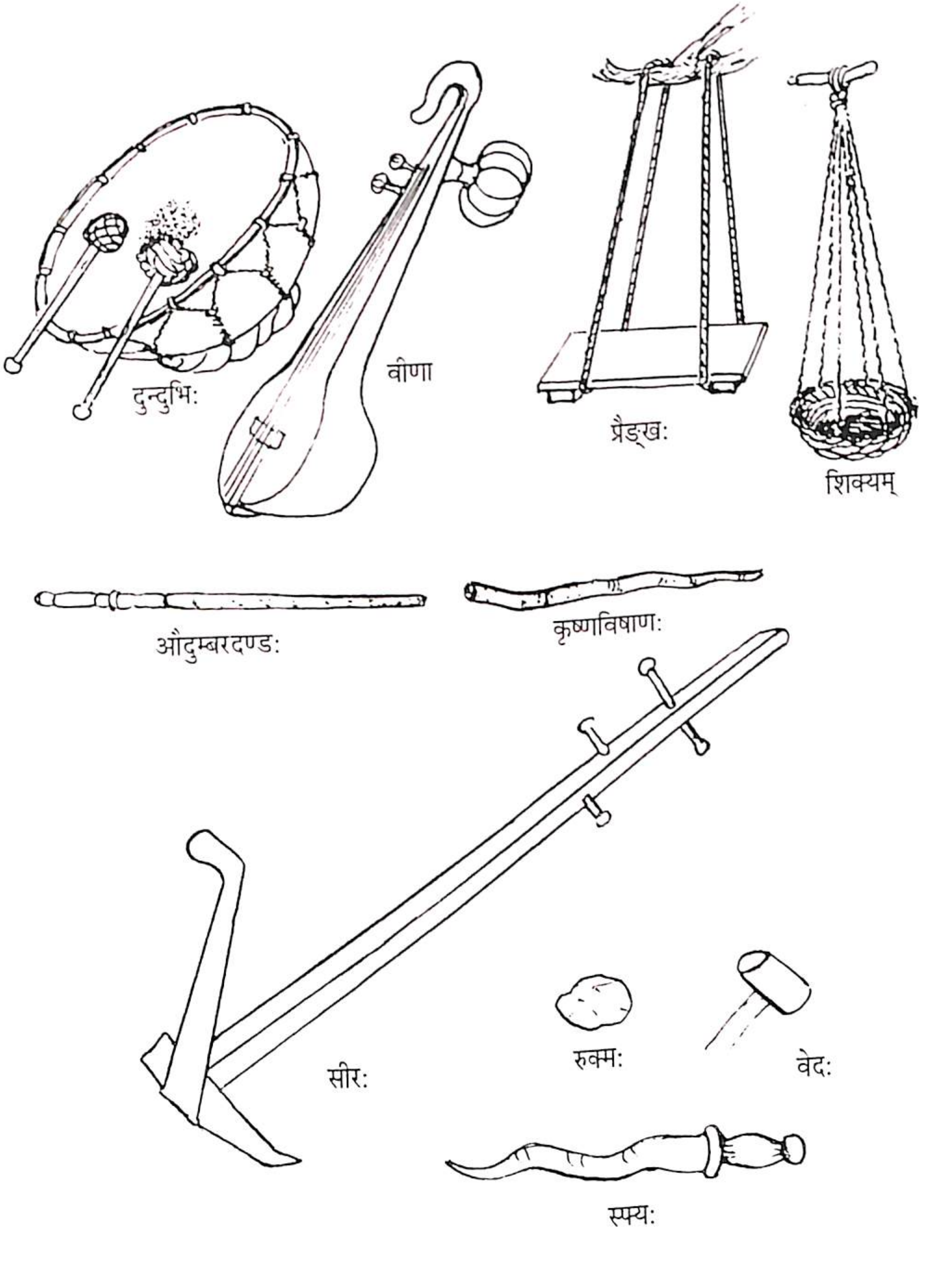

PLATE-VIII

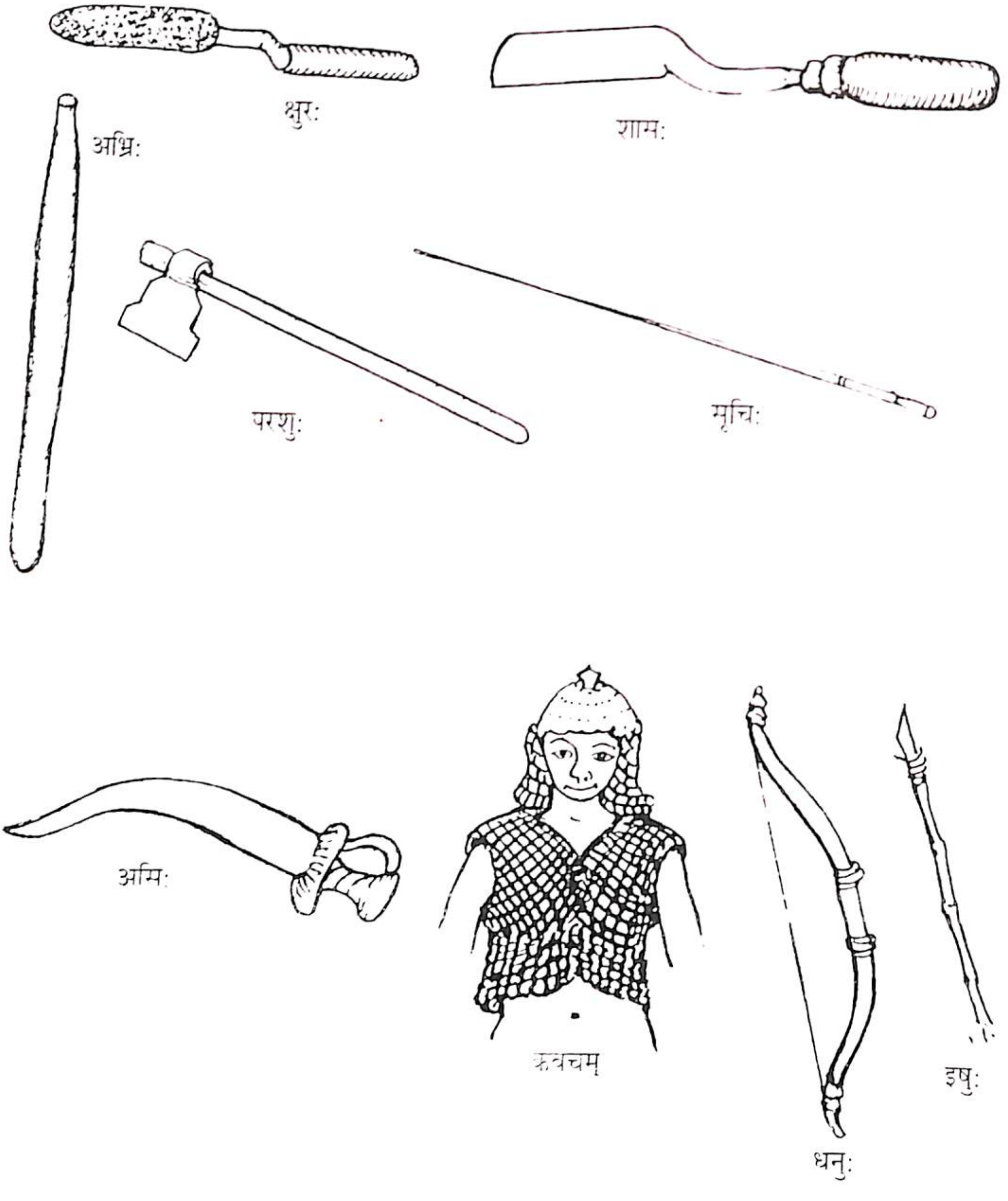

PLATE-IX

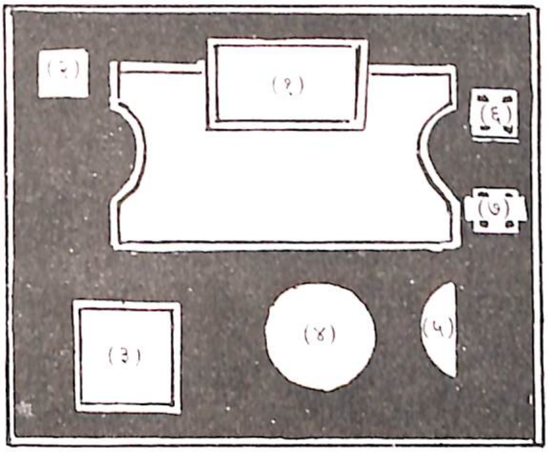

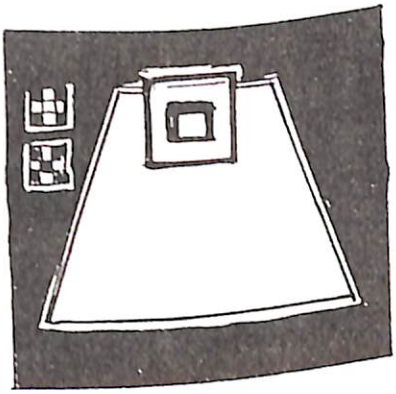

१. आहवनीयकुण्डम् २. आवसथ्यकुण्डम्
३. सभ्यकुण्डम् ४. गार्हपत्यकुण्डम्
५. दक्षिणाग्निकुण्डम् ६. ब्रह्मासनम् ७. यजमानासनम्

आज्यस्थाली

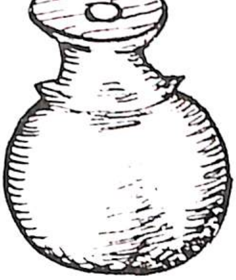

चरुस्थाली

प्रणीतापात्रम्

पुरोडाशपात्रम्

PLATE-X

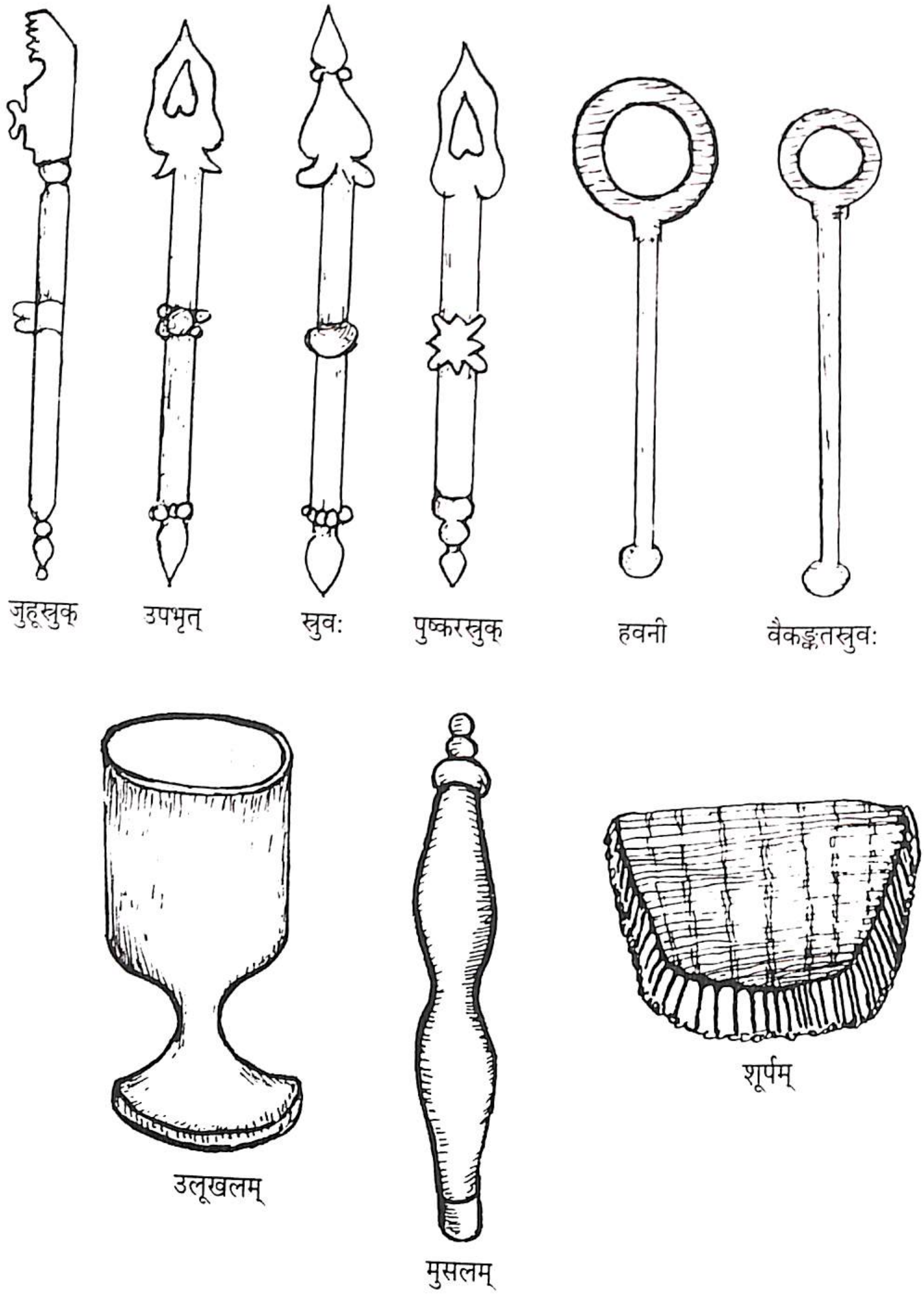

PLATE-XI

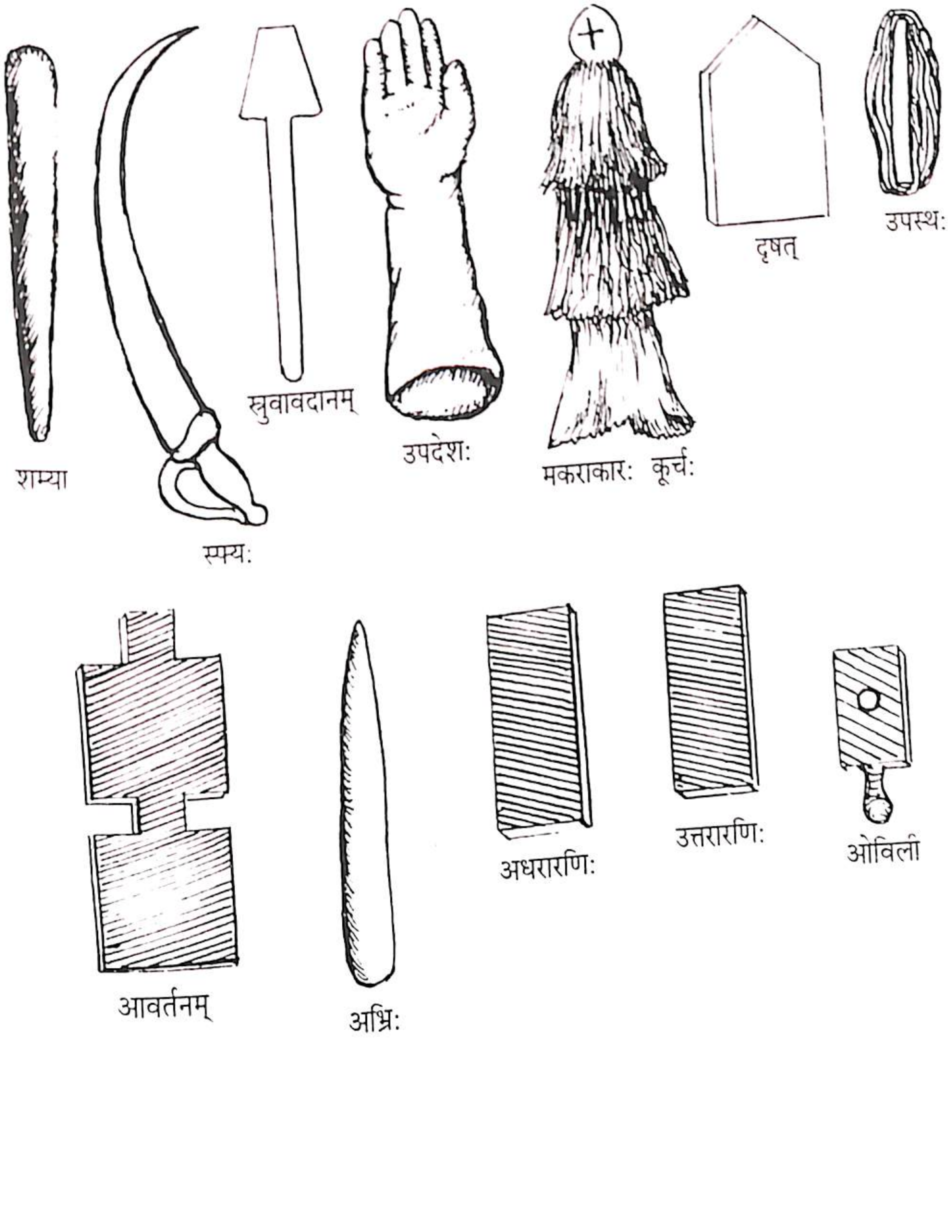
शम्या
स्फ्य:
स्रुवावदानम्
उपदेश:
मकराकार: कूर्च:
दृषत्
उपस्थ:
आवर्तनम्
अभ्रि:
अधरारणि:
उत्तरारणि:
ओविली

PLATE-XII

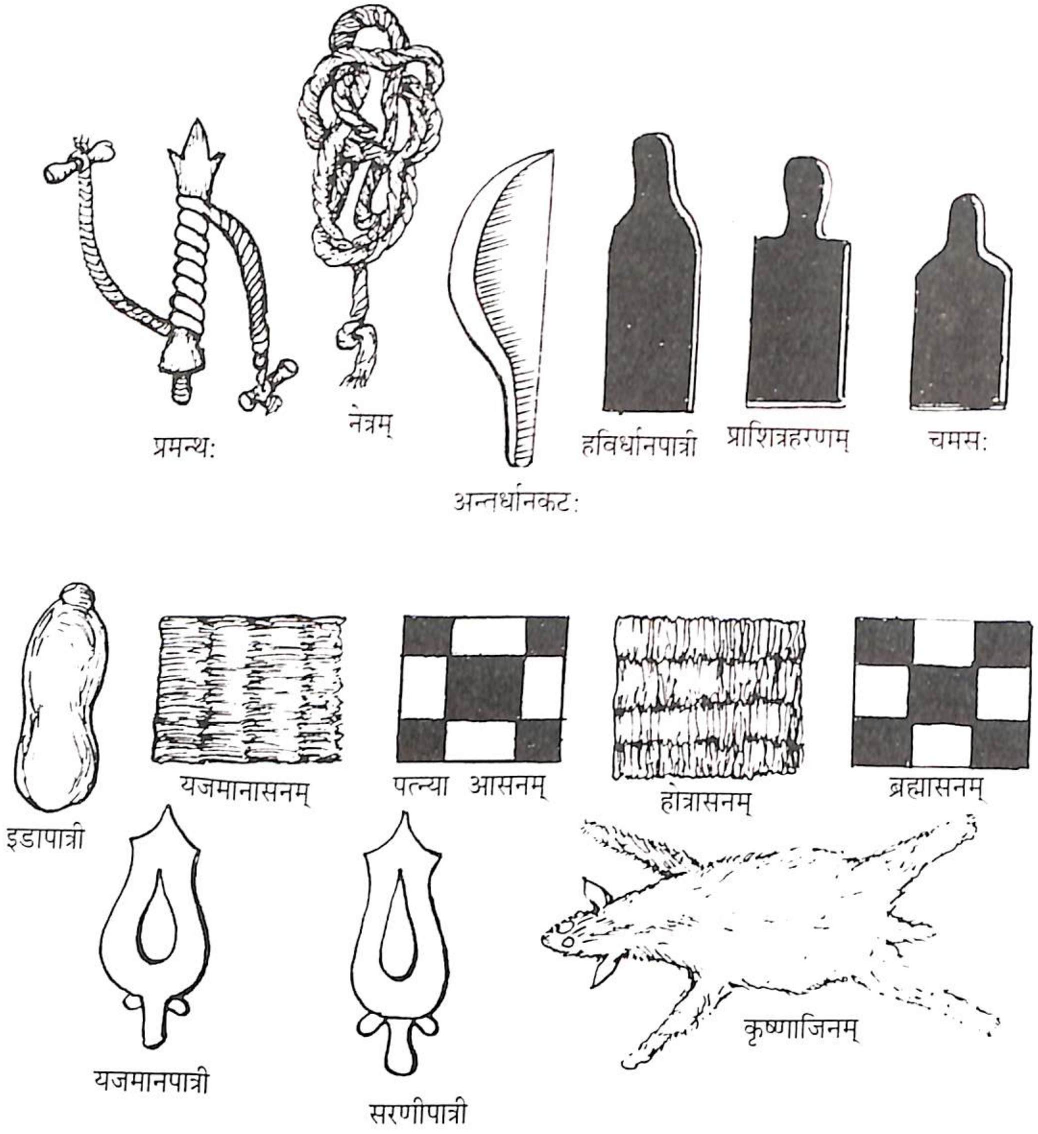
प्रमन्थः
नेत्रम्
अन्तर्धानकटः
हविर्धानपात्री
प्राशित्रहरणम्
चमसः
इडापात्री
यजमानासनम्
पत्न्या आसनम्
होत्रासनम्
ब्रह्मासनम्
यजमानपात्री
सरणीपात्री
कृष्णाजिनम्

परिशिष्ट - ख

सहायक - ग्रन्थसूची

१. **अमरकोश** : (भानुजिदीक्षितकृत रामाश्रमी व्याख्या), व्याख्याकार-पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९७०।

२. **अथर्ववेद** : व्याख्याकार-श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल।

३. **अथर्ववेदसंहिता** (प्रथम भाग), व्याख्याकार-डॉ॰ रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्बा ओरियण्टालिया प्रकाशन, १९७७।

४. **अथर्ववेद** (सायणभाष्य) : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान प्रकाशन, संवत् २०१७।

५. **अमृतलतापत्रिका** : सातवलेकर सम्पादित, ले. श्री रामशंकर भट्टाचार्य।

६. **अर्थसंग्रह** : लौगाक्षिभास्करकृत; हिन्दी-व्याख्याकार-श्री वाचस्पति उपाध्याय; चौखम्बा ओरियण्टालिया प्रकाशन, १९७७।

७. **अत्रिख्याति** : लेखक-श्री मधुसूदन शर्मा; सं॰ श्री आद्यादत्त ठाकुर, १९२९।

८. **अहोरात्रवाद** : लेखक-श्री मधुसूदन शर्मा; सं॰ श्री आद्यादत्त ठाकुर, १९२६।

९. **अष्टाविंशतितत्त्व** : प्रणेता-श्री रघुनन्दन भट्टाचार्य, सं॰ श्री श्यामाकान्त विद्याभूषण; प्रकाशक-श्री भोलानाथ देवशर्मा, १३४७ (बंगाक्षरात्मक)।

१०. **अश्वशास्त्र** (नकुलकृत) : सम्पादक-टी॰ चन्द्रशेखरन्, मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज प्रकाशन, १९५१।

११. **अथर्ववेद** (पैप्पलादशाखा) : सं॰ दुर्गमोहन भट्टाचार्य।

१२. **अभिधानचिन्तामणि** : हेमचन्द्र सूरी, सूरत, १९४७।

१३. **अश्वशास्त्र** : जयद्रथ (वाचस्पत्यसमुद्धृत)।

१४. **अहिर्बुध्न्यसंहिता** : अहिर्बुध्न्य-प्रणीत।

१५. **अमरविवेक-टीका** : महेश्वर-प्रणीत, आ॰के॰भण्डारकर दक्षिण कालेज, सं॰ १८९०।

१६. **अश्वतन्त्र** : (वाचस्पत्यसमुद्धृत)।

१७. **अन्वितार्थप्रकाशिका** : श्री पुरुषोत्तमचरण।

१८. **अष्टाध्यायी** (पाणिनि) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५७।

१९. **अभिज्ञानशाकुन्तल** : (कालिदास) व्याख्याकार-डॉ॰ सुरेन्द्रदेव शास्त्री, प्र॰ रामनारायण बेनीप्रसाद, १९७९।

२०. **अन्नपूर्णास्तोत्र** (शंकराचार्य) टीका-पं॰शिवदत्त मिश्र, चौखम्बा स्तोत्र-व्रतकथा ग्रन्थमाला।

२१. **आपस्तम्ब कल्प में यज्ञविद्या** : ले॰ डॉ॰ कुँवर लाल व्यासशिष्ट, इतिहास विद्या प्रकाशन, १९८४।

२२. **आपस्तम्बश्रौतसूत्र** : सं॰डॉ॰गार्वे; बिब्लिओथिका इण्डिका प्रकाशन, १९०२।

२३. **आश्वलायनश्रौतसूत्र** (वृत्ति) : श्रीहरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, १९१७।

२४. **आशुबोधव्याकरण** : पं॰ तारानाथ भट्टाचार्य; प्रकाशक : भारतीय विद्या संस्थान, १९९२।

२५. **आनन्दरामायण** (वाल्मीकिमुनिकृत शतकोटि-रामचरित) पं॰ रामतेज पाण्डेयकृत ज्योत्स्ना-टीका, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

२६. **आह्निक-सूत्रावली** : वैद्यनारायण विठ्ठलपुरन्दरे (निर्णयसागर)।

२७. **आश्वलायनश्रौतसूत्र** : गणेशशास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १९१७।

२८. **इन्द्रविजय** : पं॰ मधुसूदन विद्यावाचस्पति।

२९. **इतिहासोपनिषद्** : (उपनिषद्-संग्रह)।

३०. **उरुज्योति** : ले॰ श्री वासुदेवशरण; श्री रामलाल क़पूर ट्रस्ट, अमृतसर प्रकाशन, १९५३।

३१. **उपनिषद्-संग्रह** (द्विभागात्मक) : सं॰पं॰जगदीश शास्त्री; मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

३२. **उत्तररामचरित** : भवभूति, 'रमा' संस्कृत, हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

३३. **उपनिषद्वाक्यमहाकोश** : सं॰ एस॰एस॰ गजानन सघाले, चौखम्बा विद्याभवन, १९९१।

३४. **ऋग्वेद** : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन।

३५. **ऋग्वेदसंहिता** : सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल प्रकाशन।

३६. **ऋग्वेद का सुबोध भाष्य,** भाग १,२,३ : ले॰ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, १९७०।

३७. **ऋग्वेदसंहिता** : सायणभाष्य, मोक्षमूलर संस्करण, वाल्यूम १-४, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९६६।

३८. **ऋक्प्रातिशाख्य** (शौनक विरचित) : अनुवादक : डॉ. वीरेन्द्रकुमार वर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान प्रकाशन, १९८६।

३९. **ऋग्वेद-परिशिष्ट** : सातवलेकर संस्करण।

४०. **ऋषभोपदेश** : ब्रह्मपुराण उत्तरखण्ड समुद्धृत।

४१. **ऋग्वेदभाष्यभूमिका** : राम अवध पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, १९७४।

४२. **ऐतरेय-ब्राह्मण** (षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति) त्रिभागात्मक, नाग पब्लिकेशन, १९९१।

४३. **ऐतरेय-ब्राह्मण** (सायणभाष्यसहित), आनन्दाश्रम प्रकाशन, १९४३।

४४. **ऐतरेय-ब्राह्मण** : डॉ. सुधाकर मालवीय, तारा पब्लिकेशन्स, १९८०।

४५. **कौटलीय अर्थशास्त्र** : व्याख्याकार–वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या-भवन प्रकाशन, १९८४।

४६. **कौटलीय अर्थशास्त्र** : व्याख्याकार–उदयवीर शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास प्रकाशन, १९७०।

४७. **कात्यायन-श्रौतसूत्र** : सं॰ अल्बेर्ते वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९७२।

४८. **काठक-संहिता** (यजुर्वेदीय) : स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, १९४३।

४९. **काण्व-संहिता** : सं॰ रत्नगोपाल भट्ट, १९६५ कलकत्ता।

५०. **कुमारसम्भव** : (कालिदास) व्याख्याकार–डॉ. उषा शर्मा, विश्व साहित्य संस्थान, वाराणसी।

५१. **कूर्मपुराण** : अनु॰ श्री चौधरी श्रीनारायण सिंह, सर्वभारतीय काशिराज न्यास प्रकाशन, १९७२।

५२. **कात्यायनश्रौतसूत्रभूमिका** : श्री विद्याधर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, १९९०।

५३. **कामन्दकीय नीतिसार** : पं॰ ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भाषाटीका, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, १९७८।

५४. **कौटलीय अर्थशास्त्र** : व्याख्याकार–श्रीराजेश्वर शास्त्री द्रविड़, श्री गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभा प्रकाशन, सं॰ २०३१।

५५. **कादम्बरी** (बाणविरचित) : व्याख्याकार–आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, १९८२।

५६. **कलातत्त्वकोश,** भाग २, सं॰बेटीना बाउमर, इन्दिरा गाँधी नेशनल सेन्टर फार आर्ट्स प्रकाशन।

५७. **कुरान** : कु-रा-न-म-जी-द, मकतबा-अल-हसनात प्रकाशन, रामपुर, १९६६।

५८. **काव्यप्रकाश** : मम्मटाचार्य सं॰विश्वेश्वर।

५९. **कठोपनिषद्** : (शांकरभाष्यसमेता) व्याख्याकार–प्रो॰वीरेन्द्र कुमार वर्मा, १९७८।

६०. **कौषीतकि ब्राह्मण** : गुलाबराय, आनन्दाश्रम, पूना, १९११।

६१. **कात्यायनशुल्बसूत्र** : विद्याधर शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी।

६२. **काशी की सारस्वत साधना,** म॰म॰ गोपीनाथ कविराज।

६३. **क्रियाकाण्डवारिधि** : वसुमती पब्लिकेशन, कलकत्ता।

६४. **कृत्यचिन्तामणि** : रघुनन्दनभट्टकृत अष्टाविंशतितत्त्व-समुद्धृत।

६५. **कल्पतरुपरिमल** : श्री अप्पयदीक्षितेन्द्र।

६६. **कालिकापुराण** : चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन।

६७. **काशिका** (वामन जयादित्य) : दीपिका हिन्दी-व्याख्या सहित, व्याख्याकार–प्रो॰गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, १९८४।

६८. **कालिकापुराणोक्त दुर्गापूजा-पद्धति** : श्री गुरुनाथ विद्यानिधि संकलित, श्रीरामपद भट्टाचार्य सम्पादित, कलकत्ता (बंगाक्षरात्मक)।

६९. **कारिकावली** (मुक्तावली) प्रभा-मंजूषादि व्याख्यापंचक, सी॰सी॰ शंकरराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

७०. **गोपथब्राह्मण** : पं॰ क्षेमकरण दास त्रिवेदी भाष्ययुक्त, १९२४।

७१. **गरुडपुराण** : (भाषाटीकासमेत), प्रकाशक–बाबू बैजनाथ प्रसाद, १९९०।

७२. **गौतमश्रौतसूत्र** : श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९३७।

७३. **गुप्तप्रेस डाइरेक्टरी पंजिका** : प्रकाशन वर्ष १९९१-९२।

७४. **गोलाध्याय** : भास्कराचार्य सिद्धान्त-शिरोमणि।

७५. **गोपथब्राह्मण** : डॉ॰ विजयपाल, सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता, १९८०।

७६. **चण्डीग्रन्थ** (बंगाक्षरात्मक), एम॰ भट्टाचार्या एण्ड कम्पनी प्रकाशन, १३८१ बंगाब्द।

७७. **चरणव्यूहसूत्र** (महर्षि शौनकोक्त) : आचार्य महिदास कृत भाष्य सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, वाराणसी, १९३८।

७८. **चतुर्वर्गचिन्तामणि** : हेमाद्रि, निर्णयसागर प्रेस।

७९. **चाणक्यनीति** (सूत्र) : श्री वाचस्पति गैरोला, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला।

८०. **चैतन्यभागवत** : गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्री वृन्दावनदास ठाकुर, भक्ति-सिद्धान्त-सरस्वती सम्पादित गौडीयभाष्य, प्र॰ गौड़ीयमठ, कलकत्ता।

८१. **भारतीय दर्शन** : ले॰ डॉ. बी॰एन॰सिंह॰ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। प्रकाशक : स्टूडेन्ट्स फ्रेण्ड्स।

८२. **भारतीय दर्शन** (चार्वाक दर्शन) : चटर्जी एवं दास, शारदा प्रसाद एण्ड सन्स, इलाहाबाद, १९८३।

८३. **छान्दोग्योपनिषद्** (सानुवाद), शांकरभाष्यसहितम्, प्रकाशक–मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् २०१९।

८४. **छन्दोभ्यस्ता** : लेखक–श्री मधुसूदन शर्मा, सं॰श्री आद्यादत्त ठाकुर, वि॰सं॰ २००५।

८५. **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,** भाग-५ लाक्षणिक साहित्य, लेखक— पं॰ अम्बालाल शाह, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान प्रकाशन, १९६९।

८६. **जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण** : सं॰पं॰भगवद्दत्त, दयानन्द कालेज, लाहौर १९२१।

८७. **जैमिनीयाश्वमेधपर्व** : टीकाकार–रामाधार शुक्ल शास्त्री, गीताप्रेस प्रकाशन, गोरखपुर।

८८. **ज्योतिष्मती-व्याख्या** (सांख्यकारिका) : व्याख्याकार–पं. रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, १९६७।

८९. **जगद्गुरुवैभव** (मधुसूदन ओझा कृत) : सं॰ श्री प्रद्युम्न शर्मा, विक्रम संवत् १९९९।

९०. **जैमिनिसूत्र** : जैमिनिरचित।

९१. **जिन्दावेस्ता** : इनसाइक्लोपीडिया ऑफ एथिक्स एण्ड लिटरेचर।

९२. **तैत्तिरीयसंहिता** (भास्करमिश्र विरचित भाष्यसहित) : सं॰ए॰ महादेव-शास्त्री एवं के॰रंगाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन।

९३. **तैत्तिरीयसंहिता,** सं॰ सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल प्रकाशन, १९५७।

९४. **तैत्तिरीयसंहिता** : ए॰बी॰ कीथ, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, १९६७।

९५. **तैत्तिरीयब्राह्मण** : श्रीनारायणशास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९३४।

९६. **तैत्तिरीयब्राह्मण** (सायणभाष्य) : आनन्दाश्रम प्रकाशन, १९३४।

९७. **तत्त्वबिन्दु** : वाचस्पति मिश्र, श्री भगवती प्रसाद प्रकाशन, ई॰जे॰ लाजारूस एण्ड कं॰, १९१७।

९८. **तन्त्रसार** : आगमवागीश कृष्णानन्द।

९९. **ताण्ड्यमहाब्राह्मण** : चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३६।

१००. **तर्कामृत** : श्री जगदीश तर्कालंकार।

१०१. **तर्कसङ्ग्रह** : (श्रीमदन्नम्भट्टविरचित) दीपिका व्याख्या समेत, श्रीवामचरण भट्टाचार्य संशोधित, छन्नूलाल ज्ञानचन्द पाठक प्रकाशन, १९४०।

१०२. **तत्त्वकौमुदी** : वाचस्पति मिश्र, व्याख्याकार—पं॰रामशंकर भट्टाचार्य।

१०३. **तान्त्रिक साहित्य** : पं॰श्री गोपीनाथ कविराज, हिन्दी समिति प्रकाशन, १९७२।

१०४. **तत्त्वबोधिनी** : ज्ञानेन्द्र सरस्वती, खेमराज वेंकटेश्वर, बम्बई।

१०५. **तत्त्वबिन्दु** : वाचस्पति मिश्र, अन्नामलाई विश्वविद्यालय, मद्रास।

१०६. **तन्त्रसार** : माहेश्वराचार्य कृत, भाष्य-परमहंस मिश्र, शक्ति प्रकाशन, १९८५।

१०७. **तैत्तिरीयोपनिषद्** (उपनिषद्संग्रह समुद्धृत)।

१०८. **तर्कसङ्ग्रह** : (श्रीमदन्नम्भट्टविरचित)।

(क) चन्द्रिका-व्याख्या।

(ख) व्याख्यापंचकोपेत।

१०९. **देवीभागवतपुराण** : सं॰रामतेज पाण्डेय, विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला।

११०. **दुर्गापूजा-पद्धति** : (देवीपुराणोक्त)।

१११. **द्राह्यायण-श्रौतसूत्र** : ११-१५ पटल, रघुवीर जनरल ऑफ वैदिक स्टडीज।

११२. **दुर्गासप्तशती** : अनु॰ रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रेस गोरखपुर।

११३. **दुर्गापूजा-पद्धति** : सम्पादन, संकलन-श्रीकृष्णचन्द्रस्मृतितीर्थ, बंगाब्द १३३५।

११४. **धर्मकोश** (राजनीतिकाण्ड) : सं॰लक्ष्मणशास्त्री जोशी, प्रज्ञानपाठशाला मण्डल प्रकाशन, संवत् २०३०।

११५. **धर्मसिन्धु** (काशीनाथोपाध्याय) : चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९६८।

११६. **धर्मशास्त्र का इतिहास** (त्रिभागात्मक) : मू॰ लेखक डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे, अनु॰ अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति प्रकाशन, १९७३।

११७. **धर्मशास्त्रसंग्रह,** सं॰ श्रीसाधुचरण प्रसाद, प्रथमावृत्ति, प्रकाशनवर्ष १९१३।

११८. **धर्मदिग्दर्शन 'क्यों'** (उत्तरार्ध), ले॰ पं. माधवाचार्य शास्त्री, श्री वीराचार्य शास्त्री माधव पुस्तकालय प्रकाशन, षष्ठ संस्करण, १९९०।

११९. **धर्मकल्पद्रुम** : भारतधर्ममहामण्डल प्रकाशन, तृतीय संस्करण।

१२०. **धनुर्वेदसंहिता** : वशिष्ठ।

१२१. **निर्णयसिन्धु** (कमलाकरभट्टप्रणीत) : अनु॰ श्रीव्रजरत्नभट्टाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन।

१२२. **निरुक्त** : यास्क-प्रणीत, आनन्दाश्रम प्रकाशन, १९२१।

१२३. **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** : वाचस्पतिमिश्रकृत उद्योतकर के न्यायवार्तिक की टीका, सं॰राजेश्वर शास्त्री द्रविड़, चौखम्बा विश्वभारती।

१२४. **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** : कृष्णवल्लभाचार्य, अनु॰ विश्वनाथ पंचानन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, १९९१।

१२५. **न्यायसूत्र** : आचार्य गौतम।

१२६. **निरुक्त** : (यास्क-प्रणीत) पं॰ भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन, प्रथम संस्करण, संवत् २०२१।

१२७. **नरपतिजयचर्यास्वरोदय** (नरपतिविरचित) : टीकाकार–श्री हरिवंश कवि, खेमराज श्रीकृष्णदास, संवत् २०१३।

१२८. **नामलिङ्गानुशासन** : अमरसिंह-विरचित, पं॰रघुनाथशास्त्रीकृत विवेकटीका, राजकीय ग्रन्थशाला प्रकाशन, १८९०।

१२९. **नारदीयपुराण** : 'अष्टादश पुराण परिचय', ले॰ श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज।

१३०. **नृसिंह उपपुराण** : सनातनधर्मालोक, दीनानाथ सारस्वत समुद्धृत।

१३१. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** : ले॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, १९६९।

१३२. **पस्पशाह्निक** : पतञ्जलि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९८५।

१३३. **प्राणतोषणी** : पं॰ रामतोषण भट्टाचार्य।

१३४. **पुराणपरिशीलन,** ले॰पं॰ गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् प्रकाशन, १९७०।

१३५. **पुराणसन्दर्भ-कोश** : पद्मिनी मेनन, ग्रन्थम प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९६९।

१३६. **पौराणिक कोश** : राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमण्डल प्रकाशन, संवत् २०२९।

१३७. **पराशरोपपुराण** : सं॰डॉ॰कपिलदेव त्रिपाठी, सरस्वतीभवन अध्ययन-माला, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९९०।

१३८. **प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था** : डॉ. मनोरमा जौहरी, रुचिर जौहरी प्रकाशन, १९८५।

१३९. **पंचदशी** (विद्यारण्यस्वामी) : श्री रामकृष्णकृत संस्कृत व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

१४०. **पुराणों में वंशानुक्रमिक कालक्रम** : डॉ. कुँवरलाल जैन।

१४१. **पुराणविमर्श** : आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन।

१४२. **परिभाषेन्दुशेखर** : शेषराजशर्मा सूरि कृत सर्वमंगला व्याख्या, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन।

१४३. **पाणिनीय शिक्षा** : पाणिनिकृत।

१४४. **पद्मपुराण** : खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९२७।

१४५. **पंचविंशब्राह्मण** : सायणभाष्यसहित, सं॰ आनन्दचन्द्र वेदान्त, कलकत्ता, १९७०।

१४६. **प्रतिष्ठेन्दु** : शान्ति कमलाकरादि, म॰म॰ विद्याधर शर्मा गौड़ कृत भूमिका, शुक्ल-यजुर्वेद, दौलतराम गौड़ संस्करण।

१४७. **पातञ्जलयोगदर्शन** : गीताप्रेस, गोरखपुर।

१४८. **प्रपञ्चसारतन्त्र** : शंकराचार्यकृत।

१४९. **पुरोहितप्रदीप** : श्रीसीतानाथसिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य एवं श्री शरत् चन्द्र सम्पादित, कलकत्ता ८१ संख्याक राजानवकृष्ण स्ट्रीट स्थित आर्य संस्कृत विद्यालय के अध्यापक श्री कुलचन्द्र द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण, शकाब्द १८४९।

१५०. **बौधायन-श्रौतसूत्र** (तैत्तिरीयसंहिताधारित) : सं॰डॉ॰ डब्ल्यू॰ कैलेण्ड, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिकेशन्स, १९८२।

१५१. **बृहदारण्यकोपनिषद्** : गीताप्रेस प्रकाशन।

१५२. **बृहदारण्यकोपनिषद्** (शांकरभाष्यसहित) सं॰पं॰ काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९७४।

१५३. **बृहत्संहिता** : वराहमिहिरविरचित, सं॰ श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, १९५९।

१५४. **ब्रह्मसिद्धान्त** : मधुसूदन ओझा, हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत प्रकाशन विभाग, १९६१।

१५५. **ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य** : श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री, वासुदेवशर्मा कृत टिप्पणी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस प्रकाशन, १९८२।

१५६. **ब्रह्मवैवर्तपुराण** : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, राधाकृष्ण भोर, १९५५।

१५७. **ब्रह्माण्डपुराण** : वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६९।

१५८. **बृहत् हिन्दीकोश** : श्री कालिका प्रसाद, प्रकाशक : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, संवत् २०२०।

१५९. **ब्रह्मपुराण** : गुरुमण्डल सीरीज, नं. ११, कलकत्ता १३५४।

१६०. **बालमनोरमा** : वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित) वसुदेव दीक्षितकृत बालमनोरमा टीका, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा विद्याभवन, १९८४।

१६१. **बृहन्नन्दिकेश्वरपुराणोक्त दुर्गापूजापद्धति**।

१६२. **The Holy Bible** (with old and new testaments) : king James Verson, Pub. The Gidoans International, Chicago Il 1961.

१६३. **भाषाविज्ञान,** ले॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल प्रकाशन, १९८८।

१६४. **भागवतपुराण** (महर्षि वेदव्यासप्रणीत) : दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध। संकलनकर्ता कर्दम ऋषि, सम्पादक—कृष्णशंकर शास्त्री, श्रीभागवत विद्यापीठ प्रकाशन, विक्रमाब्द २०४२।

१६५. **भामिनीविलास** : पण्डितराज जगन्नाथ।

१६६. **भारतीय व्रतोत्सव** : ले॰ पं॰पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी।

१६७. **भारत का बृहद् इतिहास** (भागद्वयात्मक) : ले॰पं॰ भगवद्दत्त, इतिहास प्रकाशन मण्डल, सं॰ २०१७।

१६८. **भागवत** (वंशीधरकृत भावार्थदीपिकाप्रकाश)।

१६९. **भारतीयराजनीतिप्रकाश** : लेखक पं॰ राजेश्वरशास्त्री द्रविड़, शारदा गौरव ग्रन्थमाला प्रकाशन, १९३५।

१७०. **भागवतमहापुराण** (मूलमात्र), गीताप्रेस प्रकाशन, अष्टम संस्करण, संवत् २०२२।

१७१. **भारतवर्ष का इतिवृत्त** : श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, संवत् १०१४।

१७२. **भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास** : लेखक डॉ॰ गोपाल जी, आर्य बुक डिपो प्रकाशन, १९८२।

१७३. **भगवद्गीता** : गीताप्रेस, गोरखपुर।

१७४. **भुवनेश्वरीवरिवस्या** : श्रीदत्तात्रेयानन्द, श्रीविद्यापीठम्, वाराणसी।

१७५. **भविष्यपुराण** : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६७।

१७६. **भावार्थदीपिका** : श्रीधरस्वामी।

१७७. **भावार्थदीपिकाप्रकाश** : वंशीधर।

१७८. **मीमांसादर्शन** (जैमिनिप्रणीत) : वैद्यनाथशास्त्रीकृत प्रभा व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय प्रकाशन, १८५४।

१७९. **मैत्रायणीसंहिता** (यजुर्वेदीय), सं॰ सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल प्रकाशन, १८६४।

१८०. **मनुस्मृति** : (मन्वर्थमुक्तावली सहित) पञ्चम संस्करण, सं॰वासुदेव शर्मा, तुकाराम जावजी प्रकाशन।

१८१. **महामहोपाध्याय स्मारक ग्रन्थ** : (द्वितीय खण्ड), श्रीविद्याधर गौड़ लिखित लेखसंग्रह, वैदिक पुस्तकालय, वाराणसी।

१८२. **मुण्डकोपनिषद्** : निर्णयसागर प्रकाशन, बम्बई।

१८३. **मेदिनीकोश** : माहेश्वरकृत अमरविवेकटीका, आर॰के॰ भण्डारकर दक्षिण कालेज, सं॰ १८९०।

१८४. **महाभाष्यप्रदीप** : कैयटोपाध्याय।

१८५. **मनीषी की लोकयात्रा** : डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९८०।

१८६. **मुण्डकोपनिषद्** : (उपनिषत्संग्रह समुद्धृत)।

१८७. **मार्कण्डेयपुराण** :

१८८. **मीमांसादर्शन** : श्री मण्डन मिश्र, पूर्वकुलपति-श्रीलालबहादुर शास्त्री, राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९८३।

१८९. **महाभाष्यनवाह्निक** : पतञ्जलि, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन।

१९०. **मीमांसान्यायप्रकाश** : व्याख्याकार–पं॰ पट्टाभिरामशास्त्री, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ प्रकाशन, १९८३।

१९१. **मीमांसादर्शन** : सं॰ डॉ॰ गजाननशास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, प्रथम खण्ड, १९७९।

१९२. **मार्क्सवाद और रामराज्य** : लेखक–श्री करपात्री स्वामी, मोतीलाल जालान प्रकाशन, सं॰ २०१९।

१९३. **महाभारत खिलभाग हरिवंश** (हरिवंशपुराण) : टीकाकार– पं॰ रामनारायणदत्त, गीताप्रेस प्रकाशन।

१९४. **महाभारत** (मूलमात्र, प्रथमखण्ड) (आदि-सभा-वनपर्व), गीताप्रेस प्रकाशन, विक्रमाब्द २०१३।

१९५. **महाभारत** (मूलमात्र, चतुर्थ भाग) (अनुशासन-आश्वमेधिक-आश्रमवासिक-मौसल-महाप्रस्थान-स्वर्गारोहणपर्व), गीताप्रेस प्रकाशन, विक्रमाब्द २०१५।

१९६. **महाभारत** (मूलमात्र, तृतीय भाग) (कर्ण-शल्य-सौप्तिक-स्त्री-शान्तिपर्व) गीताप्रेस प्रकाशन, विक्रमाब्द २०१४।

१९७. **महाभारतनामानुक्रमणिका** : गीताप्रेस प्रकाशन, सं॰ २०१६।

१९८. **मत्स्यपुराणानुशीलन** : सं० वासुदेवशरण अग्रवाल, सर्वभारतीय-काशिराजन्यास प्रकाशन, १९६३।

१९९. **मन की गति** : लेख सन्मार्ग पत्रिका, धर्मदर्शनस्तम्भ।

२००. **मेघदूत** : कालिदास।

२०१. **महामहोपाध्याय चिन्नस्वामी स्मारक ग्रन्थ।**

२०२. **मुक्तिकोपनिषद्** : (उपनिषत्संग्रह समुद्धृत)।

२०३. **मत्स्यपुराण** : आनन्दाश्रम पूना, १९०७।

२०४. **मालिनीतन्त्रम्** : शंकराचार्यकृत-सौन्दर्यलहर्याः, लोल्लटलक्ष्मीधरभट्ट-कृतभाष्ये 'चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः....' इत्यादि श्लोकव्याख्यायां समुद्धृतम्। मद्रास विश्वविद्यालय।

२०५. **मुद्राराक्षस** (विशाखदत्त) : सं० परमेश्वरदीन पाण्डेय, विद्याभवन प्राच्य ग्रन्थमाला।

२०६. **मार्कण्डेयपुराण : एक अध्ययन** : आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, विद्या-भवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला।

२०७. **गाण्डीव** (दैनिक) : 'इस्लामी अरबी...... प्रशंसा' लेखक–श्री प्रेम चतुर्वेदी।

२०८. **यज्ञोपकरणाध्याय** : पं० मधुसूदनविद्यावाचस्पति।

२०९. **याज्ञवल्क्यशिक्षा** : याज्ञवल्क्यकृत।

२१०. **याज्ञवल्क्यस्मृति** (मिताक्षराव्याख्या सहित) : व्याख्याकार–उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, तृतीय संस्करण वि.सं. २०३९।

२११. **योगसूत्रभूमिका** (भोजराजवृत्तिसहित) : सं० श्रीरामशंकर भट्टाचार्य।

२१२. **यजुर्वेदभाष्य** : महर्षि दयानन्द सरस्वती, रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन, १९७९।

२१३. **यज्ञसरस्वती :** श्रीमधुसूदन शर्मा : सं० श्री प्रद्युम्न शर्मा, वि०संवत् २००३।

२१४. **यज्ञोपकरणयज्ञविटपकर्मानुक्रमणिकाध्यायाः** : लेखक–श्रीमधुसूदन शर्मा, सम्पादक, प्रकाशक : श्री आह्लादन ठाकुर, १९३०

२१५. **योगदर्शन** : व्यासभाष्यतत्त्ववैशारदी।

२१६. **यन्त्रसर्वस्व** : वैमानिक प्रकरण, महर्षि भारद्वाज।

२१७. **योगवासिष्ठ** (महारामायणम्-आदिकवि वाल्मीकि) : व्याख्या पं॰ ठाकुर प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान।

२१८. **यजुर्वेदसंहिता** : पं॰ युधिष्ठिर गोविन्दराम,हासानन्द, दिल्ली, १९६०।

२१९. **रघुवंश** : कालिदास, मल्लिनाथी, 'इन्दुमती' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित, सं॰ पं॰ रामचन्द्र झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन।

२२०. **रूपाली व्याख्या** (बृहद्वैयाकरणभूषणम्) : व्याख्याकार : पं॰ मनुदेव भट्टाचार्य।

२२१. **रामायणामृत** : प्रवचन स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, संकलन : श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी।

२२२. **गरुडपुराण** : काशिराज संस्करण।

२२३. **राजतरङ्गिणी** : (कल्हण), अनु॰ रंजितसीताराम, इलाहाबाद, १९३५।

२२४. **रुद्रकल्पद्रुम** : शब्दकल्पद्रुम समुद्धृत।

२२५. **रासपञ्चाध्यायी** : श्रीश्रीधरस्वामी।

२२६. **राजतरङ्गिणी** (कोश) : सं॰ डॉ॰ रामकुमार राय।

२२७. **लाट्यायन-श्रौतसूत्र** : मुकुन्द शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९३२।

२२८. **लघुशब्देन्दुशेखर** : नागेशभट्ट, सं॰ शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्या-भवन प्रकाशन।

२२९. **लक्षणावली** : उदयनाचार्य, व्रजभूषणदास एण्ड कम्पनी प्रकाशन (वाराणसी संस्कृत सीरीज)।

२३०. **लिङ्गपुराण** : सं॰ श्रीपंचानन तर्करत्न, पं॰ श्री अरुणोदय राय, शकाब्द, १८१२।

२३१. **लघुसिद्धान्तकौमुदी** : सम्पादक–डॉ॰ प्रभाकर मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९८३।

२३२. **वज्रसूची** (महाकवि अश्वघोषकृत) : सं॰ डॉ॰ रामायण प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, १९८५।

२३३. **वेदभाष्यभूमिकासंग्रह** : आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, १९८५।

२३४. **वैदिक साहित्य का इतिहास** : डॉ॰ राजकिशोर सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर प्रकाशन, १९८४।

२३५. **वायुपुराणम्** : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, गीताप्रेस गोरखपुर प्रकाशन।

२३६. **विश्वकोश**।

२३७. **बृहच्छब्देन्दुशेखर** : नागेशभट्टकृत सिद्धान्तकौमुदी की टीका।

२३८. **वीरमित्रोदय** : वीरमित्रकृत।

२३९. **वेदप्रकाश** : माधवाचार्य।

२४०. **वैयाकरणमतोन्मज्जनम्** : भट्टोजिदीक्षित, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन।

२४१. **विधिविवेक** : श्रीमण्डन मिश्र।

२४२. **वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा** : (नागेशभट्ट) टीका, डॉ. कालिका प्रसाद शुक्ल, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन।

२४३. **बृहद्वैयाकरणभूषण** (कौण्डभट्टविरचित) : सं. श्री मनुदेव भट्टाचार्य, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, १९८५।

२४४. **वाक्यपदीय** (भर्तृहरिविरचित) : व्याख्याकार-पं. रघुनाथ शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन।

२४५. **वराहपुराण** : अनु. श्रीनारायण सिंह, सं. आनन्दस्वरूप गुप्त, सर्वभारतीय काशिराजन्यास प्रकाशन, १९८३।

२४६. **विविधार्थ** : डॉ. भगवानदास विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला।

२४७. **वरिवस्यारहस्य** : भास्कर राय।

२४८. **विष्णुपुराण** : गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २००९।

२४९. **वाल्मीकिरामायण** (सटीक) (बाल-किष्किन्धा-उत्तरकाण्ड) गीताप्रेस, गोरखपुर, १९६०।

२५०. **वेद का स्वरूप और प्रामाण्य** : (भागद्वयात्मक) : श्रीकरपात्री जी, श्रीधर्मसंघ शिक्षामण्डल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, विक्रमाब्द २०१६।

२५१. **वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा** : (नागेशभट्ट), टीका-आ. शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विश्वभारती।

२५२. **वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा** (नागेशभट्ट) : टीका. सभापति शर्मा उपाध्याय, चौखम्बा विश्वभारती।

२५३. **वेदस्वरूपविमर्श** : श्रीकरपात्री स्वामी, भक्तिसुधा साहित्य परिषद् वि. संवत् २०२६।

२५४. **वैदिक इण्डेक्स** (मैकडोनल और कीथ) द्विभागात्मक, अनु॰ रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, १९६२।

२५५. **वैदिक साहित्य का इतिहास** : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान प्रकाशन, १९८०।

२५६. **वेदार्थप्रकाश** : सायणाचार्य, मैक्समूलर संस्करण।

२५७. **वेदधरातल** : गिरीशचन्द्र अवस्थी, सं॰ श्रीदेवाचार्य, प्रकाशक–सतीशचन्द्र अवस्थी, संवत् २०१०।

२५८. **वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्** : लेखक–मोतीलाल शर्मा, राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध-संस्थान प्रकाशन।

२५९. **वराहपुराण** (आलोचनात्मक संस्करण) भागद्वयात्मक, सं॰ आनन्द-स्वरूप गुप्त, प्र॰ सर्वभारतीय काशिराज न्यास, विक्रमाब्द २०३८।

२६०. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति** : पं॰ गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् प्रकाशन, १९७२।

२६१. **वाचस्पत्यम्** (षष्ठभागात्मक कोश) : संकलन–श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९७०।

२६२. **व्युत्पत्तिवाद**—१. गूढ़ार्थतत्त्वालोकव्याख्या बच्चा झा कृत, २. जयाटीका म॰म॰ जयदेव मिश्रकृत।

२६३. **वैदिककोश** : डॉ. सूर्यकान्त, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३।

२६४. **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** (भट्टोजिदीक्षित) पं॰ बालकृष्ण पंचोलीकृत रत्नप्रभा टीका।

२६५. **व्याकरणमहाभाष्य** (पतञ्जलिकृत) : कैयट उपाध्याय निर्मित प्रदीप सहित : व्याख्याकार–आ॰मधुसूदन प्रसाद मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, १९८४।

२६६. **शांखायनब्राह्मण** (बंगाक्षरात्मक) : सं॰ श्रीहरिनारायण भट्टाचार्य, कलिकाता महानगरी प्रकाशन, १८९१।

२६७. **शांखायनश्रौतसूत्र** : सं॰ अलफ्रेड हिल्ले ब्राण्ड, वाल्यूम एक, मेहरचन्द लक्ष्मणदास प्रकाशन।

२६८. **शांखायनब्राह्मण** : सं॰ डॉ॰ गंगासागर राय, रत्ना पब्लिकेशनं, १९८७।

२६९. **शतपथब्राह्मण** (शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा) : सं॰ स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती (त्रिभागात्मक), मूल संस्करण–डॉ॰ अल्बेर्ते वेबर। हिन्दी

अनुवाद–पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, १९८८।

२७०. **शाक्तानन्दतरङ्गिणी** : सं० ब्रह्मानन्द गिरि, प्रकाशक–सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

२७१. **शारीरकविज्ञान** (द्विभागात्मक) : लेखक–श्री मधुसूदन ओझा, पं० रामशंकर वाजपेयी प्रकाशन, १९३०।

२७२. **शास्त्रदीपिका** : पार्थसारथि मिश्र।

२७३. **शब्दकल्पद्रुम** : राजा राधाकान्तदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १८०८।

२७४. **शारीरकमीमांसा** : शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र कृत भामती व्याख्या।

२७५. **शुक्लयजुर्वेदसंहिता** : पं० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसी-दास, १९७१।

२७६. **श्रौतपदार्थनिर्वचन** : सं० श्री प्रभुदत्त अग्निहोत्री, प्रकाशक–इ०जे० लाजरस एण्ड कं०, द्वितीय संस्करण, १९१९।

२७७. **श्रीशिवमहिम्नस्तोत्र** : श्रीमधुसूदन सरस्वती विरचित व्याख्याविभूषित, १९५२।

२७८. **सत्याषाढश्रौतसूत्र** : भाग ५, विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, १९२७।

२७९. **सत्याषाढश्रौतसूत्र** : भाग ५, सं० महादेव शास्त्री।

२८०. **सर्वदर्शनसंग्रह** (वासुदेवशास्त्रीकृत दर्शनांकुर व्याख्या) : भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर प्रकाशन, १९७८।

२८१. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (प्रथम भाग) : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान प्रकाशन।

२८२. **संस्कृत कवि-दर्शन** : डॉ० भोलाशंकर व्यासकृत, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन।

२८३. **सत्याषाढश्रौतसूत्र**—एक परिशीलन : डॉ० सुरेन्द्र कौर, राधा पब्लिकेशन्स, १९९१।

२८४. **सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसङ्ग्रह** : भिक्षु गौरीशंकर, संवत् २००६।

२८५. **सांख्यकारिका** (तत्त्वकौमुदी व्याख्या) : व्याख्याकार–वाचस्पति मिश्र।

२८६. **सांख्यकारिका** : (गौडपादभाष्य-भावार्थबोधिकासमेत), डॉ० विमला कर्नाटक, चौखम्बा ओरियण्टालिया प्रकाशन, १९८४।

२८७. **सनातनधर्मालोक** : पं॰ दीनानाथ सारस्वत।

२८८. **स्मृतिसन्दर्भ** : मनसुखरायमोर संस्करण, १९५३, वाल्यूम ४।

२८९. **सांख्यतत्त्वकौमुदी** : व्याख्याकार–डॉ॰ गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, संवत् २०३५।

२९०. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (बंगाक्षरात्मक) : लेखक–गौरीनाथ शास्त्री, प्रशान्त भट्टाचार्य प्रकाशन।

२९१. **संस्कृत शास्त्रों का इतिहास** : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर प्रकाशन, १९६९।

२९२. **सामुद्रिकशास्त्र** : श्रीराधाकृष्ण मिश्रकृत टीका, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, १९५६।

२९३. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** : श्रीवाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या-भवन प्रकाशन, १९६०।

२९४. **सुश्रुतसंहिता** (भागद्वयात्मक) : व्याख्याकार–पं॰ अम्बिकादत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, १९५९।

२९५. **सामवेदसंहिता** : सं॰ श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल आनन्दाश्रम प्रकाशन, तृतीय संस्करण, १९५३।

२९६. **सचित्र सामुद्रिकरहस्य** : संकलन-श्रीकालिका प्रसाद शर्मा, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस प्रकाशन, संवत् २०२०।

२९७. **सूर्यसिद्धान्त** : भाष्यकार–स्व॰ महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, प्रकाशक–डॉ॰ रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, १९८२।

२९८. **संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ** : कोश।

२९९. **स्कन्दपुराण** : मनसुखराय मोर, गुरुमण्डल सीरीज, कलकत्ता।

३००. **सूर्योदय** : मासिक पत्रिका, भारतधर्ममहामण्डल प्रकाशन, सं॰ १९६६।

३०१. **सौन्दर्यलहरी** : लक्ष्मीधर भट्टाचार्यकृत व्याख्या।

३०२. **सौन्दर्यलहरी** : भास्कररायकृत व्याख्या।

३०३. **सप्तशती** : राजा शशाङ्कशेखर, राजनीतिक बंगभाषात्मक व्याख्यायुक्त संस्करण।

३०४. **समुद्रयात्रा**—शास्त्रीय पक्ष : श्री करपात्री स्वामी।

३०५. **समराङ्गणसूत्रधार** : भोजदेवकृत, निर्णयसागर मुद्रित।

३०६. **सिद्धान्तकौमदी** (लघु) : वरदराजाचार्यकृत, व्याख्याकार-राम अवध पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९८३।

३०७. **देवीपूजापद्धति** : श्री निवारण चन्द्र भट्टाचार्य द्वारा प्रकाशित : द्वितीय संस्करण।

३०८. **हिन्दूधर्मकोश** : सं. राजवली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान प्रकाशन, १९७९।

३०९. **हरिवंशपुराण** : पं. रामनारायणदत्त, गीताप्रेस, गोरखपुर।

३१०. **हिन्दू राजतन्त्र**, भाग-२, लेखक-डॉ. जायसवाल।

३११. **हल्दीघाटी महाकाव्य** : श्री श्याम नारायण पाण्डेय।

३१२. **हिन्दी विश्वकोश** : नगेन्द्रनाथ वसु।

३१३. **हिन्दी विश्वकोश** : सं. धीरेन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा।

३१४. **हैमकोश** : हेमचन्द्राचार्यकृत।

३१५. **हितोपदेश** : नारायणपण्डित संगृहीत, किरणावली व्याख्या, व्याख्याकार-श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९८८।

ENGLISH BOOKS

३१६. **Mathematics in the Vedas** : Dr. V.S. Agarwal, Publisher-Banaras Hindu University.

३१७. **Narada Purana** : A Critical Study : Editor Dr. K. Damodaran Nambiar, Publisher—All India Kashiraj trust, 1979.

३१८. **Geographical Concepts in Ancient India** : Dr. Bechan Dubey, N.G.S.I. Research Publication no. 3, B.H.U., 1967.

३१९. **Garuda Purana : A Study** : Editor—N. Gangadharan, All India Kashiraj Trust Publication, 1972.

३२०. **A Critical Study of the Katyayana srautasutra** : Dr. Kamala Prasad Singh, Publisher—B.H.U., 1969.

३२१. **The Vamana Purana**—Editor Anand Swarup Gupta, Translater : satyamsu Mohan Mukhopadhyaya, Publisher : All India Kashiraj Trust, 1968.

३२२. **The Kurma Purana** : Editor—Śri Anand Swarup Gupta, Publisher—All India Kashiraj Trust, 1972.

३२३. **A Critical Study of Indian Philosophy** : Dr. Chandradhar Sharma, Pub. Motilal Banarasidas, 1983.

३२४. **The Sacred Islees in the West** : Captain Wilford.

३२५. **Researches on Ptolemy's Geography of Eastern Asia** : Gerini.

३२६. **Human Physiology** : Arthur—J. Vander and James. H. Sherman, Second Edition, University of Michigan.

३२७. **Clinical Heamatology by Maxwell M. Wintrobe** : G. Richard Lee, Dane R. Boggs, Thomas C. Bithel John Roerster, John W. Athens and john N. Lukens, 8th Edition 1981, Publisher Lea & Febiger, Philadelphia.

परिशिष्ट-ग

अश्व-चित्र

चित्र-१ : पाण्डवों द्वारा छोड़ा हुआ अश्वमेध का घोड़ा

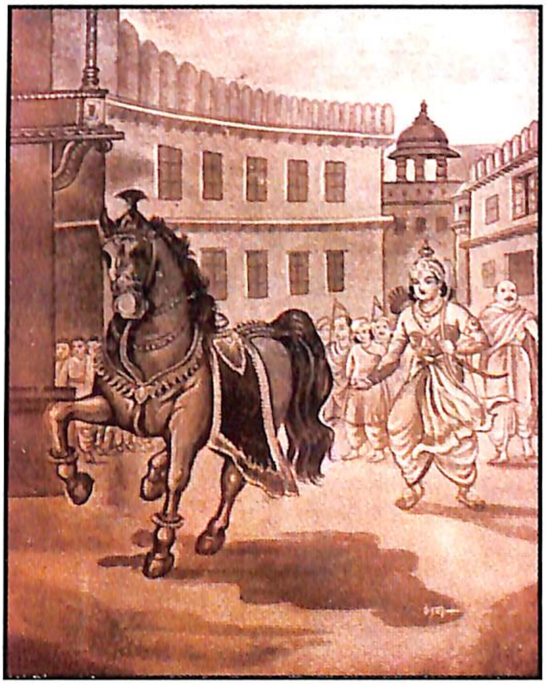

चित्र-२ : अश्वमेधयज्ञ के लिए छोड़े हुए घोड़े का अर्जुन के द्वारा अनुगमन

सौजन्य से : (चित्र १-२) 'महाभारतम्', गीताप्रेस प्रकाशन, गोरखपुर।

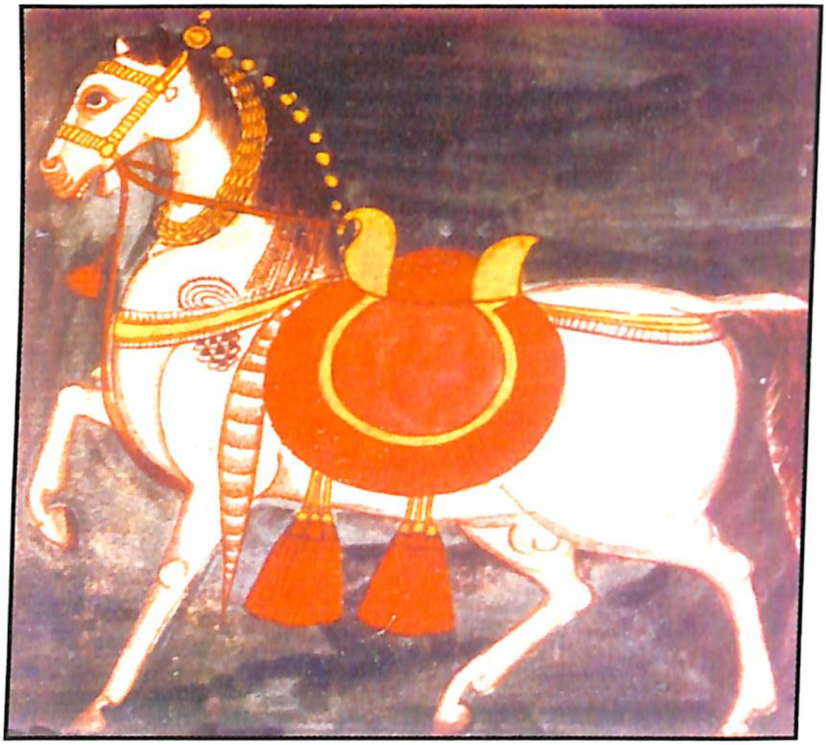

चित्र-३ : KING'S HORSE

चित्र-४ : 'DEVA MANI' IN NIGĀLA

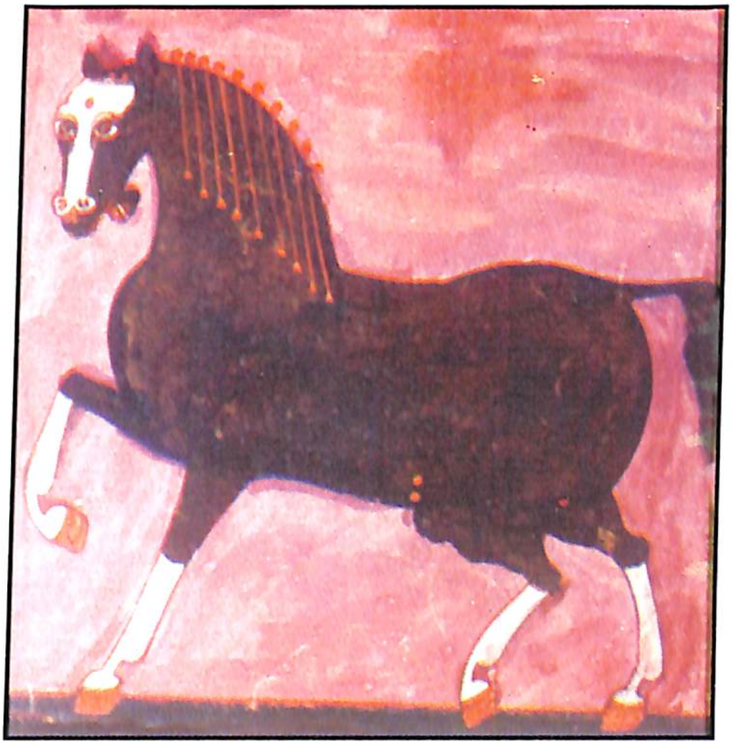

चित्र-५ : **DHRUVĀVARTAS**

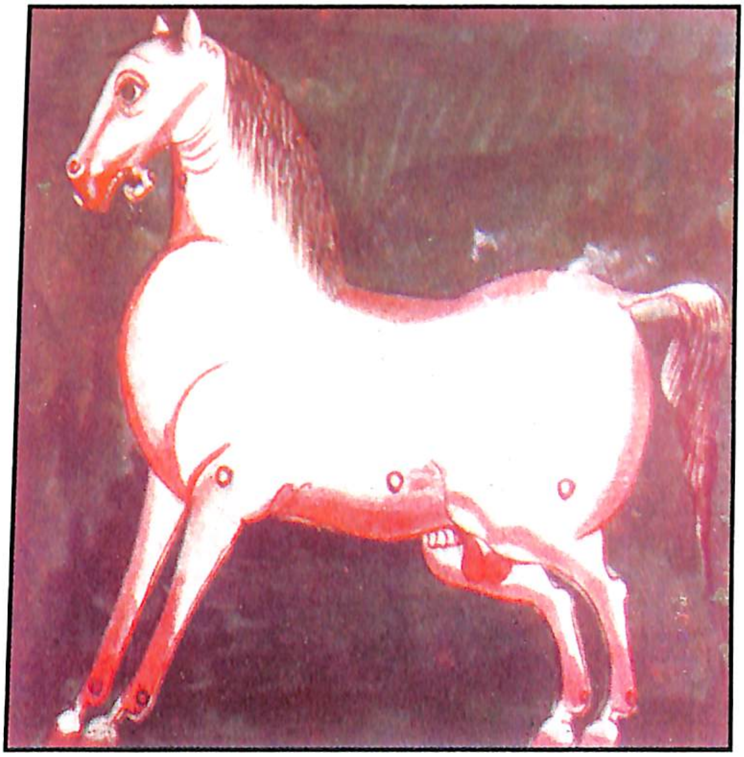

चित्र-६ : **BAD SITUATION FOR ĀVARTAS UPPER**

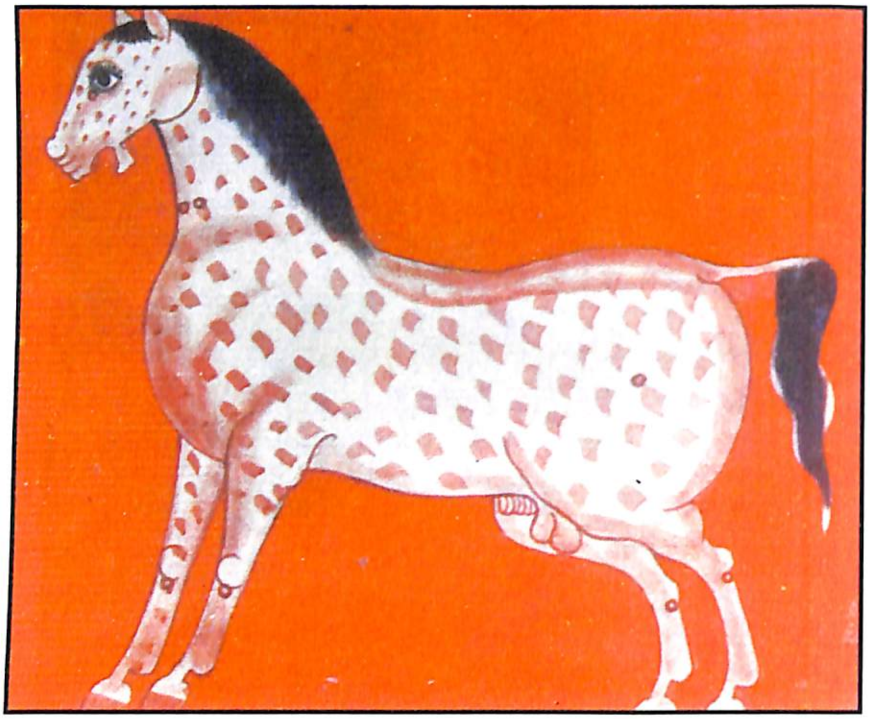

चित्र-७ : BAD SITUATION FOR ĀVARTAS

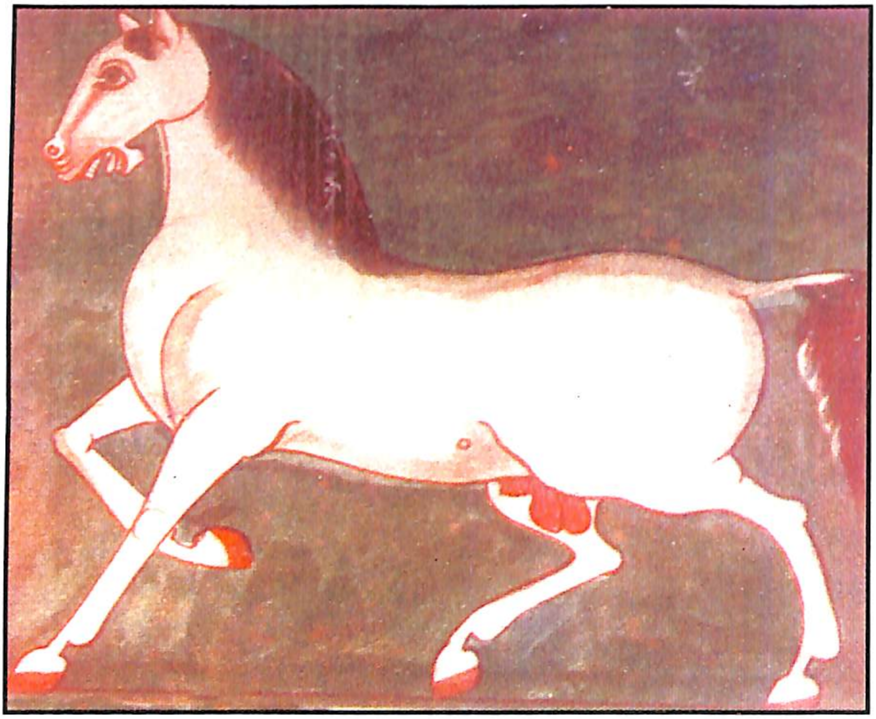

चित्र-८ : ĀVARTA IN UPARANDHRA

चित्र-९
NIŚŚRENIKA

चित्र-१०
ĀVARTAS IN FOREHEAD

चित्र-११
ĀVARTAS IN FOREHEAD

चित्र-१२
VṚṢABHĀVARTA

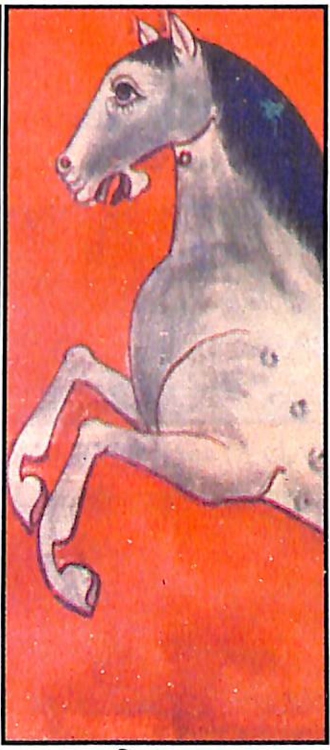

चित्र-१३
ĀVARTA IN THROAT

चित्र-१४
2 SUKTIS IN KEŚĀNTA

14702

चित्र-१५
BAD SITUATION FOR ĀVARTAS

चित्र-१६
CATURAṄGA

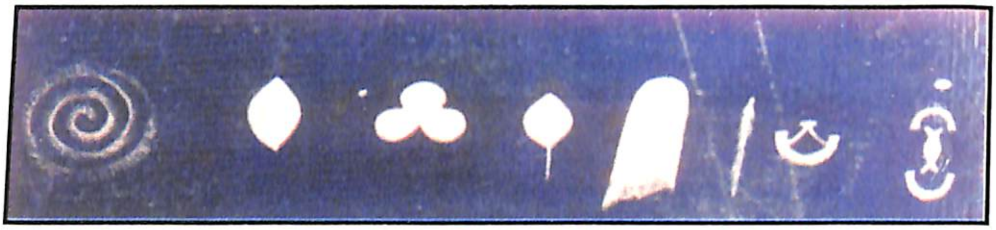

चित्र-१७ : Left to Right : 1. Āvarta, 2. Śukti, 3. Samkhāta, 4. Mukula, 5. Avalīḍha

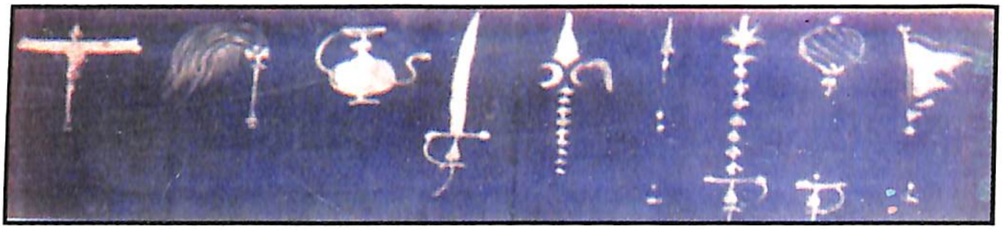

चित्र-१८ : BAD MARKS NEAR PROTHA

चित्र-१९ : PUṆḌRAS (Marks on the Forehead)

सौजन्य से : (चित्र ३-१९) 'अश्वशास्त्रम्' नकुलकृत। सम्पादक एवं प्रकाशक-श्री एस.गोपालन, तंजौर सरस्वती महल सीरीज़।

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
श्रुतं मे गोपाय

संक्षिप्त परिचय

वाराणसी में जन्मी लेखिका **डॉ. मिताली देव**, पौत्री-स्व. श्री रमेश-चन्द्र डे (भूतपूर्व सचिव, महामहिम काशि-राज, रामनगर) एवं पुत्री डॉ.(प्रो.) अरूप देव (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, भूगर्भ विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), बाल्यावस्था से ही मेधावी छात्रा रहीं। दिल्ली बोर्ड द्वारा संचालित १२वीं की परीक्षा में इन्हें ८६% अंकों के साथ राष्ट्रीय योग्यता सूची में द्वितीय स्थान एवं सभी विषयों में विशेष योग्यता भी प्राप्त हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से इन्होंने स्नातक (संस्कृत आनर्स) की उपाधि ७९% अंकों एवं सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों में सर्वोच्च स्थान के साथ प्राप्त की। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ही संस्कृत विषय से स्नातकोत्तर उपाधि ८२% के साथ अर्जित की।

डॉ. मिताली देव को स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर अनेक स्वणपदकों एवं एवार्ड्स से सम्मानित किया गया। इनमें कतिपय मुख्य इस प्रकार हैं—मनोरमा स्वर्णपदक, आर. एन. आयंगर स्वर्णपदक, का.हि.वि.वि. सर्वश्रेष्ठ स्नातक स्वर्णपदक, उच्च शिक्षा निदेशालय स्वर्णपदक, स्वामी मधुसूदनानन्द सरस्वती स्वर्णपदक, श्रीकृष्णानन्द पाण्डेय स्वर्णपदक, का.हि.वि.वि. सर्वश्रेष्ठ स्नातकोत्तर स्वर्णपदक, काशिराज (महामहिम) स्वर्णपदक, राजकिशोर कपूर रजतपदक, जवारहलाल नेहरू मेरिट एवार्ड, का.हि.वि.वि. हीरक जयन्ती पदक, कमला तिलक एवार्ड, देवी प्रसाद अग्निहोत्री एवार्ड, राष्ट्रीय मेरिट छात्रवृत्ति, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान छात्रवृत्ति, डॉ.पी.जी. देशपाण्डे मेमोरियल एवार्ड, परमपूज्य महामहिम शङ्कराचार्य स्वामी स्वानन्दाश्रम पुरस्कार आदि।

इन्होंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा आयोजित नेट परीक्षा प्रथम बार में उत्तीर्ण की। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली द्वारा संचालित अनुसन्धान सहायिका (पूर्णकालिक) के पद पर नियुक्त हुई। इन्होंने वेदों में विशिष्ट अध्ययन के साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में ३३ से अधिक शोध आलेखों का प्रकाशन किया एवं अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित द्वादशाधिक संस्कृत सम्मेलनों में सहभागिता एवं शोधपत्रों की प्रस्तुति का गौरव प्राप्त किया। इन्हें जर्मन भाषा का विशेष ज्ञान है और इन्होंने जर्मन में पोस्ट ग्रेजुएट डिप्लोमा की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से पी-एच. डी. की शोध उपाधि प्राप्त कर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से 'प्रणव' विषय पर विद्यावाचस्पति (डी. लिट्.) की उपाधि हेतु शोधरत हैं। इन्होंने सायणाचार्यविरचित 'यज्ञतन्त्रसुधानिधि' नामक तीन सौ वर्ष प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपि का सम्पादन किया, जो राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशनाधीन है। इन्होंने एक अन्य अतिप्राचीन, हस्तलिखित 'कुण्डरत्नावली' नामक पाण्डुलिपि का सम्पादन किया, जिसे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया गया है।

वर्तमान में 'अश्वमेधमहायज्ञ : एक सांस्कृतिक विश्लेषण' नामक ग्रन्थ की विदुषी लेखिका डॉ. मिताली देव, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त पोस्ट डाक्टोरियल फेलोशिप, विषय : 'वैदिक वाङ्मय और गंगा परिरक्षण—एक वैज्ञानिक विवेचन' पर अध्ययनरत है। अध्ययन/अध्यापन में विशेष अभिरुचि के कारण डॉ. देव को संस्कृत के क्षेत्र में अनेक लब्धप्रतिष्ठित एवं विख्यात विद्वानों का आशीर्वाद प्राप्त है।

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स, वाराणसी